गीता का व्यवहार-दर्शन

(Practical Philosophy of the Gita)

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोको के व्यावहारिक अर्थ

स्पष्टीकरण सहित

लेखक

सेठ रामगोपाल मोहता

राव बहादुर सेठ गोवर्धनदास जी मोहता, ओ० बी० ई०

के आत्मज

★

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गी० अ० २ श्लो० ४८)

किताब महल (होलसेल डिविजन) प्रा० लिमिटेड

रजिस्टर्ड ऑफिस : ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

बम्बई ● कलकत्ता ● दिल्ली ● जयपुर ● हैदराबाद ● पटना

संस्करण

प्रथम	: २५००	दिसम्बर	१९३७
द्वितीय	: ५०००	जुलाई	१९३८
तृतीय	: १००००	मार्च	१९३९
चतुर्थ	: २०००	जुलाई	१९६१

प्रकाशक : किताब महल, ५६ ए-ज़ीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १० दरियागंज, दिल्ली

महाराष्ट्र गवर्नर्स कैंप
३०-८-१९६०

जगद्गुरु आदि-शकराचार्य के समय से लेकर आज प्राय तेरह-चौदह सौ वर्षो से श्रीमद्भगवद्गीता पर अपने देश मे बड़ा मनन हो रहा है। दन्तकथा तो यही है कि आदि-शकराचार्य जी ने ही उन ७०० श्लोको के समूह को महाभारत के महासागर रूपी ग्रथ मे से पृथक् कर भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध किया।

वास्तव मे श्रीमद्भगवद्गीता ससार की अनुपम पुस्तको में है, और कोई आश्चर्य की वात नही है कि शताब्दियो से विविध विचारको और दार्शनिको ने इसके भावो पर ध्यान दिया है और इसमे कितने ही अर्थ देखे हैं। इसमे गूढ से गूढ आध्यात्मिक विचार मिलते है, और साथ ही साधारण सासारिक नर-नारियो के लिए आदेश और उपदेश भी पाये जाते है। यह इसकी विशेषता है, और कोई आश्चर्य नही कि हमारे भारतीय समाज में इसकी वडी महिमा है।

मुझे स्वय श्रीमद्भगवद्गीता का व्यवहार सवधी अग ही सबसे अधिक आकर्षित करता है। ससार के अन्य धर्मप्रवर्तको मे और गीता के प्रवर्तक श्रीकृष्ण मे मुझे यह वहुत वडा अतर मालूम पडता है कि जहाँ अन्यो ने विशेषकर आध्यात्मिक जीवन पर ही जोर दिया है, और नर-नारियो को परलोक की चिन्ता करने के लिए ससार से विमुख किया है, श्रीकृष्ण का गीता द्वारा यह उपदेश रहा है कि हमे ससार मे रहते हुए, ससार के सव कर्त्तव्यो को पूरा करते हुए, इस प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहिए कि हम उसमे लिप्त न हो जायँ। उनका आदेश है :

"योगस्थ कुरु कर्माणि, सग त्यक्त्वा धनजय।"

ससार का सव काम करो, उसमे त्रुटि न आने दो, पर ससार में आसक्त मत हो जाओ। जिस प्रकार से जल में कमल रहता है, उसी प्रकार से हम सवको ससार मे रहना चाहिए। उसमे रहते हुए भी उसका न होना चाहिए।

मुझे हर्ष है कि श्रीरामगोपाल मोहता ऐसे विद्वान्, विचारवान व वयप्राप्त सज्जन ने गीता के इस अग पर जोर दिया है, और अपने विचारो का सुन्दर प्रतिपादन करते हुए ससार मे रहने वाले नर-नारियो के लिए गीता की अच्छी व्याख्या की है और उचित उपदेश दिया है। मेरी शुभ कामना है कि इस पुस्तक का अच्छा प्रचार हो और अधिकाधिक नर-नारी इससे लाभ उठावे। मै विज्ञ लेखक को ससम्मान और सधन्यवाद बधाई देता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे हमारे बीच में अभी बहुत दिनो तक रह कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहे।

(श्रीप्रकाश)
महाराष्ट्र के राज्यपाल

चौथे संस्करण की भूमिका

व्यावहारिक ब्रह्म-विद्या के प्रेमी पाठको ने "गीता का व्यवहार दर्शन" के तीन सस्करणो की १७५०० प्रतियो को अपेक्षाकृत थोड़े ही समय मे अपना लिया तथा इसके मराठी अनुवाद की भी १००० प्रतियाँ समाप्त हो गईं, फिर भी माँग निरतर वढ रही है। इसलिए इस चौथे सस्करण को शीघ्र प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अत इसको पाठको की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मेरा हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा है।

जिस समय इस ग्रथ का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था उस समय हमारा राष्ट्र अग्रेजो की राजनैतिक पराधीनता में बँधा हुआ था और हमारे देश की जनता महात्मा गाधी और श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे कुशल, तपस्वी एव योग्य सर्वमान्य नेताओ के नेतृत्व मे राष्ट्र को विदेशी पराधीनता की वेडियो से छुटकारा दिलाने के लिए अडिग व अथक प्रयत्न कर रही थी। मैंने उस समय भारतीय जनता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि हमारी राजनैतिक पराधीनता का असली कारण हमारी मानसिक दासता, धार्मिक अधविश्वास और हमारे अपने ही समाज के अंतर्गत सैकडो वर्षो से चली आने वाली सास्कृतिक व सामाजिक विषमता, अत्याचार, दमन, जाति-पाँति के भेद, छुआछूत, साम्प्रदायिकता व साधु सस्थाओ और धार्मिक गुरुओ, आचार्यों, पडे-पुरोहितो आदि के निठल्लेपन का वोझ व पारस्परिक फूट आदि है। अगर हम इन दुर्वलताओ व दुर्गुणो को दूर नही करेंगे तो राजनैतिक स्वतत्रता हमारे अयोग्य हाथो में आकर भी कायम नही रह सकेगी, वह फिर फिसल जायगी और हम पुन किसी वड़ी विदेशी शक्ति के गुलाम हो जावेंगे।

आज हमारा देश इसी खतरे की अवस्था में से गुजर रहा है और देश के बडे नेता वार-वार हमे उपरोक्त आशय की चेतावनी दे रहे है। इससे स्पष्ट है कि मैंने उस समय जो आशका प्रकट की थी वह अव प्रत्यक्ष सामने आ रही है।

स्वराज्य प्राप्ति के वाद हमारे देश में सर्वतोमुखी भ्रष्टाचार, चोरवाजारी, पारस्परिक शोपण, धोखेबाजी, साम्प्रदायिकता, सकीर्ण क्षेत्रीय शासन विभाजन के द्वारा सत्ता प्राप्ति की स्वार्थलोलुपता, जातीयता, फूट, स्वार्थपरता, पदलोलुपता, नवयुवको, विद्यार्थियो, मजदूरो व कर्मचारियो मे उपद्रवीपन और उत्तरदायित्व-हीनता आदि अनेक समाज-विध्वसक दुर्गुण एव दुर्वलताएँ उभर कर सामने आ रही है। अग्रेजो के शासन काल में हमने सिर्फ उनसे द्वेष करने की आदतो का ही अपने में पोषण किया, उनके गुण, योग्यता, समझदारी कार्यकुशलता और नैतिकता को नही अपनाया। अपने उपरोक्त परम्परा प्राप्त दोषो, दुर्वलताओ और अयोग्यताओ

को मिटाने की चेष्टा न पहले की और न अब ही कर रहे हैं। ऐसी अवस्था अगर बनी रही तो देश का भविष्य निश्चय ही अंधकारपूर्ण हो जायगा।

हमने स्वराज्य इसलिए नही लिया कि हम भी पश्चिम वालों की तरह कोरे विज्ञान, कला-कौशल, व्यापार, अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति व सैनिक शक्ति से सम्पन्न होकर दूसरे दुर्बल राष्ट्रो का शोषण करे और उन्मत्त होकर नरसंहार के ताण्डव नृत्य में उनके हिस्सेदार बन जावे। हमारी स्वाधीनता के संग्राम का मुख्य उद्देश्य तो यह था कि राजनैतिक सत्ता प्राप्त करके हम अपनी प्राचीन आध्यात्मिकता मूलक ब्रह्म-विद्या के आधार पर व्यवहार करते हुए अपनी बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक उन्नति करें और अपने देश में शाति, पुष्टि व तुष्टि की स्थापना करते हुए दुनिया के देशो को पारस्परिक अविश्वास, द्वेप, कलह व लोभ मूलक शोषण से मुक्त कराने मे सहायता दें और संसार मे सार्वभौम "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श की व्यावहारिक पूर्ति करने मे क्रियाशील रहे।

आज दुनिया मे घोर अशाति और दुश्चिन्ता व्याप्त हो रही है। विज्ञान की उन्नति ने भयंकरतम सर्वनाशकारी शक्ति पश्चिम के लोगों को प्रदान कर दी है। वे एक दूसरे से डर रहे हैं कि कोई आकस्मिक उत्तेजनावश इस ज्वालामुखी का विस्फोट न कर डाले। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति तो प्रदान कर दी परन्तु आध्यात्मिकता मूलक बुद्धिमत्ता प्रदान नही की जिससे प्रेरित होकर वह इस शक्ति का उपयोग जन-सहार के लिए न करके लोक मगल के लिए कर सके। इस लोक कल्याणकारी भावना की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए वे भारत की ओर आशाभरी आँखो से ताक रहे हैं।

इस प्रकार लोक कल्याणकर ज्ञान और प्रेरणा देने की शक्ति हमारे यहाँ की प्राचीन ब्रह्म-विद्या में है। हमारे देश में ही इसका आविष्कार हुआ और दीर्घकाल तक हमारे पूर्वजो मे इसका प्रचार व व्यवहार भी प्रचलित रहा। उस समय हम अन्य देशो की अपेक्षा कितने अग्रगामी और दूसरों के पथ-प्रदर्शक थे यह इतिहास के जानकारो से छिपा नही है। परन्तु प्राकृतिक गुण परिवर्तन के अटल नियमानुसार, काल के प्रभाव से हम स्वय अपने इस अमृतकुण्ड को भूलकर प्रगति की प्रेरणा के लिए इधर-उधर भटक रहे हैं। दुनिया कोरे अव्यावहारिक उपदेश की अपेक्षा व्यावहारिक उदाहरण से अधिक प्रभावित होती है। अपनी आवश्यकता के अनुसार पश्चिम वालो ने विज्ञान को लेते हुए, बदले मे ब्रह्म-विद्या के व्यावहारिक ज्ञान और आदर्श को उन्हें देकर हमे मनुष्यता के ऋण से उऋण होना है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए हमारे राष्ट्र को स्वय अपने विस्मृत व्यावहारिक तत्वज्ञान को पुनः जाग्रत करके उसे अमल में लाना है। तब ही हम स्वस्थ, उन्नत, शात और दांत होकर विज्ञान की विनाशकारी शक्ति की दिशा, निर्माण और कल्याण की ओर मोड़ सकेंगे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर हमारे देश के सर्वमान्य नेता श्री जवाहरलाल

नेहरू बार-बार कहते है कि मानवता को बचाने के लिए आज के युग में विज्ञान और अध्यात्म के सामजस्य की नितान्त आवश्यकता है। वे सिर्फ कहते ही नही बल्कि उनकी विदेश नीति संयुक्त राष्ट्रसघ मे जो कार्य कर रही है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके कथन व कार्यों का श्रोत हमारे अतीत की व्यावहारिक ब्रह्मविद्या मे ही निहित है।

यह सर्वमगलकारी ब्रह्मविद्या भारत के प्राचीन उपनिषदो मे भरी पडी है। भगवान बादरायण व्यास ने उसका नवनीत निकाल कर, उसका जैसा व्यावहारिक रूप श्रीमद्भगवद्गीता मे रखा है वैसा विश्व के किसी भी देश के प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य मे उपलब्ध होना असभव है। गीता की मान्यता भारत भर में सार्वभौम है। इस पर अनेक प्राचीन और नवीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। प्राचीन टीकाओ मे अपने-अपने सम्प्रदाय की दृष्टि का आग्रह होने के कारण वे जन साधारण के दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन के काम की नही रही। उल्टा व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन मे वे बाधक ही नही किन्तु घातक सिद्ध हुईं। मध्ययुग के टीकाकारो ने अपनी टीकाओ मे कोरे व्यक्तिगत स्वार्थों अर्थात् इस लोक और परलोक के व्यक्तिगत सुखो व कल्याण (अभ्युदय और नि श्रेयस्) की प्राप्ति के उद्देश्य से ही ब्रह्म-विद्या के इन सत् शास्त्रो के अर्थ का अनर्थ करके उनमे प्रतिपादित व्यक्ति और समाज दोनो के लिए एक समान हितकर ब्रह्मविद्या को लोक व्यवहार के अनुपयुक्त ही नही किन्तु उसका विरोधी ठहरा दिया। ज्ञानमार्ग के टीकाकारो ने इनमें व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति के लिए घर गृहस्थी के व्यवहारो को छोडकर सन्यास लेने और नीरस आत्मज्ञान के विचारो और वाद-विवाद के वितडा में लगे रहने का विधान बताया। भक्ति पथ वालो ने निर्गुण अथवा सगुण व्यक्ति ईश्वर की उपासना, अर्चन, पूजन, नाम जप, भगवद् भजन, स्मरण, कीर्तन आदि करते रहकर अपने व्यक्तिगत कल्याण करने का उपाय इनसे सिद्ध किया। योग मार्ग वालो ने आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि से समाधि मे बैठे रहने का परम पुरुषार्थ इनसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कर्मकाण्डियो ने इनके आधार पर वैदिक हवन, यज्ञ, सध्या, देवकर्म, पितृकर्म आदि कर्मकाण्डो मे ही लगे रहना मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य बताया। अव्यावहारिक एकागी सदाचारवादियो ने सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, अस्तेय, संतोष, सरलता, ब्रह्मचर्य आदि समाचारो की अव्यवहारिक अतियो को पालन करने पर जोर दिया, तो अलग-अलग धार्मिक व साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक मतो और आचारो की पुष्टि इनसे की। इस तरह विभिन्न मतवादियो ने अपने-अपने मतो का समर्थन करते हुए ब्रह्मविद्या के वास्तविक व्यावहारिक तत्त्व को लोक-मानस में सर्वथा भुलाकर व जनता को विभ्राम मे डालकर उसे अकर्मण्यता और विपरीत क्रियाओ में उलझा. दिया। राष्ट्र और समाज के अस्तित्व, गौरव व जीवन निर्वाह के साधनो एव घर

गृहस्थी के सांसारिक व्यवहारों को सबने हेय बताकर उनकी अवहेलना की। जिस लोक, समाज और राष्ट्र रूपी वृक्ष की डालो पर बैठ कर उक्त सम्प्रदायवादी शोषक उसके मीठे फल खाते रहे उन्ही आधारभूत डालो को वे काटते रहे।

नवीन टीकाकारो ने अपनी टीकाओ मे इस ब्रह्म-विद्या के व्यावहारिक पक्ष पर जोर तो अवश्य दिया परन्तु उन्होने भी इस व्यावहारिक पक्ष का सागोपाग निर्वाह और स्पष्ट खुलासा नही किया। कई नवीन टीकाकार आध्यात्मिक रहस्यवाद की अस्पष्टता और दुरूहता मे उलझ गए। परिणाम यह हुआ कि गीता का व्यावहारिक तत्त्वज्ञान सर्व साधारण को उपलब्ध नही हो सका। इस त्रुटि की पूर्ति की आवश्यकता का अनुभव करके मैंने इसके सर्वथा सरल, सुबोध और व्यावहारिक अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और मुझको खुशी होती है कि पाठको ने इसका इतना स्वागत करके मेरा उत्साह बढाया। मेरा विश्वास है कि यदि हमारे देशवासी इसके अनुसार आचरण करेगे तो हमारा देश व समाज व्यक्तिगत व सामूहिक दोनो प्रकार से उन्नत होकर दुनिया का पथ-प्रदर्शन करने व ससार को नवीन दृष्टिदान करने मे सफल हो सकेगा।

राष्ट्र के लोगों के जीवन मे अच्छे व बुरे संस्कारो का निर्माण बचपन से ही आरभ होता है। हमारे गृहस्थ के अभिभावक माता-पिता और शिक्षा सस्थायें ही हमारी भावी सन्तति मे गीता में प्रतिपादित अनुपम व्यावहारिक ब्रह्मविद्या के संस्कार डाले तो सफलता अधिक सुगम हो सकती हैं। इनके सिवाय साहित्यकार, लेखक, पत्रकार, कलाकार, रेडियो व सिनेमा भी जनमानस का इस आधार पर निर्माण कर सकते है। देश में जैसे सरकार अपनी पंचवर्षीय योजनाओ द्वारा जनता के शरीरों की उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन, विनिमय व वितरण की योजना राजकर्मचारियो, पूंजीपतियो, मजदूरो व जनता के सहयोग से कर रही है उसी तरह जनता व सरकार सबका कर्तव्य है कि हम सब मिलकर देश की वर्तमान व भावी पाढ़ी के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक उक्त दिव्य साहित्य के निर्माण, शिक्षण, प्रचार व प्रसार की योजनाबद्ध व्यवस्था करके व्यावहारिक ब्रह्मविद्या के अमृत को राष्ट्र की नाडियों में भरें और उसे दीर्घजीवी वीर्यवान व तेजस्वी बनाकर विश्वकल्याण में भागीदार बनावे। इस सस्करण में कुछ सशोधन, परिवर्तन व परिवर्धन आवश्यकतानुसार किए गए है। आशा है कि पाठक-पाठिकाएँ इस सस्करण को भी पूर्ववत् अपनाकर मुझे कृतकृत्य करेगे।

मोहता भवन
बीकानेर सम्वत् २०१८ चैत्र
शुक्ला १ ता० १७-३-१९६१
शुक्रवार

रामगोपाल मोहता

गीता का व्यवहार-दर्शन

उपोद्घात

सुख-प्राप्ति और दु.ख-निवृत्ति सभी देहधारियो का ध्येय है। प्राणिमात्र की नाना प्रकार की चेष्टाओ का अन्तिम लक्ष्य दु.ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होता है। पशु-पक्षियो में साधारणतया विचार-शक्ति का विकास नहीं होता, अत. वे केवल अपने शरीरो की तात्कालिक दु'ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए ही उद्यम करते रहते है, और उस उद्यम में सफलता होगी कि नहीं, अथवा उसका विपरीत परिणाम तो नहीं हो जायगा अर्थात् उससे सुख के वदले उलटा दुःख तो न हो जायगा, इत्यादि बातो पर विचार करने की उनमें योग्यता नहीं होती।

मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में विचार-शक्ति का विकास होता है, अतः वह पशु-पक्षियो की तरह अन्धाधुन्ध उद्यम नहीं करता, किन्तु विवेक और दूरदर्शिता से काम लेता है। वह केवल अपने शरीर की तात्कालिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु शरीर के अतिरिक्त मानसिक दु.ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करता रहता है, तथा इस लोक के भविष्य एवं परलोक पर दृष्टि रखता हुआ सुख-दु.ख की मात्रा और परिणाम का भी विचार करता है। वह अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्व आदि के सुखो के लिए भी उद्यम करता है।

मनुष्यो में भी विचार-शक्ति के विकास की न्यूनाधिकता के अगणित दर्जे होते है और अपनी योग्यतानुसार दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए सव कोई निरन्तर उद्योग करते रहते है। कई लोग तो विशेषतया अपने ही शरीर और मन की इहलौकिक दु.ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए उद्योग करते है; कई अपने और अपने कुटुम्बियो एवं सम्बन्धियो आदि की इहलौकिक दु.ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते है, और कई भावुक लोग इहलौकिक सुखो को तुच्छ मान कर पारलौकिक सुखों के लिए—इस देह के सुखो की अवहेलना करके—अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करते है, अर्थात् मरने के बाद दूसरे जन्म में भौतिक सुखो की प्राप्ति,

अथवा सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्गादि सुख भोगने, अथवा मुक्ति प्राप्त करने की कामना से जप, तप, पूजा, पाठ, व्रत, उपवास, तीर्थाटन, दान, पुण्य, हवन, अनुष्ठान आदि अनेक प्रकार के कर्मकाण्डो में लगे रहते है और उनके लिए आवश्यक विधान किये हुए कठिन नियम पालन करने में हठपूर्वक सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि शारीरिक पीड़ाएँ, एवं राग, द्वेष, चिन्ता, भय, क्रोध आदि मानसिक कष्ट सहन करते है। परन्तु जिनकी वुद्धि अधिक विकसित हो जाती है, उनको दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निरर्थक प्रतीत होते है, क्योकि वास्तव में न तो उनसे दुःखो की निवृत्ति होती है और न निरंकुश* निरतिशय*, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति ही। वे प्रत्यक्ष अनुभव करते है कि शारीरिक एवं मानसिक सुख-दुःखादि द्वन्द्व (जोड़े) सव सापेक्ष एवं अन्योन्याश्रित (Relative and interdependent) होते है, अतः जितने अधिक सुख के साधन किये जाते है, उतना ही अधिक दुःख साथ ही उत्पन्न हो जाता है। प्रथम तो उन सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न में पहले ही से बहुत से कष्ट उठाने पड़ते है; फिर सुख प्राप्त होने पर उनके नाश होने का भय वना रहता है और साथ ही दूसरो के अधिक सुखो को देख-देख कर जलन होती रहती है; और सुख-भोग के पीछे, उसके परिणाम में दुःख अवश्य होता है। अतः वे सोचते है कि जिन स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के साथ दुःख निरन्तर लगा ही रहता है, वे दुःख-मिश्रित सुख, वास्तविक सुख कैसे हो सकते है; और मरने के बाद की जिस मुक्ति की प्राप्ति के लिए जीवन-काल में सारी आयु नाना प्रकार के नियमो और बन्धनो में बितानी पडे वह सच्ची मुक्ति कैसे हो सकती है? सच्चा सुख अथवा मुक्ति तो वह है कि जिसके लिए मरने की प्रतीक्षा न करनी पडे, किन्तु जिसका अनुभव इसी शरीर में तुरन्त हो जाय, अर्थात् जीवन-काल ही में सव प्रकार के दुःखो और वन्धनो की निवृत्ति हो जाय। इसलिए वे लोग दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निष्फल समझ कर, दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति और निरंकुश, निरतिशय, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति किस तरह हो सकती है, इसका अचूक उपाय ढूंढ निकालने के लिए, सुख-दुःख के यथार्थ स्वरूप, उनके मूल कारण और उनके नाना प्रकार के सम्बन्ध एवं प्रभाव आदि के विषय में गहरा अन्वेषण करते है। इस अन्वेषण के प्रसंग में जब सारा जगत् ही सुख-दुःखमय प्रतीत होता है अर्थात् अपनी तरह सारी सृष्टि सुख-दुःख से ग्रसित दीखती है, तो यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती है कि यह जगत् क्या है? मैं क्या हूँ? जगत से मेरा क्या सम्बन्ध है? यह जगत् क्यो और किस तरह होता है, और इसका सञ्चालन कौन और किस प्रकार करता है? इसमें नाना प्रकार के सुख-दुःख क्यो होते है?

---

*जिस सुख में पराधीनता अथवा परावलम्बन न हो, वह निरंकुश सुख कहलाता है; और जिस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख न हो, वह निरतिशय सुख कहा जाता है।

इनके प्रभाव से रहित कोई हो सकता है कि नहीं, और यदि हो सकता है तो किस तरह ? इत्यादि । जब इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है तब इस विषय में सूक्ष्म—तात्त्विक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि किसी भी विषय के तात्त्विक विवेचन विना उसकी असलियत का पता नहीं लगता और असलियत का पता लगे बिना उसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता । अतः बुद्धिमान लोग अपने तथा जगत् के अस्तित्व और उससे सम्बन्धित विषयो पर तात्त्विक विचार करते हैं । इस तरह के सूक्ष्म तात्त्विक विचारो को दर्शनशास्त्र (Philosophy) कहते ह; और उन तात्त्विक विचारो के आधार पर आचरण करने का विवेचन व्यवहार-दर्शन (Practical Philosophy) है।

प्राचीन काल के आर्य लोगो ने दार्शनिक विषय में सबसे अधिक अनुसन्धान किया था और बुद्धि के तारतम्य के अनुसार उन लोगो ने विविध प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त निश्चित किये थे, जिनके बहुत से दर्शनशास्त्र बन गये थे । इस विषय में उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए वे लोग इस अन्तिम निश्चय पर पहुँचे कि **नानाभावापन्न प्रतीत होनेवाला यह जगत् वस्तुतः एक ही सत्य, सनातन आत्मा के अनेक रूपों का बनाव है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा अपनी इच्छा से अनेक भावों में व्यक्त होकर जगत्रूप होता है** । (कठोपनिषद् वल्ली ५ मन्त्र ९-१०; छान्दोग्य उप० प्रपाठक ६ खण्ड २) ; परन्तु उसका यह नाना रूपों का बनाव अर्थात् जगत् का नानात्व, निरन्तर परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण असत् यानी कल्पित है और उन नाना रूपो अर्थात् अनेकताओ के बनाव के अन्दर जो एकत्व-भाव है, वही सच्चिदानन्द सनातन आत्म-तत्त्व है और वह आत्म-तत्त्व सर्वव्यापक एवं सदा इकसार स्थायी रहने के कारण सत् है (ईशोपनिषद् मन्त्र ४-५; कठोपनिषद् वल्ली २-३) । साथ ही वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि इस भिन्नता के कल्पित बनाव को सच्चा मानने की भूल में पड़ कर, दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार युक्त तथा दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से राग-द्वेषपूर्वक, जगत् के व्यवहार करने से नाना प्रकार के दु ख उत्पन्न होते हैं (कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १०-११); परन्तु इस अनेकता के बनाव को एक ही सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, सनातन आत्मा की इच्छा-शक्ति (प्रकृति) का प्रतिक्षण परिवर्तनशील खेल समझ कर, सर्वत्र एकता के निश्चयपूर्वक दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति के बिना, अर्थात् व्यक्तित्व के अहंकार को समष्टि अहंकार के साथ और व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों के साथ जोड़ कर व्यवहार करने से दुःख का जरा भी अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, किन्तु संसार आनन्दमय भान होता है (ईशोपनिषद् मन्त्र १-२; कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १५, वल्ली ५ मन्त्र १२-१३, वल्ली ६ मन्त्र १४-१५); और वह आनन्द सापेक्ष, सांकुश,

दुःख परिणामवाला अथवा उत्पत्ति-विनाशवाला नहीं होता, क्योंकि वह आत्मज्ञान की समत्वबुद्धि से होता है। आत्मा स्वयं आनन्द-स्वरूप है। इसलिए उपरोक्त आत्म-ज्ञानयुक्त व्यवहार करनेवाला जीवनमुक्त महापुरुष सदा आनन्द-स्वरूप होता है। यह वेदान्त सिद्धान्त है। (ईशोपनिषद् मन्त्र ६-७-८; कठोपनिषद् वल्ली ५ मन्त्र १२-१३)। प्राचीन काल में इसी को ब्रह्मविद्या कहते थे।

प्रत्येक संस्कृति के दो भाग होते हैं—एक उसका तत्त्वज्ञान और दूसरा उसका कर्मकाण्ड। तत्त्वज्ञान संस्कृति का जीवात्मा और कर्मकाण्ड उसका शरीर होता है। 'जगत् के नानात्व का बनाव असत् और सबका एकत्व-भाव सत्' यह निश्चय आर्य-संस्कृति (Hindu Culture) का तत्त्वज्ञान है, अतः यह सिद्धान्त आर्य-संस्कृति का सनातन जीवात्मा है; और इस सिद्धान्त के आधार पर आचरण करने के लिए देश, काल और व्यक्तियो की परिस्थिति एवं योग्यता के उपयुक्त जो ईश्वरोपासना एवं धार्मिक कर्म-काण्ड की व्यवस्थाएँ, सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ, और व्यक्तिगत आचरणों तथा सबके पृथक्-पृथक् कार्य-विभाग के नियम आदि, समय-समय पर बना कर उनके अनुसार सांसारिक व्यवहार किया जाता है, वह इस आर्य-संस्कृति का परिवर्तनशील शरीर है। जिस तरह शरीर परिवर्तनशील होने के कारण बदलता रहता है, किन्तु उसका आधार—अविनाशी आत्मा, अनेक शरीरो को धारण करता और छोड़ता हुआ भी ज्यों का त्यो बना रहता है, उसी तरह ईश्वरोपासना एवं धार्मिक कर्मकाण्ड की व्यवस्थाएँ, विधि-निषेध* की सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ, व्यक्तिगत आचरण एवं कार्य-विभाग के नियम आदि, निरन्तर परिवर्तनशील, देश, काल और वस्तुरूप जगत् के नानात्व के खेल के अन्तर्गत होने के कारण परिवर्तनशील हैं; अतः देश, काल और व्यक्तियो की बदलती हुई परिस्थिति के साथ-साथ इनका भी बदलते रहना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनि-वार्य है। परन्तु इन सब का आधार—मूल सिद्धान्त सत्य एवं नित्य होने के कारण अपरि-वर्तनशील है, अतः वह ज्यो का त्यो बना रहता है। यदि मूल सिद्धान्त को भुलाकर अथवा उसकी उपेक्षा करके उसके स्थान में कर्मकाण्ड आदि को ही नित्य एवं अपरिवर्तनशील मान कर हठ और दुराग्रह से इन्हे न बदला जाय तो जीवात्मा के बिना जो शरीर की दुर्दशा होती है, वही दशा किसी भी संस्कृति अथवा धर्म की होनी स्वाभाविक, अतः अवश्यम्भावी है।

प्राचीन काल में इस देश में ब्रह्मविद्या विशेषतया राजाओं की विद्या समझी जाती

---

* "अमुक-अमुक व्यवहार करने चाहिएँ" ऐसी अनुमति देने वाली व्यवस्थाएँ "विधि" कही जाती हैं और "अमुक-अमुक व्यवहार नही करने चाहिएँ" ऐसी मनाई करने वाली व्यवस्थाएँ "निषेध" कही जाती हैं।

थी (गी० अ० ९ श्लोक २) और राजा लोगों में इसका बहुत प्रचार था (गी० अ० ४ श्लोक १ से ३) क्योकि सारे समाज को सुव्यवस्थित रखने की जिम्मेवारी राजाओं ही की होती है, और ब्रह्मविद्या की जानकारी विना समाज को पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित रखा नहीं जा सकता। वास्तव में आदर्श और निर्दोष राज्य-शासन वा शासन-पद्धति ब्रह्मविद्या के आधार पर ही निर्माण हो सकती है और बड़ी से बड़ी एवं जटिल से जटिल राजनैतिक समस्याओ को ठीक-ठीक सुलझाने का एकमात्र अचूक साधन ब्रह्मविद्या ही है। इसलिए राजाओ के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती थी। वे लोग इसी के प्रसाद से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान द्वारा, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त, प्रजा-रक्षणादि कार्य यथायोग्य करते थे, और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगो को भी देकर सबको अपने-अपने कर्तव्य में स्थित रख कर समाज की सुव्यवस्था रखते थे। राजाओ से ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगो के लेने के वर्णन प्राचीन शास्त्रों में जगह-जगह पाये जाते है।

भारतवर्ष के स्वर्णयुग में रचे हुए अनेक दर्शन और व्यवहार-शास्त्र सूक्ष्म विचारों में एक-एक से बढ़ कर है, जिनमें वेदान्त दर्शन सबसे परे का है। इस दर्शन के जो ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध है, उनमें उपनिषद् सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मान्य है। उनमें वर्णित ब्रह्मविद्या सर्वोपरि है, और वेदान्त के दूसरे सब ग्रन्थ उपनिषदों के प्रमाणों ही से प्रमाणित होते है। केवल वेदान्त के ग्रन्थ ही क्यो, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि भी अपनी प्रामाणिकता के लिए उपनिषदो ही का आश्रय लेते है। अतः उपनिषदो को हिन्दू-सस्कृति के मूल आधार ग्रन्थ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदो का सार माना जाता है, परन्तु वास्तव में यह केवल उपनिषदों का सार ही नहीं है, किन्तु उनके गहन और सूक्ष्म सिद्धान्तो का जीवन के व्यवहारो में उपयोग करने का विधान भी इसमें है, अर्थात् ज्ञान और व्यवहार के मेल का खुलासा अत्यन्त ही सरल और सुगम रीति से गीता में किया गया है। यद्यपि योगवाशिष्ठ भी व्यावहारिक वेदान्त का एक वृहत् ग्रन्थ है, परन्तु उसमें रूपान्तर से प्रायः गीता ही के उपदेशों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन विचारों का इतना अधिक विस्तार है कि उनका साधारण जनता की समझ में आना बहुत कठिन है। वेदान्त के अन्य ग्रन्थ प्रायः अपने-अपने सिद्धान्तों की सिद्धि एवं उनकी पुष्टि के शास्त्रार्थ तथा निवृत्ति में ही उनके उपयोग के विचारों से भरे पड़े है। प्रवृत्ति में उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, कार्य-रूप में उन्हें कैसे परिणत करना चाहिए, अर्थात् उनको अमल में कैसे लाना चाहिए, यह निरूपण उपनिषदो के आधार पर जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में है, वैसा किसी में नहीं है। तात्पर्य यह कि गीता की यह विशेषता है कि आत्म-ज्ञान की सात्विकी बुद्धि से कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करके, जगत् के व्यवहार किस तरह करने चाहिएँ कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनो, अर्थात्

शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की निश्चयपूर्वक प्राप्ति हो सके, इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निरूपण इसमें बहुत ही स्पष्ट रूप से किया गया है—सो भी केवल सात सौ श्लोकों में, और बहुत ही सरलतापूर्वक। यदि गीता में केवल एकात्म-ज्ञान के सिद्धान्त (Theory) मात्र ही का उपदेश होता, तो उसकी कोई विशेषता नहीं होती, और न उसकी सार्वजनिकता एवं सर्वोपयोगिता ही रहती, क्योंकि केवल आत्मज्ञान के तो बहुत से ग्रन्थ हैं, परन्तु जिस ज्ञान के अनुकूल व्यवहार न हो सके, अथवा जिसका व्यवहार में कुछ भी उपयोग न हो सके, वह साधारण लोगों के किस काम का ? वह शुष्क ज्ञान तो लौकिक व्यवहार से विरक्त सन्यासियों ही के उपयोग में आ सकता है। परन्तु गीता में वह शुष्क ज्ञान नहीं है। गीता तो व्यावहारिक वेदान्त का क अनुपम शास्त्र है, जिसकी उपयोगिता किसी व्यक्ति-विशेष या समुदाय-विशेष तक ही परिमित नहीं है; किन्तु वह सार्वभौम और सार्वजनिक है। उसका उपयोग छोटे से छोटे और बड़े से बड़े लोग—जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, देश और काल के भेद बिना—सदा सर्वदा कर सकते हैं; क्योंकि उसके उपदेश किसी साधारण मनुष्य के कहे हुए नहीं है, किन्तु सर्वात्म-भावापन्न (अखिल विश्व को अपने में और अपने को अखिल विश्व में अनुभव करने वाले अर्थात् अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले) महान्-आत्मा के—जिसको हिन्दू लोग तो परमात्मा का पूर्ण अवतार मानते ही हैं, किन्तु और लोग भी एक असाधारण महापुरुष अवश्य ही स्वीकार करते हैं—कहे हुए हैं। गीता की बराबरी का दूसरा कोई शास्त्र संसार को अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है—यह बात केवल आर्य-संस्कृति के मानने वाले भारतीय लोग ही नहीं मानते किन्तु अन्य संस्कृतियों के मानने वाले बहुत से विदेशी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

जब तक भारतवर्ष में दार्शनिक लोग ज्ञान-रूपी प्रकाश को लिये हुए आगे चलते रहे, और साधारण जनता उस प्रकाश में उनके पीछे चलती रही, अर्थात् आध्यात्मिकता के मूल सिद्धान्त के आधार पर थोड़ा या बहुत आचरण करती रही, तब तक यह देश अन्य देशों की प्रतियोगिता में उन्नत और शक्तिशाली बना रहा। संसार के सब देश इसका मुंह ताकते थे। सुख-समृद्धि से यह परिपूर्ण था। परन्तु महाभारत-काल में, अधिकार-प्राप्त लोगों में भौतिकता बहुत बढ़ जाने से व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भावों की प्रबलता होकर लौकिक व्यवहारों में आध्यात्मिक भाव प्रायः लुप्त हो गये थे (गी० अ० ४ श्लोक १-२) और तत्त्वज्ञानी लोगों ने अधिकतर निवृत्ति मार्ग ही स्वीकार कर लिया था, तब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने अवतार लेकर अपने आचरणों द्वारा, तथा सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव से व्यवहार करने के उपदेश लोगों को देकर ब्रह्म-विद्या का पुनः प्रचार किया (गी० अ० ४ श्लोक ३)। फिर, महाभारत-काल के बाद के प्रामाणिक इतिहास के अभाव में यह तो नहीं कहा जा सकता कि दर्शनशास्त्रों का

व्यावहारिक उपयोग यहाँ कब वन्द हुआ, परन्तु भगवान् बुद्ध के अवतार लेकर प्रवृत्ति-मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति-मार्ग का प्रचार करने से यह अनुमान होता है कि उस समय इस देश में विश्व की एकता का वेदान्त सिद्धान्त लोगो के आचरणो से लुप्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्मकाण्डो की अत्यन्त वृद्धि हो गई होगी, जिनके अत्याचारो से लोग बहुत ही दुःखी हो गये होगे और उस अवस्था से लोगो का उद्धार करने के लिए भगवान् बुद्ध ने निवृत्ति-मार्ग का प्रचार ही उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त एव कल्याणकारी समझा होगा। फिर जब बौद्धमत में भी विपर्यास हुआ और उससे भी लोगो पर अत्याचार बढ़ने लगे, तब भगवान् शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वैदिक धर्म का पुनः प्रचार किया, तो उस समय की परिस्थिति के अनुकूल उन्होने भी निवृत्ति-मार्ग पर ही विशेष जोर देना उचित समझा और वेदान्त शास्त्र के आधार पर निवृत्ति-मार्ग को ही दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति, और सच्चे एव अक्षय सुख की प्राप्ति यानी मुक्ति का साधन सिद्ध किया। इससे यह निष्पन्न होता है कि भगवान् बुद्ध के समय से इस देश में निवृत्ति-मार्ग पर लोगो की अधिक श्रद्धा हो गई और यहाँ के लोग संसार के व्यवहारो को सर्वथा बन्धन का हेतु मानने लगे; दर्शनशास्त्र केवल निवृत्ति के ही प्रतिपादक समझे जाने लगे, प्रवृत्ति में दार्शनिक तत्त्वज्ञान अनावश्यक ही नहीं, किन्तु उसका विरोधी ठहराया गया। फलतः दार्शनिक विषय केवल पुस्तकीय ज्ञान (Theory) कोरे शास्त्रार्थ करने के लिए ही रह गया; ससार के व्यवहार में वेदान्त के सिद्धान्तो का उपयोग बिलकुल ही छूट गया और गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास लेनेवालो ही का दर्शनो पर अधिकार हो गया। दूसरे शब्दो में दार्शनिक तत्त्वज्ञान का उपयोग संसार के व्यवहारो से लुप्त होकर केवल संन्यास ही में होने लगा। यहाँ तक कि उपनिषद् और गीता जैसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के ग्रन्थो का भी निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि में ही उपयोग होने लगा और उसी के अनुकूल इनके अनेक भाष्य और टीकाएँ बन गईं। साम्प्रदायिक टीकाकारो ने अपने-अपने मत की पुष्टि और अपने अनुयायियो को अपने सिद्धान्त समझाने की स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपनिषद् और गीता का आश्रय लेकर इनके अर्थ की यहाँ तक खींचा-तानी की, और शास्त्रार्थ के वागाडम्बरो का तूल इतना बढा दिया कि इनके अर्थ में बहुत ही गड़बड़ हो गई और इनका असली तात्पर्य (व्यावहारिक वेदान्त) बिलकुल अज्ञात हो गया। गीता के विषय में तो कहीं-कहीं यहाँ तक कहा जाने लगा कि 'गीता का अर्थ कृष्ण ही जानें।' जिसका भावार्थ यह निकलता है कि स्वयं कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई उसका सच्चा तात्पर्य समझ ही नहीं सकता; अतः न अब इस युग में फिर से कृष्ण का अवतार हो और न गीता का वास्तविक अर्थ ही समझा जा सके। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब अपने सिवाय दूसरा कोई उसको समझ ही न सके, तो गीता बनाने का परिश्रम उन्होने व्यर्थ ही किया। तात्पर्य यह कि साधारण जनता भगवान् के इस सार्व-

जनिक एवं सर्वहितकर उपदेश का यथार्थ लाभ उठाने से वंचित हो गई। बहुत से लोगों ने तो इसको निवृत्ति-मार्ग की पुस्तक समझ कर, इसके पढ़ने से संसार से वैराग्य हो जाने के डर से इसको पढना छोड़ कर, केवल मृत्यु के समय सुनाने योग्य ही निश्चय कर लिया। इस तरह उपनिषदो और गीता में प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त भारतवर्ष में बिलकुल लुप्त हो गया, और ज्ञान के प्रकाश विना अज्ञान के अन्धकार में संसार के व्यवहार होने लगे, जिसका परिणाम जैसा होना स्वाभाविक है, वैसा ही हुआ अर्थात् आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी शरीर में से आध्यात्मिक मूल सिद्धान्त-रूपी जीव निकल गया। तब, जिस तरह जीव-रहित शरीर में अनेक प्रकार के विकार और सड़ाव-गलाव उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा इस संस्कृति की हुई। इस देश के अधिकांश लोग अपने व्यवहारों में आध्यात्मिकता का उपयोग भूल कर आधिभौतिकता में ही अत्यन्त आसक्त हो गये, जिससे जड़ता (तमोगुण) का इन पर साम्राज्य हो गया, और बुद्धि का विपर्यास होकर ये लोग सत्य को झूठ और झूठ को सत्य मानने लगे; भौतिक शरीरो को ही सब कुछ मान कर, आपस में जाति-पाँति आदि की अनन्त प्रकार की भिन्नताएँ उत्पन्न करके, व्यक्तिगत अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ पर ही प्रायः सब का लक्ष्य रह गया, जिससे एक दूसरे से घृणा और तिरस्कार के भाव उत्पन्न हो गये, और आपस की एकता का लोप होकर सारे देश में फूट फैल गई; अधिकांश लोग आपस में असत्य और छल-कपट का व्यवहार करके एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे, जिससे सम्मिलित शक्ति से काम करने की योग्यता प्रायः लुप्त हो गई; भौतिक शरीरो में इतना मोह बढ़ गया कि बहुत से लोग मरने और कष्ट सहने से डरने लगे; बुद्धि से काम लेना छोड़ कर अन्ध-विश्वासो और रूढ़ियो के दास हो गये; मानसिक दुर्बलता के कारण बात-बात में वहम और शंकाएँ खड़ी करके सदा सशंकित रहने लगे; आत्मिक निर्बलता बढ़ जाने से स्वावलम्बन का भाव बहुत कम रह गया; प्रत्येक कार्य में अपने से भिन्न ईश्वर, देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि अदृष्ट कल्पित शक्तियों का अथवा अपने से भिन्न लोगो का आश्रय लेकर ये लोग अधिकतर परावलम्बी, उत्साहहीन, निरुद्यमी और आलसी बन गये, और आत्मा की स्वाभाविक स्वतन्त्रता एवं परिपूर्णता के भावो से विमुख होकर दूसरी, दृष्ट वा अदृष्ट कल्पित शक्तियों के दास बन कर, उनके आश्रित हो गये; भूतकाल के अभिमान में शोचनीय वर्तमान और अन्धकारमय भविष्य पर ध्यान देना प्रायः भूल गये, और अपने अवगुणो तथा त्रुटियो को छिपाये एवं दबाये रखना ही अपने लिए हितकर मानने लगे।

इन्हीं कारणो से इस देश का धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक पतन हुआ और इन्हीं कारणो से इस देश के लोग, राजनैतिक स्वतन्त्रता खोकर, जिन लोगों में ये दुर्गुण यहाँ के लोगों से कम थे, उनके अधीन हो गये।

दूसरी तरफ, जो देश वर्तमान में उन्नतिशील हैं, उनकी उन्नति का कारण थोड़ा

या बहुत, जाने या अनजाने, व्यावहारिक वेदान्त का आचरण ही है। उन देशो में दार्शनिक और वैज्ञानिक लोग ज्यो-ज्यो आगे बढ़ते जाते है, त्यो-त्यो साधारण जनता उनके पीछे चलती रहती है। आपस में एकता और प्रेम इतना बढ़ा हुआ है कि वे एक दूसरे के साथ असत्य और छल-कपट का बर्ताव प्रायः नहीं करते, और प्रत्येक कार्य में संघ-शक्ति का उपयोग करते है; व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ को, जातीय अहंकार और जातीय स्वार्थ के अन्तर्गत मानते है; जनता की सेवा और जनता के हित के लिए व्यक्तिगत शरीर पर कष्ट झेलने और मरने तक को भी सदा तैयार रहते है; व्यवहार में अन्धविश्वास की रूढ़ियो तथा मानसिक दुर्बलताओ को बाधक नहीं होने देते; स्वावलम्बन में आत्माभिमान मानते है और परावलम्बन एवं दासता के भावो को बहुत हीन एवं त्याज्य समझते है; भूतकाल को अनावश्यक महत्त्व न देकर वर्तमान और भविष्य पर विशेष ध्यान रखते है, और अपनी त्रुटियो का प्रकट होना हितकर समझते है। इन सद्गुणो के कारण ही उन देशो की उन्नति हुई है और वे दूसरो पर आधिपत्य करते है।

भारतीयो के लिए कुशल इतनी ही है कि जिस तरह भौतिक शरीर के बिगड़ जाने अथवा नाश होने पर भी अव्यय, अविनाशी जीवात्मा ज्यो का त्यो बना रहता है; उसी तरह आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी भौतिक शरीर के अस्तव्यस्त होने पर भी उसका मूल सिद्धान्त, सत्य और सनातन होने के कारण, ज्यो का त्यो विद्यमान है, अन्य संस्कृतियों के अपूर्ण और अस्थिर सिद्धान्तो की तरह वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और न उसका कुछ बिगड़ ही सकता है। इसलिए आर्य-संस्कृति यदि अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर अपने बिगड़े हुए व्यवहार-रूपी विकृत कलेवर को बदल कर, उसको वर्तमान समय की परिस्थिति के अनुकूल बना ले, तो वह अपनी पूर्व उन्नतावस्था पुनः प्राप्त करके सर्वशिरोमणि हो सकती है, और इस देश की जनता के सभी क्लेश मिट कर सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः यदि हमें इस भयानक अवस्या से मुक्ति पाकर, दूसरे देशो की प्रतिद्वन्द्विता में जीवित रहना है, तो हमें पुनः ब्रह्मविद्या का प्रचार करना चाहिए, अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता का असली तात्पर्य समझ कर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने की व्यवस्थाएँ बना कर जनता को यथायोग्य उन पर चलाने का प्रबन्ध करना चाहिए।

जिस तरह मरा हुआ शरीर पुनः पूर्व रूप में जीवित नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्राचीन काल की मुर्दा व्यवस्थाएँ, बिलकुल उसी रूप में पुनः प्रचलित नहीं की जा सकतीं; न दूसरे देशो एवं अन्य संस्कृतियो के लोगो का अन्धानुकरण ही हमारे लिए हितकर हो सकता है, क्योकि अन्य सस्कृतियो के सिद्धान्त बहुत संकुचित है अर्थात् उनका क्षेत्र किसी देश-विशेष या जाति-विशेष या समाज-विशेष तक ी परिमित है, इसलिए वे अपूर्ण और अस्थिर भी है, उनसे सच्चा एवं अक्षय सुख तथा सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु हमारी संस्कृति का मूल सिद्धान्त व्यापक होने के कारण उसका क्षेत्र

असीम और सार्वजनिक है, इसलिए वह पूर्ण एवं नित्य है; अतः उसके आधार पर ही अपनी व्यावहारिक व्यवस्थाएँ, समयानुकूल बाँधते रहना हमारे लिए विशेष हितकर हो सकता है। हाँ, अन्य संस्कृतियो की भी जो-जो बातें हमारी वर्तमान परिस्थिति के उपयुक्त और हितकर हो, उनकी आध्यात्मिक दृष्टि से छान-बीन करके उनसे हमें लाभ उठाना चाहिए; और जो-जो प्राचीन व्यवस्थाएँ हमारे यहाँ अब तक प्रचलित है, उनमें से जो उसी रूप में अथवा संशोधित होकर, वर्तमान समय की परिस्थिति के उपयुक्त तथा हितकर हों, उनका यथायोग्य उपयोग करना चाहिए, हमको द्वेष किसी से भी नहीं रखना चाहिए, क्योकि प्राचीन और नवीन सभी बातें हमारी संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही है; इसलिए हमको यथायोग्य सब का सदुपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से इस देश की वास्तविक उन्नति ही न होगी, किन्तु सारे संसार को उसका अनुसरण करना पड़ेगा।

क्योकि श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक वेदान्त ही हमारी संस्कृति का मूल आधार है, और उसी के अनुसार आचरण करने से हमारी उन्नति सम्भव है, इसलिए उसी विषय के निरूपण करने का प्रयत्न इस पुस्तक में आगे किया जायगा।

व्यावहारिक वेदान्त

यह बात उपोद्घात में कह आये हैं कि "व्यावहारिक वेदान्त" के आचरण से ही सच्चा सुख अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो सकती है। अब सबसे पहले इस विषय पर विचार करना चाहिए कि "वेदान्त" क्या है और व्यवहार में उसका उपयोग किस तरह होता है ?

"वेदान्त" किसी विशिष्ट धर्म (मज़हब), मत, सम्प्रदाय या पन्थ का नाम नहीं है, और न किसी ग्रन्थ-विशेष ही में "वेदान्त" परिमित है। "वेदान्त" शब्द का अर्थ है— जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा। जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के "अपने आप" में होती है। जब तक अपने से भिन्न कोई दूसरी वस्तु रहती है तब तक जानने का अन्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) का अलग-अलग अस्तित्व रहता है, तब तक एक दूसरे का जानना अथवा ज्ञान बना रहता है; परन्तु जब जानने वाले (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) की पृथक्ता मिट कर एकता हो जाती है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का, सब की एकतारूप "अपने आप (Self)" में लय हो जाता है, तब जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता, केवल "अपना आप" ही शेष रहता है, जो जानने (ज्ञान) का विषय नहीं है; क्योंकि जब अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तभी जानने की क्रिया हो सकती है। अतः जानने का अन्त "अपने आप (Self)" में होता है।

दूसरे पदार्थ तो "अपने आप (Self)" से जाने जाते हैं, परन्तु जिससे सब जाने जाते हैं, उस "अपने आप (Self)" को किससे जाना जाय ? वह तो स्वयं अपने अनुभव का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "मैं हूँ", इस विषय का किसी को अज्ञान नहीं है कि जिसे दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता हो। "अपने आप" से कोई अनजान नहीं है। यह कोई भी नहीं कहता कि "मैं नहीं हूँ"। "अपने आप" से भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनकी दूरी (पृथक्ता) मिट कर ज्यों-ज्यों समीपता (एकता) होती जाती है, त्यों-त्यों उनका ज्ञान बढ़ता जाता है, और जब सारी पृथक्ता—सारा अन्तर— मिट कर सब की "अपने आप (Self)" में पूरी एकता हो जाती है तब ज्ञान की समाप्ति होकर केवल "अपने आप" का अनुभव मात्र ही शेष रह जाता है, अर्थात् सभी पृथक्ताओं का "अपने आप" में समावेश होने का अनुभव हो जाता है, अतः वह अनुभव ही "वेदान्त" है।

वेदान्त किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष, समाज-विशेष, देश-विशेष अथवा

काल-विशेष में सीमाबद्ध नहीं है, क्योंकि "अपने आप" का भाव अर्थात् "मैं हूँ" यह अनुभव समस्त भूत-प्राणियो में, सब देश और सब काल में एक समान बना रहता है। अतः सबकी पूर्ण एकता-स्वरूप "अपने आप" का यथार्थ अनुभव ही "वेदान्त" है, चाहे वह अनुभव किसी भी व्यक्ति को हो। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अपने आपका अनुभव तो सबको है, परन्तु उपर्युक्त यथार्थ अनुभव विरलो को ही होता है। "मै हूँ" यह तो सब अनुभव करते है, परन्तु "मै क्या हूँ" इसका यथार्थ अनुभव सब को नहीं होता। अधिकांश लोग स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर ही को "अपना आप (Self)" माने हुए है। यह यथार्थ अनुभव नहीं है। किसी भी व्यक्ति का शरीर वास्तविक "अपना आप (Self)" नहीं है, क्योकि शरीर तो अनेक और भिन्न-भिन्न है, उनमें एक दूसरे से विषमता है, और वे प्रतिक्षण बदलने एवं जन्मने-मरने वाले है परन्तु "अपना आप (Self)" तो सबमें एक है और समान भाव से सदा विद्यमान तथा सदा एकसा रहता है। इसलिए परिवर्तनशील शरीर "अपना आप (Self)" नहीं हो सकता, किन्तु जो सब शरीरो का आधार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा है, जो प्रत्येक शरीर का रूप धारण करता है और प्रत्येक शरीर को चेतना देता है, जो प्रत्येक शरीर का अस्तित्व बनाये रखता है, जो प्रत्येक शरीर का प्रकाशक है और उसका ज्ञान रखता है एवं जो प्रत्येक शरीर को गति देता है, वही सच्चा "अपना आप (Self)" है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल शरीर के सब अवयवों—आँख, नाक, कान, मुख, सिर, हाथ, पाँव, हड्डी, मांस, रक्त, नस, नाड़ी, चमड़ी आदि को "मेरे" कहता है, और चतुर्विध अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) एवं पाप, पुण्य, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि सूक्ष्म शरीर के अवयवो और विकारो को भी "मेरे" कहता है। इससे स्पष्ट है कि वह "अपने आप" को स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीरो का स्वामी मानता है। जागृत अवस्था में स्थूल शरीर के सब अवयवो द्वारा "मैं" यानी "अपना आप" स्थूल व्यापार करता है और नाना भाँति के स्थूल भोग भोगता है; स्वप्न अवस्था में जब स्थूल शरीर के सब व्यापार बन्द हो जाते है एवं उसका ज्ञान भी नहीं रहता, उस समय भी "मैं" यानी "अपना आप" सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वप्न के व्यापार करता है; और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा की अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरो के व्यापार बन्द हो जाने पर एवं सुख-दुःख आदि का कुछ भी ज्ञान न रहने पर भी "मैं" यानी "अपना आप" कारण रूप से गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करता है और जागने पर कहता है कि "मैं बड़े सुख से सोया"। इसी तरह तुरीय अवस्था अर्थात् आत्माकारवृत्ति की निर्गुण अवस्था में सब प्रकार के शारीरिक व्यापारो से पृथक् रहते हुए भी "मैं" यानी "अपना आप" अपने आपके आत्मानन्द में स्थित रहता है। शरीरो के बनने अर्थात् जन्म के पूर्व, और उनके बिगड़ने अर्थात् मरने के बाद भी "मैं", यानी "अपना आप" अपने मन के संस्कारो अर्थात् मानसिक क्रियाओ के संचित

प्रभावो के अनुसार, कभी कारण रूप से तमोगुण की मूर्च्छित दशा में, अथवा पंचभौतिक जड़ अवस्था में—पृथ्वी, जल, तेज, वायु अथवा आकाश-रूप में—रहता है; उस दशा में चेतनता यद्यपि कारण-रूप से रहती तो है परन्तु व्यक्त (प्रकट) नहीं होती। जब कुछ चेतनता के संस्कार उद्भव (विकसित) होते है, तब पृथ्वी में से (जड़ अवस्था से) निकल कर वनस्पति-रूप से रहता है; फिर अधिक चेतनता के संस्कार विकसित होने पर, वनस्पति-रूप में प्राणियों के उदर में जाकर, उनके रजवीर्यरूप होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियाँ धारण करता है। इसी तरह अपने मन के संस्कारो के अनुसार कभी विकास की क्रमोन्नति की सीढ़ी चढ़ता और कभी उतरता हुआ नाना रूप धारण करता है। कभी सत्वगुण की प्रबलता-जन्य उन्नत संस्कारो के कारण क्रमोन्नति की क्रिया के बिना ही विकास की उच्च अवस्थाओ में एकदम चढ़ जाता है; और जब सब संस्कारो और संकल्पो से रहित हो जाता है, तब नाम, रूप एवं क्रियाओ के विकारो से रहित होकर निर्विकार अवस्था में अपनी स्वमहिमा में स्थित रहता है। परन्तु किसी भी दशा में "मेरा" यानी "अपने आपका" कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह सत्-चित्-आनन्द है, इसलिए सदा बना रहता है (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्रा० ३ और ४)।

सब के "अपने आप" के अस्तित्व से ही अन्य सब का अस्तित्व है। सब को सत्ता देने वाला "अपना आप=आत्मा" है। "अपने आप" बिना अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। जब "अपना आप" होता है, तब दूसरो की प्रतीति होती है। दूसरे सब पदार्थ तो परिवर्तनशील है—कभी प्रतीत होते है, कभी नहीं होते, कभी किसी प्रकार के प्रतीत होते है, कभी किसी प्रकार के; तथा उनके होने में संशय भी हो सकता है—इसलिए वे असत् है। परन्तु सब का "अपना आप" अपरिवर्तनशील है और सदा इकसार बना रहता है तथा "अपने आप" की प्रतीति में कभी अन्तर नहीं आता, वह सबके लिए निरन्तर इकसार बनी रहती है; न "अपने आप" के होने में कभी किसी को संशय ही होता है; इसलिए सब का "अपना आप" यानी आत्मा सत् है।

सब का "अपना आप" चेतन है अर्थात् स्वयं ज्ञान अथवा प्रकाश-रूप है। अन्य सब वस्तुओ का प्रकाशक चेतनस्वरूप "अपना आप" है, वे सब "अपने आप" से जानी जाती है; परन्तु "अपने आप" को प्रकाश करने के लिए, अर्थात् अनुभव कराने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। अन्य किसी भी वस्तु की प्रतीति न होने पर भी "अपने आप" की प्रतीति सब को सदा बनी रहती है। अतः सब का "अपना आप" यानी आत्मा चित् है।

"अपना आप" सब को सदा अच्छा और प्यारा लगता है। "अपना आप" कभी किसी को दुःखदायक एवं अप्रिय और बुरा प्रतीत नहीं होता। अन्य सब वस्तुएँ "अपने आप" अर्थात् आत्मा के कारण अच्छी एवं प्यारी लगती है, अर्थात् जितने पदार्थ अपने

मान लिये जाते हैं, और अपने अनुकूल होते हैं वे ही सुखदायक एवं प्यारे लगते हैं। जब कोई वस्तु बेगानी मानी जाती है अथवा अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है तो वह प्यारी नहीं लगती। किसी भी पदार्थ में प्यारापन उसको अपनाने से उत्पन्न होता है। अन्य कोई भी पदार्थ सुखदायक एवं प्रिय न रहने पर भी "अपना आप" तो सबको सदा सुखदायक एवं प्यारा लगता है। इसलिए सब का "अपना आप" यानी आत्मा आनन्द है।

"अपने आप" (Self) के बिना कोई भी पदार्थ नहीं है। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी वस्तु में, "अपने आप" (Self) का अभाव अथवा वृद्धि-ह्रास (बढ़ना-घटना) नहीं होता; इसलिए "अपना आप" नित्य, सर्वव्यापक एवं सम अर्थात् सबमें एक समान और सदा एकसा रहने वाला है; और जो वस्तु नित्य, सर्वव्यापक एवं सम होती है, वह वस्तुतः एक ही होती है, उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि एक से अधिक होने से उसमें नित्यता, सर्वव्यापकता एवं समता नहीं रहती।

सब के "अपने आप" यानी आत्मा के सत्, चित्, आनन्द, नित्य, सर्वव्यापक, सम और एक होने के विषय में कई तरह की शंकाएँ उठती हैं, यथा :—

(१) यदि हमारा "अपना आप" सत् और नित्य है, तो हमारा जन्म-मरण क्यों होता है? क्योंकि सत् पदार्थ का तो कभी नाश नहीं होना चाहिए।

(२) यदि यह कहा जाय कि शरीर के साथ हमारा आत्मा जन्मता-मरता नहीं— जन्मने के पहले और मरने के बाद भी वह बना रहता है, तो जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व का ज्ञान हमें यहाँ क्यो नहीं रहता? तथा जन्म के पूर्व की बातें हमें याद क्यों नहीं रहतीं? एवं मरने का डर क्यो लगता है?

(३) यदि हमारा "अपना आप" चित् अर्थात् ज्ञान-स्वरूप है, तो फिर हम अल्पज्ञ क्यो है? संसार के सभी देश, काल और वस्तुओ का हमें ज्ञान क्यों नहीं होता?

(४) यदि हमारा "अपना आप" आनन्द है, तो हमें अनेक प्रकार के दुःख और बन्धन क्यो होते हे? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यों नहीं रहते?

(५) यदि हमारा "अपना आप" सर्वव्यापक है, तो किसी विशेष देश और विशेष काल तथा विशेष व्यक्ति में ही हमारा अस्तित्व परिमित क्यों है? हम अपने को एक साथ सर्वत्र उपस्थित अनुभव क्यो नहीं करते?

(६) यदि हमारा सब का "अपना आप" सम है, तो एक दूसरे में, इतनी विषमता क्यो है? कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई धनी और कोई निर्धन, कोई ऊँचा और कोई नीचा, कोई निर्बल और कोई सबल, कोई रोगी और कोई नीरोग, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख क्यों है? और एक ही व्यक्ति कभी सुखी और कभी दु.खी—आदि अनेक प्रकार की विषमताएँ दृष्टिगोचर क्यो हो रही है?

(७) यदि हमारा सब का "अपना आप" एक है, तो सबके सुख-दु.ख और अन्य

मानसिक विकार, एक दूसरे को अनुभव क्यो नहीं होते ? सब का आपस में मेल क्यों नहीं रहता ? अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग स्वभाव, अलग-अलग सुख-दुःख आदि क्यो होते हैं ?

उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नीचे लिखे अनुसार है :—

(१) शरीरो के जन्मने और मरने से अपने वास्तविक आप का जन्मना-मरना नहीं होता, केवल स्वांग का परिवर्तन होता है; न अपने वास्तविक आप की उत्पत्ति और नाश ही होते हैं; इस विषय का खुलासा पहले कर आये हैं। शरीर तो पंच भूतो के सम्मिश्रण का बनाव है और वह बनाव प्रतिक्षण बदलता रहता है; शरीर का जन्मना पंच भूतो के सम्मिश्रण का एक विशेष रूप होता है और मरना उसका दूसरा रूप। इन रूपो के बदलने से उनके आधार पंच भूत और पंच भूतो के आधार आत्मा—जो सब का "अपना आप" है—के अस्तित्व में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी अथवा विकार नहीं होते। आत्मा पंच भूतो के सम्मिश्रण का कभी कोई और कभी कोई स्वाँग (बनाव) धारण करता रहता है। शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद भी, पंच भूत ज्यो के त्यो बने रहते हैं—केवल नाम और रूप का उनमें परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन ही उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते हैं। उत्पत्ति और नाश सापेक्ष द्वन्द्व (जोड़े) हैं अर्थात् आपस में अन्योन्याश्रित हैं; अतः वास्तव में उत्पत्ति और नाश कुछ भी नहीं होता। सब शरीरो और पंच तत्त्वो का आधार आत्मा यानी "अपना आप", उक्त परिवर्तन की सब दशाओ में ज्यो का त्यो बना रहता है, इसलिए उसकी सत्यता और नित्यता स्वतः सिद्ध है।

(२) इस जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व के ज्ञान के संस्कार हम सब में रहते तो अवश्य हैं पर वे अप्रकट-रूप में रहते हैं। यह इसी से सिद्ध है कि इस शरीर की अबोध (शैशव) अवस्था में ही अनेक चेष्टाएँ हम ऐसी करते हैं जो पूर्व के अभ्यास बिना हो नहीं सकतीं और जिनका हमने इस जन्म में कभी अभ्यास नहीं किया—जैसे खाना, पीना, रोना, हँसना आदि, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के तरह-तरह के स्वभाव और सुख-दुःख आदि जन्म के साथ ही लगे हुए रहते हैं। कई बालक चार-पाँच वर्षों की आयु में ही बिना सिखाए कई विशेष कलाओ में इतने निपुण होते हैं और बिना पढ़े ही उनको कई विद्याओ का इतना ज्ञान होता है कि जिनका बड़ा ही अचंभा होता है और ये बातें पूर्व-जन्म के संस्कारो के बिना हो नहीं सकतीं। अब रही मरने के बाद हमारे अस्तित्व के अनुभव की बात, सो यद्यपि इस बात का सबको निश्चय है कि दस, बीस, पचास या अधिक से अधिक सौ वर्षों से अधिक यह शरीर नहीं रहेगा, फिर भी लम्बी मुद्दत के लिए ऐसे समान—परलोक में विश्वास न रखने वाले भी एकत्र करते रहते हैं और अनेक प्रकार के ऐसे प्रबन्ध बाँधते रहते हैं कि जो उनके वर्तमान शरीर के उपयोग में नहीं आ सकते; परन्तु अपने उत्तराधिकारियो को, अपने मरने के बाद भी वे अपने ही समझते हैं

अर्थात् मृत्यु के बाद भी उनसे अपना सम्बन्ध कायम रहना मानते हैं, तभी तो उनके लिए इतना परिश्रम करते हैं; नहीं तो यदि मरने के बाद अपने अस्तित्व की सर्वथा समाप्ति हो जाना मानते तो उत्तराधिकारियों से किसका सम्बन्ध रहता, जिनके लिए इतने प्रबन्ध बाँधने का परिश्रम किया जाता है। अतः हम लोग चाहे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्यक्ष में अनुभव न करें, परन्तु वास्तव में अपना अस्तित्व सदा बना रहना रूपान्तर से मानते ही हैं।

जन्म के पूर्व की बातें याद न रहने का कारण यह है कि प्रथम देह छोड़ कर दूसरी देह धारण करने के बीच में दीर्घकाल का अन्तर बेहोशी यानी अचेतनता का पड़ता है, जिससे पूर्व के संस्कारो की स्मृति दब जाती है। इस शरीर में भी मूढ़ताग्रस्त तामसी जीवो की स्मृति कम होती है और शैशव अवस्था की बातें बड़े होने पर याद नहीं रहतीं, यद्यपि शरीर वही होता है। वर्तमान में भी हमारे शरीर में अनन्त क्रियाएँ ऐसी हो रही हैं जिनका हमको कुछ भी पता नहीं है यद्यपि उन क्रियाओं के करने वाले हम ही होते हैं। डाक्टरो ने भी अब विज्ञान द्वारा सिद्ध कर दिया है कि छः-सात दिन तक लगातार बेहोशी रहे तो इसी शरीर के पहले के संस्कारों की स्मृति नहीं रहती। जिन व्यक्तियो में तमोगुण की मात्रा कम होती है और सत्वगुण बढ़ा हुआ होता है, उनको पूर्व-जन्म की स्मृति तारतम्य से होती है। ऐसे कई व्यक्ति समय-समय पर देखने में आते हैं जिन्हें पूर्व-जन्म के बहुत से वृत्तान्त याद होते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। अधिकतर लोगों में तमोगुण की प्रबलता होने के कारण वे दीर्घकाल की अचेतन अवस्था से गुजर कर जन्म लेते हैं, यही कारण है कि पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं रहती। जब हम सोते हैं, उस समय यदि पहले स्वप्न आकर पीछे लम्बी सुषुप्ति होती है तो यह स्वप्न याद नहीं रहता, परन्तु स्वप्न के बाद ही यदि हम जाग जाते है तो वह स्वप्न कुछ-कुछ याद रह जाता है।

मृत्यु के विषय में चित्त में जो भय प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि सबके "अपने आप" यानी आत्मा का स्वभाव मरने का नहीं है, परन्तु उसके स्वभाव के प्रतिकूल मरने की भावना उत्पन्न करने से दोनो विरोधी भावो के संघर्ष होने का जो मन में विक्षेप होता है, वही भय-रूप से प्रतीत होता है। मृत्यु का भय निर्बल हृदय के अज्ञानी लोगो को अधिक होता है, विचारशील और वीर लोगो को नहीं होता।

(३) हमारे अल्पज्ञ होने का कारण यह है कि हमने अपने आपको इस भौतिक शरीर के अन्दर ही कैद कर रक्खा है, अर्थात् हम अपने को एक साढ़े तीन हाथ का पुतला ही समझते है, और इस पुतले के इर्द-गिर्द के पदार्थों और इसके निकटवर्ती सम्बन्धियो में ही आसक्ति करके, उतने तक ही हमने अपने कार्यक्षेत्र की हद बाँध रक्खी है। यह बात प्रत्यक्ष है कि संकुचित घेरे में रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान परिमित ही होता है।

जिस व्यक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही उसका ज्ञान भी अधिक विस्तृत होता है। जो लोग जितना ही अधिक देशाटन आदि करके जितने अधिक लोगो से मिलते है तथा जितने अधिक स्थान और पदार्थ देखते है, उतना ही उनको उन विषयो का अधिक ज्ञान होता है। संसार में ज्ञान की वृद्धि, संकुचित व्यक्तित्व के भाव कम करके, अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने से अर्थात् एकता बढाने से ही हो सकती है और जो लोग अपना ज्ञान बढा सके है वे इसी साधन से बढ़ा सके है। वर्तमान में भी भौतिक विज्ञान में जो लोग इतने उन्नत हुए है—यहाँ तक कि सारी पृथ्वी के इर्द-गिर्द एक ही विद्युत्-शक्ति की व्यापकता का ज्ञान प्राप्त करके विश्व की भौतिक एकता सिद्ध करने के निकट पहुँच गये है—वे भी एकता के अवलम्बन से ही ऐसा कर सके है, अर्थात् उन्होंने केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और व्यक्तिगत सुखो पर ही लक्ष्य नहीं रक्खा, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और सुखो को दूसरों के स्वार्थों और सुखो के अन्तर्गत समझ कर कार्य किया—यहाँ तक कि बहुत से आविष्कर्ताओ ने अपनी सारी आयु उसी में बिता दी और बहुतो ने प्राण भी दे दिये और जब सफलता मिली तो उससे सबने लाभ उठाया। इसी तरह यदि हम व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठ कर दूसरों से अपनी एकता बढ़ाते-बढाते सर्वात्म-भाव तक पहुँच जायँ, तो हमको सब का ज्ञान हो सकता है। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है। स्वयं हमने ही व्यक्तित्व के अहंकार से अपने ज्ञान के इर्द-गिर्द व्यक्तित्व की चारदीवारी खड़ी कर रक्खी है। यद्यपि आँखो में दूर तक देखने की शक्ति होती है और दीपक में दूर तक प्रकाश डालने की ज्योति होती है, परन्तु उनके सामने यदि आड़ खड़ी कर दी जाय तो आँखें दूर तक देख नहीं सकेगी, और दीपक दूर तक प्रकाश नहीं डाल सकेगा।

(४) सांसारिक विषयो से होने वाले दुःख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुःख और दुःख की अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सुख और दुःख दोनो ही झूठे है। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर, यानी स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुःख सदा इक-सार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में वही पदार्थ महान् दुःखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्राणि-मात्र के लिए जाग्रत और स्वप्न दोनो से बहुत बड़ी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय अवस्था और योग की समाधि अवस्था में भी सुख-दु.ख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख-दु.ख दोनो ही कल्पित है। जिस वस्तु में हमारी जैसी भावना होती है वह वैसी ही सुखदायक अथवा दु खदायक बन जाती है। हम अपनी ही खुशी से और अपने ही मन के संकल्प से सुख और दु.ख की

कल्पना करके सुखी-दुःखी होते है। यदि हम चाहे तो सुख-दुःख की कल्पना से रहित हो सकते है। फिर सुख-दुःख ज़रा भी न रहेगे। हमारा वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही इन सुख-दुःखो से रहित स्वतः आनन्दस्वरूप है।

नाना भाँति के बन्धन भी हमने अपनी इच्छानुसार व्यक्तित्व के अहंकार से कल्पित कर लिये है। यदि हम चाहे तो उनको फौरन हटा सकते है; क्योकि हमारा वास्तविक "अपना आप (आत्मा)" तो स्वभाव से ही मुक्त है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सुख तो सब चाहते है, परन्तु दुःख की इच्छा कोई नहीं करता, फिर दुःख हमने स्वतः कैसे उत्पन्न कर लिये ? इसी तरह बन्धन में भी कोई नहीं रहना चाहता, फिर बन्धन हमने स्वयं कैसे उत्पन्न कर लिये ? इन प्रश्नो का उत्तर यह है, कि यद्यपि हम अपने लिए दुःख और बन्धन नहीं चाहते, परन्तु यह बात भी बिलकुल सत्य है कि दुःख और बन्धन हमने स्वयं ही उत्पन्न किये है और कर रहे है और उनसे अलग होना नहीं चाहते। पहले कह आये है कि सांसारिक पदार्थों का सुख और दुःख, दोनों सापेक्ष है, एक का होना दूसरे पर निर्भर है, एक के होने के लिए दूसरे का उतनी ही मात्रा में होना अनिवार्य है। जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है उतनी ही मात्रा में दूसरा साथ ही उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें तो अनुचित नहीं होगा कि एक ही वस्तु के दो रूप है—एक क्रिया (action) और दूसरा उसकी प्रतिक्रिया (re-action) है, अतः ये दोनो साथ ही रहते है। इसलिए जब हम आनन्द-स्वरूप अपने आपको भूल कर सांसारिक विषयो के सुख की कामना कर के उनमें आसक्ति करते है, तो उसकी प्रतिक्रिया—दुःख स्वयं उत्पन्न करते है। जिस सांसारिक पदार्थ का संयोग होता है, उसका वियोग होना अनिवार्य है; अतः जिसके संयोग से जितना सुख माना जाता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख होना अवश्यम्भावी है, और इन सांसारिक सुखो की आसक्ति हम छोड़ना नहीं चाहते, अर्थात् हम सदा इन सुखों को भोगते रहने की ही इच्छा रखते है—कभी इनका वियोग सहन नहीं कर सकते; और जबकि सुख और दुःख साथ ही रहते है, तो इससे स्वतः सिद्ध है कि दुःखों को भी हम छोड़ना नहीं चाहते। यदि किसी को नशे आदि की आदत पड़ जाती है, तो वह उससे बहुत दुःखी होता है; परन्तु जब तक वह उस व्यसन को नहीं छोड़ देता तब तक वह उस दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता—यद्यपि आदत डालना और छोड़ना उसके अधिकार में होता है।

अपने आपके साथ व्यक्तित्व के भाव की उपाधि और उस व्यक्तित्व के साथ जाति-विशेष, नाम-विशेष, कुल-विशेष, धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, समाज-विशेष, निवास-विशेष, पद-विशेष और प्रतिष्ठा-विशेष आदि अनेक प्रकार की उपाधियो के अहंकार के बन्धन और अनन्त प्रकार की कामनाएँ हम स्वयं अपने साथ लगाते है, और उन विविध प्रकार की उपाधियो एवं कामनाओ के कारण अपनी आवश्यकताएँ भी बहुत

बढ़ा लेते है, क्योकि प्रत्येक उपाधि के साथ उनकी विशेष आवश्यकताएँ लगी हुई रहती है; अतः जितनी अधिक उपाधियाँ होती है उतना ही अधिक व्यक्तित्व का अहंकार और उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ होती है, और व्यक्तित्व के अहंकार, व्यक्तिगत आवश्यकताओ एवं कामनाओ की आसक्ति ही मनुष्यो को परवश करती है। फिर हमको उन उपाधियो के बन्धन और कामनाओ की परवशताएँ इतनी प्यारी लगती है कि उनसे ऊपर उठ कर उनसे परे अपने आपके यथार्थस्वरूप में स्थित होना नहीं चाहते, और उनसे ऊँचे उठे बिना अर्थात् उनकी आसक्ति से रहित हुए बिना बन्धनो से मुक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि हम स्वयं ही बन्धनो से मुक्त होना नहीं चाहते। जो उन उपाधियो और कामनाओ से जितना ही ऊपर उठता है अर्थात् उनमें जितनी कम आसक्ति रखता है, उतना ही वह बन्धनो से मुक्त होता है। वास्तव में सब का "अपना आप" तो आनन्द और मुक्त-स्वरूप ही है। "अपने आप" के असली स्वरूप, यानी सर्वात्म-भाव को भूलकर व्यक्तित्व की उपाधियों और व्यक्तिगत विषयो-सुखो की कामना ही में आसक्त होने से दुःख और बन्धन प्रतीत होते है।

(५) हमने अपनी ही इच्छा से व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति करके अपने सर्व-व्यापक-भाव के बदले छोटे से शरीर ही को "अपना आप" मान कर, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले विशेष देश, विशेष काल, विशेष व्यक्तियो और विशेष वस्तुओ के साथ राग की आसक्ति कर ली, तब शेष सब देश, काल, व्यक्ति और वस्तुओ से द्वेष स्वतः ही हो गया; क्योकि राग की प्रतिक्रिया द्वेष होना स्वाभाविक है। अत. जितनी थोड़ी सी हद तक हमने अपना सम्बन्ध जोड़ा, उतनी थोडी सी हद तक ही अपना अस्तित्व परिमित करके सबसे हमने अपने अस्तित्व का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जेल की चारदीवारी के अन्दर कैद होने वाले का अस्तित्व जेल की चारदीवारी तक ही सीमाबद्ध रह जाता है। यदि वह जेल से अपनी मुक्ति कर ले तो उसके बाहर, उसके अस्तित्व का सम्बन्ध विस्तृत हो सकता है। इसी तरह व्यक्तित्व के भाव-रूपी जेलखाने से यदि हम बाहर निकल कर सर्वात्म-भाव में अपनी स्थिति कर लें तो हम अपनी सर्वव्यापकता का अनुभव कर सकते है। पर न तो हम व्यक्तित्व का भाव छोड़ना चाहते है और न सर्वव्यापक होना ही।

(६) सब विषमताएँ हमने अपनी इच्छा से उत्पन्न की है और कर रहे है। संसार के सभी पदार्थों में हम लोग एक दूसरे से बढ़ाचढ़ी करने की दौड़-धूप में लगे हुए है। हमारे जितने प्रयत्न होते है वे एक दूसरे से अधिक सुखी, अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक बलवान और अधिक उन्नत होने के लिए होते है। एक दूसरे से आगे निकलने के लिए दिन-रात घुड़-दौड़ सी होती रहती है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे को गिराने एवं एक दूसरे को कष्ट देने के लिए, एक दूसरे से छीन-झपट सदा चलती रहती है। जब हम दूसरो को अपने से पृथक् समझ कर उनको दबाने

और दुःख देने की चेष्टाएँ करते है, तो उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे भी हमें दवाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं; अतः इन्हीं चेष्टाओ द्वारा अनन्त प्रकार की विषमताएँ हम ही उत्पन्न करते है। यदि हम इस तरह की खींचातानी छोड़ दें तो कोई विषमता न रहे; क्योंकि वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही सम है। परन्तु हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए बढ़ाचढ़ी की खींचातानियो को छोड़ना नहीं चाहते, फलतः विषमताएँ मिटाना नहीं चाहते। वर्तमान समय में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जगत् में विषमताएँ इतने भयानक रूप से बढ गई है कि लोग अत्यन्त दुःखी हो रहे है, और दुःखो से छुटकारा पाने के लिए संसार के प्रायः सभी राष्ट्र छटपटा रहे है, और वहुत से विचारशील पुरुष यह अनुभव करते है कि जव तक अलग-अलग व्यक्तिगत और भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय स्वार्थो की खींचातानियाँ छोड़ कर, सवकी एकता स्वीकार करके, सवके सम्मिलित स्वार्थो के लिए प्रयत्न नहीं किया जायगा, तव तक सुख-शान्ति नहीं हो सकती (क्योंकि जगत् वास्तव में एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण एक दूसरे के सुख-दुःख की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव आपस में पड़े बिना कदापि नहीं रहता); परन्तु अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थों को दूसरो के स्वार्थों के अन्तर्गत मानना कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र वास्तव में नहीं चाहता, इसलिए विषमताएँ और उनसे होने वाले दुःख भी नहीं मिट सकते। परन्तु इतनी विषमताएँ होने पर भी सवका "अपना वास्तविक आप=आत्मा" तो सम ही रहता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है—उसमें सव विषमताओ का एकीकरण हो जाने से सवका एकत्व-भाव सम हो जाता है। सुखी-दुःखी, ऊँचा-नीचा, धनी-गरीब आदि द्वन्द्वो (जोड़ो) की सभी विषमताएँ सापेक्ष है, जितनी मात्रा में एक होती है, उतनी ही मात्रा में दूसरी होती है। सव का एकीकरण हो जाने से आपस में एक दूसरे से कट कर कोई विषमता शेष नहीं रहती—सर्वत्र समता हो जाती है। अतः जिन आत्मज्ञानी महा-पुरुषो ने सवकी एकता का सच्चा अनुभव कर लिया है, उनके लिए कोई विषमता नहीं है; परन्तु जो लोग एकता को स्वीकार न करके, अपने पृथक् व्यक्तितत्व के अहंकार में उलझ रहे है, उनको विषमताजन्य दु.ख हुए विना नहीं रहते।

(७) हम, सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के भाव को भुला कर एवं अलग-अलग व्यवितत्व के भाव को सच्चा मान कर उसके अनुसार आचरण करते रहते हैं, इसी से हमें एक दूसरे के सुख-दुःख आदि विकारो की प्रतीति नहीं होती। जितने व्यक्तियो के साथ, हम जिस दर्जे की अपनी एकता मानते हैं, उतने व्यक्तियो के सुख-दुःखादि का अनुभव हमको उसी दर्जे का होता है। अपने शरीर के साथ हम अपनी पूर्ण एकता मानते है, इससे अपने शरीर के सुख-दु.ख का अनुभव हमको पूर्ण रूप से होता है। अपने शरीर के सम्वन्धी—अपने स्त्री-पुत्रादिको को अपने सवसे निकट के सम्वन्धी मान कर उनके साथ दूसरो की अपेक्षा अधिक एकता मानते है, अतः उनके सुख-दुःख आदि का प्रभाव

हम पर अपने शरीर के सुख-दु.खो से दूसरे नम्बर का होता है। उनके बाद अपने कुटुम्बियो, उनके बाद जाति-बान्धवो, उनके बाद ग्रामनिवासियो और उनके बाद देशवासियो के साथ उत्तरोत्तर अपनी एकता हम कम मानते है, उसी के अनुसार उनके सुख-दु.खादि के अनुभव हमको उत्तरोत्तर कम होते जाते है, और जिनके साथ हम अपनी एकता का सम्बन्ध बिलकुल नहीं मानते, उनके सुख-दु.ख आदि का अनुभव हम बिलकुल नहीं करते। जिसने अपने आपको जिस तरह का मान रक्खा है और जिसने दूसरो के साथ जिस तरह का सम्बन्ध बना रक्खा है उसको उसी तरह के सुख-दु.ख आदि प्रतीत होते है और उसका उसी तरह का स्वभाव बन जाता है। वास्तव में सबके असली "अपने आप" में न तो कोई भेदभाव है और न कोई सुख-दु.ख ही। यदि पृथक्ता के भाव छोड़कर सबसे एकता का सच्चा अनुभव हो जाय तो सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कोई शेष ही न रहें।

सारांश यह कि हमने स्वय अपने आपके वास्तविक स्वरूप को बिसार कर असत्य, अज्ञान, दु.ख, अव्यापकत्व, विषमता, अनेकता आदि विपरीत भाव कल्पित कर लिये है और इन्हीं को सच्चा मान कर इनमें आसक्ति कर ली है—यहाँ तक कि इनको छोड़ना ही नहीं चाहते—अतः जब तक हम "अपने आप" का यथार्थ अनुभव न कर लें, तब तक ये भाव बने ही रहेंगे।

इस पर एक बड़ा ही पेचीदा प्रश्न उठता है कि हम अपने वास्तविक आपको यानी सबकी एकतास्वरूप आत्मा को भूले ही क्यो ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर "अपना आप" ही दे सकता है, क्योकि अपनी करनी का सच्चा रहस्य अपने सिवाय दूसरा कौन जाने ? जब तक अपने आपसे अलग दूसरे पर इस प्रश्न का उत्तरदायित्व रक्खा जाता है तब तक इसका पूर्णतया समाधान नहीं हो सकता। यह रहस्य कहने-सुनने से परे, केवल "अपने आप" के अनुभव का विषय है। जब "अपने आप" का पूर्ण रूप से यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब इस प्रश्न का समाधान आप ही हो जाता है। इसलिए इस प्रश्न का समाधान दूसरो से करवाने के झमेले में न पड़ कर "अपने आप" का यथार्थ अनुभव प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जिससे यह प्रश्न किया जाता है, वह भी तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार "अपना आप" ही है, तो यह पूरा अनुभव हो जाने से कि सब "अपना आप" ही है, फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योकि उस दशा में जो कुछ असत्य, भूल, भ्रम आदि प्रतीत होते है, वे सब, "अपने आप" में ही लय हो जाते है और फिर "अपने आप" के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रहता—न कभी यह भूल या भ्रम वस्तुतः उत्पन्न हुए थे और न है; ये सब अपनी ही इच्छा अथवा सकल्प के खेल थे; आप ही ने यह विनोद किया था, ऐसा अनुभव हो जाता है। जिस तरह होली आदि त्योहारो के अवसर पर कई लोग अपनी खुशी से जान-बूझ कर अपने

विनोद के लिए विदूषक (मूर्ख अथवा बावले) का स्वाँग करके कष्ट उठाते हैं अथवा नशा लेकर बावले और व्याकुल हो जाते हैं और स्वाँग छोड़ने अथवा नशा उतरने पर फिर से अपनी पहले वाली स्थिति में आ जाते हैं, उसी तरह सबका "अपना आप = आत्मा" अपनी खुशी से अपने विनोद के लिए यह भूल-भुलैया का खेल करके व्याकुल होता है और जब अपने आपका यथार्थ अनुभव कर लेता है तब समझ लेता है कि यह सब मेरी ही इच्छा का खेल था।

स्वप्न के अन्दर हम अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, नाना भावों-युक्त दृश्य देखते हैं और जाग्रत अवस्था की तरह ही सब व्यवहार करते हैं—उस समय हमको वह साक्षात जाग्रत अवस्था ही प्रतीत होती है, स्वप्न का जरा भी सन्देह नहीं होता। हम स्वप्न के देखने वाले यानी द्रष्टा रूप से नाना प्रकार की रचनाओं को देखते हैं और नाना प्रकार के व्यवहार उन रचनाओ के साथ करते हैं तथा उन रचनाओं को हमसे भिन्न एवं हमसे पहले की —दूसरो को रची हुई मानते हैं। वास्तव में स्वप्न की रचनाओं और स्वप्न के द्रष्टा, दोनों के रचने वाले हम ही होते हैं—रचने वाले ही नहीं, किन्तु स्वप्न की रचनाएँ और उनके साथ व्यवहार करने वाले द्रष्टा, सब हम स्वयं ही बनते हैं। उसमें सुख-दु.ख, भय, क्रोध आदि सभी विकार होते हैं, क्योंकि यद्यपि स्वप्न के द्रष्टा और दृश्य दोनो हम ही होते है, परन्तु स्वप्नावस्था के द्रष्टा होना तो हम उस समय अनुभव करते हैं, दृश्य होना हम अनुभव नहीं करते, अर्थात् यह अनुभव हम नहीं करते कि नाना भाँति के दृश्य भी हम ही हैं, किन्तु दृश्य हम अपने से भिन्न मान कर उनके विकार हम स्वयं ही अपने लिए कल्पित कर लेते हैं। इतना होने पर भी जागने पर वे सभी मिथ्या हो जाते हैं; स्वप्न में इतने सुख-दुःख प्रतीत होने और भोग भोगने पर भी जागने पर हम पर उनका कोई प्रभाव नहीं रहता, क्योकि जागने पर हम यह जान लेते हैं कि स्वप्न की जितनी रचनाएँ थीं वे सब झूठी थीं, सब हमारे ही मन की कल्पनाएँ थीं, हमसे भिन्न कुछ भी नहीं था। एक तरफ हम भोक्ता थे, दूसरी तरफ हम ही भोग्य थे। हम ही डरने वाले, हम ही डराने वाले, हम ही मरने वाले और हम ही मारने वाले आदि थे। यद्यपि स्वप्न में हमने अपने को वास्तव में ही सुखी, दुखी, बद्ध, मुक्त आदि अनेक विकारों युक्त अनुभव किया था परन्तु जागने पर उन सबको मिथ्या जान कर चित्त पर उनका कोई प्रभाव नहीं रक्खा। वास्तव में न हम कभी दुखी हुए और न हम कभी किसी से बँधे। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमको यह विकार कहाँ से हुए। इसी तरह यद्यपि जाग्रत जगत् का भी दृश्य और उसके द्रष्टा दोनो हम ही हैं, परन्तु अज्ञान दशा में द्रष्टा अथवा कर्ता अथवा भोक्ता तो हम अपने को मानते हैं—दृश्य अथवा कर्म अथवा भोग्य हम अपने से भिन्न तथा दूसरे के रचे हुए मानते हैं और इसी से नाना भाँति के सुख-दुःख आदि विकार हम अपने लिए स्वयं ही कल्पित कर लेते हैं। परन्तु आत्मज्ञान अर्थात् "अपने

आप" का यथार्थ अनुभव हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि जगत् का नानात्व सब हमारे ही मन की कल्पना थी—हमसे भिन्न कुछ नहीं था। हम ही द्रष्टा, कर्ता अथवा भोक्ता थे और हम ही दृश्य, कर्म अथवा भोग्य थे। अतः वास्तव में न हम कभी दुखी हुए, न हम किसी से बँधे, क्योकि दुःख या बन्धन हमसे भिन्न कुछ था ही नहीं; फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हममें ये विकार कहाँ से आये थे।

सारांश यह कि जिस तरह स्वप्नावस्था के सब बनाव हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओ और क्रियाओं के सस्कारो का सूक्ष्म दृश्य होता है, उसी तरह जाग्रत अवस्था के सब बनाव भी हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओ और क्रियाओ के संस्कारो के स्थूल दृश्य-मात्र है, और जिस तरह हमारे ही रचे हुए स्वप्न-प्रपञ्च का रहस्य स्वप्नावस्था ही में, अपने जाग्रत स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जाना नहीं जा सकता—जागने पर ही अपने जाग्रत स्वरूप का ज्ञान होने से जाना जा सकता है; उसी तरह हमारे ही रचे हुए जाग्रत-प्रपञ्च का रहस्य भी अपने वास्तविक आपके अज्ञान की अवस्था में जाना नहीं जा सकता; जब अपने आपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब ही जाना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न आमतौर से उठता है कि जब हम ही अपने मन के संकल्प से सब रचनाएँ करते है, तो उनका हमको प्रत्यक्ष अनुभव और स्मरण क्यों नहीं होता और उन पर हमारा पूर्ण अधिकार क्यों नहीं होता ? हम चाहते कुछ है और होता कुछ और ही है। इसका उत्तर यह है कि हमारे संकल्पो की रचनाओ का हमको अनुभव और स्मरण न होने और उन पर हमारा अधिकार न होने का कारण हमारा अपना ही स्वीकार किया हुआ अज्ञान, अल्पज्ञता अथवा विचारशक्ति (बुद्धि) की निर्बलता है। बहुत से कार्य ऐसे होते है कि जो हमने स्वयं प्रत्यक्ष रूप में किये है और कर रहे है, परन्तु हमारे अपने ही अज्ञान अथवा अल्पज्ञता के कारण उनका हमको न तो स्मरण रहता है और न उनके करने का अनुभव ही। पूर्व-जन्म के कर्मों की बात छोड़ दी जाय तो भी, इसी जन्म में बाल्यावस्था में हमने इसी शरीर से ऐसे बहुत से काम किये है जिनका प्रभाव हमारे पीछे के जीवन पर पडता है, परन्तु उन कामो की हमको कुछ भी स्मृति नहीं रहती, और उन किये हुए कामो का फल जब हम भोगते है, तो उसमें हम अपना कोई कर्तृत्व नहीं मानते। वर्तमान में भी हमारे शरीरो में अनन्त प्रकार की क्रियाएँ ऐसी हो रही है जिनका करने वाला हमारे अपने सिवाय और कोई नहीं होता, परन्तु हमको उनका कुछ भी पता नहीं है कि हम उन्हें कर रहे है, न हमको यह ज्ञान है कि वे किस प्रकार हो रही है, और न उन पर हमारा कोई अधिकार ही हमको प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए:—शरीर के अन्दर खाये हुए पदार्थों की पाचन-क्रिया; रस, खून आदि बनने की क्रिया और उनका परिचालन; मल-मूत्र आदि की उत्पत्ति और निकास; अंग-प्रत्यंगो का बढना-घटना; नख, केश, रोम आदि का निकलना;

रोगादि विकारो की उत्पत्ति और शमन, इत्यादि । यद्यपि हमारी उपरोक्त क्रियाओं का हमको स्मरण और अनुभव नहीं होता, तथापि उनके कर्ता हम ही होते हैं—हमारे सिवाय दूसरा कोई नहीं होता; क्योंकि क्रियाएँ सब हमारे शरीर के अन्दर, उसकी भीतरी शक्ति द्वारा होती हैं, कोई बाहरी शक्ति आकर नहीं करती, और वह भीतरी शक्ति हम ही हैं—हमारे सिवाय दूसरी कोई हो नहीं सकती । बात यह है कि जो-जो काम हम अपनी छोटी-सी (व्यष्टि) बुद्धि की आढ़त से यानी पृथक्ता के भाव की सावधानीपूर्वक करते हैं, उन को तो हम अपने किये हुए मानते हैं और उन पर अपना अधिकार भी मानते ह, परन्तु अपनी व्यष्टि बुद्धि के उपयोग बिना अपने समष्टि भाव के किये हुए कर्मों को हम अपने किये हुए और उन पर अपना अधिकार नहीं मानते । जब कि हमारे अपने शरीर के अन्दर हमारी ही की हुई क्रियाओं का हम अनुभव नहीं करते और उनके होने न होने पर हम अपना कोई अधिकार नहीं मानते, तो शरीर के बाहर होने वाली घटनाओ का अनुभव और उन पर अधिकार कैसे हो सकता है ? परन्तु अनुभव न होने पर और उन पर अधिकार न मानने पर भी, हमारा जगत् हमारे ही संकल्पो और कर्मों की रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं । हमारे ही भूतकाल के और वर्तमान के अच्छे-बुरे कर्मों और मन के संकल्पों के अनुसार हम अपने इर्द-गिर्द का घेरा अर्थात् अपने से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि निर्माण करते हैं । यदि हमारे संकल्प और आचरण अच्छे और सबके लिए हितकर होते हैं, तो उन्हीं के अनुसार हमारी सृष्टि हमको सुखदायक होती है, और यदि हमारे संकल्प और आचरण इसके विपरीत होते हैं तो हमारी सृष्टि भी इसके विपरीत होती है । वास्तव में हमारे जगत् के रचयिता हम ही हैं । जिस तरह शरीर के अन्दर की क्रियाओं का अनुभव और उन पर अधिकार हम अपने मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख अर्थात् एकाग्र करके प्राप्त कर सकते हैं, उसी तरह शरीर के बाहर की समष्टि क्रियाओ को हम समष्टि जगत् से एकता करके अपनी ज्ञान-शक्ति को बढ़ा कर जान सकते हैं, और उन पर अधिकार भी प्राप्त कर सकते हैं । और जिस प्रकार वृत्ति जब तक भिन्नता के भावो में बहिर्मुख अर्थात् बिखरी हुई रहती है, तब तक शरीर के अन्दर की क्रियाओ का ज्ञान होना सम्भव नहीं; उसी तरह हम जब तक दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार की चारदीवारी में घिरे रहते हैं और अपने छोटे-से संकुचित दायरे के सिवाय दूसरे सारे जगत् से सम्बन्ध विच्छेद किये हुए हैं, तब तक जगत् की घटनाओ के विषय में यथार्थ ज्ञान और उन पर अधिकार प्राप्त कर सकना असम्भव है ।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या हम मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ करने में स्वतन्त्र हैं ? क्या कर्म करना पूर्णतया हमारे अधिकार में है ? प्रत्यक्ष अनुभव से तो इस विषय में साधारण लोगो को स्वतन्त्रता बहुत कम प्रतीत होती है; इसलिए यहाँ कर्मों के विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है । कर्म चाहे मानसिक हों या शारीरिक, सब जड़

है, अतः वे स्वयं (अपने आप) सम्पादित नहीं होते किन्तु चेतन की अध्यक्षता से उनका सम्पादन होता है, अर्थात् चेतन आत्मा ही कर्मों का संचालक है, और जो किसी कार्य का संचालक होता है, वह कार्य उसी के अधिकार में होता है। अतः यदि हम अपने को चेतन आत्मा अनुभव करे तब तो स्वभावतः हम कर्मों के स्वामी है और कर्म करने में पूरे स्वतन्त्र है; परन्तु यदि हम अपने को जड़ शरीर का पुतला मान कर शरीर के विषयो और उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों ही में आसक्त हो जायँ तो हम कर्मों के अधीन हो जाते है। यद्यपि कर्मरूपी जगत को आत्मा ही अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक रचता है, परन्तु अपने ही रचे हुए कर्मों के मोह में फँस कर जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तब उनके अधीन होकर, नदी की बाढ़ में बहने वालो की तरह, कर्मो के प्रवाह में बहता चला जाता है—और जब तक उस मोहरूपी निर्बलता को हटा कर आत्मानुभव-रूपी शक्ति का उपयोग नहीं करता, तब तक कर्मरूपी नदी के प्रवाह से निकलने में असमर्थ रहता है। शरीर और इन्द्रियो से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। जिनका मन बुद्धि के अधीन न रह कर इन्द्रियो के वश में हो जाता है, उनको मानसिक और शारीरिक कर्म करने में कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती; परन्तु जिनका मन बुद्धि के अधीन रहता है और बुद्धि सात्विक (आतमाभिमृख) होती है, वे कर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं। बुद्धि जितनी अधिक सात्विक (आत्माभिमुख) होती है, उतनी ही स्वतन्त्रता अधिक होती है और जितनी कम सात्विक होती है उतनी ही स्वतन्त्रता कम होती है। रज-तमप्रधान बुद्धि, मन को अपने अधीन नहीं रख सकती, किन्तु खुद मन के अधीन हो जाती है, और मन इन्द्रियो के वश में हो जाता है। इन्द्रियो द्वारा कर्म होते है अत. बुद्धि कर्मानुसारिणी हो जाती है, अर्थात् जैसे कर्म किये जाते हैं वैसे ही विचार उत्पन्न होने लगते है और फिर उन विचारो के अनुसार कर्म होते है। इसी तरह कर्मों के अनुसार बुद्धि और बुद्धि के अनुसार कर्मो का चक्कर निरन्तर चलता रहता है; और कर्मो के वन्धन से तव तक छुटकारा नहीं मिलता, जब तक कि बुद्धि को सात्विक अर्थात् आत्माभिमुख करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है। किसी सम्राट् ने अपने मनोरजन के लिए स्वेच्छा से शिकार खेलने अथवा अन्य प्रकार के किसी खेल के लिए अपनी राजधानी से दूर, किसी विनोद के स्थल में जाकर वास किया। वहाँ नाना प्रकार के सुहावने, मन को मुग्ध करने वाले दृश्य और भोग-विलास की भाँति-भाँति की सामग्रियाँ, जो स्वयं उसने वहाँ रख छोड़ी थीं, उनमें उलझ कर वह अपने साम्राज्य को भूल गया और उसी विलास-भूमि में ममत्व करके निरन्तर वहाँ रहने लग गया, यहाँ तक कि अपने सम्राट्पन की उसको कुछ भी स्मृति न रही, और अपने को एक साधारण व्यक्ति मान कर अपने ही कर्मचारियो के अधीन हो गया। यद्यपि वह साम्राज्य का मालिक था और सारा देश, सारी सम्पत्ति तथा सब ऐश-आराम के सामान एवं सब कर्मचारी उसी के थे, परन्तु

अपने पद के अज्ञान से वह एक तुच्छ व्यक्ति, एवं सबका आश्रित बन गया और सब कोई उसका अपमान करने लगे। यदि वह उस तुच्छ ऐश-आराम की क्रीड़ा-भूमि की आसक्ति छोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करके, अपनी राजधानी में लौट आता तो उसकी हीनता और दीनता तुरन्त मिट जाती, फिर अपने साम्राज्य का स्वामी तो वह था ही। यही हाल प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का है। उसने अपनी इच्छा से कर्म-रूप इस जगत का खेल रचा और स्वयं ही अपनी मनोहर रचना में आसक्त होकर अपने असली स्वरूप और अपनी सर्वशक्तिमत्ता को बिसार कर अपने रचे हुए कर्मों के अधीन हो गया और सबके स्वामी होने के बदले उलटा कर्मों का दास बन गया। जब तक वह उलट कर अपने असली स्वरूप का फिर से अनुभव न कर ले तब तक परवश होकर कर्मों के प्रवाह में बहता ही रहता है। कर्मों के गुणन से वह प्रवाह अनन्त काल तक चलता ही रहता है, और उनके विविध प्रकार के सुख-दुख आदि फल भोगते ही रहना पड़ता है, क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है, फल कर्मों के साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं और फिर आगे कर्म उत्पन्न कर देते हैं। इस तरह कर्मों से फल और फलों से कर्म का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता है, कभी टूटता नहीं; परन्तु जिस क्षण अपने आपका यथार्थ अनुभव कर लिया जाता है, उसी क्षण कर्मों के बन्धन के सारे भ्रम मिट कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

अज्ञान अवस्था में भी, बुद्धि के तारतम्य के अनुसार कर्म करने में थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता रहती है। जिनकी बुद्धि अधिक विकसित होती है, वे कर्म करने में अधिक स्वतन्त्र होते हैं और कर्मों के अच्छे-बुरे परिणाम का उत्तरदायित्व भी उन पर अधिक होता है; और जिनकी बुद्धि कम विकसित होती है, वे कर्म करने में कम स्वतन्त्र होते हैं और उनका उत्तर-दायित्व भी कम रहता है। वर्तमान कानून में भी जानने वाले और अनजान के लिए बुरे कर्मों के दण्ड-विधान में अन्तर रहता है। यदि कर्म करने में बिलकुल परतन्त्रता ही रहती तो दण्ड-विधान और शास्त्रो की विधि-निषेध की मर्यादाएँ अर्थात् "अमुक काम करो और अमुक काम मत करो", इस तरह के विधान निरर्थक होते और पाप-पुण्य का भी कोई प्रश्न नहीं रहता।

उपर्युक्त सारी व्याख्या का निष्कर्ष यह है कि असली "अपना आप" अर्थात् सच्चि-दानन्द आत्मा, एक, नित्य, सर्वव्यापक और सम है, और वही सत् है; और जगत् में जो अनन्त प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रतीत होते है, वे सब "अपने आप" यानी आत्मा ही के अनेक नाम और रूपो के कल्पित एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील बनाव है, उससे भिन्न कुछ नहीं है; और जो वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, स्थायी नहीं रहती, वह सत् नहीं हो सकती।

किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए। गर्भाधान से लेकर ज्यो-ज्यो वह बढ़ता है, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। वह गर्भ में अनेक प्रकार के रूप बदलता हुआ

विशेष अवधि में पूरा शरीर बन कर गर्भ के बाहर आता है, और बाहर भी वही परिवर्तन की क्रिया निरन्तर चालू रहती है। कितने ही परमाणु शरीर में से प्रतिक्षण निकलते है, और कितने ही उसमें प्रवेश करते रहते है। शनै:-शनैः बाल्यावस्था से युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर वृद्धावस्था हो जाती है। इन अवस्थाओ का परिवर्तन किसी विशेष समय में एकदम नहीं हो जाता, किन्तु प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है, और घटा-बढी की क्रिया चालू रहती है। शरीर का विनाश, यद्यपि किसी विशेष समय में एकदम होता प्रतीत होता ह, परन्तु साधारणतया वह भी पहले निरन्तर होता रहता है, और उसकी सम्मिलित प्रतीति, मरने के समय के जोरदार परिवर्तन के धक्के से होती है।

इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष, लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही है, किन्तु उनके बढ़ने-घटने की क्रिया भी प्रतिक्षण निरन्तर चालू रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, सोना, चाँदी, पत्थर, मिट्टी आदि भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुजरते हुए अपने-अपने प्राकृत रूप में आते है, और फिर भी उनका परिवर्तन एव वृद्धि-ह्रास चालू रहता है।

काल (समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, तथा शाम से लेकर सुबह तक, समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। सुबह के सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दोपहर की कड़ी धूप एकदम नहीं आ जाती और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी अकस्मात् पृथ्वी-मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता; न जाडे की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु सभी परिवर्तन प्रतिक्षण निरन्तर होते रहते है। समय की जो शीघ्रता और विलम्ब प्रतीत होते है, वे भी इकसार और स्थायी नहीं होते। किसी प्राणी को जो काल बहुत थोड़ा प्रतीत होता है, वही दूसरो को लम्बा प्रतीत होता है; स्वप्नावस्था में थोड़ा काल भी बहुत लम्बा प्रतीत होता है—घड़ी भर के स्वप्न में वर्षों का अनुभव हो जाता है; और सुषुप्ति अवस्था में दीर्घ काल भी बहुत थोड़ा प्रतीत होता है—घण्टो की गाढ़ निद्रा एक क्षण के तुल्य प्रतीत होती है। जाग्रत अवस्था में भी सुख की अवस्था का काल अल्प और दु:ख की अवस्था का काल बहुत लम्बा प्रतीत होता है। इसी तरह भूतकाल अल्प और भविष्यत् बहुत लम्बा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि काल भी इकसार नहीं रहता, वह भी निरन्तर बदलता रहता है।

यही अवस्था देश की है। किसी अवस्था में किसी की दृष्टि में कोई देश बहुत विस्तृत और बहुत दूर प्रतीत होता है, और दूसरी अवस्था तथा दूसरे की दृष्टि में वही देश ब त छोटा और निकट मालूम देता है। एक समय में कोई देश बहुत सुन्दर और सुहावना प्रतीत होता है, और दूसरे काल में वही महान् भयानक हो जाता है। किसी समय कोई

नवीन देश उत्पन्न हो जाता है, और किसी समय किसी वर्तमान देश का प्रलय हो जाता है। वर्तमान में भौतिक विज्ञान, देश, काल और वस्तुओं के नानत्व का अस्थायीपन- स्थूल इन्द्रियो को भी प्रत्यक्ष दिखा रहा है और उनका एकत्व सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो रहा है। बेतार का तार (Radio Telegraphy), बेतार का टेलीफोन (Radio Telephony) बिना सम्बन्ध के दूर के दृश्य दिखाना (Radio Television) आदि आविष्कारो ने देश की दूरी और काल की लम्बाई को समेट कर बहुत कम कर दिया है और सर्वत्र एक वाहक शक्ति का व्यापक होना सिद्ध कर दिया है। रेडियम (Radium) धातु के छोटे-छोटे कणो और (Atom) परमाणु में भी अखूट तेजराशि भरी हुई दिखा दी; और संसार के बड़े-बड़े दृश्य बाइस्कोप के फिल्मो में बन्द कर लिये गये है। ज्यों-ज्यो भौतिक विज्ञान आगे बढ़ता जायगा, त्यों-त्यो उसके द्वारा भी एकता का अधिक प्रमाण मिलता जायगा। सारांश यह कि प्रत्यक्ष अनुभव और भौतिक विज्ञान भी जगत् की एकता को स्थायी, और भिन्नता को अस्थायी एवं परिवर्तनशील सिद्ध करता है; और जो वस्तु स्थायी नहीं होती वह सच्ची नहीं हो सकती, किन्तु मेस्मेरिज्म या जादू के खेल की तरह केवल दिखावटी होती है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। व्यवहार में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कल अथवा आज ही एक घण्टे बाद किसका क्या होगा, इसका किसी को कोई निश्चय नहीं हो सकता। यदि सचाई होती तो यह अनिश्चितता नहीं रहती। प्रतिक्षण पलटने वाले मनुष्य को सब झूठा कहते है। बाइस्कोप के परदे पर प्रतिक्षण पलटने वाले दिखाव को सच्ची क्रियाएँ कोई नहीं मानता।

इसके अतिरिक्त देश, काल और वस्तु, यानी संसार का कोई भी पदार्थ (देश, काल और वस्तु में संसार के सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है) सबको सदा एकसा प्रतीत भी नहीं होता। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह की प्रतीत होती है। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य प्रकाश-रूप दीखता है, निशाचरों को अन्धकार-रूप। सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती है, अतिवृष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती है। भारतवर्ष में ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का तेज असह्य होता है, योरप में सूर्य के दर्शन को लोग तरसते हैं। प्यास से मरते हुए के लिए जल जीवनदाता है, वही जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है। सुख-शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है, अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है। धन-धान्य आदि का संग्रह, सत्ता तथा मान-प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हो तो सुखदायक होते हैं, विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास वे ही महान् दु:खदायक होते है। सदाचारी व्यक्तियों की विद्या सबको लाभदायक होती

है, दुराचारियो की विद्या से सबकी हानि होती है। पुत्रहीन गृहस्थ पुत्र-जन्म पर बडा हर्ष मानता है, विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती है। पतिव्रता स्त्री पति को और स्नेह करने वाला पति पत्नी को एवं सुपुत्र पिता को प्यारा लगता है, इनसे विपरीत गुणो वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते है। सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार-विहार अच्छे लगते है, गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते है। भूखे को भोजन बहुत स्वादिष्ट लगता है, अघाये हुए को उससे ग्लानि होती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत् का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। यहाँ तक कि धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता। किसी परिस्थिति में प्रेम, दया, सत्य, क्षमा, अहिंसा, शील, सन्तोष आदि सात्विक वृत्तियो का भी उलटा हानिकारक परिणाम होता है और उनके दुरुपयोग से बड़े अनर्थ होते है; और किसी परिस्थिति में काम, क्रोध, लोभ, भय आदि आसुरी भाव भी लाभदायक होते है—उनके सदुपयोग से लोगो का बड़ा हित होता है। अतः जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है, एक क्षण के लिए भी एकसी नहीं रहती, उसके किस रूप को सच्चा माना जाय? सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर-बिन्दु (standpoint) भी तो होना चाहिए। परन्तु जगत् की भिन्नता में जरा भी स्थिरता (स्थिर-बिन्दु) नहीं है, इसलिए वह सत्य नहीं कही जा सकती।

भिन्नता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही वह कम स्थायी होती है, और उतनी ही जल्दी उसका परिवर्तन और नाश होता है, एवं उतनी ही शीघ्रता से उसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है; और वह जितनी कम होती है, उतनी ही अधिक स्थायी होती है और उतने ही विलम्ब एव कठिनता से उसका निश्चय होता है। इसके विपरीत, एकता जितनी ही कम होती है, उतनी ही उसकी सत्यता कम ठहरती है और जितनी अधिक होती है, उतनी ही उसकी सत्यता अधिक स्थायी होती है। सम्पूर्ण भिन्नताओ और एकताओ के दिखाव का आधार—सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा, यानी सबका "अपना आप" पूर्ण रूप से स्थायी, अतः सर्वथा सत्य है। वही अपनी इच्छाशक्ति—प्रकृति से जगत्-रूप होकर निरन्तर बनने बिगडने वाले, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील, नाना भाँति के नाम-रूपात्मक भिन्नता के खेल किया करता है। वास्तव में उसके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते है.—

१—समुद्र में अनन्त लहरें, फेन, बुद्बुद आदि उठते है, अनेक स्थलो में उसके ऊपर बर्फ जम जाती है, कहीं पर जल सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता है; परन्तु जल से भिन्न वे कुछ भी नहीं होते। एक ही जल के अनेक नाम और अनेक रूप होते है। लहरें, फेन, बुद्बुद, बर्फ और भाप आदि नामरूपात्मक भिन्नताएँ केवल जल का रूपान्तर मात्र होती

है। वास्तव में सब जल ही जल होता है। उन सबका अस्तित्व जल से होता है, उनमें भान भी जल ही होता है और उनमें रस और स्पर्श भी जल ही का होता है।

२—सोने के आभूषण—चाहे वे सिर पर रखने के हो, या गले, हाथों एवं पैरों में पहिनने के हो—वास्तव में वे सब स्वर्ण ही होते है। उन आभूषणो का तोल, स्पर्श, रूप, कीमत आदि सब सोने ही के होते है। आभूषण एक तोड़ कर दूसरा वनवाया जा सकता है, परन्तु स्वर्ण ज्यों का त्यो ही रहता है। अतः आभूषणो की भिन्नता केवल दिखावटी वनाव होती है, परन्तु सोना सच्चा होता है।

३—मिट्टी के भिन्न-भिन्न वर्तन वनने के पहले मिट्टी होती है, वर्तन दशा में भी मिट्टी ही होती है, और वर्तन टूटने पर भी मिट्टी ही रहती है। मिट्टी के सिवाय वर्तन कुछ नहीं होते। बर्तनो के अलग-अलग घाट और नाम वनावटी होते है, मिट्टी सच्ची होती है।

४—मनुष्यो की अनेक जातियाँ, वर्ण, नाम, आकृति, रंग, रूप, अवस्था, धर्म, पद आदि होते है, जिनसे उनमें नाना प्रकार की भिन्नताएँ प्रतीत होती है, परन्तु मनुष्यपन में वे सब एक होते है। ऊपर से जुड़ी हुई उपाधियाँ कल्पित एवं परिवर्तनशील होती है, उनके हटा देने पर भी मनुष्यपन बना ही रहता है। परन्तु मनुष्य के बिना वे उपाधियाँ रह ही नहीं सकतीं। उन उपाधियो की सत्ता और आधार मनुष्य ही होता है।

और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। सारांश यह कि जगत् का नानात्व, बनावटी नाम-रूपात्मक दिखाव मात्र है, उसका आधार एक आत्मा सत्य है।

यद्यपि उपरोक्त उदाहरण आत्मा के विषय में पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं होते, क्योकि आत्मा एक है और उपरोक्त उदाहरण द्वैत के है। तथा इनमें कहे गये पदार्थों के उपादान* कारण और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न है। जैसे लहर, फेन, बुद्बुद, बर्फ और भाप का उपादान कारण जल, और निमित्त कारण वायु, संघर्ष, शीत और गरमी है; आभूषणों का उपादान कारण सोना और निमित्त कारण सुनार है; वर्तनों का उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार है, और जाति, वर्ण, नाम, आकृति आदि का उपादान कारण मनुष्य और उनके निमित्त कारण कुल, पेशा, संस्कार आदि है। इसलिए इन उदाहरणो में कारण और कार्य की भिन्नता प्रतीत होती है; परन्तु जगत् का उपादान और निमित्त—दोनों कारण, अर्थात् वनने वाला पदार्थ और वनाने वाला—एक आत्मा ही है। आत्मा स्वयं ही जड़ और चेतन रूप से जगदाकार होता है, इसलिए उसमें कारण और कार्य की भिन्नता नहीं है, अर्थात् कारण और कार्य एक है; और जहाँ कारण-कार्य-

---

*जिस द्रव्य की कोई वस्तु वनती है वह उसका उपादान कारण होता है और जिसके द्वारा वह वस्तु वनाई जाती है वह उसका निमित्त कारण होता है।

भाव ही नहीं, उस एक, अपरिवर्तनशील, सत्य पदार्थ को समझाने के लिए, अनेक, परिवर्तनशील, मिथ्या पदार्थो के दृष्टान्त पूर्णतया उपयुक्त हो नहीं सकते। परन्तु उसके जोड़ की पूर्ण एकता की कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिसका दृष्टान्त दिया जा सके। वाणी से किसी शब्द का उच्चारण करना ही द्वैत हो जाता है। इसलिए यद्यपि आत्मा एक अर्थात् सबका "अपना आप" होने के कारण वाणी द्वारा उसका पूर्णतया बोध नहीं कराया जा सकता, वह तो अपने अनुभव ही का विषय है, तथापि बहिर्मुख वृत्ति को लौकिक पदार्थों के उदाहरणों से ही यथाशक्य सत्य के निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है; क्योकि कई अंशो में सादृश्य होने से समझने में सुभीता हो सकता है। दृष्टान्त यदि पूर्ण रूप से दार्ष्टान्त* के समान हो जाय तो दृष्टान्त ही न रहे, किन्तु वह स्वयं दार्ष्टान्त हो जाय।

उपर्युक्त दृष्टान्तो में पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि कारणों की अपेक्षा उनके कार्य—लहरें, फेन, बुद्बुद, बर्फ, भाप, गहने, बर्तन, जाति, वर्ण, धर्म आदि पदार्थो के कल्पित नाम-रूपो की भिन्नता को परिवर्तनशील एवं मिथ्या बताया है, जिससे भ्रम हो सकता है कि इन अगणित भिन्नताओ के आधार—पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि थोड़ी भिन्नताएँ सत्य होगी। परन्तु जब इनके विषय में भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ये भी परिवर्तनशील और अस्थायी सिद्ध होती है। जल† की उत्पत्ति तेज से, तेज† की वायु से, और वायु† की आकाश से है; और इसके उलटे क्रम से इनका लय होता है, और सबका समावेश आत्मा में होता है। सोना एक पार्थिव पदार्थ है। यह पृथ्वी में अनेक भौतिक क्रियाओ से रूप-परिवर्तन करता हुआ सोने के रूप को प्राप्त होता है, और घिसते-घिसते काल पाकर पृथ्वी में ही इसका लय हो जाता है। इसी तरह मिट्टी भी एक पार्थिव पदार्थ है। पृथ्वी की उत्पत्ति और लय जल में होते है। मनुष्य अपने जन्म के पहले किसी रूप में रहता है, गर्भ में तथा बाहर आने पर अनेक परिवर्तनो में से गुजरता हुआ बालक, युवा और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है, और मरने के बाद फिर कोई दूसरा रूप धारण करता है। प्रत्येक शरीर पंच-तत्त्वो के विशेष रूप या विशेष नाम का संगठन है। अतः शरीरो की उत्पत्ति और लय, उनके कारण पच-तत्त्वो में होते रहते है, और पंच-तत्त्वों की एकता आकाश में होकर, सबका आत्मा में लय हो जाता है। यद्यपि शरीरो की दृष्टि से पंच-तत्त्व अधिक स्थायी और अधिक सत्य प्रतीत होते है, परन्तु एक, नित्य एवं सत्य आत्मा की अपेक्षा पच-तत्त्वो की भिन्नताएँ भी उत्पत्ति-नाशवान् और अस्थायी है। यद्यपि पंच-तत्त्वो के कार्यों की अपेक्षा वे स्वयं अधिक काल तक स्थायी प्रतीत होते है, परन्तु काल-भेद स्वयं ही असत्य है। इसका खुलासा पहले हो चुका है।

---

*जिसके समझाने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है वह दार्ष्टान्त कहलाता है।

†इस विषय का विशेष खुलासा आगे किया जायगा।

वास्तव में आत्मा अथवा परमात्मा में भिन्नता है ही नहीं, क्योंकि यदि भिन्नता कोई सत् वस्तु हो तो उसका अस्तित्व माना जा सकता है। जव भिन्नता असत् है तो फिर उसके आत्मा अथवा परमात्मा में होने का प्रश्न उठना ही अयुक्त है। अँधेरे में अथवा दृष्टि-दोष से रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाय तो यह प्रश्न उठना अयुक्त होता है, कि यह सर्प कहाँ से और कैसे आया ? क्योकि वास्तव में वहाँ सर्प है ही नहीं—वह केवल भ्रम होता है; और सच्चिदानन्द आत्मा अथवा परमात्मा में वस्तुतः भ्रम भी नहीं है, क्योकि आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार या दोष नहीं हो सकते। जगत् की भिन्नताओ का वनाव उसका खिलवाड़ मात्र है। सवका "अपना आप"=आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा खुशी से यह जगत्‌रूपी खेल करता है, और इस खेल के लिए ही अनन्त प्रकार के भिन्नता के रूप धारण करता है, क्योंकि भिन्नता के वनावो ही से खेल होता है। भिन्नता के वनावो विना खेल ही नहीं वनता। वह सवका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही जड़, वही चेतन, वही पशु, वही पक्षी, वही स्त्री, वही पुरुष, वही भोक्ता, वही भोग्य, वही छोटा, वही बड़ा, वही ऊँचा, वही नीचा, वही धनी, वही गरीव, वही सवल, वही निर्वल, वही सुखी और वही दुःखी आदि नाना प्रकार के जोड़े स्वयं बनता है। इसलिए वास्तव में सुख-दु ख आदि के भेद कुछ है नहीं। यद्यपि अल्पज्ञता स्वीकार कर लेने से उन दोनो (जोड़ो) का एक ही समय में एक ही व्यक्ति को एक साथ भान नहीं होता, परन्तु सुख-दु.ख आदि दोनों विरोधी भाव वरावर है। सर्वव्यापक, एक और सम आत्मा में दोनो विरोधी भावों का एकीकरण हो जाता है और सर्वात्म-भाव में वे दोनो आपस में एक-दूसरे की प्रतिक्रिया से शान्त हो जाते है, किसी एक का भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए सबकी एकता की अध्यात्म-दृष्टि से संसार में सुख या दुःख आदि कुछ भी नहीं है। यदि व्यक्तित्व की दृष्टि से देखा जाय तो भी किसी भी व्यक्ति को संसार वास्तव में दु.ख-रूप प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो इसमें कोई रहना अर्थात् जीना ही नहीं चाहता; परन्तु मरने को कोई भी राजी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि चाहे किसी समय अथवा किसी स्थिति में, किसी विशेष कारण से कोई अपने को दु.खी भले ही माने, परन्तु वास्तव में संसार को केवल दुःख-रूप कोई नहीं समझता। तात्पर्य यह कि संसार न तो दुःख-रूप है, और न उससे आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। वह आत्मा का एक खिलवाड़ है, और उस खिलवाड़ का रहस्य अनिर्वचनीय है, अर्थात् उसका वाणी से यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता—वह तो केवल अपने आपके अनुभव का विषय है। जव तक सर्वात्म-भाव, अर्थात् विश्व की अपने साथ पूर्ण एकता का सच्चा अनुभव नहीं हो जाता, तव तक केवल दूसरों के कहने या पुस्तको के पढ़ने मात्र से ही वह रहस्य पूरी तरह कदापि समझ में नहीं आ सकता। भौतिक व्यवहार में यह वात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि वहुत सूक्ष्म वस्तु वहुत ही सूक्ष्म नोक के हथियार से पकड़ी जा सकती है, स्थूल हथियार से नहीं पकड़ी जा सकती; और आत्मा

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इसलिए उसके रहस्य को जानने के लिए वुद्धि को सूक्ष्म करते-करते जव वह आत्मनिष्ठ हो जाती है, तव इस विषय का अनुभव अपने आप ही हो जाता है। अथवा जिन लोगो ने दीर्घ काल के अभ्यास से वुद्धि को सूक्ष्म करके इस विषय का अनुभव प्राप्त किया है, उनके वचनो में श्रद्धा (विश्वास) करने से उक्त शंका का समाधान हो सकता है।

तत्त्वज्ञानी लोगो ने गहरे अन्वेषण के वाद यह निश्चय किया है कि इस कल्पित जगत् की तीन अवस्थाएँ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(१) जगत् के सदा वदलते रहने वाले अनन्त प्रकार के भौतिक पदार्थ, जो स्थूल इन्द्रियो के गोचर है अर्थात् आँखो से देखे जाते है, कानों से सुने जाते है, नाक से सूंघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते है और त्वचा से स्पर्श किये जाते है, वे, और उनके सम्वन्ध के सव व्यवहार जगत् की आधिभौतिक अवस्था है।

(२) सव स्थूल पदार्थों एवं व्यवहारों की आधारभूत सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ, जो प्रत्येक स्थूल पदार्थ और व्यवहार के अन्दर सूक्ष्म रूप से रहती हुई व्यष्टि* और समष्टि* भाव से जगत् का काम चलाती है, और जो स्थूल इन्द्रियो के अगोचर है, किन्तु मन और वुद्धि (विचार) से जानी जा सकती है—जिस तरह स्थूल पंच-तत्त्वो के अन्दर उनकी सूक्ष्म व्यष्टि और समष्टि शक्तियाँ, स्थूल इन्द्रियो के अन्दर रहने वाली सूक्ष्म भोग एवं क्रिया-शक्तियाँ, मन की अनेक प्रकार की सात्विक, राजस और तामस-वृत्तियाँ तथा सकल्प-शक्ति, चित्त की स्मरण-शक्ति, वुद्धि की विचार-शक्ति, अहंकार का अहंभाव, प्राणो को चलाने की शक्ति, प्रत्येक शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) में रहने वाली चेतना-शक्ति, और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार-शक्ति आदि, अनेक प्रकार की सूक्ष्म चेतन-शक्तियाँ और उनके सूक्ष्म व्यवहार—जगत् की आधिदैविक अवस्था है। इन सूक्ष्म शक्तियो को ही देवता कहते है (बृहदा० उ० अ० ३ ब्रा० ९)। ये ही अपने सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म—आधिदैविक जगत्-रूप होकर रहती है, और ये ही सूक्ष्म शक्तियाँ घनीभूत होकर जव स्थूल भाव धारण करती है तव भौतिक जगत्-रूप बन जाती है। स्थूल शरीर और स्थूल-जगत् की उत्पत्ति अर्थात् व्यक्त होने के पहले, और नाश अर्थात् अव्यक्त होने के वाद भी, यह सूक्ष्म आधिदैविक अवस्था वनी रहती है।

(३) उपर्युक्त सव स्थूल और सूक्ष्म सृष्टियो का कारण यानी आधार एक आत्म-तत्त्व है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, और स्थूल तथा सूक्ष्म सवके अन्दर ठसाठस भरा हुआ है, जो सबका सत्व है और जो सव जड़ और चेतन पदार्थों की सत्ता, गति और प्रकाश है,

---

*प्रत्येक व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग-अलग भाव व्यष्टि और सव का सम्मिलित भाव समष्टि कहा जाता है।

साधारणतया जड़ पदार्थों में जिसका विकास बहुत कम प्रतीत होता है परन्तु चेतन पदार्थों में जिसकी चेतनता अच्छी तरह प्रकट होती है, और जो स्थूल इन्द्रियों और मन के अगोचर हैं, केवल सात्विक बुद्धि से ही जिसका ज्ञान हो सकता है—वह चेतन आत्म-तत्त्व जगत् की आध्यात्मिक अवस्था है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५)।

जिस तरह जगत् की ये तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह शरीर की भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भेद से तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत अवस्था में भौतिक शरीर के व्यवहार होते हैं, अतः यह शरीर की आधिभौतिक अवस्था है। स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के मानसिक व्यवहार होते ह, यह शरीर की आधिदैविक अवस्था है। सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीर अपने कारण—आत्मा में लय हो जाते हैं, यह शरीर की आध्यात्मिक अवस्था है। जाग्रत अवस्था में भी स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ गौण रूप से विद्यमान रहती हैं। कभी-कभी स्थूल शरीर क्रिया-रहित हो जाता है परन्तु मन में कई तरह के संकल्प उठते रहते हैं तथा विचार-क्रिया अथवा स्मरण-क्रिया चालू रहती है, यह जाग्रत में स्वप्नावस्था है। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनो क्रियाएँ बन्द होकर केवल शून्य अवस्था रहती है, यह जाग्रत में सुषुप्ति है। तात्पर्य यह कि जो दशा पिण्ड की है वही ब्रह्माण्ड की है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उपर्युक्त तीन अवस्थाएँ होने के कारण उनके विषय में विचार करने की भी तीन पद्धतियाँ हैं :—

(१) सृष्टि के सभी पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि स्थूल इन्द्रियो को प्रतीत होते हैं—इन स्थूल पदार्थों के परे और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है। इस विचार-पद्धति को आधिभौतिक मत कहते हैं। अधिकतर भौतिकवादी लोग इसी मत को मानते हैं।

(२) सृष्टि के स्थूल पदार्थ जड़ होने के कारण स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते, अतः उनको हलचल देने वाली उनके भीतर अनेक सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ अलग हैं। ये ही जगत् को धारण करती हैं और समस्त जड़ पदार्थों से नाना प्रकार की चेष्टाएँ करवाती हैं। ये चेतन शक्तियाँ प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ हैं, और ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न देवता हैं। इस विचार-पद्धति को आधिदैविक मत कहते हैं। यह आधिभौतिक मत से कुछ सूक्ष्म है। बहुत से श्रद्धालु लोग इस मत के अनुयायी हैं।

(३) न तो सृष्टि के जड़ पदार्थ स्वतः किसी प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं, और न भिन्न-भिन्न देवता अर्थात् सूक्ष्म शक्तियाँ ही अपनी अलग-अलग सत्ता से पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) के व्यवहारो को नियमित रूप से, एक-दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर चला सकती हैं; किन्तु इनके परे प्रत्येक शरीर में और जगत् में एक ही आत्म-तत्व है, जो इन्द्रियो और मन के अगोचर है, और जो सब भूत-प्राणियो में भरा हुआ है और भिन्न-भिन्न शक्तियो को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है; उस एक की सत्ता से ही प्रत्येक शरीर का और जगत् का सब व्यवहार उसकी सूक्ष्म शक्तियो (देवताओ) द्वारा

चल रहा है; कई लोग, प्रत्येक शरीर में रहने वाले आत्म-तत्त्व को अलग-अलग जीवात्माएँ मानते है और सारे जगत् का संचालन करने वाले परम-आत्मा को उक्त जीवात्माओ से अलग एक ईश्वर मानते है; परन्तु वेदान्त दर्शन सबमें एक ही आत्म-तत्त्व मानता है। व्यष्टि-भाव से वही जीवात्मा कहा जाता है, और समष्टि-भाव से उसी को परमात्मा कहते है। वही जड़ और चेतन-भाव से व्यक्त होकर जगत्-रूप होता है। इस विचार-पद्धति को आध्यात्मिक मत कहते है। यह सबसे सूक्ष्म है और सूक्ष्म बुद्धि के विचारशील लोग इसे मानते है।

यद्यपि आधिभौतिक और आधिदैविक मतो के अनुसार साधारणतया जगत् की भिन्नता सच्ची मानी जाती है, परन्तु यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो आधिभौतिक और आधिदैविक अवस्थाओ में भी जगत् की एकता ही सच्ची सिद्ध होती है। यह नाना-भावापन्न स्थूल जगत् पंच-तत्त्वो के सम्मिश्रण का अनेक प्रकार का बनाव है, अर्थात् जिन पंच-तत्त्वो का एक राजा, महाराजा, विद्वान्, आचार्य, ज्ञानी और महात्मा का शरीर होता है, उन्हीं का एक छोटे से छोटे अछूत व चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, एवं वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर-जगम जितनी सृष्टि है, वह सब उन्हीं पंच-तत्त्वो के सम्मिश्रण का बनाव है, और सभी एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य अथवा एक दूसरे के कारण-कार्य है, तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) है। सब एक दूसरे की सहायता से एक दूसरे के साथ शृंखलाबद्ध होकर जगत् के व्यवहार करते है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण अर्थात् सभी ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे के आकर्षण से बँधे हुए नियमपूर्वक आपस की एकता से सब काम करते है, और ज्योतिष-शास्त्रानुसार इन सबके अच्छे-बुरे प्रभाव इस पृथ्वी पर भी पड़ते है, तथा पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशो की ऋतु आदि के प्रभाव दूसरे दूरस्थ देशो पर पडते है। वर्तमान के वैज्ञानिक (Scientist) लोग भी स्थूल जगत् की अनन्त प्रकार की अनेकताओ में पूर्ण एकता ढूंढ निकालने में ही लगे हुए है; और यद्यपि वे अब तक पूर्ण एकता तक नहीं पहुँचे है, परन्तु वह समय अब अधिक दूर नहीं है, जब कि विज्ञान (Science) के द्वारा भी भौतिक एकता पूर्ण रूप से सिद्ध हो जायगी।

स्थूल पच-तत्त्वों में भी आपस में एकता ही है, क्योकि आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है; और जब ये तत्त्व लय होते है, तो इसके उलटे क्रम से लय होते है, और एक दूसरे के अन्दर सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से बने भी रहते है। पृथ्वी में से जल निकलता है, और उसे खोदने से उष्णता, तथा रगडने से अग्नि निकलती है, वायु और आकाश पृथ्वी में सर्वत्र ओतप्रोत रहते है। जल ही घनीभूत होकर पृथ्वी बनता है—अनेक स्थलो में जल से पृथ्वी बनती हुई देखी जाती है। जल के सघर्ष से बिजली (अग्नि की ज्वाला) निकलती है और समुद्र में वड़वानल (अग्नि) उत्पन्न होती है।

अग्नि अर्थात् उष्णता से पसीना और वर्षा आदि द्वारा जल उत्पन्न होता है। वायु के बिना अग्नि और जल की स्थिति भी नहीं रह सकती। आकाश सबका आधार है ही—जहाँ दूसरे तत्त्व रहते है, वहाँ पर आकाश मौजूद रहता है। उक्त तथ्य से इन सबकी एकता ही सिद्ध होती है।

इसी तरह सूक्ष्म आधिदैविक जगत् में भी एकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि एक ही आत्मा के संकल्प से उसकी अनन्त सूक्ष्म शक्तियाँ सत्व, रज और तम गुणो के तारतम्य से अनन्त प्रकार के दृश्य रूप होती है। किसी भी घटना अथवा कार्य का पहले सूक्ष्म संकल्प मन में उठता है, और जब वह संकल्प घनीभूत होकर दृढ हो जाता है, तब वह स्थूल कार्य में परिणत होता है। एक तरफ समष्टि (सबके संयुक्त) मन के संकल्प से सूक्ष्म पंच-तत्त्व घनीभूत होकर, तीन गुणो के तारतम्य से समष्टि जगत् के अनन्त प्रकार के पदार्थ-रूप बनते है और दूसरी तरफ शरीरधारियो के व्यष्टि (व्यक्तिगत) मन के संकल्प से उसकी त्रिगुणात्मक वृत्तियो द्वारा उक्त सूक्ष्म पंच-तत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रियरूप होकर समष्टि जगत् के पदार्थो के साथ भाँति-भाँति के व्यवहार करते है। मन में जब देखने का संकल्प उठता है तब उसकी वृत्तियाँ तेजात्मक होकर चक्षु-रूप से नाना प्रकार के रूप देखती है; सुनने का संकल्प उठता है तब आकाशात्मक होकर श्रवण-रूप से शब्द सुनती है; सूंघने का संकल्प उठता है तब पृथ्वी-रूप होकर नासिका द्वारा गन्ध लेती है; रसास्वादन का संकल्प उठता है तब जलात्मक होकर रसना-रूप से सब रसो का स्वाद लेती है; स्पर्श करने का संकल्प उठता है तब वाय्वात्मक होकर त्वचा-रूप से सब प्रकार के स्पर्श करती है। सारांश यह कि सूक्ष्म और स्थूल जगत् सब मन के संकल्पो की ही रचना है। यह भी प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक व्यक्ति के मन के संकल्पो तथा विचारो का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है; और जगत् की उत्पादक, पोषक एवं संहारक सूक्ष्म शक्तियाँ, यथासमय यथोचित रूप से एक दूसरे के साथ शृंखलाबद्ध होकर अपने-अपने कार्य निरन्तर करती रहती है। इस तरह की वस्तुस्थिति पर अच्छी तरह विचार करने से आधिदैविक जगत् की भी एकता ही सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जगत् की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अवस्थाओ में अनेकता झूठी और एकता सच्ची है; और इस निश्चयपूर्वक सब भूत-प्राणियो में एक ही आत्मा को समान भाव से व्यापक समझ कर, व्यक्तिगत अहंकार को समष्टि अहकार में, तथा व्यक्तिगत स्वार्थो को सबके स्वार्थो में जोड़ कर, सबके साथ एकता का प्रेम रखते हुए, अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म साम्यभाव से करना—यही व्यावहारिक वेदान्त है, और यही उपदेश भगवान् ने गीता में अर्जुन को निमित्त बना कर सबको दिया है।

बहुत से लोगो को यह भ्रम है कि जिस जगत् के अस्तित्व को हम प्रत्यक्ष अनुभव

करते हैं, वेदान्त उसको मिथ्या बताकर उसके व्यवहार त्यागने को कहता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह केवल समझने का अन्तर है। वास्तव में न तो वेदान्त जगत् के अस्तित्व को मिथ्या कहता है और न उसके व्यवहार त्यागने ही का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत वेदान्त तो यह कहता है कि जगत् का अस्तित्व बिलकुल सच्चा है, क्योंकि असत् वस्तु का तो भाव ही नहीं होता (गीता अ. २ श्लोक १६), परन्तु जगत् का अस्तित्व तो सबको प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, एवं वह सबको अच्छा और प्यारा भी लगता है; इसलिए अस्ति-भाति-प्रियरूप से अर्थात् एकत्व-भाव में वह निस्सन्देह ही सत्य है। वास्तव में वेदान्त इस प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले और प्यारे लगने वाले जगत् के अस्तित्व को सच्चा मान कर ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु वह इसको अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप, एक, अविनाशी, नित्य और सत्य आत्मा (सबके अपने आप) से अभिन्न मानता है; और साथ ही साथ इसमें जो नाना भाँति के अनन्त भेद और विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती रहती हैं, उनको वह उसी एक, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा के अनेक परिवर्तनशील नाम और रूपो का कल्पित बनाव सिद्ध करता है। वेदान्त के अनुसार 'जगन्मिथ्या' का तात्पर्य इतना ही है कि सबके अपने आप, सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दो में जगत् आत्मा अथवा परमात्मा ही का विवृत-भाव* है, अतः वस्तुतः वह परमात्मा-स्वरूप ही है। वह जैसा हमारी स्थूल इन्द्रियो को भिन्न-भिन्न प्रकार का—अनन्त प्रकार की उपाधियो एवं द्वन्द्वो युक्त—प्रतीत होता है, वास्तव में वैसा नहीं है। सूर्य हमारी आँखो को एक थाली के आकार जितना ही दीखता है, परन्तु वास्तव में उसका विस्तार बहुत ही बड़ा है। इसी तरह दूर की सभी चीजें छोटी दिखाई देती है और नजदीक की बड़ी। आँखों के बिलकुल समीप सटा कर एक सलाई भी रख दी जाय तो वह पहाड जितनी बड़ी दीखने लगे। पृथ्वी हमको स्थिर दीखती है; परन्तु वास्तव में वह चल रही है। स्थूल इन्द्रियो से हमें पृथ्वी चपटी दिखाई देती है पर वास्तव में वह गोल है। आकाश का रंग हमें नीला दीखता है, पर वास्तव में उसका कोई रग नहीं है—इत्यादि। इन बातो से सिद्ध होता है कि केवल स्थल इन्द्रियो से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। सात्विक बुद्धि से यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सात्विक बुद्धि से विचार करने पर जगत् के नानात्व का दृश्य कल्पित और उसका एकत्व-भाव यानी सत्-चित्-आनन्द आत्मा जो सबका अपना आप है, सच्चा सिद्ध होता है।

अतः जो वेदान्त जगत् को सबका अपना आप यानी आत्म-स्वरूप, और उसकी

---

* किसी पदार्थ के ऊपरी दिखाव नाना प्रकार के होते रहे, पर वह पदार्थ ज्यो का त्यो बना रहे, उसमे वस्तुत कोई परिवर्तन न हो, वह विवृत-भाव कहा जाता है—जिस तरह जल में तरगें और बुद्बुदे होते हैं और सोने के आभूषण एव मिट्टी के बर्तन होते हैं।

भिन्नताओं को सबके अपने आप, यानी एक ही आत्मा के नाना नामो और नाना रूपों का कल्पित बनाव मानता है, वह उसके व्यवहारों को छुड़ा ही कैसे सकता है ? भिन्नता के मिथ्या-ज्ञानयुक्त व्यवहार दुःखदायक होते हैं, इसलिए उन दुःखदायक व्यवहारों को छोड़ने की प्रवृत्ति अज्ञानी लोगो की स्वतः ही होती है; परन्तु वेदान्त तो एकता के सच्चे ज्ञान से समस्त दुःखो के मूल कारण भिन्नता के मिथ्या ज्ञान ही को मिटाने द्वारा जगत् के व्यवहारों की दु.ख-रूपता नष्ट करके उन्हें त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रखता। जहाँ दूसरे मत और मजहब परमात्मा और जीवो का आपस में स्वामी-सेवक और पिता-पुत्र का सम्बन्ध और जीव-जीव का आपस में भाई-भाई का सम्बन्ध बताते हैं, वहाँ वेदान्त सबको एक ही आत्मा यानी अपने आपके ही अनेक रूप सिद्ध करके, ग्रहण और त्याग करने के लिए कुछ रखता ही नहीं। स्वामी-सेवक में और पिता-पुत्र में तथा भाई-भाई में आपस में वैमनस्य हो सकता है और वे एक दूसरे से अलग भी होते हैं, परन्तु जहाँ सब कुछ अपना आप ही होता है वहाँ किसके साथ वैमनस्य हो और कौन किससे अलग होवे अथवा कौन किसको त्यागे। वस्तुतः जहाँ सब भिन्नताओ की एकता हो जाती है, वहाँ फिर छोड़ने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता और न त्याग कर कहीं जाने के लिए कोई जगह ही रहती है। सारांश यह कि भिन्नता को प्रतिक्षण परिवर्तनशील अतः कल्पित तथा एकता को सच्ची जान कर उसके अनुसार, अर्थात् सच्चे ज्ञान युक्त व्यवहार करने को वेदान्त कहता है, छोड़ने को नहीं। दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के कारण, लोग जो अपने को एक छोटी सी देह का पुतला मान कर उसके तुच्छ स्वार्थों ही में उलझ रहे हैं, वेदान्त उनको उस तुच्छ संकीर्णता की चारदीवारी से निकाल कर महान् बनाता है, एक छोटे से व्यक्ति से महान् आत्मा—जगत् का स्वामी बनाता है, और तुच्छ स्वार्थो के बदले सारे जगत् का स्वामित्व देता है। वह जगत् के व्यवहार छुड़ाता नहीं, किन्तु एक दीन, हीन, तुच्छ कर्ता से, एक स्वतन्त्र परिपूर्ण महाकर्ता बनाता है। बूंद से सागर बनाता है। वेदान्त का यह अनूठा त्याग है। संसार के व्यवहारो का छोड़ना तो यथार्थ ज्ञान न होने से होता है।

वेदान्त ने जगत् की—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों अवस्थाओ को आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव बता कर, तीनो का समावेश एक में किया है, और उन तीनों को यथातथ्य जान कर, जगत् के व्यवहार करने की आवश्यकता मानी है। इन तीनो अवस्थाओ के ज्ञान को क्रम से सात्विक, राजस और तामस ज्ञान कहा है। पृथक्-पृथक् सब भूतो में एक, अव्यय, अविभक्त यानी बिना बँटे हुए भाव को देखना सात्विक ज्ञान कहा है (गी० अ० १८ श्लो० २०)। सब भूतो में अनन्त प्रकार की भिन्नता को सच्ची मानने के ज्ञान को राजस और प्रत्येक पदार्थ का स्थूल रूप ही सच्चा है—इसके परे कुछ भी नहीं है, ऐसे ज्ञान को तामस कहा है (गी० अ०१८ श्लो० २१-२२)।

यद्यपि जगत् की भिन्नता मिथ्या होने के कारण भिन्नता के राजस-तामस ज्ञान को भी मिथ्या एवं एकता के सात्विक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान माना है, तथापि त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहारों में इन तीनो की आवश्यकता मानी है; क्योकि जगत् के नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों के पृथक्-पृथक् द्रव्यगुणादिक तथा उन प्रत्येक के अन्दर रहने वाली अलग-अलग सूक्ष्म शक्तियो के ज्ञान के साथ-साथ उनके आपस के सम्बन्ध और एकत्व-भाव को जानने से ही सांसारिक व्यवहार ठीक-ठीक हो सकते है (ईशोपनिषद् मं० ९ से ११)। जगत् की अवस्था त्रिगुणात्मक होने के कारण उसके व्यवहार त्रिगुणात्मक होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तमोगुण स्थूल जड़ात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक अर्थात् सारी हलचल का कारण है, और सत्वगुण बहुत सूक्ष्म और ज्ञानात्मक है। इन तीनो के अल्पाधिक सम्मिश्रण से ही जगत् का अस्तित्व है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष है कि स्थूल से सूक्ष्म ही अधिक सत्य, अधिक टिकाऊ और अधिक प्रामाणिक होता है। प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म सार ही उसका सत्व होता है। स्थूलता के मिट जाने पर भी सूक्ष्मता शेष रहती है। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा जब तक रहता है, तभी तक वह जीवित रहता है और स्थूल शरीर के नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर शेष रह जाता है। सूक्ष्म शक्ति के बिना मोटा-ताजा स्थूल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता, और उस सूक्ष्म शक्ति से भी सूक्ष्म आत्मबल के बिना स्थूल शरीर की सूक्ष्म शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती। स्थूल (मोटे) विचारों की अपेक्षा सूक्ष्म (महीन) विचार अधिक सच्चे और अधिक मान्य होते है। जितना ही अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाता है, उतना ही अधिक सत्य के नजदीक पहुँचा जाता है। स्थूल बुद्धि के व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रो में सूक्ष्म बुद्धि के व्यक्तियो के अनुयायी होते है। स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ अधिक मूल्यवान् और ग्राह्य होते हैं। जितना ही अधिक सूक्ष्मता में बढ़ा जाता है, उतनी ही अधिक अनैक्य की एकता होती जाती है, और बढ़ते-बढते जब अन्त में सब अनैक्य मिट कर केवल एक तत्त्व ही शेष रह जाता है, वही आत्मा अर्थात् सबका अपना आप=परमात्मा है। आत्मा—परमात्मा यानी सबका अपना आप सूक्ष्म का सूक्ष्म और सत्य का भी सत्य है। इस पूर्ण एकता के भाव पर लक्ष्य रखते हुए, जगत् के व्यवहार करने से सब प्रकार की सुख-समृद्धि अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि विद्यमान रहती है।

इस पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि, अर्थात् निरंकुश, निरतिशय, सच्चे और अक्षय सुख की खोज में ही भौतिक पदार्थ-विज्ञान के पण्डित लोगो ने, स्थूल भौतिक पदार्थों की छानबीन करते हुए जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नताओ का एकीकरण करके गिनती के थोड़े से मूल तत्त्वो में समावेश कर दिया; परन्तु आधिभौतिकता ही को सब कुछ मानने के कारण उनको पूर्ण सफलता मिलना अशक्य है। इनसे दूसरे नम्बर पर धार्मिक सम्प्रदायो के प्रवर्तको ने उक्त सच्चे और अक्षय सुख की तलाश में स्थूलता से परे, सूक्ष्मता में प्रवेश

करने का यत्न किया। वे लोग भौतिकता से तो आगे बढ़े, परन्तु आधिदैविकता तक पहुँच कर ही रह गये; अर्थात् उन लोगों ने स्थूल जगत् के नानात्व को नाशवान् अतः मिथ्या मान कर भी, इसमें सूक्ष्म रूप से रहने वाले भिन्न-भिन्न जीवात्माओ, तथा भिन्न-भिन्न देवताओ और उन सबके ऊपर एक ईश्वर को अलग मान कर उसकी कृपा से जीवो को मरने के बाद परलोक में स्वर्गादि सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होना ही सबसे अन्तिम ध्येय एवं पुरुषार्थ की परमावधि का सिद्धान्त निश्चित कर लिया। अपनी बुद्धि जहाँ तक पहुँच सकी, अथवा अपने अनुयायियो के समझने की जितनी योग्यता प्रतीत हुई, एवं जैसी परि-स्थिति देखी उसके अनुसार, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने समय-समय पर इसी सिद्धान्त के आधार पर भिन्न-भिन्न मत प्रचलित कर दिये और उनसे परे अधिक कुछ भी नहीं है, यह निश्चय करके वहीं तक रह गये। यद्यपि ये लोग स्थूलता से आगे बढ़ कर कुछ हद तक सूक्ष्मता में पहुँचे तो सही परन्तु अनेकता यानी नानात्व के भाव ज्यो के त्यो कायम रखने के कारण, सबकी एकता के सच्चे सिद्धान्त तक ये नहीं पहुँचे, इसलिये सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में ये भी असमर्थ ही रहे।

इनके अतिरिक्त तर्क-बुद्धि से विचार करने वाले दार्शनिक लोगों ने इस विषय का अनुसन्धान किया। उनमें नास्तिको और वैज्ञानिकों (बौद्धो) के मत बड़े मार्के के है, क्योकि उन्होने अन्ध-श्रद्धा के बदले विचार-स्वतन्त्रता को बहुत महत्व दिया है। इसलिए नास्तिको के मत को बृहस्पति (बुद्धि के देवता) का मत कहते है, और वैज्ञानिको का मत बौद्ध-मत कहलाता है। परन्तु वे लोग भी स्थूल आधिभौतिक तथा सूक्ष्म आधिदैविक विचारो तक ही रह गये; सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा को नहीं माना और न नानात्व का एकत्व ही कर सके। नानात्व का एकत्व करने में न्याय, वैशेषिक, योग, और सबसे अधिक सांख्य ने काम किया, अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म भावो के अनन्त नानात्व का उत्तरोत्तर एकीकरण करते हुए, उन्होने सबका समावेश थोडे से मूल तत्त्वों में ही कर दिया; यहाँ तक कि सांख्य ने प्रकृति और पुरुष—केवल दो ही तत्त्व शेष रक्खे। वेदान्त ने इन सबसे आगे बढ़कर प्रकृति-पुरुष का भी एकीकरण करके, एक आत्म-तत्त्व में सबका समावेश कर दिया, जो सबका अपना आप है। मानवीय तत्त्वज्ञान इस पराकाष्ठा तक पहुँच कर रुक गया। यहीं ज्ञान का अन्त होता है, इसी से इसका नाम वेदान्त है।

सूक्ष्मता जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है, उतनी ही अधिक वह व्यापक होती है, और उतनी ही अधिक वह सत्य होती है; और आत्मा, जो सबका वास्तविक अपना आप है, वह सब सूक्ष्मो का सूक्ष्म और सबका सार होने के कारण सर्व-व्यापक एव सर्व-सत्य है; उसकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सब जगत् में ओतप्रोत है। उसकी सत्ता ही से जगत् की सत्ता है, उसकी सत्ता बिना जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहता। सारांश यह कि जगत्, आत्म-स्वरूप सबका अपना आप है। यही अन्तिम सिद्धान्त है।

यद्यपि वेदान्त सबसे आगे इतना बढ़ा हुआ है कि जिससे आगे कुछ शेष नहीं रहता, तथापि वह किसी भी दर्शन, अथवा पदार्थ-विज्ञान आदि का तिरस्कार नहीं करता, चाहे वे किसी भी समाज या किसी भी देश-विशेष के क्यो न हो, उन सबका उसमें समावेश हो जाता है, क्योकि उसमें भिन्नता कुछ है ही नहीं। सब दर्शनो, एवं भौतिक विज्ञान का भी समावेश करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह इनको अपना सहायक मानता है, क्योकि प्रत्येक ने स्थूलता से सूक्ष्मता में और नानात्व के भावो को समेट कर एकता में पहुँचने का कुछ न कुछ कार्य करके वेदान्त का कार्य बहुत हल्का कर दिया, अर्थात् अन्तिम मंजिल के पहले की सब मंजिलें उत्तरोत्तर तय करके, उन्होने वेदान्त के लिए केवल अन्तिम मंजिल ही शेष रक्खी। अतः जिसने जितना कार्य किया और जिसकी जिस हद तक पहुँच हुई, उसको स्वीकार करता हुआ, वह प्रत्येक से कहता है कि "यहीं मत ठहरो, आगे बढ़ते चलो, इतना ही सब कुछ नहीं है, यही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, इससे और आगे बढ़ने की आवश्यकता है," ऐसा संकेत करता हुआ, वह अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

कई लोग शास्त्रीय पद्धति से एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी बताते है। उनका कहना है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य है, अतः वे अन्धकार-रूप है; और एकता का ज्ञान प्रकाश-रूप है; तथा अन्धकार और प्रकाश का विरोध होने के कारण ज्ञानयुक्त व्यवहार हो नहीं सकते, इसलिए आत्मज्ञानी के सांसारिक व्यवहार छूट जाते है; यह सिद्धान्त निवृत्तिमार्ग की पुष्टि के लिए बनाया गया है। परन्तु वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो यह सिद्धान्त टिक नहीं सकता, क्योकि जगत् और उसका व्यवहार अविद्या का कार्य नहीं है। यदि जगत् और उसके व्यवहार को अविद्या ही का कार्य मानें तो उसके कारण, उसके रचनें वाले—मायाविशिष्ट परमात्मा को अज्ञानी अथवा अविद्या-ग्रस्त मानना पडेगा, परन्तु परमात्मा को अज्ञानी बतानें का साहस कोई आस्तिक नहीं कर सकता। परमात्मा अपनी इच्छा से, जानकारीपूर्वक अर्थात् ज्ञानसहित, सृष्टि रचता है (जगत्-रूप होता है), और ज्ञानसहित ही उसके धारण, पोषण और संहार के व्यापार करता है, यह प्रायः सभी आस्तिक मानते है। यदि दार्शनिक रीति से विचार किया जाय तो जगत् आत्मा के संकल्प का खेल है, और आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, इसलिए जगत् अविद्या का कार्य नहीं हो सकता। इसके सिवाय, अवतारो तथा आत्मज्ञानी महापुरुषो का कोई भी व्यवहार अज्ञानयुक्त नहीं होता, किन्तु उनके सभी व्यवहार सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त होते है। इससे स्पष्ट है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य नहीं है। हाँ, आत्म-ज्ञानरहित व्यवहार करना, अथवा न करना (त्यागना) दोनो ही अविद्या यानी अज्ञान है; परन्तु सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करना कदापि अविद्या नहीं है। अव रही अज्ञान और ज्ञान, अथवा अन्धकार और प्रकाश के विरोध की बात, सो वास्तव में इनका विरोध नहीं है। क्योकि ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है, किन्तु अयथार्थ ज्ञान, अर्थात् अपने आपको

और जगत् को यथार्थ रूप से न जान कर अन्यथा जानना ही अज्ञान है। इसी तरह प्रकाश का अभाव अन्धकार नहीं है, किन्तु प्रकाश का आवरण अन्धकार है। अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह अज्ञान और ज्ञान दोनो सापेक्ष है। एक की सिद्धि के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। संसार में सभी पदार्थ एक-दूसरे के उपकारी-उपकार्य अर्थात् अन्योन्याश्रित है। इसलिए ये विरोधी प्रतीत होने वाले द्वन्द्व वास्तव में एक दूसरे के साधक है, वाधक नहीं। अतः प्रकाश अन्धकार का नाशक नहीं, किन्तु उसका प्रकाशक है। तात्पर्य यह कि ज्ञान, संसार के व्यवहारो का वाधक नहीं, किन्तु उन पर प्रकाश डालता है। जिस तरह अन्धकार के प्रकाशित होने से उससे कोई अनर्थ नहीं होता, उसी तरह अयथार्थ ज्ञान पर यथार्थ ज्ञान का प्रकाश पड़ने से विपरीत कर्म नहीं वनते, प्रत्युत उससे व्यवहार सुधरते है। सच्चे, झूठे, अच्छे, वुरे, उचित, अनुचित आदि का निर्णय सत्य ज्ञान ही से होता है, अतः सत्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने ही से यथार्थ व्यवहार सिद्ध होता है, और उसी से सब प्रकार का सच्चा एवं अक्षय सुख प्राप्त होता है (ईशोपनिषद् मं० ११)।

सत्वगुण की प्रधानता से (यथार्थ) ज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० ११), रजोगुण की प्रधानता से विविध प्रकार के व्यवहार होते है (गी० अ० १४ श्लो० १२) और तमोगुण की प्रधानता से अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० १३), अतः तमोगुण अविद्यारूप है; और जिस जगत् तथा जिस शरीर में स्थित होकर हम ज्ञान-अज्ञान का विचार करते है, वह इन तीनो गुणो के तारतम्य का बनाव है, अतः शरीर के और जगत् के रहते इन तीनो गुणो का तारतम्य उसके साथ वना रहना अनिवार्य है (गी० अ० १८ श्लो० ४०)। कभी सत्वगुण की, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होती रहती है (गी०अ० १४ श्लो० १०), किसी एक का भी सर्वथा अभाव कभी हो नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि इनका आपस में विरोध नहीं है, किन्तु ये एक-दूसरे के सहायक है। आत्मज्ञानी के शरीर में यद्यपि तीनो गुण रहते है, परन्तु सत्वगुण की प्रधानता रहती है, अतः वह तीनो गुणों का नियन्ता अर्थात् स्वामी होता है। वह यथार्थ ज्ञान द्वारा सर्वभूतात्मैक्य-भाव से जगत् के व्यवहार करता है और स्वतन्त्रतापूर्वक तीनो गुणों का यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनमें आसक्ति नहीं रखता। रजोगुण-तमोगुण उसको कुछ भी बाधा नहीं देते और न वह उनको त्याग देने ही की इच्छा करता है (गी० अ० १४ श्लो० २२-२३ और ईशोपनिषद् मं० ६-७)।

वहुतो को यह भ्रम है कि व्यवहार तो भिन्नता को सच्ची मानने से ही सिद्ध होता है, एकता होने पर व्यवहार वन ही नहीं सकता। एक से दूसरी वस्तु होती है तभी व्यवहार होता है। मनुष्य और पशु, भले और वुरे आदि की भिन्नताएँ न मान कर यदि एकता ही मान ली जाय तो क्या उन सवके साथ एक-सा वर्ताव वन सकेगा ? और क्या इस तरह एकाकार करना ठीक होगा ? स्त्री और पुरुष, माता और पत्नी आदि के साथ एक-से

व्यवहार की अनुपयुक्तता के उदाहरण देकर, ये लोग एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी सिद्ध करते हैं। इस विषय में वेदान्त दावे के साथ कहता है कि व्यवहार एक दूसरे के साथ सहयोग और एकता होने से ही बनता है और भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों के साथ अपनी एकता के ज्ञान-युक्त व्यवहार करने से, व्यवहार कदापि बिगड़ नहीं सकता, किन्तु भिन्नता को सच्ची मान कर व्यवहार करने से ही वह बिगड़ता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० ६)। जो जैसा है उसको वैसा ही जान कर आचरण करने से व्यवहार सुधरता है, अन्यथा जान कर व्यवहार करने से यह अवश्य बिगड़ता है। जिस तरह झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा मान कर, उस मिथ्या ज्ञान के आधार पर व्यवहार करने से बहुत हानि उठानी पड़ती है, उसी तरह अनेकता के मिथ्या ज्ञान से मोह उत्पन्न होता है और एक दूसरे के साथ राग, द्वेष, ईर्ष्या, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के हानिकारक भाव उत्पन्न होते है, जिनसे व्यवहार बिगड़ता है। उदाहरणार्थ, (१) बरफ के टुकड़े को वस्तुतः पानी जानते हुए उसका उपयोग किया जायगा, तभी उसका यथार्थ उपयोग होगा, यदि पानी से भिन्न उसको पत्थर जान कर दीवार में चुन दिया जायगा, अथवा हीरा जान कर तिजोरी में बंद कर दिया जायगा, तो थोड़े ही समय में वह पानी होकर सबको बिगाड़ देगा। (२) मिट्टी के बर्तनो को मिट्टी समझते हुए, उनसे यथायोग्य काम लिया जायगा, तो वे ठीक काम देंगे, परन्तु यदि उनको सोना समझ कर तिजोरियो में बंद रखने का प्रयत्न किया जायगा, तो उनका यथार्थ उपयोग न हो सकेगा। (३) सोने के आभूषणो को सोना समझ कर यथास्थान पहिनेंगे तो वे शरीर की शोभा बढ़ावेंगे, परन्तु उनको मिट्टी समझ कर अरक्षित दशा में छोड दिया जायगा तो चोर-उचक्के उठा ले जायेंगे। (४) घोडा पशु का ही एक भेद है, यदि पशुभाव की एकत्व-दृष्टि छोड़ कर घोड़ाभाव भी भेद-दृष्टि में ही आसक्ति रक्खी जायगी, तो उसके साथ पशूचित व्यवहार न होकर, या तो जड़-पाषाण, वनस्पति आदि के उपयुक्त व्यवहार होने से उस पर निर्दयता होगी, अथवा मनुष्यादि उच्च कोटि के प्राणियो के योग्य व्यवहार किया जायेगा, तो तबेलो में बाँधने के बदले उसे कमरो में रक्खा जायगा, घास के स्थान में रोटी आदि खिलाई जायगी, और सवारी के स्थान में उससे मानवीय काम लिया जायगा; ऐसा करने से व्यवहार अवश्य ही बिगडेगा। (५) पुरुष या स्त्री के साथ पुरुष अथवा स्त्री का भाव छोड़ कर केवल वर्ण, नाम अथवा आपस के सम्बन्ध आदि की भेद-दृष्टि से ही व्यवहार किया जायगा, तो उससे भी उपरोक्त प्रकार से ही व्यवहार बिगड़ेगा। (६) भले अथवा बुरे व्यक्ति के साथ उसके मनुष्यपन के ज्ञान बिना केवल भलाई अथवा बुराई के ही विचार से व्यवहार किया जायगा, तो अनर्थ होगा; क्योकि भलाई अथवा बुराई कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अनुकूलता भलाई है और प्रतिकूलता बुराई। अनुकूलता-प्रतिकूलता जड़ पदार्थों में, पशुओ में और दैवी शक्तियो में भी होती है। अतः भलाई अथवा बुराई किसके आश्रय में है; उसका भी ज्ञान होना चाहिए।

यदि ऐसा न होगा तो विपरीत बर्ताव होकर व्यवहार विगड़ेगा। (७) माता को सचेतन स्त्री न जान कर केवल उसमें माता के सम्बन्ध ही की आसक्ति रक्खी जायगी तो मोह के वश उसके साथ सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड़ पदार्थ अथवा पशु आदि की तरह व्यवहार हो जायगा, जिससे उसको वहुत कष्ट होगा। (८) इसी तरह पत्नी से भी यदि सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड़ पदार्थ अथवा पशु की तरह व्यवहार हो जायगा तो उसको वहुत कष्ट होगा; जैसे कि अज्ञानी बालक अपनी माताओ को, मूर्ख माताएँ सन्तानो को, पति पत्नी को और पत्नी पति को उनके स्थूल शरीरो के मोहवश कष्ट दिया करते है वही हाल होगा। माता अथवा पत्नी के एकत्व-भाव =स्त्रीपन की अपेक्षा उनके साथ के सम्बन्ध अर्थात् मातापन अथवा पत्नीपन की भिन्नता का भाव अस्थायी और संकुचित है। जो एक की माता होती है, वह दूसरे की पुत्री, बहिन या पत्नी होती है; और जो एक की पत्नी होती है, वह दूसरे की माता, पुत्री या बहिन होती है; परन्तु स्त्रीपन का सम्बन्ध सबके साथ एक समान होता है, अतः वह अधिक व्यापक और स्थायी है। भले-बुरेपन की अपेक्षा मनुष्यपन अधिक स्थायी और व्यापक है। मनुष्य में भलाई अथवा बुराई आगन्तुक होती है, वे बदल सकती है, परन्तु मनुष्यत्व बना रहता है। इसी तरह घोड़े में घोड़ेपन की अपेक्षा पशुपन अधिक व्यापक और अधिक स्थायी है। कहीं पर घोड़े से सवारी का काम लिया जाता है, कहीं बोझा ढोने का, कहीं हलों में जोतने का, और कहीं सर्कसो में खेल दिखाने का, इत्यादि; पशु से भिन्न पाषाण, वनस्पति अथवा मनुष्य का काम उससे नहीं लिया जा सकता; सब दशाओ में उसका पशुपन बना ही रहता है ।

अब इससे आगे बढ़ कर मनुष्य, स्त्री, पशु आदि के स्थायीपन और सत्यता पर गहरा विचार किया जाय तो आत्मा की दृष्टि से वे भी सब अस्थायी और कल्पित सिद्ध होते है, क्योकि वे सब बनने-बिगड़ने वाले और क्षण-क्षण में बदलने वाले हैं; और यही दशा व्यवहार करने वाले के शरीर और व्यवहार की है। इन सबमें सदा एकसा रहने वाला एकत्व-भाव, अर्थात् अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप आत्मा ही सत्य है। अतएव अपने तथा दूसरो यानी समस्त जगत् के अन्दर एक आत्म.तत्त्व को सत्य मानते हुए, और नाना प्रकार की भिन्नताओ को उस एक ही आत्मा के नाना रूपो तथा नाना नामो का कल्पित बनाव समझते हुए, अपने तथा दूसरे के शरीर की योग्यता और गुणो के तारतम्य के अनुसार, और आपस के सम्बन्ध के उपयुक्त परस्पर में व्यवहार करना—यही एकता एवं समता का व्यवहार है। श्रेष्ठ और दुष्ट, मनुष्य और पशु आदि को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, अपने नाम-रूपात्मक शरीर और उनके नाम-रूपात्मक शरीरो के गुणों के उपयुक्त, और उनसे अपने सम्बन्ध के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। इसी तरह माता और पत्नी को अपने से अभिन्न आत्मरूप समझते हुए, उनके तथा अपने नाम-रूपात्मक शरीरो, तथा आपस के

कल्पित सम्बन्धो के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। जिस शरीर की जिस अवस्था और जिस स्थिति में जैसी योग्यता हो, उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यदि गृहस्थाश्रम में रह कर उपरोक्त सिद्धान्तो के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि गृहस्थाश्रम से अलग रह कर उपरोक्त सिद्धान्तो के अनुसार व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे; परन्तु एकता की सत्यता और भिन्नता के भावो के मिथ्यापन को कभी नहीं भूलना चाहिए। नाटक के पात्र (Actors) लोग भिन्न-भिन्न स्वांगो के अनुसार आपस में यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी यह बात एक क्षण के लिए भी नहीं भूलते कि वे सब एक ही मण्डली के सदस्य है। वे इस एकता को सच्ची और स्वाँगो की भिन्नता के दिखावटी व्यवहारो को मिथ्या समझते है। कचहरियो में दो वकील मित्र एक मुकदमे में प्रतिद्वन्द्विता से लड़ते है, परन्तु आपस की मित्रता ज्यो की त्यो कायम रहती है। मुकदमे के अवसर पर लड़ने की भिन्नता को वे मिथ्या जानते है। शरीर के पृथक्-पृथक् अङ्गो को एक ही शरीर के अनेक अवयव जानते हुए उनके द्वारा यथा-योग्य आचरण करने ही से शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसी तरह जगत् की सम्पूर्ण भिन्नताओ में एकता का ज्ञान रखते हुए, उन प्रत्येक के उपयुक्त सांसारिक व्यवहार करना, यही व्यावहारिक वेदान्त है। इसी का आचरण करने वाले पूर्व काल में सब प्रकार से उन्नत हुए है और वर्तमान में भी जो लोग थोड़ा या बहुत इसका आचरण करते है, वे उस आचरण के अनुसार, थोड़े या बहुत उन्नत होते है।

इस विषय में यह आशंका बिलकुल ही न रहनी चाहिए कि सबके साथ पूर्ण एकता के व्यवहार बिना सच्चा सुख हो नहीं सकता, और इस तरह पूर्ण एकता का व्यवहार कर सकना, साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा अशक्य है, इसलिए यह प्रयत्न निष्फल है। व्यावहारिक वेदान्त का आचरण दूसरे कर्मकाण्डो अथवा क्रियाओ की तरह नहीं है कि जिसकी पूर्णता होने से ही निर्दिष्ट फल होता हो। इसमें यही तो विशेषता है कि जितना इसका आचरण किया जाय, उतना ही सुख उसी समय प्रत्यक्ष रूप में होता है, अर्थात् जितने अधिक लोगो के साथ जितने दर्जे की एकता के भाव से वर्ताव किया जाता है, उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तत्काल ही प्राप्त होती है। इसके थोड़े आचरण से थोडी और अधिक से अधिक, और पूर्ण रूप से इसका आचरण करने से पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि इसका थोड़ा भी आचरण निरर्थक नहीं जाता; और न इसमें कोई ऐसी कठिन विधि है कि जिसके बिगड़ जाने से विपरीत परिणाम हो (गी०अ०२ श्लो०४०)। इसका आचरण करने वाला यदि एक जन्म में पूर्णता तक नहीं पहुँचे, तो आगे के जन्मो में क्रमशः उन्नति करता हुआ पूर्णता, अर्थात् "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थिति में पहुँच जाता है (गी० अ० ६ श्लो० ४३ से ४५)। साराश यह कि इसका आचरण करने वाला उत्तरोत्तर उन्नति करता रहता है, पीछे गिरता नहीं।

गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका

किसी भी ग्रन्थ के सच्चे तात्पर्य का निर्णय करने के लिए यह देखना चाहिए कि (१) उसकी विशेषताएँ क्या है ? (२) उसके आरम्भ और समाप्ति में क्या कहा गया है ? (३) उसमें किस विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन है ? (४) उसमें किस विषय का बार-बार समर्थन एवं पुनरावृत्ति है ? (५) उसमें किस विषय के गुण-प्रदर्शन एवं प्रशंसा है और (६) उसका परिणाम क्या निकला ? इन साधनो से ग्रन्थ की परीक्षा करके, उसमें कथित सभी बातों को लेकर उनकी आपस में संगति करके, पक्षपात रहित होकर ग्रन्थ का तात्पर्य-निर्णय करना चाहिए। यदि अपना मत पहले स्थिर कर लिया जाय और फिर उसकी पुष्टि किसी ग्रन्थ से करने के लिए, उपरोक्त साधनो की अवहेलना करके, उसमें वर्णित जो बातें अपने मत के अनुकूल न पड़ें उन्हे छोड़कर, जो बातें अपने मत के अनुकूल हो, केवल उन्हीं को ग्रहण किया जाय तो उस ग्रन्थ के तात्पर्य का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता।

उपरोक्त पद्धति से श्रीमद्भगवद्गीता के तात्पर्य के विषय में विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य ऐसे उपलब्ध होते है कि जिनसे इसका "व्यावहारिक अर्थ" स्वतः ही प्रतिपन्न होता है और उक्त अर्थ की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं रहता। अतः गीता का सच्चा तात्पर्य समझने के लिए, इसके प्रत्येक श्लोक के अर्थ पर विचार करते समय इन तथ्यों पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए। इन पर समुचित ध्यान न रखने से ही इसके अर्थ में इतनी असम्बद्धता तथा अव्यावहारिकता का घोटाला हो गया है कि कई लोग उसको कोरा कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदर्शवाद (Impracticable Idealism) ही समझने लगे है; और व्यवहार में इसके सिद्धान्तो का उपयोग लुप्त-प्राय हो गया है, जिससे जनता की अकथनीय हानियाँ हुई है।

(१) गीता के उपदेशकर्ता महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में प्रायः सर्वत्र ही अपना सर्वात्मभाव घोषित किया है, अर्थात् अपनी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, एकता, नित्यता एवं समता आदि परमात्म-भाव की स्थिति में यह उपदेश देना सूचित किया है; और उक्त उपदेश को अत्यन्त प्राचीन, गहन, अविनाशी, मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए एक समान उपयोगी एवं एक समान हितकर राज-विद्या बताया है; और साथ ही कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके, बुद्धियोग अर्थात् प्रत्येक विषय में बुद्धि से काम लेने पर बार-बार जोर दिया है; यहाँ तक कि अपने इस उपदेश पर भी अच्छी तरह विचार करके कार्य करने को कहा है (गीता अ० १८ श्लो० ६३)।

इन बातो से स्पष्ट है कि गीता केवल श्रीकृष्ण और अर्जुन का व्यक्तिगत सम्वाद मात्र ही नहीं है, न यह किसी देश-विशेष, काल-विशेष, जाति-विशेष एवं व्यक्ति-विशेष के लिए ही परिमित है, और न यह किसी कार्य-विशेष की सिद्धि, अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना एवं उसके प्रचार के उद्देश्य से ही कही गई है; किन्तु यह दिव्य उपदेश, सर्वात्मभावापन्न महान् आत्मा=परमात्मा ने, देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, लिंग-भेद, धर्म-भेद सम्प्रदाय-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, अवस्था-भेद, कर्म-भेद, पद-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद, बिना मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के हित, अर्थात् उनके वर्तमान एवं भविष्य के कल्याण के लिए दिया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गीता के श्लोको का अर्थ गम्भीर-गवेषणापूर्वक, अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरे विचार से—जहाँ तक बुद्धि पहुँच सके—अधिक से अधिक उदार, अधिक से अधिक व्यापक और अधिक से अधिक विस्तृत करना चाहिए।

अत. भगवान् ने इसमें अपने लिए जो "अहं, माम्, मया, मे, मत्, मम, मयि" आदि उत्तम पुरुष (first person) वाचक सर्वनामो का प्रयोग किया है, उनको केवल श्रीकृष्ण महाराज के विशेष व्यक्तित्व (व्यष्टि-भाव) के लिए ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु वे सर्वनाम उनके व्यष्टि-समष्टि-संयुक्तभाव अर्थात् सवके "अपने वास्तविक आप (self) " के लिए प्रयुक्त हुए समझना चाहिए। इसी तरह अर्जुन के लिए भिन्न-भिन्न नामो एवं विशेषणो युक्त जो सम्वोधन है, उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के व्यष्टि-भाव के लिए समझना चाहिए। दूसरे शब्दो में, गीता का उपदेश प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए, समष्टिआत्मा=परमात्मा का दिया हुआ समझना चाहिए।

उपरोक्त विशेषताओ के अतिरिक्त गीता में एक यह भी विशेषता है कि भगवान कृष्ण के वाक्यो में जो कुछ कहा गया है, सव यथार्थ कथन है। अतिशयोक्ति, मिथ्या प्रशसा अथवा मिथ्या निन्दा, अथवा कपोल-कल्पित अव्यावहारिक एवं असम्वद्ध विषयो का वर्णन इसमें बिलकुल नहीं है। यदि ऐसा होता तो महाभारत-काल से लेकर अव तक, सारे भूमण्डल के विचारशील लोगो में इसका इतना आदर कदापि न होता; और दार्शनिक आर्य-सस्कृति के अनुयायी लोगो की इस पर इतनी श्रद्धा नहीं रहती।

(२) महाभारत के भूमण्डल-व्यापी महायुद्ध के आरम्भ में, शस्त्र चलने की तैयारी के समय, कर्मवीर अर्जुन, हृदय की दुर्बलता के वश, अपने और अपने सम्बन्धियों के व्यक्तिगत स्वार्थो के मोह, तथा मरने-मारने के शोक एवं पाप के भय से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया और घबरा कर अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध-रूपी सासारिक व्यवहार से खिन्न, तथा अत्यन्त दीन-दुखी होकर भगवान् श्रीकृष्ण से पूछने लगा कि "इस विकट परिस्थिति में मेरे लिए जो श्रेयस्कर हो सो वताइए।" तव भगवान् ने उस प्रसंग को लेकर

गीता का उपदेश दिया, जिसमें अर्जुन को लक्ष्य करके सब लोगो को आत्म-ज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने की व्यवस्था दी। मनुष्य-समाज की सुव्यवस्था के लिए, अर्थात् मनुष्य-जगत का व्यवहार ठीक-ठीक चलाने के लिए, चार प्रकार के मुख्य कर्मों, अर्थात् शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा की व्यवस्था आवश्यक होने के कारण, समाज को गुण-कर्मानुसार चार वर्णों में विभक्त करके प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के सांसारिक व्यवहार, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त—कर्मों के स्वामी-भाव से—स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान् ने दिया; और इसी विषय का सयुक्तिक प्रतिपादन, तथा बार-बार समर्थन एवं उसके गुणो के प्रदर्शनसहित प्रशंसा, अनेक प्रकार से सारी गीता में करके, यही आचरण सबके लिए परम श्रेयस्कर यानी इस लोक और परलोक, दोनो में कल्याणकर बताया; और उसके परिणाम-स्वरूप अर्जुन ने उसी समय उसके अनुसार आचरण करना स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि उपरोक्त आत्मज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने का विधान अर्थात् "व्यावहारिक वेदान्त" ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और उसी की व्यवस्था करने के लिए, उसके सब अंगो का निरूपण, प्रसंगानुसार इसमें यथास्थान किया गया है। मूल विषय में उन अंगभूत विषयों के समावेश का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि उन अंगभूत विषयो का निरूपण, उक्त मूल प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत—उसकी व्यवस्था करने के लिए किया गया है, न कि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता के विधान के लिए। यदि उनकी स्वतन्त्र कर्तव्यता का विधान किया जाता तो असंगति, अव्यावहारिकता, असम्बद्धता आदि दोष आते; परन्तु सर्वात्मभावापन्न भगवान् श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जैसे सर्वमान्य, सार्वजनिक, सत्य एवं व्यावहारिक शास्त्र में यह दोष रह ही कैसे सकते है ?

(३) आत्मज्ञान-विहीन सांसारिक व्यवहारो में व्यक्तित्व के भाव की अत्यन्त आसक्ति रहती है, जिससे व्यक्तिगत हानि-लाभ, सुख-दुःख एवं संयोग-वियोग आदि का शोक हुए विना नहीं रहता, तथा अपने शरीर को कष्ट होने अथवा मरने का मोह, एवं दूसरो को कष्ट देने अथवा मारने के पापो का फल—इसी जन्म में अथवा परलोक में—भोगने का भय भी रहता है। इस तरह के शोक, मोह और भय के कारण सांसारिक व्यवहार बिगड़ने के अतिरिक्त, व्यवहार करने वाले का जीवन भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और उसकी वड़ी दुर्दशा होती है। अर्जुन को भी इसी तरह का शोक, मोह और भय हुआ था, और साधारणतया अन्य कार्यकर्ताओ को भी हुआ करता है। इसलिए भगवान् ने अपने उपदेश के आरम्भ से लेकर अन्त तक, आत्मज्ञान और उसके महत्त्व का निरूपण प्रसंगानुसार प्रायः सर्वत्र ही किया है; अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि

एक ही अज, अविनाशी, नित्य, सनातन, निर्विकार, सच्चिदानन्द आत्मा, जो सबका असली अपना आप है और जो सब भूत-प्राणियो में एक समान व्यापक है—वही सत्य है; और जो नाना भाँति के जगत् के बनाव और शरीर है, वे उस एक ही आत्मा के अनन्त कल्पित रूपो और नामो का खेल है, और वह खेल प्रतिक्षण परिवर्तनशील एव उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण असत्य है, तथा सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व भी इस खेल के अन्तर्गत होने के कारण परिवर्तनशील एवं आने-जाने वाले तथा सापेक्ष है, अतः वे भी असत्य है, और सबके एकत्व-भाव—आत्मा में वे सब सम हो जाते है, अर्थात् उनका अभाव हो जाता है। इसलिए पृथक्ता के मिथ्या भावो के कारण प्रतीत होने वाले सुख-दु.ख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वो से विचलित न होकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से, अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार, अपने-अपने हिस्से के लौकिक व्यवहार करने का विधान, सबके लिए गीता में सर्वत्र किया गया है; और साथ में यह भी कहा गया है कि इस तरह आचरण करने से किसी पुरुष को शोक, मोह और भय नहीं होता।

जब कि आत्मज्ञान के आधार पर ही व्यवहार करने का विधान गीता का मूल विषय है, तो आत्मज्ञान को इस उपदेश का जीवात्मा समझना चाहिए; अत. उसका वर्णन इसमें सबसे प्रधान और सबसे अधिक होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सांसारिक व्यवहार छोड़ कर केवल आत्म-चिन्तन करते रहने और आत्म-ज्ञान के ग्रन्थ देखने, प्रक्रियाओ को याद करने एवं शास्त्रार्थ करने ही में सारी आयु बिता दी जाय; क्योकि न तो अर्जुन को उस समय ऐसी शिक्षा देने का अवसर था, न उसको निमित्त वना कर दूसरे लोगो को ही यह उपदेश देने का प्रसग था कि 'जगत् के सब व्यवहार छोड कर केवल आत्म-चिन्तन और आत्म-ज्ञान की चर्चा ही में लगे रहो,' इसके सिवाय और कोई कर्तव्य नहीं है'।

(४) उपरोक्त आत्मज्ञान-युक्त सांसारिक व्यवहार करने में, सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन की स्थिति होना आवश्यक है, जिससे अनुकूलता-प्रतिकूलता एव सुख-दुःखादि नाना भाँति के द्वन्द्वो में वह विक्षिप्त न हो, किन्तु सम बना रहे। इस सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति को गीता में "योग" कहा है। सबकी एकता के साम्य-भाव में मन की स्थिति विचार से भी होती है और क्रिया से भी। विचार से मन को एकाग्र करने के लिए तो आत्मज्ञान का निरूपण सर्वत्र किया ही गया है; परन्तु जिनकी बुद्धि उक्त सूक्ष्म विचार को ग्रहण नहीं कर सकती, उनके लिए राज-योग की क्रियाओ से मन को एकाग्र करने का सक्षिप्त विधान छठे अध्याय में किया गया है। परन्तु वह विधान, उक्त समत्व-योग में स्थित होने का एक साधन बताने मात्र के लिए ही है, हठयोग की समाधि के निमित्त उन क्रियाओ की स्वतन्त्र कर्तव्यता प्रतिपादन करने के लिए नहीं है,

क्योकि संसार के व्यवहार करने वालों के लिए, काया को क्लेश देने वाली हठयोग की क्रियाओ तथा समाधि में ही लगे रहने का विधान सर्वथा अनुपयुक्त होता। गीता में जिस समाधि का कथन है, वह व्यक्तिगत चित्त का निरोध मात्र ही नहीं है, किन्तु सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को स्थित करना है।

(५) संसार-चक्र को अर्थात् जगत् के व्यवहार को यथावत् चलाने के लोक-संग्रह के लिए, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म करने के विधान को गीता में "यज्ञ" कहा है। इस व्यापक "यज्ञ" में प्रत्येक व्यक्ति के (व्यष्टि) कर्मो को सबके (समष्टि) कर्मों में सम्मिलित करने, अर्थात् सबके साथ सहयोग करने द्वारा, अपनी-अपनी व्यष्टि व्यावहारिक शक्तियो का—देवता-रूप से कथित—जगत् को धारण करने वाली समष्टि शक्तियो में योग देने की आहुति देकर, संसार-चक्र को चलाने में सहायक होने का विधान किया गया है। भूत-प्राणियो के भिन्न-भिन्न कर्म करने की व्यष्टि शक्तियो के समष्टि (सम्मिलित) भाव ही उनके अधिदेव अर्थात् देवता हैं; और प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियों का सबकी समष्टि शक्तियो में योग देना ही उन देवताओ का यजन अर्थात् "यज्ञ" है। यही "यज्ञ" संसार को धारण करता है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म—सबके हित के लिए, दूसरो से सहयोग रखते हुए—करने ही से जगत् का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का—चाहे वह कितना ही छोटा हो अथवा बडा, चाहे वह कितना ही नीचा हो अथवा ऊँचा, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म, दूसरो से एकता तथा सहयोग रखते हुए करना मात्र ही "यज्ञ" है; क्योंकि "यज्ञ" का प्रयोजन संसार-चक्र को चलाना ही है। अस्तु, गीता में विधान किये हुए "यज्ञ" का तात्पर्य आमतौर से प्रचलित यज्ञो की तरह अग्नि में घृतादि पदार्थो का होमना अथवा बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डो में लगे रहना नहीं है, क्योकि उपरोक्त संसार-चक्र को चलाने के लिए अपने-अपने कर्तव्य पालन करने के निरूपण में अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डो में लगे रहने की व्यवस्था बन नहीं सकती।

(६) आत्मा यानी "अपने वास्तविक आप" की सबके साथ एकता के साम्य-भाव का विचार अर्थात् आत्मज्ञान, अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगो के लिए बडा दुर्गम है, इसलिए लोगो का चित्त उसमें लगना बहुत ही कठिन होता है। इस विषय को सुगम करके सर्वसाधारण को समझाने, तथा उनके लिए मन को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करने की व्यवस्था सहल करने के लिए भगवान ने भक्ति अथवा उपासना का विधान किया है, जिसमें परमात्मा या ब्रह्म, या महेश्वर रूप अपने आप (कृष्ण) को सब भूत-प्राणियो में एक समान व्यापक बता कर, अखिल विश्व परमात्मा का व्यक्त स्वरूप होने के निश्चय से सबके साथ अनन्य-भाव के प्रेम के

आचरण द्वारा उस सर्व-व्यापक परमात्मा की उपासना करने का प्रतिपादन किया गया है। उक्त उपासना के विधान में, जो ईश्वर के अथवा अपने (कृष्ण के) शरण होने को कहा है, उसका तात्पर्य परमात्मा, ईश्वर अथवा कृष्ण को सर्वव्यापक समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड देना है; तथा ब्रह्मार्पण अथवा अपने (कृष्ण के) अर्पण करने का जो विधान किया है, उसका तात्पर्य ब्रह्म, अथवा कृष्ण को सबमें समान भाव से व्यापक समझते हुए सबके लिए, अर्थात् अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले जनतारूपी जगदीश्वर के लिए प्रेमयुक्त कर्म करना अथवा पदार्थ देना है। परन्तु उक्त भक्ति अथवा उपासना का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी निर्गुण-निराकार ईश्वर के ध्यान या चिन्तन का दु साध्य प्रयत्न किया जाय, अथवा किसी स्थान-विशेष में स्थित किसी व्यक्ति-विशेष ही को ईश्वर मान कर, केवल उसका भजन, स्मरण, कीर्तन आदि ही किया जाय, अथवा उसके किसी विशेष रूप की कल्पना करके उसकी प्रतिमा, चित्र आदि वनाकर उनका अर्चन, पूजन, भजन, स्मरण आदि ही किया जाय; और किसी अदृष्ट कल्पित शक्ति की, अथवा किसी देश अथवा काल-विशेष में परिमित ईश्वर की शरण में जाने मात्र ही का भाव मन से किया जाय, अथवा वाणी से उच्चारण किया जाय; तथा किसी देश अथवा काल-विशेष में स्थित किसी व्यक्ति-विशेष के, अथवा अदृष्ट (अव्यक्त) ईश्वर के नाम मात्र ही से कोई पदार्थ या कर्म अर्पण करने का शब्द उच्चारण किया जाय अथवा हाथ से सकल्प छोडा जाय। गीता जैसे व्यावहारिक उपदेश में इस तरह की अव्यावहारिक भावुकता, अर्थात् किसी अदृष्ट व्यक्ति-विशेष के नाम पर भजन, स्मरण, पूजन, अर्चन आदि में लगे रहने और उसकी शरण में पडे रहने, तथा उसके नाम पर अर्पण करके बहुमूल्य पदार्थों का अपव्यय करने आदि आडम्बरो का विधान सर्वथा अयुक्त होता।

(७) उपरोक्त व्यष्टिभाव की समष्टि से एकता करने की विशेष व्याख्या करने के अभिप्राय से भगवान् ने भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के मिथ्या भावो को मिटाने के लिए, अहंकार-त्याग, ममत्व की आसक्ति का त्याग, कामना-त्याग, फल-त्याग आदि—त्याग, वैराग्य अथवा सन्यास का विधान किया है; क्योकि भिन्नता का मिथ्या भाव मिट जाने से, सर्वत्र एकता तो वास्तव में है ही। अतः अहकार-त्याग अथवा निरहंकार का यह तात्पर्य है कि जगत् में सर्वत्र एकता सच्ची होने के कारण सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते है— दूसरे व्यक्तियो अथवा शक्तियो के सहयोग विना कोई अकेला व्यक्ति हिल भी नहीं सकता; इसलिए किसी भी काम के करने अथवा न करने का व्यक्तित्व का अहंकार रखना कि "मै करता हूँ" अथवा "मेरे ही करने से कोई कार्य होता है" या "मैं नहीं करूँगा तो कोई कार्य नहीं होगा" इत्यादि सब मिथ्या है। इस मिथ्या व्यक्तित्व के अहंकार को छोड़ कर सच्चे समष्टिभाव में स्थित होने से ही समत्व-योग का व्यवहार हो सकता है।

ममत्व की आसक्ति का त्याग अथवा अनासक्ति का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेष ही को अपना मान कर उसके पृथक्ता के भाव में ममत्व की आसक्ति रखना साम्य-भाव का बाधक है; क्योंकि संसार के सभी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ ही में ममत्व रखने के बदले सबके साथ अनन्य-भाव का प्रेम रखना चाहिए।

कामना-त्याग अथवा निष्काम कर्म का तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व में एकता सच्ची होने के कारण सबके स्वार्थ आपस में मिले हुए हैं, अतः कोई भी व्यक्ति दूसरो के स्वार्थों की सर्वथा अवहेलना अथवा हानि करके, अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि नहीं कर सकता। दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से कर्म करना मिथ्या व्यवहार है; अतः अपना स्वार्थ सबके स्वार्थो के अन्तर्गत समझ कर सबके हित के साथ अपना भी हित-साधन करने के उद्देश्य से कर्म करना चाहिये।

इसी तरह कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य है कि जगत् की एकता सच्ची होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता; इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने कर्मो के फल के लाभ से दूसरों को सर्वथा वंचित रख कर केवल अकेला ही उससे लाभ न उठावे, किन्तु दूसरों को लाभ पहुँचाने के साथ-साथ स्वयं भी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करे।

परन्तु, जैसा कि साधारणतया माना जाता है, गीता के निरहंकार का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संसार के व्यवहार करने में मनुष्य अपने आपके अस्तित्व तथा आत्माभिमान एवं अपने दायित्व को सर्वथा भुला कर, दूसरे किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति पर निर्भर होकर, स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी बन जाय। मनुष्य के सिवाय अन्य भूत-प्राणियों में तो कर्मों अथवा प्रकृति की अधीनता से मुक्त होने की योग्यता नहीं होती; परन्तु मनुष्य-शरीर में कर्म अथवा प्रकृति की परवशता हटा कर उन पर शासन करने की योग्यता होती है, और जिसमें जितनी ही एकता के भाव की वृद्धि होती है, उतना ही वह प्रकृति पर अधिक अधिकार प्राप्त करता है। इसलिए भगवान्, प्रकृति के स्वामी—चेतन पुरुष को, प्रकृति का दास—जड़ होकर पराधीनता से कर्म करने को नहीं कहते, किन्तु समष्टि अहंकार से, सबके हित के लिए, कर्मों अथवा प्रकृति के स्वामी-भाव से लोक-संग्रह के कर्म करने को कहते है।

अनासक्ति का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी भी काम के करने में मन न लगाया जाय, तथा उसका अच्छी तरह सम्पादन करने एवं उसमें उन्नति करने के लिए विचार-शक्ति का उपयोग न करके केवल मशीन की तरह, जड़ भाव से एवं असावधानी से काम किये जायँ, तथा उनके सुधरने-बिगड़ने की कुछ भी परवाह न की जाय; क्योंकि

कर्म सब मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारस्वरूप—चतुर्विध अन्त.करण सहित इन्द्रियों द्वारा होते है, इसलिए कर्मों में मन न जोड़ने का अव्यावहारिक उपदेश भगवान् कैसे दे सकते है ? किसी भी कर्म में व्यक्तिगत राग की आसक्ति न रखकर, सबसे प्रेमयुक्त, सबके हित के लिए, अच्छी तरह मनोयोग से—दत्तचित्त होकर तत्परता से कर्म करना ही सच्ची अनासक्ति है ।

निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी उद्देश्य के बिना पागलो की तरह निष्प्रयोजन चेष्टाएँ की जायँ, अथवा अपनी इच्छा के बिना दूसरो की प्रेरणा से जबरदस्ती कर्म किये जायँ, तथा इस विचार से कर्म किये जायँ कि उनका फल कुछ भी न हो, अथवा कर्मों का फल यदि उत्पन्न हो तो वह ग्रहण न किया जाय। जिस तरह, खेती करे तो अनिच्छा से करे—अन्न उत्पन्न करने के उद्देश्य से न करे, तथा इस भाव से करे कि इससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा—केवल जमीन पर हल चलाना और बीज फेंकना मात्र ही कर्त्तव्य है; और यदि उससे अन्न उत्पन्न हो जाय तो वह किसी के उपयोग में न आवे और न स्वयं उसे खाकर भूख शान्त करे; (२)स्वतन्त्रता या मुक्ति के प्रयत्न के परिणाम में जब स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त हो तो उसे अस्वीकार करके परतन्त्रता या वन्धन में ही पडा रहे, इत्यादि। गीता इस तरह के अव्यावहारिक निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का उपदेश नहीं देती। जगत्-प्रपंच आत्मा की इच्छा का खिलवाड होने के कारण इच्छामय है, इसलिए इसके व्यवहार इच्छा से रहित नहीं हो सकते—किसी न किसी प्रकार की इच्छा और उद्देश्य ही से कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और कर्मो का अच्छा, वुरा अथवा मिश्रित फल होना भी अनिवार्य है। यदि कर्मों का फल ही न हो तो कर्म-विपाक का सिद्धान्त नष्ट हो जाय और कर्म करने में किसी की प्रवृत्ति ही न रहे। गीता में तो यज्ञ अर्थात् लोक-सग्रह के उद्देश्य से कर्म करने का स्पष्ट आदेश है (गी० अ० ३ श्लो० ९)। इससे सिद्ध है कि कर्म करने का उद्देश्य तो कुछ न कुछ होता ही है और इस उद्देश्य की सिद्धि अथवा उसका अन्य फल भी होता ही है, परन्तु लोक-सग्रह के उद्देश्य से किये हुए कर्मों के फल में किसी व्यक्ति-विशेष की स्वार्थ-सिद्धि का मिथ्या भाव नहीं रहता, किन्तु उनसे अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले सब व्यक्तियो के हित होने का सद्भाव रहता है, जिनमें स्वयं कर्ता भी सम्मिलित है। यही निष्काम कर्म तथा कर्मफल-त्याग का रहस्य है।

सारांश यह कि भगवान् ने जो त्याग, वैराग्य अथवा सन्यास का विधान किया है, उसका तात्पर्य भिन्नता के मिथ्या भावो को एकता के सच्चे भाव में परिणत करना, और "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न जगत् के पदार्थों में सुख-दु:ख मान कर उनमें आसक्ति न रखना तथा उनसे विचलित न होना, किन्तु परमानन्दस्वरूप "अपने आप (आत्मा)" ही में सब प्रकार के कल्पित सुख-दु.ख का एकीकरण (समावेश) समझना है। दूसरे शब्दो में अपने को दूसरो से पृथक् एक तुच्छ व्यक्ति एव छोटे-से कर्ता के स्थान में अखिल विश्व

का आत्मा, प्रकृति का स्वामी एवं महाकर्ता अनुभव करना, और जगत् के तुच्छ पदार्थों के लिए हीनता एव दीनता के भावो के वदले अपने आपको परिपूर्ण समझना—यही गीता का त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है। छोटे-से व्यक्तित्व का भाव छुड़ा कर भगवान् महान्-आत्मा अर्थात् परमात्म-भाव में स्थिति करवाते है, यानी बूँद से समुद्र वनाते है; और मिथ्या विपय-सुखो की मृग-तृष्णा छुड़वा कर विश्व की सारी सुख-समृद्धि का अक्षय भण्डार "अपने आप" में वताते है।

गीता में कथित त्याग, वैराग्य अथवा सन्यास का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि जगत् को वस्तुत. मिथ्या जान कर, उससे घृणा करके अलग होने का प्रयत्न किया जाय तथा सव उद्यम छोड़-छाड़ कर निठल्ले हो वैठे। इस तरह के त्याग, वैराग्य एवं संन्यास को भगवान् ने अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक कहा है। जव कि जगत् का सारा नानात्व मिथ्या है, तो शरीरो के व्यक्तित्व के भावो में नानात्व होने के कारण वे भी मिथ्या है, अतः जगत् के व्यवहारो एवं पदार्थों को त्याग देने का व्यक्तित्व का अहंकार मिथ्या है; और जव तक ग्रहण अथवा त्याग के व्यक्तित्व का अहंकार रहता है, तव तक भिन्नता के (मिथ्या) व्यवहार वनते ही रहते है—चाहे वे ग्रहण के हो या त्याग के। इसलिए भगवान् उक्त मिथ्या भावो ही को छुडा कर एकता का सच्चा भाव ग्रहण करने को कहते है। यही सच्चा त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है।

त्याग और ग्रहण दोनो सापेक्ष है। त्याग के लिए ग्रहण का भी साथ-साथ होना आवश्यक है। इसलिए गीता व्यष्टि-भाव का त्याग समष्टि-भाव में कराती है, अर्थात् व्यष्टि-समष्टि का भेद मिटाती है, और जव व्यष्टि-समष्टि का भेद मिट जाता है तव त्याग और ग्रहण के लिये कुछ शेष ही नहीं रहता। अत. जो कुछ करना है वह यही है कि व्यष्टि-भाव का झूठा अभिमान मिटाना है; फिर न व्यष्टि है, न समष्टि; जो कुछ है वह सव "अपना आप" ही है—जो न ग्रहण का विषय है, न त्याग का।

(८) उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सासारिक व्यवहारो की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए, भगवान् ने उक्त व्यवहार करने वाले महापुरुषो के आचरणो का वर्णन प्रसंगानुसार गीता के प्राय. सभी अध्यायो में थोड़ा-वहुत किया है; किन्तु दूसरे अध्याय के अन्त में "स्थित-प्रज्ञ" के विवरण में, तथा वारहवें अध्याय के अन्त में "भक्त" के विवरण में, तथा तेरहवें अध्याय में "ज्ञान" के विवरण में, तथा चौदहवें अध्याय में "गुणातीत" के विवरण में और सोलहवें अध्याय में "दैवी-सम्पत्ति" के विवरण में विशेष रूप से किया है। उसके विपरीत, पृथक् व्यक्तित्व के भाव से विषमता के व्यवहार करने वाले "असुरों" के आचरणो का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया है; तथा सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस आचरणो की व्याख्या की है। उनमें आसुरी अथवा राजस-तामस आचरण त्याज्य, एवं दैवी अथवा सात्विक आचरण

ग्राह्य कहे है। इसका तात्पर्य यह है कि साधारणतया दूसरो से पृथक् व्यक्तित्व के भावो के कारण ही आसुरी सम्पत्ति के अथवा राजस-तामस आचरण वनते है; और एकता के साम्य-भाव से दैवी सम्पत्ति के अथवा सात्विक आचरण वनते है। अतः जितने ही अधिक पृथक्ता के भाव वढे हुए होते है, उतने ही अधिक आसुरी अथवा राजस-तामस व्यवहार होते है; और जितना ही अधिक एकता का साम्य-भाव बढा हुआ होता है, उतने ही अधिक सात्विक व्यवहार होते है। इसलिए यह बात ध्यान में रखने की है कि व्यवहार अथवा कर्म सब जड होने के कारण उनमें स्वयं अच्छापन या बुरापन अर्थात् दैवी सम्पत्ति अथवा सात्विकपन, तथा आसुरी सम्पत्ति अथवा राजस-तामसपन, कुछ भी नहीं होता; किन्तु कर्मों में अच्छापन या वुरापन कर्ता के भाव से उत्पन्न होता है। यदि दैवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणो में पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरो से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव आ जायें, तो उनका दुरुपयोग होकर वे ही राजस-तामस आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते है; दूसरी तरफ यदि आसुरी सम्पत्ति के राजस-तामस आचरण, समष्टि-भाव और सबके हित के उद्देश्य से किये जायें तो उनका सदुपयोग होकर वे ही दैवी सम्पत्ति के सात्विक आचरणो में परिणत हो जाते है। अनेक अवसर ऐसे आते है, जब कि लोक-संग्रह के लिए काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, मान आदि आसुरी भावो के आचरण आवश्यक एवं लोक-हितकर होते है; उस परिस्थिति में वे काम-क्रोध आदि के आचरण आसुरी भाव नहीं रहते। इसी तरह अनेक अवसर ऐसे आते है जब कि सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि दैवी सम्पत्ति के आचरण, लोक-सग्रह के विरुद्ध अर्थात् लोक-पीडा के हेतु हो जाते है; ऐसी दशा में वे दैवी सम्पत्ति के आचरण नहीं रहते, किन्तु आसुरी सम्पत्ति में परिणत हो जाते है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, इसलिए इसके व्यवहारो में तीनो गुणो युक्त, यथायोग्य आचरणो का होना अत्यावश्यक है। दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति सापेक्ष है, एक के होने के लिए दूसरी का होना अनिवार्य है। इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-समत्व-बुद्धि से निर्णय करके ही इनका यथायोग्य आचरण करने का विधान है। कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता गीता में इसीलिए विशेष रूप से कही गई है।

(९) संसार में जितने भी कार्य होते है—चाहे वे धार्मिक हो या सामाजिक, चाहे आर्थिक हो या राजनैतिक, किसी भी प्रकार के हो—सबका आधार श्रद्धा-विश्वास की भित्ति पर होता है। जिस-जिस विषय का जिस-जिसको ज्ञान होता है, उस विषय के सम्बन्ध में पहले-पहल उसी के अनुभव एवं उसी के कथन पर श्रद्धा करके उसमें प्रवेश करना होता है। विशेष करके आत्मज्ञान जैसे गहन और सूक्ष्म विषय में—जो कि स्थूल इन्द्रियो के सर्वथा अगोचर है—प्रवेश करने के लिए एव उसके आधार पर आचरण करने के लिए तो पहले-पहल आत्मज्ञानी समत्वयोगी महापुरुषो के अनुभव एवं वचनो पर

श्रद्धा ही का अवलम्बन करना पड़ता है। श्रद्धा के विना इस विषय में चञ्चु-प्रवेश होना भी दुस्तर है। इसके अतिरिक्त, सबसे अधिक आवश्यकता अपने वास्तविक आप पर श्रद्धा रखने अर्थात् आत्म-विश्वास की है, क्योंकि आत्म-विश्वास के विना मनुष्य किसी भी कार्य में अग्रसर नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने गीता में श्रद्धा को बहुत महत्त्व दिया है; और यहाँ तक कहा है कि मनुष्य श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है। परन्तु श्रद्धा के उक्त विधान का यह तात्पर्य नहीं है कि आत्म-विश्वास को छोड़कर, दूसरी अदृष्ट शक्तियों पर अन्धविश्वास करके उन पर निर्भर रहा जाय, अथवा किसी भी व्यक्ति की योग्यता के विषय का कुछ भी विचार न करके उसकी बातों पर विवेकशून्य अन्ध-श्रद्धा से आचरण किया जाय; तथा जिस अन्धविश्वास को पकड़ लिया जाय उसको हठ एवं दुराग्रह से छोड़ा ही न जाय, एवं उसके परिणाम पर भी कुछ विचार न किया जाय। श्रद्धा विचारयुक्त होनी चाहिए, अर्थात् जिस विषय में जिस पर श्रद्धा की जाय, उस विषय में उसकी योग्यता एवं कुशलता, तथा उसके गुणावगुणों एवं आचरणों के विषय में पहले अच्छी तरह अनुसंधान कर लिया जाय। सच्ची श्रद्धा वही होती है जो विचारपूर्वक होती है। प्रत्येक काम में बुद्धि का उपयोग करना मनुष्य का प्रधान कर्तव्य गीता में बताया गया है; अतः मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह बुद्धि से काम ले।

(१०) जब कोई ग्रंथ, काव्य अथवा शास्त्र निर्माण किया जाता है—खास करके जब समाज शास्त्र की रचना की जाती है तो उस समय की समाज की मान्यताओं, रिवाजों, व्यवस्थाओं, विश्वासों और कल्पनाओं का प्रभाव निर्माता के अंतःकरण पर कुछ न कुछ किसी न किसी रूप में रहता ही है और उसका वर्णन, उल्लेख अथवा संकेत उस रचना में प्रसंगानुसार थोड़ा बहुत होना स्वाभाविक होता है। गीता में भगवान के उपदेशों में अनेक स्थलों पर प्रसंगवश दूसरे लोगों के मतों और विश्वासों का तथा उस समय के प्रचलित रिवाजों, मान्यताओं, व्यवस्थाओं और कल्पनाओं का वर्णन अथवा उल्लेख भी आया है, जिससे यह भ्रम हो सकता है कि ये सब बातें भगवान श्री कृष्ण को भी मान्य थीं। परन्तु उनके वर्णन और उल्लेख की शैली पर, पूर्वापर का सामंजस्य करके अच्छी तरह गंभीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह वर्णन और उल्लेख भगवान श्री कृष्ण के अपने विचार नहीं हैं किन्तु उनका उल्लेख या तो उनके खण्डन करने या उनकी त्रुटि दिखाने या उस समय की मान्यताओं और मतों के ही आधार पर तथा प्रचलित दृष्टान्तों एवं रूपकों द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषय को अच्छी तरह समझाने और उसकी पुष्टि करने के लिए किया गया है। जिस तरहः—

(क) दूसरे अध्याय के २६वें श्लोक में भौतिकवादियों के मत का उल्लेख, मरने के विषय में शोक न करने की पुष्टि के लिए किया गया है।

(ख) दूसरे अध्याय के श्लोक ३१ से ३७ तक अर्जुन को उसके ही माने हुए शास्त्रो में विधान किए हुए धर्म के अनुसार युद्ध करने की कर्त्तव्यता की पुष्टि करने के लिए स्वधर्म नाश के पाप का भय और निन्दा-स्तुति तथा स्वर्ग और राज्य भोग की प्राप्ति आदि के रोचक भयानक अर्थवाद के वचनो का उपयोग किया गया है। यह वर्णन भगवान का निज का मत नहीं है ।

(ग) तीसरे अध्याय के श्लोक १० में समष्टि सकल्प रूप प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ सहित सृष्टि रचने के रूपक का जो वर्णन किया गया है वह उस समय की मान्यता के अनुसार केवल इस बात की पुष्टि करने के लिए किया गया है कि सारी सृष्टि की रचना ही यज्ञमय है अर्थात् सबके अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने रूपी यज्ञ पर ही संसार का अस्तित्व निर्भर है ।

(घ) चौथे अध्याय के पहले श्लोक में समत्व योग का उपदेश सूरज को देने का जो कहा गया है वह समत्व योग का सदा बना रहना और उसके महत्व की पुष्टि करने के लिए काव्य की अलंकारिक भाषा में रूपक बांधा गया है ।

(ङ) चौथे अध्याय के २५ से ३० श्लोको तक कितने ही प्रकार के यज्ञो का जो वर्णन आया है वह उस समय की प्रचलित मान्यताओ के यज्ञो की तुलना में आत्मज्ञान सहित अपने कर्त्तव्य पालन करने रूपी ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता और अवश्य कर्तव्य की पुष्टि करने के लिए किया गया है ।

(च) आठवें अध्याय के श्लोक १६ में ब्रह्मलोक का जो उल्लेख किया गया है वह उस समय साधारणतया यह मान्यता थी कि पुण्यवान लोग मरने के बाद ऊपर के विविध कल्पित लोको में जाते है जिनमें ब्रह्मलोक सबसे ऊपर का है। उस मान्यता की तुलना में ब्रह्मलोक को भी आवागमनशील बता कर परमात्मभाव की स्थिति प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष के जन्म-मरण के चक्कर में न आने की पुष्टि की गई है ।

(छ) आठवें अध्याय के १७वें श्लोक में हजार युगो का ब्रह्मा का दिन और हजार युगो की रात का जो रूपक बांधा गया है वह उस समय के ज्योतिषियो की गणना के अनुसार हजार युगो तक समष्टि सकल्प का सृष्टि रूप से व्यक्त होने रूप जाग्रत अवस्था और हजार युगो तक समष्टि संकल्प की सृष्टि लय होने रूप सुषुप्ति अवस्था बताई गई है। समष्टि सकल्प को ब्रह्मा का रूपक देकर ज्योतिषियो के मत के अनुसार हजार युगो तक सृष्टि का व्यक्त रूप में रहना और हजार युगो तक अव्यक्त रूप में परिवर्तित होते रहना कह कर पीछे आत्मा का सभी दशाओ में एक समान बने रहने का अविनाशी भाव स्पष्ट किया गया है ।

(ज) आठवें अध्याय के २३ से २५ तक के श्लोको में मरने के बाद उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गो की शुक्ल और कृष्ण गतियो का जो वर्णन किया गया है, वह उस

समय के लोगों में दृढ़ता से जमी हुई मान्यता की निरर्थकता बताकर समत्व योगी के लिए उनके भ्रम में न पड़ने और उसकी स्थिति उन कल्पित मान्यताओ से बहुत ऊँची होने की पुष्टि करने के लिए किया गया है।

(झ) नवें अध्याय के १६वें श्लोक में जो कहा है कि ऋतु, यज्ञ, यज्ञ की सामग्री आदि "मै" हूँ, और २०-२१ श्लोकों में यज्ञो से स्वर्ग की प्राप्ति होकर पीछे गिरने का जो उल्लेख हुआ है, उसका कारण यह है कि उस समय इस देश में हवन करने की रिवाज का बहुत अधिक प्रचार था, उसको महत्त्वशून्य बताने के लिए उसका उल्लेख करना आवश्यक था। १६वें श्लोक में इन यज्ञो में भी हवन की क्रिया, सामग्री, अग्नि, मंत्र, हवन करने वाले आदि सबकी एकरूपता दिखा करके प्रथकता के भाव की इन क्रियाओ का मिथ्यापन सिद्ध किया और २०-२१ श्लोको में इन यज्ञ करने वालो की उनके ही मतानुसार आवागमन के चक्कर में घूमते रहने की दुर्दशा दिखाकर २२वें श्लोक में एकता के भाव में जुडे रहने वाले आत्मज्ञानी पुरुषो का माहात्म्य बताया गया है।

(ञ) नवें अध्याय के ३२-३३ श्लोको में स्त्री, वैश्य और शूद्रो की निकृष्टता और ब्राह्मण क्षत्रियो की उत्कृष्टता का जो भाव प्रतीत होता है, वह उस समय के समाज में स्त्री, वैश्य, और शूद्रो की निकृष्टता और ब्राह्मण, क्षत्रियो की उत्कृष्टता की लोगो में दृढ मान्यता थी, इसका परिचायक है; परन्तु भगवान ने उसका खण्डन करके इन सब का समान अधिकार बताया है। तात्पर्य यह है कि कल्याण की प्राप्ति में अपने कर्तव्य पर आरूढ रहने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियो का एक समान अधिकार है, कोई भेद नहीं है। यह श्लोक उस भेद का खण्डन करने के लिए है। उसकी पुष्टि के लिए नहीं। अर्जुन को यह शंका थी कि मै अपना क्षत्रिय का कर्तव्य पालन करूँगा तो मेरी दुर्दशा होगी; उसका यह भ्रम मिटाने के लिए भगवान इन श्लोको में कहते है कि सब की एकता के साम्य भाव से अपने कर्तव्य पालन करने वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र, जिनको समाज निकृष्ट मानता है, वे भी परम गति को प्राप्त हो जाते है तो तुझको तो श्रेष्टाचारी क्षत्रिय होने के कारण समाज उत्कृष्ट मानता है, इसलिए तेरी परमगति होने में संदेह ही क्या है।

(ट) दसवें अध्याय में विभूतियो के वर्णन में शास्त्रो तथा काव्यो आदि में वर्णित देवताओ, गन्धर्वों, दैत्यो, आदित्यो, मरुद्गणो, रुद्रो, यक्षो, राक्षसो, पुरोहितो, सेनापतियो, महर्षियो, देवर्षियो, सिद्धो, पितरो आदि के तथा पशु-पक्षियो आदि के जो आधिदैविक और आधिभौतिक वर्णन है उनका तात्पर्य इतना ही बताने का है कि इस संसार में जो कुछ सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ किसी भी प्रकार के चमत्कारिक विशेषतायुक्त माने जाते हैं अथवा कल्पना में आते है उनको आतमा का विशेष विभूतिसम्पन्न रूप समझना चाहिए। इसी तरह ११वें अध्याय में भी शास्त्रो तथा काव्यो आदि में कल्पना किए हुए नाना प्रकार

के रूपों और घटनाओ के जो वर्णन है उनका तात्पर्य केवल यही दिखाने का है कि ससार में जो कुछ है और जो कुछ कल्पना में आ सकता है वे सब एक ही आत्मा के अनन्त कल्पित रूपो का वनाव है। दसवें अध्याय के अंत के श्लोक में यह स्पष्ट कर दिया गया है और ११वें अध्याय में अर्जुन को मानसिक दिव्य दृष्टि से विश्व रूप दिखाकर पीछे उसी समय उस सारे दृश्य को विलीन कर लेने से यह स्पष्ट हो गया कि वह सब मन की कल्पना मात्र ही था। भौतिक दृष्टि से उनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं थी। उसी तरह चतुर्भुज रूप भी कल्पना मात्र ही था। अर्जुन को विराट रूप का दृश्य देखने से जव घबराहट हुई तो उसको मिटाने के लिए उसको सौम्य और श्रेष्ठ गुणोयुक्त रूप देखने की इच्छा हुई तव भगवान ने वह कल्पित रूप उसी मानसिक दिव्य दृष्टि से दिखाकर उसके मन की व्यथा दूर कर दी। मुकुटधारी मस्तक तथा शंख, चक्र, गदा, पद्मयुक्त हाथो के रूपक का रहस्य ११वें अध्याय के स्पष्टीकरण में लिखा जायगा।

(ठ) सतरहवें अध्याय में श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान के सात्विक, राजस और तामस भेदो की व्याख्या, सात्विक श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान की पुष्टि तथा राजस, तामस, श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान का निषेध करने के लिए की गई है।

(ड) १८वें अध्याय में सन्यास और त्याग का तत्त्व समझाने के लिए दूसरे और तीसरे श्लोको में दूसरे विद्वानो के मतो का जो उल्लेख किया गया है वह उनका खण्डन करके अपना निश्चित मत समझाने के लिए किया गया है। फिर आगे त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, वुद्धि, धृति और सुख के सात्विक, राजस और तामस भेदो की जो व्याख्या की गई है वह भी सात्विक रूपो की पुष्टि और राजस, तामस रूपो के त्याग के लिए की गई ।

(११) उपरोक्त तथ्यो पर विचार करने से, इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि श्रीमद्भगवद्गीता में "व्यावहारिक वेदान्त' (Practical Philosophy) का ही प्रतिपादन है, न कि कोरे कल्पित सिद्धान्त (Theory) अथवा अव्यावहारिक आदर्शवाद (Impracticable Idealism) का, जैसा कि कई लोग अनुमान करते है। इसके उपदेष्टा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण महाराज की अवतार-लीला, "व्यावहारिक वेदान्त" की पूर्णावस्था का आदर्श है (उपोद्घात देखिए); और जिस अर्जुन को निमित्त करके यह उपदेश दिया गया था, वह भी जगद्-विख्यात कार्यकर्ता—क्षत्रिय वीर था। यह बात अवश्य है कि गीता में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सासारिक व्यवहार करने अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त की पूर्णावस्था के आदर्श का प्रतिपादन प्रधानता से किया गया है, क्योकि पूर्णावस्था का आदर्श अथवा अन्तिम लक्ष्य वताने से ही मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर हो सकता है; आदर्श अथवा लक्ष्य के विना मनुष्य की उस तरफ

प्रवृत्ति हो नहीं सकती; परन्तु साथ ही साथ यह भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके थोड़े आचरण से थोड़ी, और अधिक से अधिक शान्ति, पुष्टि एवं तुष्टि (Peace, Power and Plenty) प्राप्त होती है, अर्थात् जिस दर्जे और जिस क्षेत्र तक एकता के साम्य-भाव से व्यवहार किया जाय, उतनी ही शान्ति, पुष्टि एवं तुष्टि प्राप्त होती है। इसका थोड़ा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता (गी० अ० २ श्लो० ४०)। इसका पूर्ण आचरण करने वाले तो पूर्ण स्वतन्त्र, जीवनमुक्त, स्वयं परमानन्द-परमात्मस्वरूप ही होते हैं (गी० अ० ५ श्लो० १६ से २९)।

(१२) कई लोगो का कहना है कि 'महाभारत-युद्ध कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है, और न गीता में कथित कृष्ण और अर्जुन ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं, किन्तु दैवी और आसुरी वृत्तियो का जो संघर्ष प्रत्येक शरीर में होता है, उसी को भारतीय युद्ध का रूपक देकर, आसुरी वृत्तियो पर विजय प्राप्त करने के लिए, कृष्णरूपी ईश्वर ने अर्जुनरूपी जीव को गीता का उपदेश दिया---यह कहानी महाभारतकार वेद-व्यास ने कल्पित की है।' यद्यपि इस कथन में कोई प्रामाणिकता नहीं है, क्योकि महाभारत-युद्ध के तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन के होने का प्रमाण तो स्वयं गीता ही है, जिसको कि वे लोग स्वयं इतनी मान्यता देते है, और जिस गीता का महाभारतकार श्रीवेदव्यासजी ने भारतीय युद्ध के आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कही जाना लिखा है, और बहुत से प्राचीन ग्रन्थो में भी इस विषय के प्रचुर प्रमाण भरे पड़े है, तथा महाराज युधिष्ठिर का संवत् अब तक प्रचलित है। परन्तु महाभारत और कृष्ण-अर्जुन को ऐतिहासिक न मानने वालो के पास उनके न होने का कोई भी प्रमाण---उनकी अपनी अटकल के सिवाय कुछ भी नहीं है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि यह सब कल्पना है, तो भी इससे गीता के महत्व में कोई कमी नहीं आती और न इस भूमिका में लिखे हुए उपरोक्त तथ्यो की ही कोई हानि होती है, प्रत्युत उनकी पुष्टि ही होती है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सारा जगत् ही मन की कल्पना का खेल है, अतः उस दृष्टि से विचार करने पर जगत् के दूसरे अनन्त बनावों की तरह महाभारत-युद्ध और गीता का उपदेश भी कल्पना की ही सृष्टि कही जा सकती है; परन्तु जब कल्पना की सृष्टि का एक बार प्रारम्भ कर दिया जाता है, तो फिर कारण-कार्य की परम्परानुसार पूर्वापर की संगति कायम रखते हुए, उस काल्पनिक सृष्टि का अच्छी तरह निर्वाह करना होता है। कवि जब किसी कहानी की कल्पना करता है, तब उस कहानी की घटनाओं की शृंखला का, जगत् में प्रत्यक्ष घटने वाली घटनाओ की तरह ही निर्वाह करता है। इसलिए जब महाभारत-युद्ध के अवसर पर अर्जुन को मोह होकर उसके किंकर्तव्य-विमूढ़ होने की कल्पना कर ली गई और उसी कल्पना के अन्दर श्रीकृष्ण को ईश्वर मान कर अर्जुन के उक्त मोह को दूर करने और उसको अपने कर्तव्य-कर्म में लगाने के निमित्त को लेकर संसार को गीता

का उपदेश देना मान लिया गया, और उसी कल्पना के आधार पर लिखी गई गीता का उपदेश सर्वमान्य है, तब इस भूमिका में कहे हुए सभी तथ्यो की पूर्ण रूप से पुष्टि स्वतः ही होती है। चाहे महाभारत-युद्ध एवं कृष्ण-अर्जुन का संवाद ऐतिहासिक हो या कल्पित, उससे इस भूमिका में कही गई बातो में, अर्थात् "गीता में व्यावहारिक वेदान्त ही का प्रतिपादन है" इस सिद्धान्त में, रत्तीभर भी अन्तर नहीं आता। हम लोग भी तो कल्पित जगत् में कल्पित व्यवहारो की कल्पना ही तो कर रहे हैं।
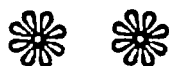
श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक अर्थ

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

अर्थ—धृतराष्ट्र ने सञ्जय* से पूछा कि हे सञ्जय ! धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र† में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रो ने क्या किया ? (१)

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

---

*सञ्जय को व्यास भगवान् के प्रसाद से, मनोयोग की दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई थी, जिससे उसको हस्तिनापुर में बैठे-बैठे भी कुरुक्षेत्र मे होते हुए महायुद्ध के सब वृत्तान्त ज्यो के त्यो प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होते थे, जिन्हे वह राजा धृतराष्ट्र को सुनाता था ।

वर्तमान समय मे जब कि भौतिक "रेडियो" यन्त्र द्वारा दूर देशो के शब्द सुनाई देते है और दूरस्थ दृश्य देखे जाते है, तब आधिदैविक मनोयोग की सूक्ष्म शक्ति से दूर देशो के वृत्तान्तो का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकने में सन्देह करने को अवकाश नही रहता ।

†कुरुक्षेत्र को "धर्म-क्षेत्र" का विशेषण इसलिए दिया गया है कि उस मैदान में समय-समय पर बडे-बडे वीर योद्धा लोग, धर्म-युद्धो मे वीरतापूर्वक लड कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करते थे ।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अर्थ—संजय बोला कि उस समय पाण्डवो की व्यूहाकार सेना को देख, राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के निकट जाकर कहा (२) । हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डवो की इस बड़ी सेना को देखिए (३) । इसमें महाधनुर्धारी भीम तथा अर्जुन के समान वीर योद्धा, युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, शूर युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के (पाँचो) पुत्र इत्यादि सभी महारथी है (४-५-६) । और हे ब्राह्मणो में श्रेष्ठ ! हमारे जो बड़े-बड़े सेनापति है उनके नाम भी आपके ध्यान में रहने के लिए मै कहता हूँ, आप सुनिए (७) । आप, भीष्म, कर्ण, समर-विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र, तथा और भी अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित, मेरे लिए जीवन अर्पण करने वाले बहुत से वीर है, जो सबके सब युद्ध विद्या में निपुण है (८-९) । भीष्म के संरक्षण में हमारा वह (सैनिक) बल अपर्याप्त है, किन्तु भीम के संरक्षण में उन (पाण्डवो) का यह (सैनिक) बल पर्याप्त है (१०) । आप सब लोग अपने-अपने जिम्मे लगे हुए व्यूह के सभी द्वारो पर डट कर पूर्ण रूप से भीष्म ही की रक्षा कीजिए (११) ।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

अर्थ—(तव) कौरवो में सवसे वड़े, प्रतापी भीष्म पितामह ने उस (दुर्योधन) के हर्ष को बढाते हुए सिंह समान गर्ज कर जोर से शंख वजाया (१२)। तदनन्तर अनेक शंख, भेरियाँ, पणव, आनक, गोमुख (उस समय के नाना प्रकार के फौजी वाजे) एक साथ ही वजाये जाने लगे, जिनका (सम्मिलित) शव्द वहुत प्रचण्ड हुआ (१३)। तव सफेद घोड़ो वाले वड़े रथ पर सवार, श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपना-अपना दिव्य (अपूर्व नाद वाला) शख वजाया (१४)। श्रीकृष्ण ने 'पाञ्चजन्य', अर्जुन ने 'देवदत्त' और भयानक कर्म करने वाले भीम ने वहुत वड़ा 'पौण्ड्र' नामक शंख वजाया (१५)। कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त-विजय', नकुल ने 'सुघोष', सहदेव ने 'मणिपुष्पक' (नामक शख वजाया) (१६)। और विशाल धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महावली सुभद्रा-पुत्र आदि सवने, हे महाराज ! अपने-अपने शंख वजाये (१७-१८)। उस भयंकर शंखनाद ने आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित करते हुए, (दुर्योधन आदि) कौरवो के कलेजे धड़का दिये (१९)।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

अर्थ—इसके अनन्तर, हे पृथ्वीनाथ ! कौरवो को व्यवस्था के साथ खड़े देख कर, जब शस्त्र चलने ही को थे कि अर्जुन धनुष उठा कर उस समय श्रीकृष्ण से यह वचन बोला कि हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनो सेनाओ के बीच में खड़ा कीजिए, ताकि लड़ने की इच्छा से तैयार खड़े हुए इन लोगो को मै अच्छी तरह देख लूं कि इस संग्राम में मुझे किन-किन के साथ लड़ना है । युद्ध में धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र (दुर्योधन) का प्रिय करने की इच्छा से, जो लड़ने वाले यहाँ एकत्र हुए हैं उनको मै देखूँ (२० से २३) ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।। २५ ।।
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।। २६ ।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।। २७ ।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।। २८ ।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। २९ ।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। ३० ।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि हे धृतराष्ट्र ! इस तरह अर्जुन से कहे जाने पर हृषीकेश (कृष्ण) ने उस उत्तम रथ को दोनो सेनाओ के बीच में, भीष्म, द्रोणाचार्य आदि को लेकर सभी राजाओ के सामने खड़ा करके अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवो को देखो (२४-२५) । वहाँ अर्जुन ने अपने पिताओ, पितामहो, आचार्यों, मामाओ, भाइयो, पुत्रो, पौत्रो, साथियो, श्वशुरो एवं मित्रो को, दोनो ही सेनाओ में देखा; और उन सब बन्धुजनो को उपस्थित देखकर अत्यन्त करुणायुक्त वह अर्जुन, दु.ख से व्याकुल होता हुआ यह (वाक्य) बोला कि हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छा से खड़े हुए अपने इन बन्धुओ को देख कर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर काँपता है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं (२६ से २९) । गाण्डीव (धनुष) हाथ से फिसला जा रहा है, त्वचा जल रही है और मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ, (क्योकि) मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है (३०) । हे केशव ! मुझे सभी लक्षण विपरीत दीखते हैं, और लड़ाई में अपने बन्धुओ को मार कर मैं श्रेय (भला) नहीं देखता (३१) । हे कृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य और न सुख ही; हे गोविन्द ! हमें राज्य से, भोगो से या जीवन से ही क्या प्रयोजन (३२) ? क्योकि जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख चाहिए, वे ही ये आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामे, ससुर, पौत्र, साले, तथा दूसरे सब सम्बन्धी, अपने-अपने धन तथा प्राणो की आशा छोड़ कर युद्ध में खड़े हैं (३३-३४) । हे मधुसूदन ! (ये) मुझे मारते भी रहे, तो भी मैं इन्हे तीनो लोको के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता, फिर इस पृथ्वी के राज्य का तो कहना ही क्या (३५) ? हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने से हमारी क्या भलाई होगी ? इन आततायियो को मारने से (भी) हमें तो पाप ही लगेगा (३६) । इस कारण अपने बन्धु कौरवो को हमें मारना नहीं चाहिए; हे माधव ! अपने बन्धुओ को मार कर हम कैसे सुखी हो सकेंगे (३७) ? यद्यपि इन लोगों की बुद्धि लोभ से भ्रष्ट हो गई है, इसलिए ये कुल-क्षय से होने वाले दोष, तथा मित्रो के साथ द्रोह करने से होने वाले पाप को नहीं देखते (नहीं जानते) (३८) । परन्तु हे जनार्दन ! हम तो कुल-क्षय से होने वाले दोषो को जानते हैं, अत. हम इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यो न करें (३९) ? कुल का नाश हो जाने से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, और धर्म का नाश हो जाने से सारे कुल को अधर्म दबा देता है (४०) । हे कृष्ण ! अधर्म के बढ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित (व्यभिचारिणी) हो जाती है, और दूषित स्त्रियो से वर्णसकर उत्पन्न होते हैं (४१) ।

वर्णसंकर, कुलघातकों यानी युद्ध में कुल का नाश करने वालों को तथा सारे कुल को नरक में पहुँचाने के ही कारण होते हैं, और पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाने से, अर्थात् वर्णसंकरो के हाथ का दिया हुआ पिण्डोदक न पहुँचने से, इनके पितर भी नरक में गिरते हैं (४२)। हे जनार्दन ! कुलघातको के, वर्णसंकरकारक इन दोषो से परम्परागत जाति-धर्म तथा कुल-धर्म, सभी जड़ से नष्ट हो जाते हैं; और जिन मनुष्यों के कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नरक में जाना पड़ता है, ऐसा हमने (शास्त्रो में) सुना है (४३-४४)। हाय ! राज्य-सुख के लोभ से अपने बन्धुओ को मारने के लिए प्रस्तुत होकर हम बहुत बड़ा पाप करने को उद्यत हुए हैं (४५)। यदि संग्राम में शस्त्ररहित होकर, मै अपना बचाव भी न करूँ, और धृतराष्ट्र के पुत्र हाथो में शस्त्र लेकर मुझे उसी दशा में मार दें, तो मेरा अधिक भला होगा (४६)।

स्पष्टीकरण—आर्य-संस्कृति में प्राचीन काल ही से वंश (नसल) शुद्धि, धर्म का प्रधान अंग माना जाता रहा है; क्योकि शुद्ध रक्त के लोग अपने-अपने धर्म (कर्तव्य-कर्म), जैसे ठीक तौर से पाल सकते हैं, वैसे मिश्रित रक्त के लोग नहीं पाल सकते। इसीलिए एक वर्ण के पुरुष का दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ सहवास करना साधारणतया पाप समझा जाता है, और ऐसे संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान वर्णसंकर माने जाते हैं, जो धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि सभी प्रकार के अधिकारो से प्रायः वंचित रहते हैं।

अर्जुन को चिन्ता इस बात की थी कि कुल-धर्म, अर्थात् कुल की मर्यादाओ की रक्षा करने वाले क्षत्रिय लोग जब संग्राम में मारे जायँगे, तब समाज में उच्छृंखलता आ जाने से विधवा कुल-स्त्रियाँ पवित्र न रह सकेंगी, जिससे वर्णसंकर उत्पन्न होगे। यद्यपि उस समय विधवा स्त्री का उसके मृत पति के सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष के साथ नियोग करना श्रेष्ठ धर्म माना जाता था (मनुस्मृति अ० ९ श्लो० ५९), और ऐसे नियोग से उत्पन्न सन्तान, स्त्री के मृत पति के शुद्ध सन्तान माने जाते थे, तथा वे सब प्रकार से उसके उत्तराधिकारी होते थे (मनु० अ० ९ श्लो० १४५), एवं ऐसे सन्तान का दिया हुआ पिण्डोदक भी पितरों को बराबर पहुँचने का विश्वास था। सारांश यह कि उस सन्तान में किसी तरह का दोष नहीं माना जाता था (मनु० अ० ९ श्लो० १८०)। स्वयं कौरव-पाण्डव भी नियोग ही की सन्तान थे, और उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार वे अपने को शुद्ध क्षत्रिय और पिण्डदान के पूर्ण अधिकारी मानते थे। परन्तु अर्जुन को भय तो यह था कि युद्ध में जब सारा कुल ही नष्ट हो जायगा, तब कुल की विधवा स्त्रियो से नियोग करने वाला सपिण्ड, सगोत्र अथवा सजातीय पुरुष ही नहीं बचेगा—ऐसी दशा में वे विवश होकर हीन वर्ण के पुरुषो के संयोग से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करेगी और वे वर्णसंकर संतान न तो जाति की मर्यादाओ का यथावत् पालन कर सकेंगे और न उनका दिया हुआ पिण्डोदक ही पितरो को मिलेगा। परिणाम यह होगा कि जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाने से

सर्वनाश हो जायगा और पितर भी नरक में पड़ेंगे। उपर्युक्त श्लोको में "वर्णसंकर" शब्द इसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, क्योकि सवर्ण स्त्री-पुरुष के विधिवत् संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान तो वर्णसंकर होते ही नहीं—चाहे वह संयोग नियोग द्वारा स्थापित किया हुआ हो अथवा विवाह-संस्कार द्वारा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि शोक से अत्यन्त व्याकुल अर्जुन, संग्राम की तैयारी के बीच इस प्रकार कह कर, (और) धनुष बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग (पुट्ठे) पर बैठ गया (४७)।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

× × × ×

अर्जुन का उपरोक्त विषाद वैसा ही है जैसा कि साधारणतया आत्मज्ञान-विहीन, आधिभौतिक और आधिदैविक विचारो के लोगो को, इस तरह के विकट अवसरो पर हुआ करता है। उन लोगो की बुद्धि या तो प्रत्यक्ष के सुख-दु.ख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति आदि के विचार तक ही रहती है; अथवा शास्त्रो में कहे हुए धर्माधर्म के अदृष्ट फल और स्वर्ग-नरक आदि परोक्ष सुख-दुःखों के विचार तक पहुँच कर रह जाती है। इससे अधिक सूक्ष्म अर्थात् आध्यात्मिक विचार तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँचती, इसलिए उनके चित्त का विषाद नहीं मिटता। फलतः वे बहुत दुखी होते है और विषाद ही में अपना जीवन नष्ट कर लेते है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के उपरोक्त विषाद की निन्दा करके, उसे आधिभौतिक और आधिदैविक विचारो से ऊपर उठ कर आत्मज्ञान-युक्त अपने कर्तव्य पालन करने का उपदेश आगे दिया है। इसलिए अर्जुन के उपरोक्त वाक्य "व्यावहारिक वेदान्त" की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखते, और धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि के विचार तथ्य-हीन हो जाते है। आगे यही बात स्पष्ट करने के लिए इस प्रथम अध्याय में उपरोक्त पूर्व-पक्ष उठाया गया है।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि आँसुओ से परिपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले, करुणा से भरे हुए, शोकाकुल उस (अर्जुन) के प्रति श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा (१)।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! (इस) विकट परिस्थिति में तुझे, आर्य लोगो के अयोग्य, सुख और यश का विरोधी यह मोह कैसे हो गया (२) ? हे पार्थ ! (तू) नपुंसक मत हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे शत्रुओ के संहारक ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को दूर करके खड़ा हो (३)।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे शत्रुनाशक मधुसूधन ! पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य के साथ, मैं संग्राम में बाणो से कैसे लड़ूंगा (४) ? बड़े प्रतापशाली गुरुजनो को मारने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर भी निर्वाह करना नितान्त श्रेयस्कर है; (यद्यपि ये गुरुजन अर्थ-लोलुप है, तो भी इन) अर्थ-लोलुप गुरुजनो को मार कर इस लोक में जो भोग मैं भोगूंगा, वे रक्त-रंजित (खून से सने हुए) ही होगे (५) । इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं जानते कि हम लोग जीत कर राज्य करें तो (सबके लिए) हितकर होगा; अथवा वे लोग जीत कर राज्य करे तो हितकर होगा; और वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खडे है जिनको मार कर हम जीना ही नहीं चाहते (६) । कृपणता से मेरी बुद्धि मारी गई है, अर्थात् हृदय की संकीर्णता ने मेरी विचार-शक्ति नष्ट कर दी है, और धर्म के विषय में मेरा चित्त मोह से ग्रस्त हो गया है, अर्थात् मोह के वश होकर मैं कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो गया हूँ, अतएव मैं आपकी शरण होकर पूछता हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो सो आप मुझे वताइए; मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिए (७) । यदि सारे भूमण्डल का ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य, और देवताओ का आधिपत्य अर्थात् स्वर्ग का साम्राज्य भी मिल जाय, तो भी इन्द्रियों को सुखाने वाले, मेरे इस शोक को दूर करने का साधन मैं नहीं देखता (८) ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीबभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अर्थ—संजय बोला कि हे राजन् ! इतना कह कर अर्जुन, भगवान् से यह कहता हुआ कि "मैं नहीं लड़ूँगा", चुप हो गया (९)। तब दोनो सेनाओं के बीच, विषाद में पड़े हुए उस अर्जुन को श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए यह कहने लगे (१०)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन एक शूरवीर, व्यवहार-कुशल, पुण्यवान् एवं ईश्वर-भक्त क्षत्रिय था। दैवी-सम्पत्ति के गुणो की उसमें अधिकता थी (गी० अ० १६ श्लो० ५)। लौकिक मर्यादाओ के नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का भी वह अच्छा ज्ञाता था। ऐसे विचक्षण बुद्धिमान् चतुर कार्यकर्ताओ में प्रायः प्रेम, मैत्री, करुणा आदि सात्विक भावो की प्रधानता रहती है; परन्तु आत्मज्ञान बिना कई अवसरों पर, व्यक्तित्व के भावों की आसक्ति के कारण, उनके वे प्रेम आदि सात्विक भाव मोह में परिणत हो जाते है, जिससे वे लोग बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठते है; फलतः उनकी बहुत दुर्दशा और भयानक पतन हो जाता है। ऐसे अवसरो पर लौकिक मर्यादाओ के नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी उन्हे कोई सहायता नहीं देते, किन्तु उलटा मोह बढ़ाकर उन्हे किंकर्तव्य विमूढ़ बना देते है। यही दशा उस समय अर्जुन की हुई थी। दुष्टो द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के निमित्त उसको युद्ध के लिए प्रस्तुत होना पड़ा था, और जिस समय लड़ाई में शस्त्र चलने ही वाले थे, ठीक उसी समय, दोनो सेनाओ में अपने स्वजन-बान्धवो को मृत्यु के सम्मुख उपस्थित देख कर एकाएक उनके प्रति प्रेम, मैत्री और करुणा के भाव उसके हृदय में उमड़ आये। यद्यपि उस समय की परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत—उन दुष्ट आततायियो को, वीरतापूर्वक लड़कर दण्ड देने की थी; परन्तु ऐसी विकट अवस्था में भी अर्जुन के चित्त में अपने बान्धवो के भौतिक शरीरो में ममत्व की आसक्ति हो गई, और उनके मारे जाने की सम्भावना से उसके हृदय के वे (प्रेम, मैत्री और करुणा के) सात्विक भाव, पलट कर शोक और मोह के तामसी भावो में परिणत हो गए। ऐसी अवस्था में नीतिशास्त्रो के ज्ञान ने उसके शोक तथा मोह को बढ़ाने में सहायता दी। धर्मशास्त्र ने उसको स्वजनो की हत्या के घोर पाप का भय बताने के अतिरिक्त, कुल-क्षय हो जाने से कुल-धर्म तथा जाति-धर्म के नाश होने, अपने एवं अपने कुल के निश्चित रूप से नरक में जाने, एवं पिण्डोदक क्रिया के लुप्त होने से पितरो के भी नरक में गिर जाने की चिन्ता अलग खड़ी कर दी। परिणाम यह हुआ कि अर्जुन का कलेजा दहल गया और वह अपने वास्तविक धर्म, यानी युद्ध से विरक्त होकर, शस्त्र फेंक, व्याकुलता से रोने लगा। अर्जुन की यह शोचनीय दशा देख कर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसको मूर्ख-अज्ञानियो की तरह शोक और मोह करने के लिए, गुरु-भाव से, बहुत फटकारा तथा उसे हृदय की उक्त दुर्बलता दूर करके युद्ध करने की आज्ञा दी।

यदि गीता का प्रयोजन केवल युद्ध से विरक्त अर्जुन को फिर से उत्साहित करके लड़ाने मात्र ही का होता—जैसा कि बहुत से लोग मानते है—तो वह यहीं पर समाप्त

हो जाती; क्योकि अर्जुन श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानता था (गी० अ० १० श्लो० १२), और उनमें उसकी इतनी भक्ति थी, तथा उनके वचनो पर इतनी श्रद्धा थी कि वह धर्म-शास्त्र के धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि के रोचक-भयानक वचनो की अवहेलना करके, अन्ध-श्रद्धा से भगवान् की आज्ञा ही का पालन करता और फौरन युद्ध में प्रवृत्त हो जाता। परन्तु भगवान् कृष्ण, जो अखिल विश्व को अपने अन्दर दिखाते हैं (गी० अ० ११), जो अपने को सबकी आत्मा बताते है (गी० अ० १० श्लो० २०), और जो स्पष्ट कहते है कि "मुझसे भिन्न जगत् में कुछ भी नहीं है" (गी० अ० ७ श्लो० ७), "सब लोगो का महान् ईश्वर मै ही हूँ" (गी० अ० ५ श्लो० २९) इत्यादि; उनके द्वारा दिया हुआ सब देश, सब काल तथा सब परिस्थितियो में सब व्यक्तियो के लिए समान भाव से यथार्थ पथ-प्रदर्शक गीता-ज्ञान का उपदेश इतना संकुचित नहीं हो सकता कि वह केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करा देने मात्र के लिए ही परिमित हो। सासारिक व्यवहारो में छोटे और बड़े सभी कार्यकर्ताओ के सम्मुख—चाहे वे धार्मिक कार्यकर्ता हो या राजनैतिक या आर्थिक अथवा सामाजिक, चाहे गृहस्थ हों या संन्यासी, चाहे वे किसी भी वर्ण के हो, अथवा किसी भी पेशे के, जो कुछ भी सांसारिक कार्य करते है उनके सम्मुख—अपनी-अपनी योग्यता-नुसार ऐसे विकट अवसर आते ही रहते है, जैसा कि अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुआ था। उदाहरण के लिए, धार्मिक कार्यकर्ताओ के सामने कभी-कभी धर्म के किसी एक अंग—सत्य, शौच, दया, क्षमा, अहिंसा आदि के साथ, दूसरे किसी अंग के परस्पर में विरोध का प्रश्न उपस्थित होता है, अथवा धर्म-प्रचार के कार्य में अनेक लोगो के मन में उद्वेग, पीड़ा और कहीं-कहीं पर खून-खराबियाँ होने के प्रसग भी आ जाते है; राजनैतिक कार्यकर्ताओ के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में स्वयं अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बियो एवं अन्य लोगो को भारी कष्ट होने तथा भीषण संग्राम में अगणित हत्याएँ होने के प्रसंग उपस्थित होते रहते है; आर्थिक कार्यकर्ताओ के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में अनेक व्यक्तियो को हानि पहुँचने तथा अनेको की आजीविका में आघात लगने की सम्भावना प्रतीत होती है; इसी तरह सामाजिक कार्यकर्ताओ के सम्मुख समाज की दशा सुधारने के संघर्ष में अपने बडे-बूढों तथा स्वजन-बान्धवो को मानसिक व्यथा होने तथा आपस का सामाजिक सम्बन्ध-विच्छेद होने आदि की नौबत आ जाती है। तात्पर्य यह कि इस तरह अनन्त प्रकार की कठिनाइयाँ विविध रूप से भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओ के सामने आती रहती है, जब कि कर्तव्याकर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय न कर सकने के कारण वे मोह में फँस जाते है, और विपरीत आचरण करके अपना तथा दूसरो का घोर अनिष्ट कर लेते है। इस तरह का मोह विशेष अवसरो पर ही उत्पन्न हुआ करता हो, ऐसी बात नहीं है; किन्तु रात-दिन के घरेलू व्यवहारो में भी अज्ञानी लोग अपने तथा अपने सम्बन्धियो के भौतिक शरीरो के क्षणिक मोह में अनुचित व्यवहार करके नाना प्रकार की हानियाँ उठाते रहते है। जिस तरह—

अपने शरीर के विषय-भोग आदि क्षणिक सुखो के लिए उनके परिणाम में बहुत दुःख भोगना; अपने सन्तानों को लाड़-प्यार से खान पान आदि में संयम न रखवा कर विलासी और अस्वस्थ बना देना, अथवा उनके बीमार होने पर कड़वी औषधि आदि का उपचार न करना एवं अशिक्षित रख कर उन का जीवन नष्ट कर देना, इत्यादि।

ऐसे लोगो का मोह दूर करने एवं उन्हें सच्चा रास्ता दिखा कर पतन से बचाने के लिए, अर्जुन के उस मोह को दूर करने के प्रसंग को लेकर भगवान् ने सारे संसार को गीता का सार्वजनिक उपदेश देकर अनन्त प्रकार की उलझनों को निश्चित रूप से सुलझाने का एकमात्र सत्य एवं श्रेयस्कर उपाय बताया है : जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार संसार का व्यवहार यथायोग्य करता हुआ अपना इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस एक साथ सम्पादन कर सकता है।

अस्तु, जब युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा देने पर भी अर्जुन ने फिर शंका की कि "युद्ध में भीष्म, द्रोण जैसे पूज्यो पर मैं किस तरह शस्त्र चलाऊँ, और इनको मार कर खूनी हाथो से राज्य किस तरह भोगूं? क्या अपने स्वजन-बान्धवों को मार कर राज्य-सुख भोगना मेरे लिए श्रेयस्कर है अथवा इन आततायियों से हार मान कर भीख माँग के खाना उत्तम है? मोह के कारण मैं किंकर्तव्य-विमूढ हो गया हूँ, अपने हिताहित का मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता; त्रिलोकी का राज्य मिलने पर भी मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती; इसलिए आप कृपा करके, जो मेरे लिए वास्तव में श्रेयस्कर मार्ग हो वह बताइए" (गी० अ०२ श्लो० ४ से ८); तब भगवान् मुस्कराकर, जगत् के हित को लक्ष्य में रखते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सब लोगों को कल्याण का मार्ग बताने के लिए गीता-ज्ञान का उपदेश यहाँ से आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि जो शोक करने के योग्य नहीं है, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानो की-सी बातें बनाता है; जो (वास्तविक) पण्डित होते है, वे मरे हुओ तथा जीवितो का शोक नहीं करते (११)। क्योकि मै, तू और ये राजा लोग पहले कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है, और आगे नहीं होगे ऐसा भी नहीं है (१२)। जिस तरह इस देह में जीवात्मा को बाल्य, युवा और बुढापे की अवस्थाओ का अनुभव हुआ करता है, उसी तरह दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है; इस विषय में बुद्धिमानो को मोह नहीं-होता (१३)। हे कौन्तेय! शरीर और उससे सम्वन्ध रखने वाले पदार्थ एव विषय आदि*,

*बहुत से टीकाकारो ने "मात्रास्पर्शा" का अर्थ "इन्द्रियो का विषयो के साथ सम्वन्व" किया है, परन्तु अर्जुन को शोक अपने सम्वन्धियो के हताहत होने के कष्ट का, और उनके मारे जाने के वाद उनसे वियोग होने का था। उस शोक को मिटाने के लिए केवल इन्द्रियो के विषयजन्य सुख-दुःख आदि को "आगमापायी" कहने मात्र से अर्जुन का समाधान नही हो सकता था। इसलिए "मात्रास्पर्शा" का व्यापक अर्थ 'शरीर और उससे सम्वन्ध रखने वाले सभी पदार्थ और विषय आदि' करना उचित है। इन्द्रियो का समूह ही शरीर है।

जो सर्दी-गरमी एव सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वो) के देने वाले होते है, वे आने-जाने वाले और अनित्य है, अर्थात् प्रशिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण वे एक-से नहीं रहते; अतः हे भारत ! उनके संयोग-वियोग को तू सहन कर, अर्थात् शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सव पदार्थ अस्थायी होते है, इस कारण तू उनके जाने या रहने से व्यथित मत हो (१४) हे पुरुष-श्रेष्ठ ! सुख-दुःख को एक समान[1] मानने वाले जिस बुद्धिमान् पुरुष को ये (शरीर और उसके सम्वन्धी पदार्थों के संयोग-वियोग) व्यथित नहीं करते, वही अमृतत्व, अर्थात् सर्वात्म=परमात्म-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है (१५)। जो असत् है उसका भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता, और जो सत् है उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनो का अन्त देख लिया है, अर्थात् यह अन्तिम निर्णय कर लिया है (१६)। जिससे यह सब (अखिल विश्व) व्याप्त और विस्तृत है, अर्थात् जो स्वयं विश्वरूप होकर सर्वत्र फैल रहा है, उस आत्मा को तू अविनाशी अर्थात् नाशरहित जान; इस निर्विकार का कोई भी नाश नहीं कर सकता (१७)। हे भारत ! नित्य (अपरिवर्तनशील), अविनाशी (नाश-रहित) और अप्रमेय[2] शरीरी[3] (शरीर धारण करने वाले व्यष्टि-भावापन्न आत्मा) के ये (नाम-रूपात्मक अनन्त) शरीर[3] नाशवान् है, अतएव तू युद्ध कर (१८)। जो इस (शरीरधारी आत्मा) को मारने वाला, और जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनो ही अनजान है, यह (शरीरधारी आत्मा) न तो किसी को मारता है, और न किसी से मारा जाता है (१९)। यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है; और ऐसा भी नहीं है कि यह (पहले) होकर फिर नहीं होगा। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, सदा विद्यमान (और) एक समान रहता है, तथा पुराना (सब का आदि-कारण) है; शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मारा नहीं जाता (२०)। जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा एवं अविकारी जानता है, हे पार्थ ! वह पुरुष कैसे किस को मरवायेगा और किस को मारेगा (२१)।

स्पष्टीकरणः—गीता के उपदेशों में सर्वत्र बुद्धियोग ही को महत्त्व दिया गया है (गी० अ० २ श्लो० ३९ से ७२, अ० १८ श्लो० ५७), क्योंकि

---

[1] सुख-दु ख की समता का स्पष्टीकरण "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में और इसी अध्याय के ४८वे श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए।

[2] आत्मा अप्रमेय इसलिए है कि वह किसी प्रमाण से नही जाना जा सकता, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु ही किसी प्रमाण से जानी जाती है। आत्मा तो सवका "अपना आप" है, जो स्वत प्रमाण है। अत. वह स्वय-सवेद्य अर्थात् अपना अनुभव रूप ही है। 'मैं हूँ' इसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही होती।

[3] नाना शरीरो के रूपो मे व्यक्त होने वाला शरीरी (आत्मा) एक ही है, इसलिए नाना देहो के लिए वहुवचन और शरीरी (आत्मा) के लिए एक वचन का प्रयोग हुआ है।

संसार के व्यवहार करने में बुद्धि की प्रधानता रहनी चाहिए, और वह बुद्धि जब साम्य-भाव में जुड़ी हुई अर्थात् आत्मनिष्ठ हो, तभी संसार के व्यवहार पूर्णतया ठीक-ठीक हो सकते हैं—यह गीता का सिद्धान्त है (गी० अ० २ श्लो० ४१, अ० १२ श्लो० ४ और अ० १८ श्लो० ३०)। यद्यपि अर्जुन युद्ध से निवृत्त होने की दलीलो में कौरवो को मूर्ख और अज्ञानी कह कर, उनको कुल-क्षय आदि पापो को जानने के अयोग्य बताता है, और स्वयं बुद्धिमान् होने का दावा करता हुआ अपने को पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि को जानने वाला, स्वजन-बान्धवो के मारे जाने एवं मरे हुए पितरो के नरक में पड़ने की, तथा "बन्धुजनो के मारने का पाप कमा कर उनके बिना मैं अकेला जीकर क्या करूँगा ?" इस तरह की चिन्ता करने योग्य मानता है (गी० अ० १ श्लो० ३२ से ४६); और अर्जुन की तरह, लौकिक विषयो के प्रायः सभी पण्डित एवं विचक्षण कार्यकर्ता लोग दूसरो को मूर्ख बता कर स्वयं बड़े बुद्धिमान् होने की बातें बनाया करते हैं। परन्तु आत्म-ज्ञान के अभाव में इन लोगों की बुद्धि राजसी और तामसी होती है (गी० अ० १८ श्लो० ३१-३२), जो इस तरह के विकट अवसरो पर काम नहीं देती। फलतः वे लोग अर्जुन की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर रोने-चिल्लाने के सिवाय कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। भगवान्, अर्जुन के इस प्रसंग को लेकर ऐसे लोगो की कुछ हँसी-सी करते हुए कहते है कि एक तरफ तो शोक करना और दूसरी तरफ पण्डिताई की बातें छाँटना, क्या यही बुद्धिमत्ता है ? जो वास्तव में बुद्धिमान् होते है वे मरने-जीने का जरा भी शोक नहीं करते, क्योंकि यदि विचार कर देखा जाय तो मरना-जीना तत्त्वतः कुछ है नहीं। "अहम्", "त्वम्" और "इदम्", अर्थात् "मैं", "तू" और "यह" रूप से जो चराचर जगत् है, वह अपने असली एकत्व-भाव में अर्थात् आत्म-स्वरूप में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनो ही काल में विद्यमान रहता है। किसी भी पदार्थ की असलियत का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता; क्योकि यह नियम है कि जो वस्तुतः सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तुत. सत् नहीं है उसका भाव कभी नहीं होता; परन्तु हम सवका भाव अर्थात् अस्तित्व प्रत्यक्ष मौजूद है, अतः हम लोगो का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता। जीवात्मा का प्रत्येक स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-रूप पच तत्त्वो का सम्मिश्रण होता है, और वे पंच तत्त्व शरीररूप होने के पहले, तथा शरीर छूटने के बाद भी सदा विद्यमान रहते हैं। शरीर छूट जाने पर भी पंच तत्त्वो का नाश नहीं होता, किन्तु उनका सम्मिश्रण एक नाम और एक रूप वदल कर, दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण कर लेता है (गी० अ० २ श्लो० २२)। यदि स्थूल शरीरो को धारण करने वाले सूक्ष्म शरीर का विचार किया जाय तो वह स्थूल शरीरो को धारण करने के पहले और उनको छोड़ने के

बाद भी बना ही रहता है; और यदि सूक्ष्म शरीर के बीज—कारण शरीर का विचार किया जाय तो वह, स्थूल और सूक्ष्म, दोनों की अनुपस्थिति में भी बीज-रूप से अपनी प्रकृति (स्वभाव) में बना ही रहता है। अव्यक्त कारण शरीर व्यक्त होकर सूक्ष्म रूप धारण करता है, और सूक्ष्म शरीर घनीभूत होकर स्थूल बन जाता है। फिर स्थूल उलट कर अपने कारण सूक्ष्म में और सूक्ष्म अपने बीज-रूप कारण में लय हो जाता है। इस तरह शरीरों की उत्पत्ति और लय होते रहते है (गी० अ० ८ श्लो० १८-१९)। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के, और स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के व्यवहार होते हैं; और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा में कारण शरीर अविद्या रूप तमोगुण में विश्राम करता है। स्थूल से सूक्ष्म की स्थिरता अधिक है, और सूक्ष्म से कारण की अधिक है; इसलिए ये उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक सत् कहे जा सकते हैं; परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों को धारण करने वाला, अर्थात् शरीर रूप बनने वाला व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा), जिसको देही, शरीरी अथवा क्षेत्रज्ञ भी कहते है, वह निरपेक्ष सत् है; और वह सभी अवस्थाओ में इकसार अर्थात् निर्विकार रहता है—उसमें सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के कोई विकार वस्तुतः नहीं होते (गी० अ० २ श्लो० २०से २४), क्योंकि वह सर्वात्मा =परमात्मा अथवा ब्रह्म ही का व्यष्टि भाव है (गी० अ० १५श्लो० ७ से११तक)।

सर्वात्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म, स्वेच्छा से अपनी परा प्रकृति द्वारा व्यष्टि-भावापन्न नाना जीव रूप होकर, अपनी परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृति के विस्ताररूप सूक्ष्म, स्थूल एवं कारण शरीरो तथा उनके समूह स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् की रचना, पालन और संहार करता है (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६)। वास्तव में व्यष्टि-भावरूप जीव, वस्तुतः सर्वात्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु वह सब ब्रह्म-रूप ही है (गी० अ० १३ श्लो० २२); परन्तु व्यक्तित्व के अहंकार और राग-द्वेषादि द्वन्द्वों को स्वीकार कर लेने से वह अपने असली स्वरूप=सर्वात्म-भाव को बिसार कर अपने को सुखी, दुःखी, परतन्त्र, अल्पशक्तिमान् एवं अल्पज्ञ मानता है (गी० अ० ७ श्लो० २७, अ० १३ श्लो० २०-२१)। और जब वह अपने व्यक्तित्व के भाव के राग-द्वेषादि द्वन्द्वो के आवरण (परदे) से परे, अपने असली स्वरूप=सर्वात्म-भाव का पुनः अनुभव कर लेता है तो अपने परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है (गी० अ० ४ श्लो० १०); क्योंकि परमात्मा अथवा ब्रह्म तो वस्तुतः वह है ही (गी० अ० ५ श्लो० १९ से २६)। जैसे सूत के ताने और वाने से भाँति-भाँति के कपड़ो का बनाव होता है, परन्तु विचार कर देखा जाय तो कपडा, वास्तव में सूत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता—केवल सूत ही होता है। उसी तरह जड़ और चेतन, व्यष्टि और समष्टि, परमात्मा अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही है, वस्तुतः सब एक ही है। (गी० अ० ७ श्लो० ७, अ० १० श्लो० ३९)।

जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ, अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान दशा की है, क्योकि इन अवस्थाओ में वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरो ही में अहंभाव रखता है। इन तीन अवस्थाओ से परे चतुर्थ अवस्था निर्गुण आत्मानुभव की है, जिसको तुरीय अवस्था कहते है। यह ध्यानयोग अथवा ज्ञानयोग की समाधि अवस्था है (गी० अ० ६ श्लो० १८ से २८)। इस अवस्था में पिण्ड की दृष्टि से स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीर और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् का अपने आप=आत्मा में लय (एकीकरण) हो जाता है, और आत्मा निरुपाधिक अर्थात् निर्गुण भाव के स्वानुभव में स्थित रहता है।

निर्गुण और सगुण, समष्टि और व्यष्टि, चेतन और जड़ आदि द्वन्द्व, एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म के दो सापेक्ष—धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative) —भाव है, और एक की अपेक्षा से दूसरे का अस्तित्व है। आत्मा सगुण की अपेक्षा से निर्गुण और व्यष्टि की अपेक्षा से समष्टि कहा जाता है, अत. वास्तव में वह सगुण होता हुआ भी निर्गुण है और व्यष्टि होता हुआ भी समष्टि है; जगत् के व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता है, और कुछ नहीं करता हुआ भी सब कुछ करता है (गी० अ० ९ श्लो० ४-५, अ० १३ श्लो० १२ से १७, अ० १५ श्लो० १५ से २०)। एक, अखण्ड, एवं सम आत्मा में दोनो विरोधी भावो का एकत्व होने से, दोनो में से एक का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु दोनो शान्त हो जाते है, और वह सम आत्म-तत्त्व, जो सबका "अपना आप" है, स्वमहिमा में स्थित रहता है। **वस्तुतः वह न सगुण है न निर्गुण, न व्यष्टि है न समष्टि, न जड़ है न चेतन, न एक है न अनेक, और न सत् है न असत्—जो कुछ है सो सब "अपना आप" ही है। वह पद वर्णनातीत, स्वयं-संवेद्य अर्थात् केवल स्वानुभव का विषय है।** (गी० अ० १० श्लो० १२ से १५)।

जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में एक श्वेत और स्वच्छ परदा होता है, उस पर पहले अँधेरे की छाया डाली जाती है, फिर उस छाया में एक गोलाकार प्रकाश पड़ता है, और उस प्रकाश में भाँति-भाँति के दिखाव प्रदर्शित होते है; उसी तरह निर्विकार आत्म-तत्त्व रूपी शुद्ध परदे पर, जब उसकी इच्छा, अथवा प्रकृति का तमोगुण रूपी अँधेरा होता है—वह कारण शरीर है; और उस अँधेरे के अन्दर जो सत्वगुण रूपी प्रकाश पडता है—वह मनोमय सूक्ष्म शरीर है; और उस प्रकाश में जो रजोगुण रूपी अनन्त प्रकार के चित्र दिखाई देते है—वह स्थूल शरीर है। परदे पर अँधेरा, प्रकाश और भाँति-भाँति के चित्र पड़ते तथा मिटते रहते है, परन्तु परदा निर्विकार रहता है, उस पर अँधेरे, प्रकाश और चित्रो का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उसी तरह आत्मा पर तीनो शरीरो की अवस्थाओ

का वस्तुतः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—वह सदा अलिप्त और निर्विकार रहता है। वाइस्कोप के दृष्टान्त में श्वेत परदे पर छाया, प्रकाश और चित्र वाहर से पड़ते हैं, परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, आत्मा से भिन्न नहीं हैं—किन्तु आत्मा ही की त्रिगुणात्मक प्रकृति के वनाव हैं—अतः वे आत्मा में ही उत्पन्न और लय होते हैं—यह अन्तर है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में कुछ न कुछ अन्तर होता ही है।

सारांश यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनो दृष्टियो से विचार किया जाय तो मरना-जीना वास्तव में कुछ है नहीं। जन्म लेने और मरने का अर्थ यही है कि व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा मनोमय सूक्ष्म शरीर से किसी विशेष नाम और विशेष स्वरूप के स्वाँग को वदल कर दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण करता है। जिस तरह शरीर को वचपन, जवानी और वुढापा आता है, तव केवल अवस्थाओ का परिवर्तन होता है, अर्थात् 'वालक' संज्ञा वदल कर 'जवान' कहलाने लगता है और 'जवान' वदल कर 'वुड्ढा' कहलाने लगता है; तथा 'वालक' का रूप वदल कर 'जवान' हो जाता है और 'जवान' का रूप वदल कर 'वुड्ढे' का रूप हो जाता है, परन्तु जीवात्मा वही विद्यमान रहता है। जिस तरह एक व्यक्ति एक समय में न्यायाधीश का काम करता है, दूसरे समय में किसी सार्वजनिक संस्था की सेवा करता है, तीसरे समय में किसी नाटक के अभिनय में भाग लेता है, चौथे अवसर पर किसी व्यापारी कम्पनी के संचालन (Directorship) का कार्य करता है, अवकाश के समय किसी खेल में भाग लेता है; यद्यपि व्यक्ति तो एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उसकी उपाधियां भिन्न-भिन्न होती है। जव न्यायाधीश की पोशाक पहिन कर न्यायासन पर वैठता है तो वह न्यायाधीश कहा जाता है, संस्था का कार्य करता है तो उसका पदाधिकारी कहा जाता है, नाटक में अभिनय करता है तो अभिनेता कहा जाता है, कम्पनी का संचालन करता है तो संचालक कहा जाता है, खेल में भाग लेता है तो खिलाड़ी कहा जाता है; अपने घर जाता है तव पिता का पुत्र, पत्नी का पति, पुत्र का पिता, नौकर का स्वामी आदि भिन्न-भिन्न उपाधियां होती हैं, परन्तु वास्तव में व्यक्ति एक ही होता है। उसी तरह एक ही आत्मा की अनेक उपाधियां होती हैं। जीवात्मा कभी स्थूल शरीर रूप से, कभी सूक्ष्म शरीर रूप से और कभी कारण शरीर रूप से रहता है। कभी किसी एक नाम और एक रूप का शरीर धारण कर लेता है और कभी किसी दूसरे का। जिस तरह जल-तत्त्व कभी सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता है, कभी तरल पानी-रूप, और कभी जम कर स्थूल वर्फ वन जाता है। यह केवल नाम और रूप का परिवर्तन होता है, इस परिवर्तन से जल-तत्त्व का नाश नहीं होता। उसी तरह शरीरो के नामो और रूपो के दिखाव का परिवर्तन होते रहने पर भी उनके मूल-भूत आत्म-तत्त्व का कुछ भी वनता-विगड़ता नहीं। नाम और रूप कल्पित होते है, और कल्पनाएं अनन्त होती है, इसलिए नाम-रूप भी अनन्त होते हैं। कल्पनाएँ समुद्र की तरंगो की तरह

एक के बाद दूसरी लगातार उठती और निरन्तर बदलती रहती है—एक क्षण भर भी स्थिर नहीं रहतीं, इसलिए वे सत् नहीं होतीं; और इस जगत् की नाम-रूपात्मक अनेकताएँ भी कल्पनाओ की सृष्टि होने के कारण सत् नहीं होतीं, और सत् नहीं होने के कारण वे भाव-रूप भी नहीं होतीं, अर्थात् आत्मा से भिन्न उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जिस तरह तरंगें एक दूसरी से भिन्न प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वे भिन्न नहीं होतीं—सब जल रूप ही होती है—जल के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है, जल की प्रतीति ही उन की प्रतीति है, उसी तरह नाम-रूपात्मक जगत् का नानात्व सत् नहीं है, सब एक ही आत्मा के अनेक रूप है—आत्मा के अस्तित्व से ही उनका अस्तित्व है और आत्मा की प्रतीति ही उनकी प्रतीति है ।

संसार में अनन्त प्रकार के सुख-दु.खो की जो वेदनाएँ प्रतीत होती है, वे शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों के सयोग-वियोग से उत्पन्न होती है; और जब शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थ एवं विषय ही उत्पत्ति-नाशवान् एवं प्रतिक्षण बदलने वाले होने के कारण कल्पित नामो और रूपो के दिखाव मात्र है, तो उनके संयोग-वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि द्वन्द्व भी कल्पित, अतः अवास्तविक ही होते है। इसलिए शरीरो की पीड़ा, व्याधि और मरने आदि के कष्टो एवं संयोग-वियोग से व्याकुल होना बुद्धिमत्ता नहीं है। जो वास्तव में बुद्धिमान् होते है, वे शारीरिक सुख-दुःखो और संयोग-वियोग को एक समान असत् समझ कर अविचलित रहते है, और शरीरो को धारण करने वाले आत्मा को वे निर्विकार एवं सदा एक-सा रहने वाला समझते है, इसलिए उनकी दृष्टि में मरना और मारना कुछ भी तथ्य नहीं रखते।

अस्तु, इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि शरीरो के बनाव सब परिवर्तनशील एवं नाशवान् है, अतः ये कभी स्थायी नहीं रह सकते; और इन शरीरों को धारण करने वाला जीवात्मा सत्, नित्य एवं अविनाशी है, अतः उसका कभी किसी से नाश नहीं हो सकता। इसलिए इन नाना भाँति के दिखावो के परिवर्तन-रूप मरने-जीने के विषय में कुछ भी शोक और मोह न करके, सबको अपने-अपने नियत कर्म दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिए।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अर्थ—पुराने (अनुपयुक्त) वस्त्रो को त्याग कर मनुष्य जैसे दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही पुराने अर्थात् अनुपयुक्त शरीरो को छोड़ कर, जीवात्मा दूसरे नये शरीरो को धारण किया करता है (२२) ।

स्पष्टीकरण—जिस तरह नाटक के खेल में राजा, सिपाही, कैदी, धनी, निर्धन आदि के स्वाँग करने वाले पात्र, अपने-अपने स्वाँग की पोशाक पहिनते हैं, और जब तक अपना पार्ट बजाने के लिए वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रखते हैं, उपयुक्त न रहने पर उसको उतार देते हैं और जिस दूसरे स्वाँग का पार्ट लेते हैं, उसके उपयुक्त दूसरी पोशाक पहिन लेते हैं—पोशाक उतारने और बदलने से स्वाँग करने वाले एक्टर (पात्र) का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, एक पोशाक उतारने और दूसरी पहिनने में वह कुछ भी शोक नहीं करता; उसी तरह इस जगत्-रूपी नाटक में जीवात्मा-रूपी एक्टर (पात्र) शरीर-रूपी पोशाक धारण करता है, और जब तक वह उपयुक्त रहती है तब तक उसे रखता है, परन्तु जब वह अनुपयुक्त हो जाती है, तो उसको उतार कर दूसरी उपयुक्त पोशाक धारण कर लेता है। शरीर-रूपी पोशाक बदलने में जीवात्मा-रूपी एक्टर का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। इसलिए शरीर के जन्मने-मरने को कपड़े बदलना समझ कर, शोक नहीं करना चाहिए।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अर्थ—इस (शरीर धारण करने वाले जीवात्मा) को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला (सड़ा) नहीं सकता, (और) हवा सुखा नहीं सकती (२३)। यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया (सड़ाया) जा सकता है और न सुखाया जा सकता है; यह नित्य, सबमें व्यापक, सदा स्थित, नाशरहित और अनादि है। तात्पर्य यह कि जो शरीरो में है, वही शस्त्रो में, तथा वही अग्नि, जल और हवा में है; उससे भिन्न कोई वस्तु है नहीं, फिर कौन किसको काटे, जलावे, गलावे या सुखावे (२४)। यह (शरीर धारण करने वाला जीवात्मा) अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रिय-गोचर नहीं होता; यह अचिन्त्य है, अर्थात् मन से इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता; और यह अविकारी कहा गया है, अर्थात् वृद्धि, क्षय आदि विकारो से रहित है; इसलिए इसको ऐसा जान कर तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२५)।

स्पष्टीकरण—जिस प्रकार खाँड के खिलौनों की तलवार, कटारी, बर्छी आदि, खाँड ही के स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि को काट नहीं सकते; वे यदि आपस में टकरा जायें, तो सभी खाँड-रूप हो जाते है, और पहले भी वास्तव में वे सब खाँड ही थे, अतः

वस्तुतः उनका नाश नहीं होता; उसी तरह एक ही आत्म-तत्त्व के अनेक नाम-रूपात्मक जड़ और चेतन पदार्थ आपस में किसी का वस्तुतः नाश नहीं कर सकते। इसलिए उनके विषय में शोक करना अयुक्त है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अर्थ—और यदि तू (आधिभौतिकता ही को सत् और सब कुछ मानने वालो की तरह) इस (देहधारी जीवात्मा) को (शरीर के साथ) सदा जन्मने वाला और सदा मरने वाला मानता है, तो भी हे वीर! इस प्रकार शोक करना तुझको उचित नहीं (२६)। क्योकि जन्मे हुए का मरण और मरे हुए का जन्म अवश्यम्भावी है, इस कारण अवश्य होनहार बात में तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२७)। हे भारत! सभी भौतिक पदार्थ आदि में (अपनी उत्पत्ति से पहले) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियो के अगोचर रहते है, मध्य में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर होते है, और अन्त में फिर अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियो के अगोचर हो जाते है; फिर इस विषय में शोक किस बात का (२८)?

स्पष्टीकरण—गीता, किसी भी दार्शनिक मत का सर्वथा तिरस्कार नहीं करती, क्योकि उसमें सर्वत्र एकता ही का प्रतिपादन है, अत. वह उन सब का समन्वय कर देती है। प्रसंगवश जहाँ किसी मत का उल्लेख हुआ है, वहाँ जिस हद तक उस मत की पहुँच हुई है, वह दिखाकर कहती है कि 'यहीं मत ठहरो, इतना ही सब कुछ नहीं है, इससे आगे और बढ़ने की आवश्यकता है' यह कह कर जो सच्ची वस्तुस्थिति है वह स्पष्ट कर देती है। इस स्थल पर शरीर धारण करने वाले देही (जीवात्मा) के विषय में भौतिकवादियों का जो मत है उसको दिखा कर, गीता उसके अनुसार भी शोक करने की अयुक्तता सिद्ध करती है। भौतिकवादी लोग इन्द्रियगोचर पदार्थों ही को सत् मानते है, इन्द्रियातीत वस्तुओं का अस्तित्व नहीं मानते। इसलिए उनका मत है कि पंच भूतो के सम्मिश्रण से जब शरीर उत्पन्न होता है तब उसके साथ ही चेतना भी उत्पन्न हो जाती है, और शरीर के नाश के साथ चेतना का भी नाश हो जाता है—जीवात्मा शरीर से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अस्तु, भगवान् अर्जुन को कहते है कि यदि यह भी मान लिया जाय तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए, क्योकि इस दृष्टि से भी जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होना निश्चित है, यह बात प्रत्यक्ष देखने में भी आती है; और जिस वस्तु का नाश होता है, उसका पुनः उत्पन्न

होना भी अवश्यम्भावी है; क्योकि यदि कोई पदार्थ नष्ट होकर फिर से उत्पन्न न हो, तो नाश होते-होते उसका सर्वथा अभाव हो जाय; परन्तु सर्वथा अभाव किसी पदार्थ का होता नहीं दीखता, और उत्पत्ति का क्रम प्रत्यक्ष में जारी भी है। अतः जब यह माना जाय कि शरीर के साथ चेतना मरती रहती है, तो यह भी मानना होगा कि उसके साथ उत्पन्न भी अवश्य होती है। इसलिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।

उत्पत्ति और नाश का द्वन्द्व भी सापेक्ष है। एक के होने के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। दोनो में से किसी एक का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता; आत्मा में दोनो सम अर्थात् शान्त हो जाते है। इसलिए जन्मना-मरना वास्तव में कोई वस्तु है नहीं ।

सभी भूत-प्राणी स्थूल रूप से इन्द्रिगोचर होने के पहले, अर्थात् अपनी उत्पत्ति से पहले, अव्यक्त यानी सूक्ष्म रूप में रहते हैं—इन्द्रियो को प्रतीत नहीं होते; और उत्पत्ति के बाद, अर्थात् पंच भूतो के आपस के सम्मिश्रण से स्थूल रूप धारण करने पर व्यक्त होते हैं, अर्थात् इन्द्रियो द्वारा देखे, सुने, सूँघे, चखे और छुए जा सकते हैं; और फिर जब इनका नाश होता है अर्थात् जब पंच भूतो का सम्मिश्रण बिखर जाता है तब फिर अव्यक्त हो जाते हैं, यानी स्थूल शरीर रूपी पोशाक बदल कर सूक्ष्म हो जाने के कारण इन्द्रियो के अगोचर हो जाते हैं। ऐसी दशा में, जब भूत-प्राणियो का व्यक्त और अव्यक्त होना ही जन्मना और मरना है, तो शोक किस बात का ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अर्थ—इस (देह धारण करने वाले आत्मा) को, अर्थात् जगत् रूपी खेल के इस खिलाड़ी को, कोई आश्चर्यान्वित होकर देखता है; कोई आश्चर्यान्वित होकर (इसका) वर्णन करता है; कोई इसके विषय में आश्चर्यान्वित होकर सुनता है, और सुन कर भी कोई इसको जान नहीं सकता (२९)।

स्पष्टीकरण—जिस तरह जादू का खेल करने वाला ऐन्द्रजालिक (जादूगर), जब अनेक प्रकार के रूप धारण करता है और अनेक प्रकार के अद्भुत बनाव एक ही काल में लोगो को दिखाता है, तब दर्शक लोग उसके असली स्वरूप को न जान कर आश्चर्य-चकित हुए, उस (जादूगर) के जादू के बनावो को देखते है, और उसके जादू के वास्तविक रहस्य को न जान कर आश्चर्यचकित हुए अनेक प्रकार की अटकले लगा-लगा कर उसके विषय में तरह-तरह की बातें करते रहते है; और बहुत से लोग उन बातो के तथ्यातथ्य को न समझते हुए, आश्चर्यचकित होकर सुनते रहते है, फिर भी उन देखने वालो, कहने

वालो और सुनने वालो में से उस जादू के खेल के वास्तविक रहस्य को, अर्थात् अद्‌भुत जादूगर को यथार्थ रूप से कोई विरला ही जान सकता है। क्योकि सब लोगो का ध्यान केवल उस खेल के भाँति-भाँति के बनावो पर ही रहता है—उसके खिलाड़ी तक नहीं पहुँचता। यदि वे खिलाडी का साक्षात्कार करले, तो फिर आश्चर्य में डूबे न रहे। इसी तरह केवल भौतिक जगत् के नानात्व ही में उलझे रहने वाले लोग, इस जगत्-रूपी इन्द्र-जाल के जादूगर—आत्मा (वास्तविक अपने आप) को यथार्थ रूप से न जान कर, उसके खेल ही को आश्चर्यान्वित हुए देखते, अनेक तरह की अटकले लगा-लगा कर भाँति-भाँति के वर्णन करते तथा सुनते रहते है, और जब तक आधिभौतिकता के परदे को लाँघ कर आध्यात्मिकता के सूक्ष्म विचार में प्रवेश करके, इस खेल के खिलाड़ी (आत्मा यानी अपने वास्तविक आप) को नहीं जान लेते, तब तक आश्चर्य में ही पड़े रहते है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थ—हे भारत ! सबके शरीरो में (जो एक ही) देही (आत्मा है, वह) कभी मारा जाने वाला नहीं है, इस कारण तुझे किसी भी भूत-प्राणी के विषय में शोक नहीं करना चाहिए (३०)।

स्पष्टीकरण—संसार में तृण से लेकर सुमेरु और हिमालय पर्यन्त, तथा चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त, छोटे-बड़े भाँति-भाँति के जड और चेतन, अगणित भौतिक शरीर हैं, वे सब अस्थायी—क्षण-क्षण में बदलने वाले है; परन्तु उनको धारण करने वाला देही (आत्मा) एक ही है, और वह सदा एक-सा रहने वाला अर्थात् अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है। तात्पर्य यह कि एक ही अविनाशी आत्मा में जो नाम-रूपात्मक नानात्व प्रतीत होता है, वह सब असत् है, और उसका एकत्व सत् है; इसलिए इस नाम-रूपात्मक असत् नानात्व के विषय में शोक करना मूर्खता है।

× × ×

यहाँ तक स्वजन-बान्धवो के मारे जाने, उनको पीड़ा होने, तथा उनसे वियोग होने आदि के लिए जो शोक और मोह हुआ करते है, उनकी निवृत्ति के लिए भगवान् ने अर्जुन के प्रसंग को लेकर संसार को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। जिससे शोक और मोह की निवृत्ति तो अवश्य होती है; परन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि जब नाम-रूपात्मक जगत् का नानात्व असत् है, तो इस झूठे प्रपच के लिए घोर पापात्मक कर्म किये ही क्यो जायँ ? इस शंका का समाधान भगवान् पहले उन्हीं लोगो के मत से करते है, जो अर्जुन की तरह शास्त्रो की दुहाई देकर युद्धादिक कर्मो से इसलिए निवृत्त होना चाहते है कि "ये कर्म करने से धर्म डूब जायगा, पाप लगेगा तथा नरको में गिरना होगा।" भगवान् उन्हीं लोगो के धार्मिक विश्वास के आधार पर सिद्ध करते है कि अपने कर्तव्य-कर्म करने से पाप

नहीं लगता, किन्तु उनके न करने से धर्म का विपर्यास होकर दुर्गति होती है; इसलिए अपने कर्तव्य-कर्म सब को अवश्य करना चाहिए।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि तू अपने धर्म* को देखे, तो भी तुझे विचलित होना उचित नहीं है, क्योकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है (३१)। और हे पार्थ ! अपने आप (विना बुलाये) उपस्थित, एवं खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस तरह के युद्ध का अवसर पुण्यात्मा क्षत्रिय ही पाते है (३२)। यदि तू यह धर्म-युद्ध न करेगा तो अपने (उक्त) धर्म और कीर्ति (प्रतिष्ठा) को खोकर पाप का भागी बनेगा (३३)। साथ ही जन-साधारण निरन्तर तेरी निन्दा करते रहेगे, और माननीय पुरुष के लिए निन्दा, मृत्यु से भी वढकर होती है (३४)। महारथी लोग तुझे डर के मारे युद्ध से हटा हुआ समझेंगे, और जिनकी दृष्टि में (आज तक) तू मान्यवर था, उन्हीं की दृष्टि में बहुत गिर जायगा (३५)। तेरे शत्रु लोग तेरे सामर्थ्य (वल) की निन्दा करते हुए, न कहने योग्य बहुत सी बातें तेरे विषय में कहेगे—इससे अधिक दु.ख और क्या होगा (३६) ? यदि तू मारा

---

* आगे तीसरे अध्याय के ३५ वे श्लोक का स्पष्टीकरण देखिए।

गया तो स्वर्ग पावेगा, और यदि जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा; इसलिए हे कौन्तेय ! तू निश्चय करके युद्ध के लिए उठ खड़ा हो (३७)। सुख-दु.ख, हानि-लाभ और जीत-हार को समान मान कर युद्ध में जुट जा; ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा (३८)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन ने धर्मशास्त्र के आधार पर कहा था कि "युद्ध में पूज्यों तथा स्वजन-बान्धवों की हिंसा का पाप होगा; कुल के नाश होने से कुल-धर्म तथा जाति-धर्म नष्ट होगे और सब नरक में पड़ेंगे; अत. ऐसे युद्ध की अपेक्षा तो भीख माँग कर निर्वाह करना ही श्रेयस्कर है।" भगवान् यहाँ पर उसी धर्मशास्त्र के अनुसार अर्जुन को युद्ध करने की धार्मिकता बताते हुए कहते है, कि कौरवो द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए अनिच्छा से तुझे युद्ध करने के निमित्त उद्यत होना पड़ा है; किसी के स्वत्व छीनने या किसी पर अन्याय करने के लिए तूने युद्ध नहीं ठाना है; इस कारण तेरे लिए यह धर्म-युद्ध है। इस तरह का धर्म-युद्ध करना, तथा दुष्ट आततायियो को दण्ड देने के लिए उनसे लड़ना, धर्मशास्त्रो ने क्षत्रियो का श्रेष्ठ धर्म माना है। अतः जिन शास्त्रो का तू आधार लेता ह, उन्हीं के प्रमाणो से इस अवसर पर लड़ना तेरा परम पवित्र कर्तव्य है। कुल और जाति के धर्म तो, तेरे कथनानुसार, युद्ध में जब सब मारे जायँगे तभी नष्ट होगे, और पाप भी (यदि होगा तो) उनके मारे जाने पर ही होगा, परन्तु तेरा धर्म तो अपने इस कर्तव्य-कर्म से विमुख होते ही उसी समय नष्ट हो जायगा; और जनता में तेरी इतनी निन्दा होगी कि तू जीता ही मुरदा हो जायगा और लोगो में मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहेगा; क्योकि बडे-बड़े कार्य-कुशल पुरुष अपमानपूर्वक जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझते है। इस धर्म-युद्ध से नरक में पडने की बात ही कैसी—धर्मशास्त्र तो ऐसे युद्ध में मारे जाने वालो के लिए स्वर्ग का द्वार सदा खुला बताते है। अतः तू यदि युद्ध में मारा जायगा तो शास्त्रानुसार स्वर्ग मिलना निश्चित है, और यदि जीत गया तो दुष्ट आततातियो से पृथ्वी को मुक्त करके स्वयं सुखपूर्वक उसको भोगेगा और प्रजा को भी सुखी करेगा। शेष रही पाप लगने की बात, सो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति न रख कर सबके हित के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने में जो सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय, प्राप्त हो जायँ, उनको एक समान जानते हुए, अपने कर्तव्य पर आरूढ रहने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा; क्योकि अपने व्यक्तित्व के लिए सुख, जय और लाभ आदि की प्राप्ति की इच्छा से जो कर्म किये जाते है, उन्हीं से पाप का बन्धन होता है। सुख-दुःख आदि पर लक्ष्य न रख कर अपने कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किये जाते है, उनसे पाप का बन्धन नहीं होता। (प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति बिना, अपनी ड्यूटी बजाने अर्थात् कर्तव्य पालन करने में किसी से कोई हिंसा आदि हो जाती है, तो वह दण्ड का भागी नहीं होता।)

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि श्लोक ३३ से ३७ तक जो पुण्य, पाप,

कीर्ति, अकीर्ति, मान, प्रतिष्ठा, स्वर्ग-प्राप्ति और राज्य-सुख भोगने आदि की बातें भगवान् ने कही है, वे सिद्धान्त-रूप से नहीं कही है, किन्तु अर्जुन के कहे हुए धर्मशास्त्र के अनुसार ही युद्ध करने की धार्मिकता और सार्थकता दिखाने के निमित्त कही है; क्योकि आगे चलकर भगवान् राज्य और स्वर्गादि की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने का निषेध करते है, और जय-पराजय, कीर्ति-अपकीर्ति आदि में सम रहने का अर्जुन को बार-बार उपदेश देते है।

× × ×

भगवान् ने अर्जुन का शोक और मोह मिटाने के प्रसंग में पहले आत्मज्ञान का वर्णन किया; फिर अर्जुन ही के माने हुए धर्मशास्त्रानुसार उसे अपने धर्म पालन करने के लिए युद्ध करने की आवश्यकता बताकर युद्ध से होने वाली हिंसा के पाप से बचने के लिए उसे सुख और दुःख, हानि और लाभ, जय और पराजय को एक समान समझ कर युद्ध करने अर्थात् निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। परन्तु कोरे आत्मज्ञान से तथा कोरे धर्मशास्त्रो के प्रमाणो से एवं कोरे निष्काम कर्म की व्यवस्था से अर्जुन जैसे विचक्षण कार्य-कर्ताओ के अन्त.करण का पूर्णतया समाधान होकर युद्धादि कर्म करने में उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योकि यद्यपि आत्मज्ञान से मरने-मारने का शोक और मोह मिट सकता है, और धर्मशास्त्र के प्रमाणो से अपना धर्म पालन करने से पुण्य का संचय होने, एवं राज्य तथा स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के निश्चय से युद्धादि कर्म करने की आवश्यकता और सार्थकता भी मानी जा सकती है; परन्तु उन युद्धादि कर्मों से पाप लगने और नरक में पडने आदि का जो भय बना रहता है, उसको दूर करने के लिए भगवान, सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय आदि में एक समान रह कर निःस्वार्थ-भाव से उक्त कर्म करने को कहते हैं; अर्थात् पहले राज्य और स्वर्ग-प्राप्ति का स्वार्थ बता कर फिर निःस्वार्थ बने रहने की व्यवस्था देते है। इन परस्पर विरोधी वचनो से उलझन और बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि किसी प्रकार के स्वार्थ बिना किसी भी विचारवान् व्यक्ति की कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योकि प्राणीमात्र की प्रत्येक चेष्टा किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही होती है—निरर्थक चेष्टा तो कोई भी नहीं करता; और जब कर्म करने में किसी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि की इच्छा ही न हो तो कर्म किये ही क्यो जायँ ? इस प्रकार की सभी उलझनो का एक साथ पूर्णतया समाधान करके, निश्चित रूप से श्रेय-प्राप्ति का एकमात्र साधन, पूर्वकथित सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से अपने-अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म करने का विधान ही हो सकता है—इसके सिवाय दूसरा कोई यथार्थ एवं निर्दोष उपाय नहीं है। क्योकि न तो कोरे (अव्यावहारिक) ज्ञान से ही मनुष्य श्रेय साधन कर सकता है, और न कोरे (ज्ञानरहित) कर्म से ही—चाहे वह कर्म निष्काम हो या सकाम।

यदि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान केवल समझ लेने या कहने-सुनने मात्र ही के लिए रहे, और व्यवहार उसके विपरीत, भेद-बुद्धि से राग-द्वेषपूर्वक होते रहें, तो बड़ी दुर्दशा होती है, जैसी कि वर्तमान में हमारे देशवासियों की हो रही है। उपनिषदों में भी अव्यावहारिक ज्ञान और ज्ञानरहित कर्म, दोनो ही हानिकारक बताये हैं (ईशोपनिषद् मं० ९; बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ४ मं० १०)। इसलिए भगवान् अब उक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान को कर्म में जोडने के समत्व-योग अर्थात् ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन आरम्भ करते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय है और यही आर्य-संस्कृति का मूल आधार है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह (उपरोक्त) बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में कही गई; अब योग के विषय में इस बुद्धि को सुन; अर्थात् इससे पहले तुझे आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया, अब इससे आगे उसी आत्मज्ञान की साम्य-बुद्धि को सासारिक व्यवहारो में जोडने के विषय में विचार किया जाता है, सो सुन। हे पार्थ ! इस बुद्धि से युक्त होकर तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मो के बन्धन से मुक्त रहेगा (३९)। इस (समत्व-योग) में लगने पर आरम्भ का नाश नहीं होता, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता ; न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उलटा परिणाम ही होता है; (और) इस धर्म का थोडा भी आचरण महान् भय से मुक्त करता है (४०)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक १२ से ३० तक जो आत्मज्ञान का वर्णन किया गया है उसमें एक ही आत्मा को सव भूत-प्राणियो में एक समान व्यापक बताया गया है, अर्थात् यह कहा गया है कि सारी चराचर सृष्टि, एक ही आत्मा (जो सबका 'अपना आप' है) के अनेक रूप हैं—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। अब भगवान् उस आत्मज्ञान को व्यवहार में जोड़ने के समत्व-योग, अर्थात् सवके साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए, दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति से रहित होकर, साम्य-भावयुक्त जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का विधान करते हैं; और इस सम्वन्ध में सबसे पहले उस समत्व-योग का थोडा-सा माहात्म्य कहते हैं।

उपरोक्त आत्मज्ञान के अभ्यास से मनुष्य को शनै.शनै अपने आपके और जगत् के असली स्वरूप, यानी सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, नित्य एव मक्त आत्मा की एकता

एवं परिपूर्णता का अनुभव होने लगता है, और उस अनुभव-सहित अपने कर्तव्य-कर्म करने में कर्मों की अधीनता का बन्धन नहीं रहता; क्योंकि सारे कर्मों का प्रेरक आत्मा है, इसलिए कर्म आत्मज्ञानी के अधीन रहते हैं। जिसका आत्मज्ञान का अभ्यास जितना ही अधिक बढ़ा हुआ होता है, उतना ही वह कर्मों की अधीनता से अधिक मुक्त होता है, और अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते अन्त में सर्वात्म-भाव में दृढ़ स्थिति हो जाने पर वह पूर्ण स्वतन्त्र यानी जीवनमुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि इस समत्व-योग का आचरण एक बार आरम्भ करने के बाद फिर वह निरर्थक नहीं जाता, उससे कर्मों पर यथायोग्य थोड़ा या बहुत आधिपत्य अवश्य ही प्राप्त होता है।

इसके आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नहीं होता, अर्थात् दूसरे धर्मों अथवा साधनों की तरह इसमें ऐसी सामग्रियों के जुटाने की आवश्यकता नहीं है कि जिनके बिना इसकी सिद्धि न हो, और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिसके पूर्ण न होने से दुष्परिणाम हो, न इसमें किसी व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता है कि जिसके बिना इसमें कोई विघ्न पड़ने की सम्भावना हो। इसमें एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति इसका आचरण कर सकता है; और इस धर्म का पहले थोड़ा भी आचरण किया जाय तो मनुष्य निर्भय हो जाता है, अर्थात् पहले थोड़े लोगों से, यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम आदि के साथ एकता के प्रेम-भाव में जुड़ कर समता का व्यवहार करने से भी बहुत आत्मबल आ जाता है, और इसका जितना अधिक आचरण किया जाता है, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता बढ़ती जाती है। इसमें लगा हुआ मनुष्य कभी पीछा नहीं गिरता।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन! इस विषय में, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से साम्य-भावयुक्त संसार के व्यवहार करने में, निश्चयात्मिका व्यावहारिक बुद्धि एक ही होती है, यानी इस तरह (आत्मज्ञान-युक्त) कर्म करने वालों का एक यही निश्चय रहता है कि यह

जगत् एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। परन्तु जो इस आत्मज्ञान से व्यवहार नहीं करते, उनकी बुद्धि की बहुत शाखाएँ होकर वह (बुद्धि) अनन्त प्रकार की हो जाती है (४१)। हे पार्थ ! वेदों के अर्थवाद के (रोचक) वाक्यों में उलझे हुए तथा "इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है" ऐसा कहने वाले, कामनाओ में आसक्त, और स्वर्ग ही है अन्तिम लक्ष्य जिनका ऐसे विचारहीन लोग, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, बहुत से कर्मकाण्डो के प्रपंच कराने वाली एवं जन्म और कर्म-रूप फल को देने वाली मनलुभावनी बातें किया करते हैं। उन बातो से जिनका चित्त हर लिया गया है, उन भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त लोगों की निश्चयात्मक बुद्धि समाधि अर्थात् साम्य-भाव में स्थित नहीं होती। तात्पर्य यह कि जो विचारहीन लोग कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रो के भेद-प्रतिपादक रोचक और भयानक वचनो में ही उलझे हुए रहते हैं और उन्हीं को सब-कुछ मानते हैं, और "जो कुछ है सो ये ही हैं, इनके सिवाय और कुछ नहीं है" ऐसा कहते हैं, उनका अन्तःकरण नाना प्रकार की सांसारिक कामनाओ से भरा हुआ रहता है; उनका सबसे अन्तिम ध्येय मरने के बाद स्वर्ग में जाकर नाना प्रकार के विषय भोगने का ही रहता है; ऐसे अज्ञानी लोग नाना भाँति के विषय-भोग, धन-सम्पत्ति, सत्ता, मान-प्रतिष्ठा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उक्त वेदादि-शास्त्रोक्त (अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव, देवकर्म, पितृकर्म, नित्य-नैमित्तिक कर्म, षोड़श संस्कार आदि) कर्मकाण्डो की विविध प्रकार की क्रियाओ के करने में प्रीति बढाने के निमित्त उनकी प्रशसा की अतिशयोक्तियो से मन को लुभाने वाले व्याख्यान दिया करते हैं। भोग और ऐश्वर्य के मोह में गर्क रहने वाले मूढ लोग उन सुहावनी बातो से मोहित होकर सकाम कर्मकाण्डो में लगे रहते हैं, जिनसे बार-बार जन्म और उनमें होने वाले कर्म, एव उन कर्मों के फलस्वरूप फिर जन्म और फिर कर्म, इस तरह जन्म-कर्म के चक्कर में पडे हुए वे लोग गोते खाते रहते हैं। ऐसे मूर्ख लोगो की निश्चयात्मक बुद्धि, सबकी एकता के साम्य-भाव में कभी स्थित नहीं होती (४२-४४)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

अर्थ—हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीन गुणो को ही विषय करते हैं; तू तीन गुणों से ऊपर उठ और द्वन्द्वो से परे, नित्य-सत्त्व में स्थित और

योग-क्षेम से रहित होकर (अपने वास्तविक स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर। तात्पर्य यह कि भेद-प्रतिपादक कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्र त्रिगुणात्मक प्रकृति के नाना नामों और रूपों के बनावों में ही उलझाये रखने वाले वर्णनों से भरे पड़े हैं। तू अपने को उन त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनावों से ऊपर, प्रकृति का स्वामी अनुभव कर, और सुख-दुःख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों से परे, नित्यसत्त्वरूप सबके एकत्व-भाव में स्थित होकर, तथा अपने से पृथक् किसी भी पदार्थ की प्राप्ति और स्थिति की चिन्ता से रहित होकर सर्वत्र अपने आप अर्थात् आत्मा ही को परिपूर्ण अनुभव कर (४५)। सब ओर पानी ही पानी हो जाने पर जितना प्रयोजन कुएँ से रह जाता है, उतना ही प्रयोजन (उक्त) ब्रह्मज्ञानी को सब वेदों से रहता है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी महापुरुष को वैदिक कर्मकाण्डों से कोई प्रयोजन नहीं रहता (४६)।

स्पष्टीकरण—जो लोग आत्म-ज्ञानयुक्त संसार के व्यवहार करते हैं, अर्थात् "एक ही अज, अमर, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द आत्मा—जो सबका अपना आप है—सब भूत-प्राणियो में समान भाव से व्यापक है" इस निश्चय से अपने-अपने कर्तव्य-कर्म सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से करते हैं, उनकी बुद्धि का एक ही निश्चय रहता है। जगत् के सभी पदार्थों, सभी व्यवहारो, सभी विचारो के मूल में उनको एकत्व ही प्रतीत होता है। उनकी बुद्धि में भेद-भाव को स्थान नहीं रहता, अतः वे किसी से राग-द्वेष नहीं करते। परन्तु जो लोग जगत् के नानात्व को सत्य मान कर दूसरो को अपने से भिन्न मानते हैं, उनकी बुद्धि निरन्तर व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही में उलझी रहती है; और "वे व्यक्तिगत स्वार्थ अपने से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त होंगे" ऐसे निश्चय से वे लोग निरन्तर व्याकुल रहते हैं, जिससे उनके अन्तःकरण में अनन्त प्रकार की कामनाएँ एवं तरह-तरह की श्रद्धाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अपने लिए इहलौकिक भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त वे लोग एक दूसरे से भेद रखने वाले नाना धर्म (मजहब), नाना पन्थ, नाना सम्प्रदाय और नाना मत बना लेते हैं, जिनकी अनन्त शाखाएँ हो जाती हैं; और अपने-अपने मतो की पुष्टि के लिए नाना प्रकार के भेद पैदा करने वाले शास्त्र रच कर वे लोग एक दूसरे से द्वेष करते हैं; तथा स्वर्ग-प्राप्ति आदि परोक्ष व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि ही को पुरुषार्थ की परमावधि मान कर उन भेद-प्रतिपादक शास्त्रो में अन्ध-श्रद्धा रखने से, उनके रोचक-भयानक वचनो में भ्रान्त हुए, नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ स्वयं करते तथा दूसरों से करवाते रहते हैं। परन्तु उन

क्रियाओ से सच्चा सुख कभी नहीं होता; अतः जब वे लोग दुखी होते है तो एक निश्चय छोड़ कर दूसरे पर श्रद्धा करते है, फिर दूसरा छोड़ कर तीसरे पर विश्वास करते है। इस तरह उनकी बुद्धि निरन्तर विक्षिप्त रहती है—कभी एक निश्चय पर स्थिर नहीं रहती। फलतः उन लोगो की सारी आयु इसी खींचातानी में व्यर्थ बीत जाती है—सच्ची सुख-शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती।

इसलिए भगवान् अर्जुन को लक्ष्य करके सबको उपदेश देते है कि प्रकृति के तीनो गुणो के परस्पर के गुणन से उत्पन्न अनन्त प्रकार की कल्पित भिन्नताओ ही का वर्णन जिन कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रो में है, उनके मन-लुभावने वचनो के फेर में पड़कर उनके दास मत बनो। शास्त्र तुम्हारे लिए है, तुम शास्त्रो के लिए नहीं हो। अनन्त प्रकार के झूठे नानात्व में जो सच्चा एकत्व है, उसको "अपना आप" समझो; और सुख-दुःख, हानि-लाभ, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय, उत्पत्ति-नाश तथा प्राप्ति-अप्राप्ति आदि सब प्रकार के द्वन्द्वो को अपना ही खेल जान कर, स्वयं अपने आप में परिपूर्ण हो जाओ अर्थात् ऐसा अनुभव करो कि "मै परिपूर्ण हूँ, मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं"। ऐसा करने से इन वेदादि शास्त्रो में वर्णित इहलौकिक तथा पारलौकिक सारे सुख स्वयं तुम्हें अपने आप ही में दीखने लगेंगे; क्योकि जिसको सारा जगत् आत्मस्वरूप प्रतीत होता है, उससे अलग कोई भी वस्तु बाकी रह ही नहीं जाती। जिस तरह, जब सर्वत्र जल ही जल हो जाता है, तब कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि सभी जलाशय उसके अन्दर आ जाते है; उसी तरह आत्मज्ञानी सारी सृष्टि को अपने अन्दर, अपने ही स्वरूप में अनुभव करता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

अर्थ—कर्म ही में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नही, तेरे कर्म फल के उद्देश्य से न होवें और कर्म न करने में तेरी आसक्ति न होवे। तात्पर्य यह कि ऊपर के दो श्लोको में कहे अनुसार तू कर्मरूप प्रकृति का स्वामी है, अत: कर्मों के स्वामी-भाव से उन्हे करने का तेरा अधिकार है—वे तुझे अवश्य करने चाहिए, और फल कर्म के साथ ही रहता है अर्थात् जैसा कर्म होता है, उसी के अनुसार उसका फल स्वत. ही होता है, इसलिए कर्म से पृथक् फल पर किसी का कोई अधिकार नहीं होता,

अतः तेरे कर्म किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त को लेकर नहीं होने चाहिए; और अपने कर्तव्य-कर्म दु.ख रूप अयवा वन्धन-रूप होने की आशंका से उन्हें छोड़ कर अकर्मी होने का भाव भी तेरे अन्तःकरण में नहीं होना चाहिए, क्योकि कर्म तेरे से पृथक् नहीं है (४७)। हे धनंजय! योग में स्थित होकर तथा सङ्ग छोड़कर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्म कर; समत्व ही योग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सवके साथ अपनी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म कर, और उसके करने में व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव मत रख, तथा उनकी सफलता और असफलता में एक समान निर्विकार रह। इस श्लोक के आरम्भ में "योग" में स्थित होकर कर्म करने को कहा है, उस "योग" शब्द के अर्थ का खुलासा श्लोक के अन्त में करते है कि सबकी एकता के साम्य-भाव (Sameness) को "योग" कहते है। (४८)।

स्पष्टीकरण—कर्म जड़ है, वह चेतन कर्ता के आश्रय और अधिकार में रहता है; परन्तु अधिकार का तारतम्य कर्ता की चेतनता अर्थात् आत्मविकास के अनुसार होता है। मनुष्यो में आत्मविकास की अनन्त श्रेणियाँ है; नीचे की श्रेणी के आत्मविकास वाले व्यक्तियो का कर्म पर अधिकार कम होता है, ऊँची श्रेणी वालों का क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होता है, और जिनका पूर्ण आत्मविकास हो जाता है, वे पूर्ण रूप से कर्म के अधिपति हो जाते है। कर्म और फल का जोड़ा होता है अर्थात् कर्म की प्रतिक्रिया फल है, अतः फल कर्म के साथ ही रहता है। जैसा कर्म होता है वैसा उसका फल साथ ही उत्पन्न हो जाता है। इसलिए कर्म से भिन्न फल पर किसी का अधिकार नहीं होता। यदि कोई कर्म-फल को अन्यथा करना चाहे तो नहीं हो सकता। जैसा कर्म होता है उसी के अनुसार उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मो के अनुसार अपनी सृष्टि निर्माण करके उनका फल भोगता है, और जब कि कर्म करने में स्वतन्त्रता है तथा फल कर्म ही से उत्पन्न होता है, तो कर्म के द्वारा फल पर भी अधिकार होता है, स्वतन्त्र फल पर अधिकार नहीं होता—यहाँ 'फल पर अधिकार नहीं है' कहने का यही तात्पर्य है।

जिन वढ़े हुए आत्मविकास वाले सज्जनो को सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव का पूरा अनुभव हो जाता है, वे अपने व्यक्तित्व को दूसरो से पृथक् नहीं समझते, और न उनके कर्म दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही होते है, किन्तु उनके सब व्यवहार लोक-संग्रह यानी सवके हित के लिए होते है; अतः उनके कर्मो के फल सवको प्राप्त होते है। उन आत्मज्ञानी महापुरुषो की दृष्टि में यह जगत्-प्रपंच उनके ही समष्टि-भाव की इच्छा या माया की रचना अर्थात् कर्मों का विलास होता है। इसलिए वे अपने समष्टि-भाव के इस खेल में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने शरीर की योग्यता के कर्म साम्य-भाव से करते रहते है।

इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् अर्जुन को श्लोक ४५-४६ में सर्वात्म-भाव में स्थित होने का उपदेश देकर, उक्त (ब्राह्मी) स्थिति में जगत् के व्यवहार करने के लिए कहते है कि "यह कर्म-रूप जगत् तेरे ही समष्टि-भाव की इच्छा का खेल होने के कारण इस पर तेरा अधिकार है। तू दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति छोड़कर, साम्य-भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक इस संसाररूपी खेल में अपने शरीर की योग्यता के कर्म करने रूप अपना पार्ट अच्छी तरह बजा। इस खेल में जो नाना भाँति के सुख-दुःख आदि द्वन्द्व प्रतीत हो, उनकी कुछ परवाह मत कर, क्योकि यह सब तेरी ही कल्पना है, अतः इन द्वन्द्वो से विचलित न होकर इनमें एक समान (सम) बना रह।"

निवृत्ति-मार्ग के टीकाकार श्लोक ४७ का यह अर्थ निकालते है कि अर्जुन अज्ञानी था, इस कारण उसका अधिकार कर्म करने ही का था, इसलिए भगवान् ने उसे (अज्ञान अवस्था में ही) कर्म करते रहने का उपदेश दिया है। परन्तु पूर्वापर के सम्बन्ध पर ध्यान रखने से यह अर्थ ठीक नहीं वैठता; क्योकि श्लोक ११ से ३० तक भगवान् ने पहले आत्म-ज्ञान के वर्णन से उपदेश का आरम्भ करके, श्लोक ३१ से ३८ तक कर्म करने की आवश्यकता बता कर, श्लोक ३९-४० में आत्मज्ञान सहित जगत् के व्यवहार करने का माहात्म्य कहा। फिर श्लोक ४१ से ४४ तक दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए काम्य-कर्मों के करने की निन्दा करके अन्त में श्लोक ४५-४६ में भेद-भाव के शास्त्रो की उलझन से ऊपर उठकर तथा द्वन्द्वों से रहित एवं योग-क्षेम की चिन्ता से परे होकर अपने आप में परिपूर्णता के अनुभव करने का उपदेश दिया। अब श्लोक ४७-४८ में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने को कहते है। इन सब वचनो की संगति करके विचार करने से अर्जुन को अज्ञान अवस्था ही में, फल त्याग कर कर्म करने का उपदेश देना नहीं पाया जाता, किन्तु सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ कर, व्यक्तित्व की आसक्ति के विना, अपनी प्रकृति के स्वामी भाव से, जगत्-रूपी खेल में स्वाधीनतापूर्वक अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करने का उपदेश देना पाया जाता है।

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ वस्तुत यहीं से होता है; अत. कहना चाहिए कि श्लोक ४५ से ४८ तक चार श्लोक गीता-ज्ञान के मूल-मन्त्र है, इन्हीं चार श्लोको की विस्तृत व्याख्या आगे की गई है। इन श्लोको में सबकी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने का ही स्पष्ट विधान है; इससे यह स्वतः सिद्ध है कि गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय समत्व-योग ही है।

जिनको सर्वभूतात्मैक्य अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, वे व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते है, और जिन कर्मों से किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती, उनको निरर्थक बोझ-रूप अथवा दु.ख-रूप समझ कर छोड़ देते है।

परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होता है उनको पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार न रहने के कारण कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, किन्तु वे जगत् को अपने समष्टि-भाव का खेल समझ कर, उस खेल ही की सिद्धि के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के लिए, स्वेच्छा से कर्म किया करते हैं। उनका लक्ष्य कर्म-फल पर नहीं रहता, क्योंकि उनकी दृष्टि में कर्म और फल "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न नहीं होते। जिनको व्यक्तित्व का अहंकार होता है उनके कर्म अपने व्यक्तित्व के लिए होते हैं, अतः उनको कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है; परन्तु जिनके सर्वात्म-भाव होता है उनके कर्म सबके लिए होते हैं, अतः उनके फल भी सबके लिए होते हैं। आत्मज्ञानी सारे कर्मों को अपना खेल समझते हैं, इसलिए उन्हे कर्म बोझ-रूप या दुःख-रूप प्रतीत नहीं होते; न वे उनको निरर्थक ही समझते हैं, क्योंकि वे कर्म उस खेल के उपयोगी होते हैं; इसलिए कर्म न करने का भाव उनके अन्तः-करण में उत्पन्न नहीं होता। इस तरह आत्मज्ञानयुक्त जगत् के व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था में उस राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंग होता है, राष्ट्र से वह भिन्न नहीं होता, किन्तु वह अपने को राष्ट्र-रूप ही समझता है; और उस राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो-जो कर्म उसने अपने जिम्मे लिये हो, उनको वह स्वयं अपना कार्य समझ कर बहुत अच्छी तरह करता है, राष्ट्र के हित में अपना हित समझता है, राष्ट्र से अलग अपना व्यक्तित्व नहीं समझता, राष्ट्र के स्वार्थ के अन्तर्गत अपना स्वार्थ समझता है। उसी तरह समष्टि-आत्मा—परमात्मारूपी स्वाधीन राष्ट्र के संसाररूपी राज्य में प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति, समष्टि-आत्मा यानी परमात्मा का ही व्यष्टि रूप है, उससे भिन्न नहीं है। अतः अपने समष्टि-भाव के साम्राज्यरूपी इस जगत् को अच्छी तरह चलाने के लिए जो-जो कर्तव्य व्यष्टि-भाव से अपने जिम्मे लिये हों, उन्हे स्वयं अपने कार्य समझ कर अच्छी तरह करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को जगत्* से अलग नहीं समझना चाहिए, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत्* के स्वार्थो से अभिन्न, अर्थात् उनके अन्तर्गत समझना चाहिए। जगत् के हित में ही अपना हित जानना चाहिए। जिस तरह स्वाधीन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने को स्वाधीन समझता है, और अपने कर्तव्य-कर्म स्वाधीनतापूर्वक स्वामी भाव से करता है, उनको त्याग कर राष्ट्र की हानि करने की इच्छा नहीं करता; उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस जगत् में अपने आपको स्वाधीन समझ कर, जगत् के व्यवहार स्वाधीनतापूर्वक कर्तव्यो के स्वामी भाव से करना चाहिए—गुलामी के तौर पर नहीं। और अपने कर्तव्यो

---

*यहाँ जगत् से तात्पर्य अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले लोगो से समझना चाहिए।

को त्यागने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए; क्योकि जिस तरह व्यक्तियो का समष्टि-भाव ही राष्ट्र होता है, और राष्ट्र-संचालन का कार्य यथायोग्य सभी व्यक्तियो का कर्तव्य होता है— वह कार्य उन व्यक्तियो से अलग नहीं हो सकता; उसी तरह व्यष्टि भावो का सम्मिलित (एकत्व) भाव ही परमात्मा है और उसका व्यक्त स्वरूप ही ससार है, अतः इसका यथायोग्य संचालन करना प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति का कर्तव्य है; क्योकि प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति के कार्य पर ही इसका अस्तित्व निर्भर है। इसलिए संसार रूपी कर्म से कोई भी अलग नहीं हो सकता। यह ससार समष्टि आत्मा यानी परमात्मा की इच्छा का खेल है, और समष्टि के कार्य को व्यष्टि मिटा नहीं सकती। इसलिए कोई भी व्यक्ति ससार के व्यवहार को त्याग नहीं सकता। और जब व्यष्टि भाव सर्वथा मिटकर पूर्ण समष्टि भाव हो जाता है, तो त्यागने या रखने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योकि उस दशा में अपने से पृथक् त्यागने को कुछ रहता ही नहीं। अतएव भगवान् का सबको उपदेश है कि जगत् के व्यवहाररूपी कर्म करना सबका अधिकार है; अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार से तुम उसे छोड नहीं सकते (गी० अ० १८ श्लोक ५९), इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करो, और उन कर्मों के करने तथा न करने में व्यक्तित्व का अहकार और उन कर्मो से व्यक्तिगत स्वार्थ, अर्थात् "इन कर्मों से मुझे सुख-दु.ख, हानि-लाभ आदि फल प्राप्त होगे" ऐसी भावना मत रक्खो; क्योकि कर्म तुम से भिन्न नहीं, और कर्मो के फल भी तुम से भिन्न नहीं। इसलिए व्यक्तित्व का अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना आत्मज्ञानी के चित्त में उत्पन्न ही नहीं होनी चाहिए। आत्मज्ञानी को कुछ भी अप्राप्त नहीं है और न उससे कुछ पृथक् ही है। इसलिए वह किस पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करे और किससे अलग होने की ?

सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जय-पराजय, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष, प्रकाश-अन्धकार, उत्पत्ति-विनाश, सयोग-वियोग आदि द्वन्द्वो का जोडा होता है और वे दोनो साथ रहते है; अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा रखते है, एक के अस्तित्व के लिए दूसरे का होना आवश्यक है; जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है, उतनी ही मात्रा में दूसरा उसी समय उत्पन्न हो जाता है—चाहे वह किसी व्यक्ति-विशेष को उसी समय और उसी स्थल पर प्रतीत हो या न हो। यदि एक का अस्तित्व सच्चा माना जाय तो दूसरे का भी सच्चा मानना आवश्यक है। आत्मज्ञानी लोगो को उनकी एकता का ज्ञान रहता है, अत. उनकी दृष्टि में ये परस्पर विरोधी भाव एक समान मिथ्या, अर्थात् प्रभाव-रहित अत. सम होते है। जिस तरह एक साम्राज्य के किसी एक प्रदेश में बर्फ से लदे हुए बड़े-बडे ऊँचे पहाड होते है जिनमें से नदियाँ निकलती है, दूसरे प्रदेश में नीची भूमि बिलकुल सूखी होती है, एक प्रान्त में कृषि अधिक होती है, दूसरे प्रान्त की भूमि में खनिज पदार्थ और क्षार आदि होते है; एक प्रान्त में खाद्य पदार्थ

बहुतायत से उपजते हैं, दूसरे प्रान्त के लोगो के कला-कौशल में उन्नत होने के कारण उसमें कारीगरी की चीजें तैयार होती हैं; एक प्रान्त के निवासी विद्या, बुद्धि और व्यवसाय में चतुर होते हैं, दूसरे प्रान्त वालो में शारीरिक बल अधिक होता है; इस तरह प्रकृति के तीन गुणो के सम्मिश्रण के तारतम्य से भिन्न-भिन्न प्रदेशो की अपनी-अपनी विशेषताएँ और अपनी-अपनी न्यूनताएँ होती हैं; और जब तक प्रत्येक प्रान्त के निवासी एक दूसरे प्रान्त के निवासियो के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं, और अपनी विशेषताओ से दूसरो की न्यूनताएँ मिटाते रहते हैं, तब तक वह साम्राज्य अपने आपमें परिपूर्ण रहता है; समष्टिभाव से तो उसमें पूर्ण समता विद्यमान थी ही, परन्तु व्यष्टिभाव से भी समता हो जाती है—सब विषमताएँ आपस में मिल कर परिणाम में समता हो जाती है। उसी तरह जगत् के किसी विशेष प्रदेश तथा विशेष व्यक्तियों में एक प्रकार की विशेषता और दूसरे प्रकार की न्यूनता होती है, और अन्य प्रदेश में तथा अन्य व्यक्तियो में किसी अन्य प्रकार की विशेषता तथा अन्य प्रकार की न्यूनता होती है। इस तरह तीन गुणो के तारतम्य से अनन्त प्रकार की विशेषताएँ और अनन्त प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं; परन्तु उन सबका योग कर देने अर्थात् मिला देने से कोई विशेषता या न्यूनता शेष नहीं रहती—विशेषताओ से न्यूनताओ की पूर्ति होकर सर्वत्र समता हो जाती है। यदि सब व्यक्ति अपने-अपने हिस्से के कार्य करते हुए, तथा पारस्परिक एकता के निश्चय से आपस में सहयोग रखते हुए एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक हों, तो किसी में भी विशेषता या न्यूनता न रहे—सर्वत्र समता हो जाय। परन्तु जो लोग इस तरह एकता के भाव से व्यवहार न करके अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए खींचातानी करते हैं, वे ही विषमता उत्पन्न करते हैं और उसी से सुख-दु ख आदि द्वन्द्व होते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—हे धनजय ! कर्म, दूर होने के कारण बुद्धि-योग की अपेक्षा निकृष्ट है, अर्थात् कर्म, कर्ता की बुद्धि के अधीन है—जैसी बुद्धि होती है वैसे ही कर्म होते हैं, और उनका फल भी कर्ता की बुद्धि पर निर्भर रहता है, इसलिए कर्मो पर बुद्धि की प्रधानता है: (अतः) तू बुद्धि का आश्रय ले अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव की बुद्धि से

कर्म कर; फल की इच्छा से कर्म करने वाले कृपण अर्थात् दीन होते हैं (४९)। जिसकी आत्मनिष्ठ (समत्व) बुद्धि होती है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनो से अलग अर्थात् अलिप्त रहता है, इस कारण तू (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग में स्थित होकर व्यवहार कर; क्योकि (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावरूप) योग ही कर्म-कौशल (कर्मों पर आधिपत्य) है; अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने वाला कर्मो का स्वामी* होता है (५०)। साम्य-बुद्धियुक्त व्यवहार करने वाले ज्ञानी पुरुष, कर्मो के अच्छे-बुरे फल से परे होकर, तथा जन्म-मरण आदि बन्धनो से मुक्त होकर, (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) दुःखो से रहित पद को प्राप्त हो जाते है (५१)।

स्पष्टीकरण—कर्म, बुद्धि (विचार) के अधीन है, क्योकि कर्म करने का विचार पहले अन्त.करण में उठता है, पीछे कर्म किये जाते है। कर्मो का फल भी कर्ता की बुद्धि पर निर्भर रहता है। निरे जड़ कर्मो में अच्छे-बुरे फल देने की शक्ति नहीं होती, किन्तु उनमें चेतन पुरुष की बुद्धि का सयोग होने से अच्छा-बुरा फल उत्पन्न होता है। कर्ता की जैसी बुद्धि होती है उसी के अनुसार कर्म का फल होता है। निर्बुद्धि लोगो के कर्मों का फल बुद्धिमानो जैसा नहीं होता। अतः बुद्धि की अपेक्षा कर्म निकृष्ट है। जो लोग बुद्धि से काम न लेकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते है, वे बड़े कंजूस एवं दीन होते है; क्योकि विवेकहीन कंजूस मनुष्य दिन-रात केवल अपने स्वार्थो में ही लगा रहता है—अपने स्वार्थ के बिना वह कुछ भी नहीं करता और न वह किसी के काम में आता है। वह सदा अपने को दीन ही अनुभव करता है। परन्तु जो लोग समत्व-बुद्धि से व्यवहार करते है, उनको कर्मों के फल में कुछ भी आसक्ति नहीं रहती, वे बहुत उदार एवं सब कर्मो के स्वामी होते है; अतः उनको पुण्य और पाप दोनो का बन्धन नहीं होता; न उनको जन्म-मरण आदि किसी प्रकार का क्लेश ही होता है। वे अपने आपको सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव करते हुए स्वेच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक लोक संग्रह के सांसारिक व्यवहार करते है। सारांश यह कि साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करना ही कर्मों में कुशलता है और यही परम श्रेयस्कर है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

---

*जिस तरह कोई मनुष्य किसी विशेष कला में पूर्ण कुशल अर्थात् निपुण होता है तो वह उस कला का स्वामी (Master) होता है। उसी तरह समत्व-बुद्धि से व्यवहार करने वाला मनुष्य पूर्णतया व्यवहार-कुशल होता है, अत वह सारे व्यवहारो अर्थात् कर्मो का स्वामी (Master of actions) होता है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३ ।।

अर्थ—जब तेरी बुद्धि (सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होकर) मोह (अज्ञान) के दल-दल से पार हो जायगी, तब जो कुछ (भेद-वाद के शास्त्रों के वचन) तूने सुने है, और भविष्य में जो कुछ सुनेगा, उन (सब) के प्रभाव से तू रहित हो जायगा, अर्थात् तू उन भेद-वाद के शास्त्रों के रोचक-भयानक वचनों की उपेक्षा कर देगा (५२) । कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-वाद के नाना भाँति के वाक्यों से विचलित होकर भटकती हुई तेरी बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव के एक निश्चय पर अचल-अटल हो जायगी, तब तुझे समत्व-योग प्राप्त होगा, अर्थात् उस समय तू सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा (५३) ।

स्पष्टीकरण—संसार के व्यवहार करने में जिस समय कोई विकट समस्या सामने उपस्थित होती है और दो या उससे अधिक विरोधी धर्मो के संघर्ष का अवसर आ जाता है—जैसा कि अर्जुन के सम्मुख आया था, जब कि एक तरफ युद्ध करने से पूज्यो तथा स्वजन-बान्धवो की हत्या का पाप, और दूसरी तरफ युद्ध न करने से क्षात्र-धर्म का नाश दीखता था—ऐसी दशा में मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ होकर मोह के दलदल में फँस जाता है, जिससे निकलने के लिए वह नीति और धर्मशास्त्रो की शरण में जाता है। परन्तु उन शास्त्रो के भेद-वाद के—अनेक स्थलो पर परस्पर विरोधी— वचनों से उलझनें और बढ़ जाती है; क्योकि उनमें कहीं पर किसी धर्म की विशेषता, और कहीं पर उसके विरुद्ध धर्म की विशेषता की परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती है। कहीं दया और अहिंसा की महिमा गायी गई है, तो कहीं दुष्टो को दण्ड देना, युद्ध में शत्रुओ को मारना और यज्ञ में पशुओ का वध करना परम धर्म माना गया है। कहीं सत्य के बराबर दूसरा कोई धर्म ही नहीं माना है, तो दूसरे स्थल पर छलियों और दुराचारियो के साथ छल करना न्यायसंगत माना है। कहीं दान का बड़ा माहात्म्य गाया गया है, तो कहीं दान देने से दुर्गति बताई है। कहीं पर प्राणी मात्र के साथ मैत्री-भाव रखने को कहा गया है, तो कहीं पर शठ—दुर्जनो के साथ उनके योग्य ही शठता आदि का बर्ताव करने की व्यवस्था दी गई है। कहीं पर आबाल-ब्रह्मचर्य का अखण्ड व्रत पालन करने की बहुत बड़ाई की गई है, तो कहीं पर संतान पैदा न करने वालों के लिए नरक में पड़ना अनिवार्य बताया गया है। कहीं पर माता-पिता की भक्ति की महिमा गाई है, तो कहीं पर उनके प्रतिकूल आचरण करने वालों की बड़ी प्रशंसा की गई है। किसी जगह भ्रातृ-स्नेह को बहुत सराहा है, तो किसी जगह भ्रातृ-द्रोहियो का बड़ा आदर किया गया है। इस

तरह अनन्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने वाले परस्पर विरोधी वाक्य भेद-वाद के शास्त्रो में पाये जाते हैं, और ज्यों-ज्यो अधिक छानबीन की जाती है, त्यो-त्यो उलझनें वढ़ती जाती है, जिनसे मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त विक्षिप्त हो जाती है और एक निश्चय पर पहुँचना असम्भव हो जाता है। इस महान् उलझन से पार होकर एक निश्चय पर पहुँचने का एकमात्र उपाय, बुद्धि को सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करना है, अर्थात् सदा यही विचार करते रहना कि एक ही आत्मा सब चराचर भूत-प्राणियो में समान भाव से व्यापक है, उससे भिन्न कुछ नहीं है, जो छोटे से छोटे जन्तु में है वही बड़ी से बड़ी देह में है, जो एक तृण में है वही ब्रह्माण्ड में है, जो मुझमें है वही दूसरों में है; इस तरह से अभ्यास करते-करते बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में जुड़कर निश्चल हो जाती है, तब वह भेद-वाद की उलझनो वाले शास्त्रो के वाक्यो से विचलित नहीं होती, क्योकि उन शास्त्रो का उस पर कोई प्रभाव नहीं रहता, और तब सब समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं, और तव उस आत्मज्ञानी पुरुष के सभी व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से होने लग जाते हैं, जिनसे किसी प्रकार का क्लेश अथवा बन्धन नहीं होता, किन्तु सदा-सर्वदा आनन्द का साम्राज्य रहता है। प्रथम अध्याय के ४४वें श्लोक में अर्जुन ने कहा था कि जिन मनुष्यो के कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं उनको निश्चय ही नरक में जाना पडता है; ऐसा मैंने (शास्त्रो में) सुना है, उसी का स्पष्ट खण्डन भगवान ने इन दो श्लोको में किया है।

× × ×

समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने के इतने महत्व और इतनी आवश्यकता के वचन सुन कर यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती है कि उस समत्व-योग का स्वरूप और उसकी विधि क्या है? और जिसकी बुद्धि साम्य-भाव में स्थित हो जाती है, उस पुरुष के क्या लक्षण होते हैं, और उसके आचरण कैसे होते हैं? इसी का खुलासा करवाने के लिए अर्जुन का प्रश्न अगले श्लोक में है, जिसके उत्तर में भगवान उसका खुलासा करते हैं।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्। ५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे केशव ! साम्य-भाव में जिसकी बुद्धि स्थित (हो जाती) है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? और उस अविचल-बुद्धि वाले पुरुष की बोल-चाल, रहन-सहन (एवं) हलचल कैसी होती है* (५४) ? भगवान् ने कहा कि हे पार्थ !

*यहाँ पर "समाधि" शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह दूसरी टीकाओं से कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। दूसरी कई टीकाओं में इस शब्द का अर्थ "योग की समाधि अवस्था"

जब (मनुष्य) व्यक्तिगत स्वार्थ की सब कामनाओ के संकल्प मन से त्याग देता है, और अपने आप ही में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-बुद्धि वाला व्यक्ति सब भूतो को अपने में और अपने को सब भूतो में अनुभव करता है, अपने से भिन्न कोई पदार्थ उसकी दृष्टि में नहीं रहता, इसलिए दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व का भाव और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाएँ उसके मन में शेष नहीं रहतीं—वह अपने आप में ही परिपूर्ण रहता है (५५)। दु:खो से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखो के लिए जो लालायित नहीं होता, और जो राग, भय एव क्रोध से ऊपर है, ऐसा ज्ञानी पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (५६)। जिसकी किसी पदार्थ में स्नेह की आसक्ति नहीं रहती ; शुभ अर्थात् अनुकूल की प्राप्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, और अशुभ अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति में जिसको विषाद नहीं होता, उसकी बुद्धि (साम्य-भाव में) ठहरी हुई है (५७)। और जिस प्रकार कछुआ अपने अंगो को सब ओर से अपने अन्दर सिकोड लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सब ओर से इन्द्रियो को उनके बाह्य विषयो से समेट कर अपने अन्दर (अन्तर्मुख) कर ले, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए) (५८)। विषय तो निराहारी पुरुष के भी छूट जाते है, परन्तु उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती; परमात्मा के दर्शन होने पर अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव होने पर उनकी चाह भी निवृत्त हो-जाती है (५९)। हे कौन्तेय ! ये इन्द्रियाँ ऐसी प्रबल है कि प्रयत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से खींच लेती है (६०)। इसलिए मेरे परायण होकर, उन सबको वश में करके, युक्त अर्थात् साम्य-भाव में स्थित होना चाहिए; जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है (६१)। विषयो का चिन्तन करने वाले मनुष्य का उनमें सग अर्थात् आसक्ति हो जाती है, सग से (उक्त विषयो की प्राप्ति की) कामना उत्पन्न होती हैं, कामना से (प्राप्ति में बाधा पडने पर, अथवा विषयो का वियोग होने से, अथवा विषयो से तृप्ति न होने से, अथवा उनका दुष्परिणाम होने से) क्रोध उत्प होता है; क्रोध से समोह अर्थात् किंकर्तव्य-विमूढता होती है; संमोह से स्मृति विगड़ जाती है, अर्थात् पूर्व अनुभव की यथार्थ स्मृति नहीं रहती; स्मृति के बिगडने से बुद्धि अर्थात् विचार-

---

किया गया है, परन्तु योग की समाधि में वोलना, चलना आदि सव व्यवहार वन्द रहते है, इसलिए अर्जुन का यह प्रश्न ही नही वन सकता था, और भगवान् ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है—"दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह" तथा "य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्" आदि— वह भी योग की समाधि अवस्था पर नही घट सकता, क्योकि उस अवस्था में सुख-दु ख और भले-वुरे आदि की प्राप्ति ही नही होती। इसी अध्याय के ४४वें श्लोक मे "समाधि" शब्द आया है, वहाँ कई टीकाकारो ने उसका अर्थ "आत्माकार-वृत्ति" किया है, और आत्मा सम है, इसलिए इसका अर्थ "साम्य-भाव" ही उचित है।

शक्ति नष्ट हो जाती है; और विचार-शक्ति के नष्ट हो जाने से सर्वनाश हो जाता है (६२-६३)। परन्तु जिसका मन आत्मा यानी अपने आप में स्थिर है, वह पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर अपने अधीन की हुई इन्द्रियो से विषयों को भोगता हुआ भी बहुत प्रसन्न रहता है (६४)। चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःखों का अभाव हो जाता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है (६५)। समत्व-योग से रहित पुरुष की बुद्धि (निश्चयात्मक) नहीं होती, और न समत्व-योग रहित पुरुष में भावना अर्थात् आत्मज्ञान में श्रद्धा ही होती है; श्रद्धा-विहीन पुरुष को शान्ति नहीं होती और अशान्त को सुख कहाँ? अर्थात् जिसके मन में संशय और विक्षेप बने रहते है वह सुखी नहीं हो सकता (६६)। क्योंकि जो मन, विषयो में बर्तनेवाली इन्द्रियो के पीछे लगा रहता है, वह मनुष्य की बुद्धि को उसी प्रकार डाँवाडोल कर देता है, जिस प्रकार हवा नाव को पानी में (डाँवा-डोल कर देती है) (६७)। इसलिए हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार विषयो से निग्रह की हुई, अर्थात् अपने वश में की हुई है, उसी की बुद्धि निश्चल होती है (६८)।

स्पष्टीकरण—सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में जिसकी बुद्धि स्थित हो जाती है, उस स्थितप्रज्ञ का सबसे पहला चिह्न भगवान् यह बताते है कि वह अपने आपमें परिपूर्ण होता है, अपने से भिन्न किसी पदार्थ की प्राप्ति का उसके मन में संकल्प नहीं उठता, क्योकि वह सबको "अपने आप" में और "अपने आप" को सबमें अनुभव करता है (गी०अ० ६ श्लोक २९-३०)। इसलिए अपने से भिन्न कोई अप्राप्त वस्तु उसकी दृष्टि में नहीं रहती, अतः वह पूर्ण सन्तुष्ट रहता है। यह बात साधारण लोगो में भी प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिसको जितने पदार्थों के साथ अपनी एकता का ज्ञान होता है, अर्थात् जो व्यक्ति जितने पदार्थ अपने मानता है, उनकी प्राप्ति की उसे आकांक्षा नहीं रहती। उस विषय में उस हद तक वह अपने को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट रहता है। जिस व्यक्ति के पास प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त शक्ति और अनुकूल परिवार होता है, वह उस हद तक अपने को पूर्ण मानता है, और उन प्राप्त पदार्थों के विषय में उसकी इच्छा शान्त हो जाती है। उसी तरह आत्मज्ञानी को अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाने के कारण वह जगत् के सब पदार्थों को अपने समझता है, अतः उसको किसी पदार्थ की प्राप्ति की लालसा नहीं रहती। उसकी पूर्णता असीम होती है, किसी भी विषय में वह अपूर्ण नहीं रहता।

सुख-दु.ख, अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व आत्मज्ञानी को विचलित नहीं करते, क्योकि उसकी दृष्टि में उनका पृथक् अस्तित्व नहीं होता। प्रत्येक द्वन्द्व के दोनो भाग अन्योन्याश्रित होते है, जितनी मात्रा में एक का अस्तित्व होता है, उतनी ही मात्रा में उसके जोड़े के विरोधी भाव का अस्तित्व होता है। आत्मज्ञानी का सर्वात्म-भाव होने के कारण उसकी दृष्टि में दोनो सम होकर शान्त हो जाते है, इसलिए किसी एक का भी प्रभाव उसके मन पर नहीं पडता और किसी में भी उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं रहती,

न किसी से राग-द्वेष ही होता है। द्वैत-भाव मिट जाने के कारण उसके चित्त में भय, शोक आदि विविध विकारो के उत्पन्न होने के लिए भी कोई कारण नहीं रहता।

विषयो में आत्मज्ञानी की आसक्ति नहीं रहती, इसलिए उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख नहीं होतीं अर्थात् अपने काबू से बाहर नहीं होतीं। इससे कोई यह न समझे कि स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियों का विषयों में व्यवहार ही सर्वथा बन्द हो जाता है। गीता में भगवान् व्यावहारिक वेदान्त का उपदेश दे रहे है, और यहाँ पर व्यावहारिक वेदान्त का आचरण करने वाले स्थितप्रज्ञ (समत्वयोगी) के लक्षण एवं आचरण (बोलना-चलना आदि) बता रहे है; और आचरण सब इन्द्रियों से ही होते है। यदि स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियाँ बिलकुल निकम्मी हो जायँ—कुछ करें ही नहीं—तो वह आचरण करे ही किनसे ? यदि आँखो से देखना, कानो से सुनना, वाणी से बोलना, मुख से खाना, हाथो से काम करना, पैरो से चलना आदि बन्द कर दे तो शरीर का व्यवहार हो ही कैसे? इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा की अपरा प्रकृति है (गी० अ० ७ श्लोक ४), इसलिए विषयो की सर्वथा निवृत्ति का प्रयत्न अप्राकृतिक है। शरीर के रहते इन्द्रियो के विषय छूट नहीं सकते। जो लोग निराहार व्रत आदि—शरीर को कृश करने वाली—कठिन तपस्याओ से इन्द्रियो को शिथिल करके विषयो से निवृत्त होने का प्रयत्न करते है, वह उनका मिथ्याचार अर्थात् दम्भ है (गी०अ० ३ श्लोक ६); क्योकि इस तरह के इन्द्रिय-निरोध से उन लोगो की विषयो में सुख-बुद्धि नहीं मिटती, अतः उनकी चाह मन में बनी रहती है। जब अवसर पाकर इन्द्रियाँ काबू से बाहर हो जाती है, तब अनियन्त्रित रूप से विषयो में उलझ जाती है जिससे बडे-बड़े अनर्थ होते है। जैसे जबर्दस्ती रोका हुआ पानी का बहाव जब बांध तोड़ कर अनियन्त्रित रूप से बह निकलता है, तब बडे-बडे उपद्रव करता है; उसी तरह अस्वाभाविक रूप से रोकी हुई इन्द्रियाँ निरकुश होने पर उपद्रव करती है और फिर वश में नहीं हो सकतीं। बडे-बडे विद्वान् और बुद्धिमान् लोगो के मन को भी जब इन्द्रियो के स्वाभाविक वेग हठात् बहा ले जाते है, तो साधारण लोगो की इन्द्रियाँ हठ से अथवा दुराग्रह से कैसे रोकी जा सकती है ? क्योकि साधारण लोगो का चित्त रात-दिन बाह्य विषयो में ही सलग्न रहता है—कभी उनकी किसी विषय में प्रीति होती है और कभी किसी में; जिससे उनका मन राग-द्वेष में आसक्त रहता है, बुद्धि विक्षिप्त रहती है—कभी एक निश्चय पर नहीं ठहरती, और अन्त करण के सदा सशय-ग्रस्त बने रहने के कारण उसमें स्थायी प्रसन्नता और शान्ति नहीं होती। परन्तु समत्वयोगी इन्द्रिय-सयम के लिए इस तरह हठ नहीं करता। उसकी विषय-निवृत्ति निराले ही ढग की होती है। वह इन्द्रिय-निग्रह के लिए न तो शरीर को कष्ट देता है, और न इन्द्रियो को विषयो

से सर्वथा हटा लेने अर्थात् इन्द्रियों के व्यवहार ही बन्द करने की अस्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करने की आवश्यकता ही वह नहीं समझता; क्योकि वह जानता है कि इन्द्रियाँ और उनके विषय, सब आत्मा अर्थात् अपने आपके ही खिलवाड़ हैं—अपने से भिन्न कुछ नहीं है। अपने ही संकल्प से इन्द्रियाँ और उनके विषयो की सृष्टि होती है। एक तरफ मन का संकल्प व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होता है और दूसरी तरफ समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है। मन का संकल्प एक तरफ तेजात्मक होकर नेत्र-रूप से देखता है और दूसरी तरफ दृश्य-रूप बनता है—देखना और दृश्य दोनों ही तेज के गुण है। मन का संकल्प एक तरफ आकाशात्मक होकर श्रोत्र-रूप से शब्द सुनता है और दूसरी तरफ शब्द-रूप बनता है—शब्द और सुनने की क्रिया दोनों ही आकाश के गुण है। इसी तरह सभी इन्द्रियो और उनके विषयो की एकता है। मन ही समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है और वही व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होकर उन्हें भोगता है। भोक्ता-भोग्य दोनो एक है। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब मन इन्द्रियो के साथ रहता है तभी इन्द्रियो को विषय-रस का भान होता है, यदि मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियो का विषयो से सम्बन्ध होते हुए भी उनका भान नहीं होता। आँखो के सामने कितने ही प्रकार के दृश्य आवें, कानो के पास कितने ही शब्द होते रहें, जीभ कितने ही रसों को चखती रहे, नाक में कितनी ही तेज गन्ध आती रहे, स्पर्श-इन्द्रिय कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श करती रहे, परन्तु मन की अनुपस्थिति में किसी भी इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि न तो इन्द्रियो में स्वयं विषय भोगने की योग्यता है और न विषयों में अपना निज का कोई रस ही है। मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार ही विषय अच्छे-बुरे प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि विचार कर देखा जाय तो केवल इन्द्रियाँ ही विषयो को नहीं भोगतीं, किन्तु विषय भी इन्द्रियो को भोगते हैं; और इन्द्रियाँ विषयों को जितना भोगती हैं, उतना ही विषय भी इन्द्रियो को भोगते हैं। यह नियम है कि जो जिसको जितना भोगता है, उतना ही वह स्वयं भोगा जाता है—क्रिया की प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। सभी पदार्थ एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ५)। तात्पर्य यह कि इन्द्रियो और उनके विषयो में वास्तव में कोई भेद नहीं है—वे एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। इसलिए आत्मज्ञानी की दृष्टि में विषयों के त्याग और भोग का प्रश्न कोई तथ्य नहीं रखता। जिस तरह एक पिता के बालक, पिता की उपस्थिति में आपस में खेलते हैं तो उनके खेलने से पिता के चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता, वह उनको खेलने से मना नहीं करता, क्योकि वह जानता है कि खेलना बालको का स्वभाव है, और उनके लिए खेलना आवश्यक भी है, बालक यदि न खेलें तो उनको हानि होती है; अतः वह उनके खेलने में वात्सल्य भाव से प्रसन्नतापूर्वक सहायक होता है। परन्तु साथ ही वह उनको यह स्वतन्त्रता नहीं दे देता कि खेल में वे इतने आसक्त हो जायें कि दिन-रात उसी में लगे रहें, अथवा इस तरह का कोई खेल खेलें कि जिसका दुष्परिणाम हो, और वर्तमान में अथवा

भविष्य में कोई हानि पहुँचे, अथवा आपस में विरोध उत्पन्न हो, अथवा उनके खेल से अन्य लोगो को पीड़ा या असुविधा हो। इसी तरह स्थितप्रज्ञ, इन्द्रियो और उनके विषयो को अपनी ही रचना समझता है, और बच्चो के खेल की तरह उनका पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक एवं आवश्यक जानता हुआ उसमें रुकावट नही डालता। इन्द्रियो का विषयों में वर्तना स्वाभाविक धर्म है और अपने धर्म के अनुसार वर्तना सबके लिए श्रेयस्कर होता है (गी० अ० ३ श्लो० ३३ से ३५)। अस्वाभाविक इन्द्रिय-निरोध से आत्मा के सगुण रूप इस संसार के खेल में विशृंखलता आती है, क्योकि इसके सभी अग अपना-अपना पार्ट यथा-योग्य बजावें, यानी अपने-अपने धर्मों का ठीक-ठीक आचरण करें, तभी यह सुव्यवस्थित रूप से चलता है। परन्तु उनका आचरण ऐसा न होना चाहिए कि जिससे परस्पर में विरोध अर्थात् विषमता उत्पन्न हो, अथवा दूसरो को अपने धर्म पालन करने में वाधा पहुँचे, अथवा भविष्य में उसका दुष्परिणाम हो, अथवा संसार रूपी खेल में अव्यवस्था आ जाय। इसलिए स्थितप्रज्ञ इन्द्रियो को उनके विषय भोगने में स्वतन्त्र अर्थात् निरंकुश नहीं कर देता, किन्तु उन्हें अपने अधीन रख कर उनसे इस तरह आचरण करवाता है कि जिससे किसी प्रकार का अनर्थ न हो। इन्द्रियो को मन के अधीन, मन को बुद्धि का अनुगामी और बुद्धि को आत्मनिष्ठ रखते हुए, वह राग-द्वेष रहित होकर प्रसन्न चित्त से लोक-संग्रह के लिए विषयो में वर्तता है। यदि इन्द्रियां मन के अधीन न रह कर उलटा मन इन्द्रियो का अनुगामी हो जाय, तो वे दोनो बुद्धि को आत्म-विमुख कर दें। और जिस तरह रथ के घोड़े स्वामीभक्त सारथी की लगाम में चलते हैं तभी रथ की यात्रा ठीक-ठीक होती रहती है; उसी तरह स्थितप्रज्ञ के शरीर-रूपी रथ के इन्द्रिय-रूपी घोडे आत्मनिष्ठ बुद्धि-रूपी सारथी की मन-रूपी लगाम में चलते है, जिससे उसके व्यवहार यथार्थ होते है। स्थितप्रज्ञ की शरीर-यात्रा अज्ञानी लोगो की तरह व्यष्टि-भाव से नहीं होती, किन्तु सबके हित के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होती है। इसलिए इन्द्रियो के व्यवहारो में उसे कोई व्यक्तित्व का अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थात् विषय-भोग की आसक्ति नहीं रहती, किन्तु ससार-चक्र को यथावत् चलाने अर्थात् लोकसंग्रह के लिए ही वह सब प्रकार से वर्तता है (गी० अ० ३ श्लो० ९ से ३०)। यद्यपि वह देखना, सूंघना, सुनना, स्पर्श करना, खाना, चलना, सोना, जागना, वोलना, लेना, देना आदि सभी प्रकार के व्यवहार करता है, परन्तु अन्य लोगो की तरह वह केवल अपनी भोग-इच्छा से उन्हें नहीं करता, किन्तु लोक-संग्रह के लिए ही उसके सव व्यवहार होते है। अत. इन्द्रियो का उनके विषयो में वर्तने का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता, किन्तु गुण ही गुणो में वर्तते है, यही भाव उसके चित्त में रहता है। इसलिए वह सदा मुक्त और प्रकृति का स्वामी होता है (गी० अ० ५ श्लो० ७ से २१)।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। ७२ ।।

अर्थ—जो सब भूत-प्राणियो की रात होती है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है, और जिसमें सब भूत-प्राणी जागते हैं, ज्ञानवान् को वह रात दीखती है। तात्पर्य यह कि जिस तरह निशाचरो की आँखें सूर्य के प्रकाश को सहन नहीं कर सकतीं, इसलिए वे दिन में काम नहीं कर सकते, किन्तु रात के समय उन्हें प्रकाश दीखने के कारण वे रात ही में सब व्यवहार करते हैं, उसी तरह भौतिकता में आसक्त, स्थूल इन्द्रियों ही के ज्ञान को सत्य मानने वाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि, सूक्ष्म आत्मज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए आत्म-ज्ञानियो के साम्य-भावयुक्त व्यवहारों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते—अपने अविद्या-अन्धकार में किये हुए व्यवहारों ही को वे ठीक मानते हैं, परन्तु आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ जानता है कि वे लोग अविद्या-अन्धकार से ग्रसित हैं (६९)। जिस तरह सदा परिपूर्ण—भरे हुए तथा अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में चारो ओर से पानी आने पर भी वह अपनी मर्यादा से अविचल रहता है, उसी तरह सब कामनाओ (विषयो) के प्राप्त होने पर भी जो पुरुष अविचल रहता है, केवल उसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है—कामनाओ की चाह रखने वाले को नहीं (७०)। जो पुरुष सब कामनाओं से रहित होकर एवं व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ को लालसा को छोड़ कर वर्तता है, अर्थात् जगत् के व्यवहार करता है, उसे ही शान्ति मिलती है (७१) हे पार्थ! यही ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मभाव की स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोह में नहीं फँसता, और अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण-पद को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि स्थितप्रज्ञ केवल जीवन-काल ही में व्यष्टि (जीव) भाव से रहित नहीं होता, किन्तु सदा के लिए व्यष्टि (जीव) भाव से रहित होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है (७२)।

स्पष्टीकरण—जगत् के भौतिक नानात्व को सत्य मान कर उसमें उलझे हुए भेदवादी लोगों की राजसी-तामसी समझ (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२) समत्वयोगी के सर्वभूतात्मैक्य सात्विक ज्ञान (गी० अ० १८ श्लो० २०) को ग्रहण नहीं कर सकती। यह बात उनकी स्थूल बुद्धि में बैठ ही नहीं सकती कि एक, सत्य और अव्यक्त आत्मा में अनेक, मिथ्या और व्यक्त

भाव किस तरह हो सकते हैं ; और जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से अलग-अलग दीख रहे हैं, वे वस्तुतः एक कैसे हो सकते हैं, और जगत् की इतनी भिन्नता में एकता का व्यवहार कैसे बन सकता है ? इन्द्रियो के विषयों में ही आसक्त रहने वाले उन अज्ञानी लोगो को, विषय-सुख की प्राप्ति अपने आप से बाहर ही होने का विश्वास रहता है, अतः वे सदा परावलम्बी और दीन बने रहते हैं । शरीर, इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा विषयो के साधन आदि अनेक प्रकार की पराधीनताओ में वे जकड़े रहते हैं, और ससार के प्रायः सभी व्यवहारो में अपनी परवशता का सदा अनुभव करते हैं; इसलिए समत्वयोगी के अपनी प्रकृति के स्वामी-भाव से स्वाधीनतापूर्वक किये हुए सात्विक आचरणो के रहस्य को वे समझ नहीं सकते, क्योकि वे उसको भी अपने जैसा ही एक तुच्छ व्यक्ति मानते हैं । अत. उसके परमात्म-भाव को वे सहन नहीं कर सकते और उसके साथ द्वेष करते हैं। स्थितप्रज्ञ जिन व्यवहारो को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से लोगो के लिए कल्याणकर समझता है, उनको वे तामसी बुद्धि के लोग अधर्म मानते हैं (गी० अ० १८ श्लो० ३२) । स्थितप्रज्ञ अपनी सात्विकी बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) से निर्णय करके कभी सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि सात्विक माने जाने वाले भावो के विपरीत आचरण करना लोक-हितकर समझता है, और कभी काम, क्रोध आदि राजसी-तामसी माने जाने वाले भावो को वर्तना उचित समझता है, क्योकि वह सब भावो का स्वामी होता है, अतः आवश्यकतानुसार यथायोग्य उनके सदुपयोग द्वारा लोक-हित करता है; परन्तु तत्त्वज्ञान-शून्य मूढ़ लोग उसके उक्त आचरणो का विरोध करते हैं । उनमें यह समझने की योग्यता नही होती कि व्यक्तित्व के भाव से किये जाने पर साधारणतया सात्विक माने जाने वाले गुणो का भी दुरुपयोग होकर वे हानिकर हो जाते हैं, और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने पर साधारणतया राजस-तामस माने जाने वाले भावों का भी सदुपयोग होकर वे हितकर हो जाते हैं । वे केवल उसके आचरणो के बाह्य रूप से ही उनके अच्छे-बुरेपन का निर्णय कर लेते हैं । जिस बात को तत्त्वज्ञानी ग्राह्य समझता है, उसे अज्ञानी लोग हेय मानते हैं; और जिसको तत्त्वज्ञानी हेय मानता है, उसे वे ग्राह्य समझते हैं। संसार में अधिक संख्या अज्ञानियो की होती है, ज्ञानी कोई विरला ही होता है (गी० अ० ७ श्लो० ३ और १९) । यद्यपि लिखे-पढ़े लोगो की जगत् में काफी संख्या है; शास्त्रो के ज्ञाता भी बहुत से हैं; जप, तप, दान, पूजा, पाठ, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रोक्त क्रियाएँ करने वालो की भी कमी नहीं है; और ज्ञान एवं धर्मनीति की बातें बनाने वाले भी अनेक हैं; परन्तु सर्वभूतात्मैक्य व्यावहारिक ज्ञान के बिना उन विद्वानो और शुभ माने जाने वाले कर्म करने वालो को भी कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ बोध नहीं होता (गी० अ० ४ श्लो० १६) । वे लोग भी स्थितप्रज्ञ के "एक में अनेक

और अनेकों से एक" के ज्ञान (गी० अ० ४ श्लो०१८) युक्त आचरणों के रहस्य को नहीं जान सकते, और अपनी उलटी समझ के अनुसार उस पर आक्षेप करते रहते है। स्थितप्रज्ञ के उपरोक्त इन्द्रिय-संयम को वे उसकी विषय-लंपटता बताते है। यदि वह भेद-वाद के शास्त्रो की मर्यादाओं और लौकिक रूढ़ियों पर कट्टरता न रख कर, सबके साथ समता का व्यवहार करता है, तो वे लोग उसको अधर्मी कहते है; और यदि वह धार्मिक कर्मकाण्ड की क्रियाओं की उपेक्षा करता है, तो वे उसे नास्तिक मानते है; उसका सत्य आचरण उनकी दृष्टि में मिथ्याचार और पाखण्ड होता है। तात्पर्य यह कि वे अपनी पृथक्ता की बुद्धि ही से काम लेते है, सबकी एकता के साम्य-भाव तक उनकी बुद्धि पहुँचती ही नहीं; इसलिए स्थितप्रज्ञ के आचरणों के विषय में वे अंधेरे ही में रहते है। परन्तु स्थितप्रज्ञ उन भौतिक दृष्टि के लोगों के भेद-भावयुक्त राजसी-तामसी व्यवहारों को अन्धकार-रूप अविद्या का कार्य समझता है, अतः वह उन लोगो के आचरणो की उपेक्षा करता है, और उनके विरोध, निन्दा अथवा अपमान आदि से कभी विचलित नहीं होता। उसकी स्थिति उन सबसे ऊपर रहती है (गी० अ० ६ श्लो० ४६)।

यद्यपि संसार के सभी पदार्थ स्थितप्रज्ञ के सम्मुख सदा उपस्थित रहते है; परन्तु जिस तरह वर्षा ऋतु में नदियो का अनन्त जल, वेग से समुद्र में जाने पर भी समुद्र अपनी अखण्ड मर्यादा में एक समान स्थित रहता है—उसमें घटा-बढी नहीं होती; उसी तरह पदार्थों के आते रहने पर भी स्थितप्रज्ञ के मन में उनका कोई हर्ष या प्रमाद नहीं होता, किन्तु वह निश्चल और निर्विकार बना रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में सब पदार्थों का अपार एवं अक्षय भण्डार तो वह आप होता है—पदार्थों की स्थिति के लिए उसके आपके सिवाय दूसरा कोई स्थान ही नहीं होता। जिस तरह नदियो का जल समुद्र से ही उठता और पीछा समुद्र में ही प्रविष्ट होता है; उसी तरह सभी पदार्थ आत्मज्ञानी के संकल्प से ही उत्पन्न होते है, उसी में रहते है और उसी में लय होते है—उससे भिन्न कुछ भी नहीं होता। और स्थितप्रज्ञ को किसी भी वस्तु की बाहर से प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती, अतः उसका आचरण व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होता है। शरीर के रहते और उसको छोड़ते समय भी उसकी यही आत्मनिष्ठ ब्राह्मी स्थिति निरन्तर बनी रहती है। जगत् के किसी भी पदार्थ और व्यवहार के विषय में वह मोहित नहीं होता। इसी ब्राह्मी स्थिति में वह सब प्रकार के व्यवहार करता है, और उस पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तीसरा अध्याय

गीता का प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से करने का विधान—जो संक्षेप में सूत्र रूप से भगवान् ने दूसरे अध्याय में कहा है, उसको अच्छी तरह समझाने के लिए उसी की विस्तृत व्याख्या शेष सोलह अध्यायो में विविध प्रकार से की गई है। उक्त व्याख्या का प्रारम्भ करने के लिए, इस तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के प्रश्न-रूप से पूर्व-पक्ष उठाया गया है। जिसके उत्तर में भगवान् पहले उक्त साम्यभावयुक्त जगत् के व्यवहार करने-रूपी यज्ञ की अवश्य-कर्तव्यता का निरूपण करते हैं।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन! यदि आपके मत में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो आप मुझे इस (युद्ध के) घोर (हिंसात्मक) कर्म में क्यो लगाते हो? (१) मिले हुए से (द्विविध) वचनो से आप मेरी बुद्धि को मोहित करते हो—ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है; इसलिए निश्चय करके वह एक ही मार्ग या विधि बताइए कि जिससे मुझे श्रेय की प्राप्ति हो (२)।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि हे अनघ ! मैंने पहले इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) कही—साख्यो (तत्त्वज्ञानियो) की ज्ञान-योग (आत्मज्ञान) के अवलम्बन-युक्त, और (समत्व) योगियो की कर्म-योग के अवलम्बन-युक्त (३) । कर्म का आरम्भ न करने ही से मनुष्य निष्कर्मी नहीं हो जाता; और न संन्यास ले लेने ही से सिद्धि मिलती है (श्रेय-साधन होता है) (४) । क्योकि कर्म किये बिना क्षण भर भी कभी कोई रह नहीं सकता; प्राकृतिक अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणो से विवश होकर सब को (सदा कुछ-न-कुछ) कर्म करना ही पड़ता है (५) । जो मूर्ख कर्मेन्द्रियो (हाथ, पैर आदि) को रोक कर, मन से इन्द्रियो के विषयों का चिन्तन करता हुआ बैठा रहता है, वह

मिथ्याचारी (दम्भी) कहा जाता है (६)। परन्तु हे अर्जुन ! जो इन्द्रियों का मन से नियन्त्रण करके अनासक्त बुद्धि से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म-योग का आरम्भ करता है, अर्थात् सबकी एकता के साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करता है—वही श्रेष्ठ है (७)। तू (अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार) नियत कर्म* अर्थात् अपने कर्तव्य-कर्म कर; कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं हो सकेगी, अर्थात् कर्म किये बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता (८)। यज्ञ के लिए, अर्थात् संसार-चक्र को अच्छी तरह चलाने में सहयोग देने के लिए किये जाने वाले कर्तव्य-कर्मों के अतिरिक्त, (केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए) जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही ये लोक बँधते हैं। तू संग रहित होकर अर्थात् दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर, उपरोक्त यज्ञ के लिए कर्म अच्छी तरह करता रह (९)। आरम्भ में (सृष्टि-रचना के अधिदेव, समष्टि-संकल्परूप) प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ सहित, अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म—जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था, भलाई एवं उन्नति रूप लोक-संग्रह के लिए—करने के विधान सहित, प्रजा को रच कर कहा (प्रेरणा की) कि इस यज्ञ-चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे अर्थात् तुम इससे फलो फूलो; वह यज्ञ-चक्र तुम्हारे इच्छित पदार्थों को देने वाला (कामधेनु) होवे। तात्पर्य यह कि संसार स्वभाव से ही यज्ञमय है और यज्ञ पर ही निर्भर है, अर्थात् संसार की यह स्वाभाविक व्यवस्था है कि सब कोई अपने-अपने कर्तव्य पालन करके एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करे तभी वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न रह सकता है (१०)। तुम इस (यज्ञ) से देवताओ को पुष्ट करो और वे देवता तुम्हें पुष्ट करें; इस तरह आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होवोगे। तात्पर्य यह कि संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने के योग से, जगत् को धारण एवं पालन करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पुष्ट (पूरित) होती है, और उन समष्टि शक्तियों के पुष्ट होने से ही प्रत्येक व्यक्ति की सब

---

*अपने शरीर के स्वाभाविक गुणो के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो, वे ही अपने लिए नियत कर्म है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि जिन स्वाभाविक गुणो के साथ शरीर उत्पन्न होता है, वे ही सदा वने रहे। मनुष्य-शरीर मे शिक्षा, सग और अनुभव आदि के प्रभाव से अपने स्वभाव (प्रकृति) को वदलने की भी योग्यता होती है। इसलिए जिस अवस्था में जिसके जो स्वाभाविक गुण हो, उन्ही के अनुसार उसके नियत कर्म होते है।

प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इस तरह आपस में एक दूसरे के उपकार अथवा सेवा करते रहने से सबका कल्याण होता है (११)। यज्ञ से पुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे; परन्तु उन (देवताओ) का दिया हुआ पीछा दिये विना, जो व्यक्ति (सब भोग्य पदार्थ) केवल आप ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जगत् को धारण-पोषण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होती हैं, तब उनसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संसार के सभी भोग्य पदार्थ सब की सम्मिलित शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो व्यक्ति उन सार्वजनिक पदार्थों से केवल अपनी ही व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति करके दूसरो को उनसे वञ्चित रखता है, वह सबकी चोरी करता है (१२)। यज्ञ से बचे हुए भाग को भोगने वाले सज्जन पुरुष सब पापो से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं वे पापी पाप को भोगते हैं। तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जो पदार्थ प्राप्त हो, उनसे दूसरो की आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करते हुए जो सज्जन अपनी आवश्यकतानुसार उन्हे भोगते हैं, वे पाप के भागी नहीं होते; परन्तु जो दूसरो की आवश्यकताओ की उपेक्षा करके केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, वे पाप कमाते हैं (१३)। अन्न* अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत-प्राणी होते हैं; पर्जन्य* अर्थात् समष्टि उत्पादक (दैवी) शक्ति से अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ होते हैं; यज्ञ* से समष्टि उत्पादक (दैवी) शक्ति होती है; और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-

---

*प्राय दूसरी टीकाओ में "अन्न" शव्द का अर्थ वर्षा से उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थ, और "पर्जन्य" शव्द का अर्थ मेघ अथवा वर्षा, तथा "यज्ञ" शव्द का अर्थ अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड, किये गये हैं, परन्तु ये अर्थ वहुत ही सकुचित हैं। क्योकि सारे भूत-प्राणी केवल वृष्टि-जन्य अन्न से ही नही होते, किन्तु वहुत से प्राणी मासाहारी हैं और अनेक प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि अथवा वायु से ही होते एव उन पर निर्भर रहते हैं। जगत् में सभी पदार्थ परस्पर में भोक्ता-भोग्य अर्थात् एक दूसरे की खुराक हैं। वर्षा का होना भी केवल अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्डो पर ही निर्भर नही है। जिन देशो में ये कर्मकाण्ड नही होते वहाँ भी वर्षा बहुतायत से होती है। इसलिए "अन्न" शव्द का व्यापक अर्थ "सभी भोग्य पदार्थ"—चाहे वे वर्षा से उत्पन्न हो या और तरह से, तथा "पर्जन्य" शव्द का व्यापक अर्थ "समष्टि उत्पादक शक्ति" —चाहे वह वर्षा रूप में हो अथवा अन्य रूपो मे और "यज्ञ" शव्द का व्यापक अर्थ "सभी के अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करना", अधिक उपयुक्त है। सबके अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने ही से जगत् की समष्टि उत्पादक शक्ति वनती है, जिससे प्राणीमात्र के भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

कर्म यथावत् करने से होता है (१४)। कर्म को प्रकृति-रूप ब्रह्म से, और प्रकृति को अक्षर अर्थात् समष्टि-आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान; इसलिए सर्वव्यापक प्रकृति-रूप ब्रह्म सदा ही यज्ञ में अर्थात् संसार-चक्र को चलाने में स्थित है। (१५) इस तरह, (जगत् के धारणार्थ) प्रवृत्त हुए यज्ञ-चक्र के अनुसार जो इस जगत् में नहीं वर्तता, उसकी आयु पाप-रूप है और उस इन्द्रिय-आरामी का जीना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति इस संसार के खेल में, अपने व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की सबके साथ एकता करके अपने हिस्से के स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म करने द्वारा दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होकर संसार-चक्र को चलाने में योग नहीं देता, किन्तु केवल अपने व्यक्तिगत सुख या आराम के लिए निरुद्यमी होकर जीवन व्यतीत करता है, उसका जीना निरर्थक है (१६)। परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत, और आत्मा ही में तृप्त एवं आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जिसको सर्वत्र एक आत्मा यानी, अपने आपके एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, उसके अपने लिए (कोई) कार्य (अवश्य-कर्तव्य) नहीं रहता। न तो संसार में कुछ करने से ही उसका अपना कोई प्रयोजन होता है और न नहीं करने से ही; तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों से उसका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसको अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करना नहीं पडता, किन्तु वह इस जगत्-रूपी अपने खेल के लिए स्वतन्त्रता से लोक-हित के व्यवहार करता है। उसके व्यवहारों में कर्मरूपता नहीं रहती, क्योंकि उसको अपने व्यक्तित्व के लिए कुछ भी करना अथवा न करना शेष नहीं रह जाता, और अपने से भिन्न कर्ता, कर्म, क्रिया आदि के भाव भी उसमें नहीं रहते (१७-१८)। इसलिए तू दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर (सबके साथ एकता के साम्य-भाव से) अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने कर्तव्य-कर्म सदैव अच्छी तरह तत्परता से करता रह; क्योंकि व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर कर्म करने वाला मनुष्य परमात्म-भाव में स्थित होता है (१९)। जनक आदि (अनेक ज्ञानी पुरुष, इस प्रकार) कर्म करते हुए ही (आत्मानुभवरूपी) परम सिद्धि में स्थित रहे हैं, अर्थात् सर्वात्म-भाव से जगत् के व्यवहार करते रहे हैं; अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से अर्थात् जगत् और समाज की सुव्यवस्था के लिए तुझे भी कर्म करना ही योग्य है (२०)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, दूसरे साधारण मनुष्य भी उसी के अनुसार किया करते हैं; वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण (मान कर) करता है, (दूसरे) लोग उसी का अनुकरण करते हैं (२१)। हे पार्थ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ (२२)। क्योंकि यदि मैं कभी तत्परता से कर्म न करूँ, तो हे पार्थ! लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लग जायँ, अर्थात् सब लोग काम करना छोड़ दें (२३)। (अतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायँ; और वर्णसंकरता

उत्पन्न करने वाला तथा इन प्रजाओ को बिगाड़ने वाला मैं ही होऊँ। तात्पर्य यह कि यदि मैं तत्परता से कर्म न करूँ तो मेरा अनुसरण करके लोग अपने-अपने वर्ण के कर्म छोड दें, जिससे सारी प्रजा नष्ट हो जाय (२४)। हे भारत ! अज्ञानी लोग (पृथक् व्यक्तित्व के भाव की) आसक्तिपूर्वक (पराधीनता से) जिस तरह कर्म किया करते है, ज्ञानी पुरुष व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था की इच्छा से, (स्वाधीनतापूर्वक) उसी तरह कर्म करें (२५)। विद्वान् पुरुष (स्वयं कर्म करना छोड़ कर), कर्मो मे आसक्ति रखने वाले अज्ञानियो की बुद्धि में भेद अर्थात् विपर्यास उत्पन्न न करे, किन्तु (स्वयं सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से) युक्त होकर (सब प्रकार के कर्म) अच्छी तरह तत्परतापूर्वक करता हुआ उनको भी सारे कामो में लगावे (२६)। सभी कर्म प्रकृति के गुणो द्वारा होते हैं, अर्थात् सबके स्वाभाविक गुणो के परस्पर गुणन से ही सब प्रकार के कर्म हुआ करते है, पर दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहकार में डूबा हुआ मूढ पुरुष ऐसा मानता है कि "मै ही करता हूँ" (२७)। परन्तु हे महाबाहो ! गुण-कर्म-विभाग के रहस्य का ज्ञाता (तत्त्वज्ञानी) पुरुष यह जान कर कि गुण गुणो में वर्त रहे है, कर्मों में आसक्त नहीं होता, अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष को इस बात का ज्ञान होता है कि सबकी सम्मिलित समष्टि प्रकृति के तीनो गुणो के तारतम्य से उत्पन्न, अनन्त प्रकार के स्वभाव वाले शरीरो द्वारा ही उक्त तीनो गुणो के तारतम्य के अनन्त प्रकार के कर्म होते है। यानी कर्ता और कर्म सब त्रिगुणमय है (गी० अ० १८ श्लो० २३ से २८), इसलिए गुण ही गुणों में वर्त रहे है—अपने आप (आत्मा) को वह इन सबका आधार, सबका प्रेरक और सबका स्वामी जानता है—अत. वह कर्मों के अधीन नहीं होता, किन्तु अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए स्वाधीनतापूर्वक कर्म किया करता है (२८)। अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणो के उक्त रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे गुणो और कर्मो में उलझे हुए (उनके अधीन) रहते है; उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि लोगो को तत्त्वज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष (कर्म करने से) विचलित न करे (२९)। श्लोक १९ से २९ तक का तात्पर्य यह है कि जिनको आत्मज्ञान नहीं होता, वे स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरो ही में अहंभाव रखते है यानी शरीरो ही को "अपना आप" मानते है, इसलिए उनकी अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्ति रहती है और उस आसक्तिपूर्वक ही वे सासारिक व्यवहार करते है। उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि यह जगत् सबके एकत्व-भाव यानी समष्टि-आत्मा=परमात्मा के स्वभाव (प्रकृति) के तीन गुणो का खेल है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा की इच्छा-रूप प्रकृति के गुणो के परस्पर गुणन से जगत् के सब कर्म होते है। इस रहस्य को न जान कर एवं पृथकता को सच्ची मान कर, वे अपने व्यक्तित्व को ही कर्मो का कर्ता मानते है, और इस कर्तापन के अहकार के कारण कर्मों को दु.ख और बन्धन-

रूप मान कर वे उन्हें छोड़ कर संन्यास लेने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी पुरुष की सर्वात्म-भाव में स्थिति होने के कारण उसकी दृष्टि में अपने आप (आत्मा) से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, न अपने (आत्मा) से भिन्न उसका कोई स्वार्थ ही शेष रहता है। इसलिए वह केवल लोक-संग्रह के निमित्त लोगों को पथप्रदर्शन कराने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म किया करता है। यद्यपि आत्मज्ञानी को अपने लिए न तो कोई कर्म करना ही आवश्यक होता है और न कर्म छोड़ने ही का कोई प्रयोजन रहता है। वह कृत-कृत्य होता है, इसलिए शरीर के रहने व न रहने से भी उसका कोई प्रयोजन अथवा हानि-लाभ नहीं होता। परन्तु जिन लोगो को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनके लिए तो अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार सब प्रकार के कर्म करना ही आवश्यक होता है; क्योकि आत्मज्ञान की प्राप्ति का साधन शरीर है, और शरीर का निर्वाह सबके अपने-अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यता के कर्म करने द्वारा समाज और जगत् के सुव्यवस्थित रहने पर ही निर्भर रहता है; और यदि आत्मज्ञानी कर्म करना छोड़ दे तो अज्ञानी लोग भी—यह समझ कर कि जब आत्मज्ञानी लोग कर्म नहीं करते तो कर्म न करने ही में सुख अथवा कल्याण होगा—उन (आत्मज्ञानियो) की देखादेखी अपना-अपना स्वाभाविक कर्म छोड़ दें, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाय; क्योकि शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट तो सकते नहीं। अतः जब देहाभिमानी अज्ञानी लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करना छोड़ दें, तो या तो वे विवश होकर दूसरे विरुद्धाचरण करने में प्रवृत्त हो जायें अथवा निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जायें, जिससे जगत् और समाज की घोर अव्यवस्था होकर, कल्याण के साधन—शरीरो का निर्वाह होना ही असम्भव हो जाय। इसलिए तत्त्वज्ञानी महापुरुष कर्म करना छोड़ कर अज्ञानी लोगो को विरुद्धाचरण में प्रवृत्त करने तथा आलसी एवं प्रमादी बनाने का कारण उत्पन्न नहीं करते, किन्तु स्वयं अपने शरीरो की योग्यतानुसार सब प्रकार के कर्म अनासक्त बुद्धि से करते हुए दूसरे को भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसी तरह कर्म करने का आदर्श दिखाते रहते हैं। कर्म न करने के लिए तो किसी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु ज्ञानपूर्वक कर्म करने के लिए तत्त्वज्ञानी लोगों के आचरण ही अनुकरणीय होते हैं (२५ से २९)।

(इसलिए) तू सब कर्मो का अध्यात्म-बुद्धि से मुझ (सर्वात्मा=परमात्मा) में संन्यास करके, आशा और ममता से रहित होकर, एवं शोक-सन्ताप छोड़ कर युद्ध कर। तात्पर्य यह कि तू आत्मज्ञान से युक्त होकर यानी सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर तथा कर्मो से केवल व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की आशा, एवं शरीर के सम्बन्धियो की ममता से रहित होकर, जगत की सुव्यवस्था एवं सबके हित के लिए, युद्धरूपी अपना कर्तव्य-कर्म

(मरने, मारने, अधर्म, पाप एव नरक आदि सब प्रकार की) चिन्ता छोड़ कर अच्छी तरह उत्साहपूर्वक कर (३०)।

स्पष्टीकरण—दूसरे अध्याय में भगवान् ने पहले आत्मज्ञान का निरूपण किया जो केवल बुद्धि का विषय है; फिर अपने-अपने कर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म पालन करने की आवश्यकता बता कर सबके साथ अपनी एकता की साम्य-बुद्धि से कर्म करने का विधान करके सर्वत्र बुद्धि ही की प्रधानता का प्रतिपादन किया। इस पर यह शंका सहज ही उठती है कि जब सारा दार-मदार बुद्धि पर ही है, तो फिर कर्म करने की आवश्यकता ही क्या है? केवल बुद्धि को आत्मज्ञान में स्थित करके सब कुछ छोड़-छाड़ कर शान्ति से बैठे हुए अपना श्रेय-साधन ही क्यों न किया जाय? इसके अतिरिक्त सबकी एकता के साम्य-भाव में बुद्धि को स्थित करने के उपदेश के साथ लड़ाई जैसे घोर हिंसात्मक कर्म करने का विधान अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होता है; अतः इन विरोधी भावों का मेल कैसे हो सकता है? युद्ध जैसा घोर कर्म करते हुए बुद्धि-साम्य-भाव में स्थित कैसे रह सकती है? इन दोनों विरोधी मार्गों में से वास्तविक श्रेयस्कर मार्ग कौन सा है—इसका यथार्थ निर्णय होना नितान्त ही आवश्यक है। अर्जुन के इस आशय के प्रश्न के उत्तर में भगवान् विस्तारपूर्वक कर्म करने की आवश्यकता और अनिवार्यता का निरूपण करते हुए कहते है कि मैंने जो पहले आत्म-ज्ञान का और फिर साम्य-बुद्धि से कर्म करने का वर्णन किया है, उसका अभिप्राय अलग-अलग निष्ठाओ अर्थात् शरीर-यात्रा के जुदे-जुदे मार्गों के विधान करने का नहीं है, किन्तु एक ही ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मविद्या को अच्छी तरह समझाने के लिए पहले तत्त्वज्ञानियो का निर्णय किया हुआ आत्मज्ञान कह कर फिर उसी आत्मज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्म करने (ज्ञान-कर्म-समुच्चय) का विधान कहा है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म की अलग-अलग कर्तव्यता नहीं कही है, किन्तु एक ही व्यावहारिक ब्राह्मी स्थिति अथवा यथार्थ ब्रह्मनिष्ठा कही है। ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है, किन्तु ये एक दूसरे के सहायक हैं; क्योकि बुद्धि का धर्म (सूक्ष्म) विचार करना है और इन्द्रियो का धर्म (स्थूल) कर्म करना। अस्तु, बुद्धि ज्ञान (विचार) में लगी रहे और इन्द्रियाँ बुद्धि के निर्णयानुसार अपने-अपने कर्म करती रहें—इस तरह ज्ञानयुक्त कर्म होते है। बुद्धि-युक्त प्राणियो के कर्म ज्ञान सहित ही होते है—चाहे वह ज्ञान यथार्थ हो या अयथार्थ। जिनकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती है उनके सभी व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से होते है—उनमें उनके पृथक् व्यक्तित्व का भाव और व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, अत. न तो उनकी किसी से प्रीति होती है और न विरोध। वे जो कुछ करते है वह सबके हित के लिए होता है; इसलिए उनके कर्म घोर (हिंसात्मक) होते हुए भी वास्तव में सौम्य (अहिंसात्मक) ही होते हैं। कर्मों में स्वयं अच्छापन या बुरापन कुछ भी नहीं है—अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निर्भर रहता है। सबके साथ अपनी एकता के भाव से किये

हुए कर्म, स्थूल दृष्टि से बुरे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में बुरे नहीं होते, किन्तु अच्छे ही होते हैं; और पृथक्ता के भाव से किये हुए कर्म, ऊपर से अच्छे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अच्छे नहीं होते, किन्तु बुरे ही होते हैं। आत्म-ज्ञान की समत्व-बुद्धि का कर्मों से कोई विरोध नहीं है, चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हो या सौम्य (अहिंसात्मक); और न आत्म-निष्ठ बुद्धि पर कर्मों का कोई प्रभाव ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन लोगो की सबके साथ एकता के साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं, अतः उनके लिए कर्म करने अथवा छोड़ने के लिए कुछ भी नहीं रहता। यह जगत-प्रपंच उनके समष्टि भाव की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल होता है, अतः वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते। परन्तु जिन लोगो को यह आत्मज्ञान नहीं है, वे यदि हाथ-पैर बाँध कर निकम्मे बैठे रहें अथवा संन्यास लेकर लौकिक व्यवहार छोड़ दें, तो भी कर्म-त्याग का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योकि लौकिक व्यवहार न करके निकम्मे बैठे रहना तथा व्यवहार छोड़ना भी तो कर्म ही है, और जब कर्म न करने अथवा त्याग देने के व्यक्तित्व का अहंकार बना हुआ है, तब न तो कुछ त्यागा गया और न यथार्थ ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति ही हुई। ब्राह्मी स्थिति तो पृथक् व्यक्तित्व की सबके साथ एकता करने से, अर्थात् भिन्नता के भाव मिटाने से होती है, न कि भेद-भावयुक्त त्याग करने से। शरीर और जगत् अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक खेल है, अतः इस खेल में तीनो गुणो का तारतम्य बना रहना अनिवार्य है। इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो नहीं सकता। सत्वगुण ज्ञानात्मक और सुखात्मक है, रजोगुण रागात्मक और क्रियात्मक, तथा तमोगुण जड़ात्मक है; इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में कोई भी व्यक्ति कुछ-न-कुछ किये बिना कभी रह ही नहीं सकता—अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार कर्म सबको करने ही पड़ते हैं, चाहे वह हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियो द्वारा करे, अथवा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, अथवा मानसिक संकल्प-विकल्पो द्वारा, अथवा बुद्धि के विचारो द्वारा करे—शरीर के रहते कर्म सर्वथा छूट नहीं सकते। यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेकर एकान्त स्थान में जा बैठे, तो भी अपने खाने-पीने आदि के व्यवहार तो विवश होकर उसे भी करने ही पड़ते हैं; क्योकि त्रिगुणात्मक प्रकृति-जन्य शरीर के स्वाभाविक धर्म—भूख, प्यास आदि तो शरीर के रहते छूट ही नहीं जाते। यदि हठ से शरीर के प्राकृतिक वेगो को रोका जाय, तो मन से तो उनका चिन्तन छूट ही नहीं सकता; और अपनी व्यक्तिगत कल्याण की कामना भी बनी ही रहती है। तात्पर्य यह कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्म तो शरीर से अथवा मन से होते ही रहते हैं, केवल दूसरो की सेवा के अथवा लोक-संग्रह अर्थात् संसार-चक्र को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में योग देने के कर्म छूटते हैं; परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के अहंकार से संन्यास लेने वाला पुरुष अपने शरीर की आवश्यकताएँ तो दूसरो

की सेवा द्वारा पूरी कराता है, परन्तु स्वयं दूसरो के लिए कुछ भी नहीं करता। यह मिथ्याचार अथवा पाखण्ड है। इसलिए सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि आत्मज्ञान से इन्द्रियो को अपने वश में रखते हुए, अपने शरीर के स्वाभाविक गुणों के अनुसार जिन कर्मों के करने की योग्यता हो उनको, जगत् के व्यवहार यथायोग्य चलाने रूपी यज्ञ के लिए सबको अवश्य करते रहना चाहिए। यदि संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न किये जायँ, तो अपने शरीर का भी निर्वाह नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी। क्योकि संसार में जितने चेतन एवं जड़ पदार्थ है, वे एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा भोक्ता-भोग्य (एक दूसरे के काम में आने वाले) एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले—सेवक-सेव्य) हैं, अर्थात् आपस में एक दूसरे की सेवा करे तभी सबका निर्वाह हो सकता है; इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपने व्यष्टि अहंकार से अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म न करे, तो दूसरो से अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी कराके जीवित रहने का उसे कोई अधिकार नही रहता, क्योकि यदि इस तरह सब कोई अपने-अपने कर्म करना छोड़ दें तो फिर किसी का भी जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

जड सृष्टि और पशु-पक्षी आदि तो सर्वथा प्रकृति के अधीन रहते है, अतः वे स्वभाव ही से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते है। उनमें न तो प्रकृति के विरुद्ध कर्म करने की और न अपने स्वाभाविक कर्तव्यो की अवहेलना करके उन्हें छोड़ने की योग्यता ही होती है। वे अपने शरीरो को भी प्राकृत अवस्था में रखते है, और अपने शरीरो की सब प्रकार की आवश्यकताओ के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहते है। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) के शरीर में आत्मविकास की विशेषता होने के कारण वह प्रकृति के सर्वथा अधीन नहीं रहता, किन्तु उस पर शासन करने के प्रयत्न में लगा रहता है। वह प्रकृति को अपने अधीन करके उससे काम लेता है। वह अपने शरीर को प्राकृत अवस्था में ही रख कर संतोष नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के उपचारो से वह उसके रंग-रूप में ही नहीं, किन्तु बनावट में भी फेर-फार करता रहता है, और शरीर के स्वाभाविक गुणो को भी बदलता रहता है। शरीर की आवश्यकताओ के लिए वह सर्वथा प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहता, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों को वह उनकी प्राकृत अवस्था में ही उपयोग में लेकर सन्तोष नहीं करता, किन्तु उनका प्रकृति द्वारा ही अच्छी तरह संस्कार करके उन्हें काम में लेता है; और अनेक पदार्थों को वह अपनी इच्छा से प्रकृति द्वारा उत्पन्न भी करवाता है। खाद्य पदार्थ जितने और जिन रूपो में प्रकृति द्वारा स्वतः उपजते है, उन्हें पशु-पक्षियो की तरह वह उतने ही और उसी अवस्था में नहीं खा लेता, किन्तु खेती आदि व्यवसायो से विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रकृति द्वारा उत्पन्न कराता है, और उनका विविध प्रकार से योग करके, तथा भाँति-भाँति की क्रियाओ से संस्कार करके खाता है। शरीर को सुरक्षित रखने के लिए वह प्राकृतिक आश्रयो में ही नहीं रहता, अर्थात् वह गुफाओ, कन्दराओ अथवा वृक्षादि की ओट में

ही शरीर की रक्षा नहीं करता और न नंगा ही रहता है, किन्तु प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग से विशाल भवन आदि बना कर उनमें रहता है, तथा भाँति-भाँति के वस्त्र बना कर पहिनता है। जो जितना ही अधिक उन्नत होता है, उतना ही अधिक वह प्रकृति पर विजय पाता है। मनुष्य-देह में इतनी योग्यता है कि वह अपने पुरुषार्थ से प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त करके उस पर आधिपत्य कर सकता है, और सर्वात्म-भाव से उसका समावेश भी "अपने आप" में कर सकता है। परन्तु समष्टि-भाव में पूर्ण रूप से स्थित होने से, अर्थात् सबके साथ पूर्ण एकता होने से ही ऐसा हो सकता है। जब तक व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति रहती है, तब तक प्रकृति की अधीनता से छुटकारा नहीं हो सकता—चाहे कोई गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक व्यवहार करे अथवा संन्यास लेकर काम करना छोड़ दे। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म किये जायँ अथवा छोड़े जायँ, दोनों ही अवस्थाओं में वे बन्धन के हेतु होते हैं; परन्तु संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ में योग देने के लिए, सबके साथ सहयोग रखते हुए, एवं सबके साथ शृंखलाबद्ध होकर अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से कोई बन्धन नहीं होता; और न उनसे कोई पाप ही लगता है—चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हो या सौम्य (अहिंसात्मक); क्योंकि जगत् की रचना स्वभाव से ही यज्ञमय है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से ही जगत् बनता और स्थिर रहता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि प्रत्येक भौतिक द्रव्य का और जगत् की प्रत्येक हलचल का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव, उसका अधिदेव अर्थात् देवता कहा जाता है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के आँखो से देखने, कानो से सुनने, नाक से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने, जिह्वा से स्वाद लेने, मुख से खाने, वाणी से बोलने, बुद्धि से विचार करने एवं हाथों से काम करने आदि प्रत्येक व्यष्टि व्यवहार-शक्ति का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव उसका अधिदेव अर्थात् देवता होता है—जैसे आँखों से देखने की शक्ति का समष्टि-भावापन्न देवता आदित्य, कानो से सुनने का देवता दिक्पाल, नाक से सूँघने का देवता अश्विनीकुमार, त्वचा से स्पर्श करने का देवता वायु, जिह्वा से स्वाद लेने का देवता वरुण, मुख से खाने का देवता अग्नि, वाणी से बोलने का देवता सरस्वती, बुद्धि से विचार करने का देवता बृहस्पति एवं हाथो से काम करने का देवता इन्द्र माना जाता है, इत्यादि। इस तरह अनन्त प्रकार के व्यष्टि व्यवहारो के समष्टि-भावापन्न अगिणत देवता है। इन समष्टि शक्तियो रूपी देवताओ के अपने-अपने व्यापार करने से सारे जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड का धारण, पोषण एवं संचालन होता है; और प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पिण्ड की व्यष्टि शक्तियो के व्यापारो के योग ही से ब्रह्माण्ड की समष्टि शक्तियों के व्यापार होते है, क्योकि सब पिण्डो का योग ही ब्रह्माण्ड है, अतः पिण्डो के व्यापारो के योग ही ब्रह्माण्ड के व्यापार हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता होने के कारण जो कुछ प्रत्येक व्यष्टि शरीर अर्थात् पिण्ड

में व्यष्टि रूप से है, वही अखिल जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड में समष्टि रूप से है। तात्पर्य यह कि व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों के योग से समष्टि जगत् पूरित होता है, और समष्टि जगत् से व्यष्टि जगत् का धारण, पोषण एवं संचालन होता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी होती है। अतः सबके यथायोग्य कर्म करने से ही यह संसार-चक्र ठीक-ठीक चलता रहता है।

जिस तरह समष्टि जगत् (ब्रह्माण्ड) का अस्तित्व सब (प्रत्येक पिण्ड) के अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर निर्भर है, उसी तरह मानवीय जगत् अर्थात् मनुष्य समाज का अस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वाभाविक गुणो* की योग्यता-नुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर ही निर्भर रहता है। सत्व-रज-मिश्रित गुणो की प्रधानता वाले मनुष्य (स्त्री-पुरुष), ज्ञान और विज्ञान आदि की शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का सम्पादन करें, रज-सत्व-मिश्रित गुणो की प्रधानता वाले, शासन और रक्षा का कार्य करें, रज-तम-मिश्रित गुणो की प्रधानता वाले, पदार्थों को उपजाने और उनके व्यवसाय एवं विनिमय का कार्य करे, और तम-रज-मिश्रित गुणो की प्रधानता वाले, शारी-रिक श्रम से कला-कौशल और सेवा आदि का कार्य करे; तथा उपरोक्त सभी वर्गो के लोग जीवन के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य-व्रत से रह कर शारीरिक एवं मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार विद्याध्ययन करे, जीवन के द्वितीय भाग में गृहस्थाश्रम में रह कर अपनी-अपनी योग्यतानुसार जगत् के उपरोक्त व्यवहार करें, जीवन के तृतीय भाग में अपनी-अपनी योग्यतानुसार विशेषतया समाज-सेवा के कार्य करें, और जीवन के चतुर्थ भाग में अपनी विद्या-बुद्धि एवं तीनो अवस्थाओ में संचित किये हुए अनुभव का लाभ, लोगो को सदुपदेश एव सत्परामर्श देने द्वारा पहुँचावें, तभी समाज सुव्यवस्थित रह सकता है। मनुष्य समाज इसी यज्ञ के आधार पर निर्मित एवं अवस्थित है, और यह यज्ञ सबके हित के लिए अवश्य-कर्तव्य है। यदि मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न करे तो समाज नष्ट हो जाय। शिक्षक वर्ग के लोग ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और उन्नति न करें तो अशिक्षित जनता में किसी भी काम के करने की योग्यता न रहे; रक्षक वर्ग के लोग शासन और रक्षा का काम न करे तो समाज में उच्छृखलता आ जाय और अपने-अपने कर्म करने के लिए किसी को भी सुविधा न रहे; व्यवसायी लोग पदार्थ उत्पन्न करके उनके क्रय-विक्रय आदि का व्यवसाय न करें तो लोगो को शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ ही न मिलें; और श्रमी लोग यदि शिल्प और सेवा का कार्य न करे तो दूसरे वर्ग वालो का कोई भी कार्य-सम्पादन

* गुणो के अनुसार कार्य-विभाग की चतुर्वर्ण-व्यवस्था का विशेष खुलासा १८वें अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के तात्पर्य में किया गया है।

न हो सके। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने-अपने जीवन की चारों अवस्थाओं में उपरोक्त चारो आश्रमो के व्यवहार करना भी आवश्यक है।* तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म आपस की एकता के सहयोग से यथावत् करने से ही समाज की स्थिति रह सकती है; और जिस तरह मनुष्य समाज की स्थिति के लिए सब वर्गों के लोगो को अपना-अपना कर्तव्य पालन करना आवश्यक है, उसी तरह जगत् की स्थिति के लिए भी सबको अपना-अपना कर्तव्य पालन करना आवश्यक है; क्योकि सबके अपने-अपने कर्तव्य-कर्म आपस की एकता के भाव से करने रूपी यज्ञ से सब भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और भोग्य पदार्थो पर ही सारे भूत-प्राणियो का अस्तित्व निर्भर है। जिस तरह शरीर के भिन्न-भिन्न अंग अपने-अपने स्वाभाविक कार्य, आपस की एकता के सहयोग से करे, तभी शरीर का निर्वाह हो सकता है। उसी तरह सब स्थावर-जंगम भूत-प्राणी जगत् रूपी शरीर के अंग हैं, और वे सभी अपने-अपने स्वाभाविक कार्य—सबकी एकता के सहयोग से—जगत् के हित को लक्ष्य में रखते हुए करें, तभी यह संसार-चक्र ठीक-ठीक चल सकता है।

इस संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ के लिए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होते हैं, इसलिए अपना स्वभाव अर्थात् प्रकृति सब कर्मो का कारण है; और सबके स्वभाव अर्थात् समष्टि प्रकृति का आधार, सबका एकत्व-भाव अर्थात् समष्टि-आत्मा=परमात्मा है। अतः जो कोई सबके एकत्व-भाव के इस यज्ञ की अवहेलना करके दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही काम करता है अथवा उन्हें छोड़ देता है, वह चोर होता है। जगत् में सभी पदार्थ एक दूसरे के सहयोग एवं सबकी सम्मिलित शक्ति से उत्पन्न होते हैं। उन सार्वजनिक पदार्थों के उपयोग से दूसरो को वंचित रख कर जो उनको केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के काम में लेता है, वह दूसरो का हक छीनता है; इसलिए वह चोरी करने का अपराधी है। यदि कोई इस संसार-चक्र को चलाने में अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने का योग न देकर, अपने व्यक्तिगत आराम अथवा शान्ति के लिए आलसी और निरुद्यमी होकर बैठ जाय, तो उसका मनुष्य होना, न होने के बराबर है;

---

* यद्यपि समाज की सुव्यवस्था के लिए चार प्रकार की प्रधान आवश्यकताएँ होने के कारण मनुष्य समाज को, स्वाभाविक गुणो की प्रधानता के अनुसार चार वर्गों में विभक्त किया गया है, जिसको आर्य-संस्कृति में वर्णाश्रम-व्यवस्था कहते हैं; परन्तु सत्व, रज और तम भेद से तीन गुणो के सम्मिश्रण का अनन्त प्रकार का तारतम्य होता है और इसी तारतम्य के अनुसार मनुष्यो में कर्म करने की योग्यता की भी अनन्त श्रेणियाँ होती है। इसलिए प्रत्येक वर्ग के कार्य करने वालो में भी गुणो के तारतम्य के अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं, अत. अपने-अपने गुणो के तारतम्य के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना सबके लिए आवश्यक है।

क्योकि अपने शरीर-निर्वाह के कर्म तो उसको भी करने ही पड़ते है—केवल दूसरो के लिए काम करने से वह जी चुराता है—अतः वह स्वार्थपरता है। अपने पृथक् व्यक्तित्व का भाव तो पशु-पक्षियो में भी होता है और अपने-अपने शरीरो की आवश्यकताएँ प्राकृतिक पदार्थो से वे भी पूरी करते है—इतना ही नहीं, किन्तु वे दूसरो के उपयोग में भी आते है; परन्तु मनुष्य शरीर में सर्वात्म-भाव का ज्ञान प्राप्त करके प्रकृति पर शासन करने की योग्यता होते हुए भी, व्यक्तित्व के भाव से प्रकृति के अधीन रहना, व्यर्थ ही मनुष्य जीवन बिताना है।

इसलिए जगत् के व्यवहार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोड़ कर, सब के साथ एकता के साम्य-भाव से करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सब को देते है; और पूर्व काल में इस तरह आचरण करने वाले, राजा जनक को आदि लेकर आत्मज्ञानियो के उदाहरण पहले देकर, फिर स्वयं अपना उदाहरण देते है कि यद्यपि मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न मुझे किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की आवश्यकता ही है परन्तु क्योकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते है और जिस बात को प्रमाण मानते है, अन्य साधारण लोग भी उन्हीं का अनुसरण करते है, अत. यदि आत्मज्ञानी महापुरुष लौकिक व्यवहार करना छोड़ दें तो साधारण जनता कर्मों को बन्धन और दु.ख-रूप निश्चय करके उनकी देखा-देखी काम करना छोड बैठे, तब केवल समाज ही नहीं किन्तु सारी सृष्टि का क्रम ही नष्ट हो जाय; इसीलिए मैं भी कर्म करता ही रहता हूँ।* इसके अतिरिक्त अज्ञानी लोगो के व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति कर्म

---

*भगवान् ने जो यह कहा है कि तत्त्वज्ञानी लोग यदि लौकिक व्यवहार न करे तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके अपने कर्तव्य-कर्म छोड दें जिससे लोको का नाश हो जाय—ठीक यही हालत इस समय इस देश की हो रही है। जिन लोगो को थोडा या बहुत तत्त्वज्ञान होता है, वे अधिकतर अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए लौकिक व्यवहारो से विरक्त होकर सन्यास ले लेते है अथवा भक्त बन बैठते है, और उनकी देखा-देखी बहुत से दूसरे लोग भी विरक्त अथवा भक्त होने के लिए काम-काज छोड कर आलसी एव निरुद्यमी बन बैठते है, तथा जो लोग लौकिक व्यवहार करते है, वे गुण-कर्म के तत्त्व से अनभिज्ञ रहते है, जिससे स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त का पालन नही करते। अधिकतर लोग तो अपने वश-परम्परागत कर्मों मे ही लगे रहते है—गुणो की योग्यता की आवश्यकता नही समझते, और कई लोग गुणो की अवहेलना करके अपने मनमाने कर्म करने लग जाते है। इसके अतिरिक्त कर्म करने में जैसी तत्परता रखनी चाहिए, वैसी नही रखते। परिणाम यह हुआ है कि इस देश के लोगो की सब प्रकार से अवनति हो गई है और वर्तमान की सकटापन्न अवस्था देखते हुए भविष्य बहुत ही

करने ही से कम होती है, क्योंकि वे लोग अपने शरीरों के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब तथा समाज आदि में ममत्व के कारण उनके लिए भी कर्म करते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व का भाव कम होता जाता है; परन्तु यदि ज्ञानी लोग सांसारिक कर्म करना छोड़ दें तो उनका अनुकरण करके अज्ञानी भी कर्म-त्याग ही को प्रमाण मान कर जगत् के व्यवहार करना छोड़ दें और ऐसा करने से उनके व्यक्तित्व का भाव पुष्ट ही नहीं होता किन्तु उसमें वृद्धि होती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष लौकिक व्यवहार छोड़ कर अज्ञानी लोगों को पथ-भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु स्वयं अनासक्ति पूर्वक अच्छी तरह तत्परता से कर्म करके दूसरो को भी उसी तरह कर्म का मार्ग दिखाते रहते हैं। गुण-कर्म के विभाग को जानने वाला आत्मज्ञानी महापुरुष तो जानता है कि कर्म सब अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और गुण ही गुणो में वर्त कर यह खेल कर रहे हैं, अर्थात् जगत् में सब कोई अपने-अपने गुणो की योग्यता के अनुसार आचरण करके एक दूसरे के साथ वर्ताव करते हैं, ऐसा समझ कर वे तीनो गुणो के सम्मिश्रण के इस खेल में आसक्त नहीं होते*। परन्तु अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के उपरोक्त रहस्य को नहीं जानते, अतः उनकी बुद्धि में यह बात नहीं बैठ सकती कि कर्मो का खेल सबके स्वाभाविक गुणो के तारतम्य द्वारा ही हो रहा है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के अहंकार के कारण वे अपने (व्यक्तित्व) को ही कर्मो का कर्ता मानते हैं; और जो लोग कर्तापन के अहंकार में आसक्त होते हैं, उनको कर्म छोड़ने का अहंकार और भी अधिक होता है; इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरुष उनको अपने स्वाभाविक कर्म करने से विचलित करके उनके व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने में सहायक नहीं होते।

सारांश यह कि आत्मा यानी अपने आप से भिन्न कहीं अन्यत्र से स्वार्थ-सिद्धि होने की आशा से, तथा आत्मा यानी अपने आप से भिन्न पदार्थों में ममत्व की आसक्ति से रहित होकर अपने-अपने शरीरों के स्वाभाविक गुणो के अनुसार लौकिक व्यवहार—चाहे वे घोर-हिंसात्मक हो या सौम्य-अहिंसात्मक—सबके साथ एकता के साम्य-भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए, चिन्ता और भय छोड़ कर प्रसन्नता एवं तत्परता पूर्वक सबको करना चाहिए।

भयकर प्रतीत होता है। इस समय जो उन्नत देश है, उनमें तत्त्वज्ञानी लोग स्वय पूर्णतया तत्परता के साथ लौकिक व्यवहार करके साधारण लोगो को मार्ग दिखाते रहते हैं, और साधारण लोग उनका अनुकरण करके अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार लौकिक व्यवहार करते हैं। इसी कारण वे लोग सुख-समृद्धि-सम्पन्न हैं। इस देश के निवासियो को यदि जीवित रहना है तो भगवान् के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए।

*दूसरे अध्याय के अन्तमें स्थितप्रज्ञ के आचरण का स्पष्टीकरण देखिए।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।। ३१ ।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।। ३२ ।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३३ ।।
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। ३४ ।।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५ ।।

अर्थ—जो लोग दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस नित्य अर्थात् सब काल, सब देश और सबके लिए अनुसरणीय एवं हितकर मत (सिद्धान्त) के अनुसार आचरण करते हैं, वे भी कर्मों के बन्धन से छूट जाते है (३१)। परन्तु जो दोष-दृष्टि करके मेरे (इस नित्य) सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं करते, उन विवेकहीन, सर्व-ज्ञान-विमूढ़ अर्थात् निरे मूर्खों को नष्ट हुए जानो (३२)। ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चेष्टा करता है, (और) भूत-प्राणी (सभी) अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के वश में रहते हैं; वहाँ (जबर्दस्ती) निग्रह क्या करेगा ? तात्पर्य यह कि जब कि आत्मज्ञानी पुरुष के लिए परवशता से कुछ भी कर्तव्य न होने पर भी वह अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक व्यवहार करता रहता है, तो भौतिक शरीरो में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष, जो प्रकृति के अधीन रहते है, वे कर्मों से रहित कैसे हो सकते हैं ? (३३) प्रत्येक इन्द्रिय का अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष स्वभाव से ही नियत है, (परन्तु मनुष्य को) उनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योकि वे ही इस (मनुष्य) के शत्रु है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियो की अनुकूल विषय में प्रीति और प्रतिकूल विषय में द्वेष होना स्वाभाविक है, वे मिट नहीं सकते; परन्तु मनुष्य उनमें आसक्त होकर उनके अधीन न होवे, किन्तु इन्द्रियो को अपने वश में रखता हुआ विषयो में वरते; राग-द्वेष के अधीन होने से ही दुर्दशा होती है (३४)। दूसरों के धर्म का आचरण यदि उत्तम (प्रतीत होता) हो, और अपना धर्म उसकी अपेक्षा हीन (प्रतीत) हो तो भी वही श्रेष्ठ है, अपने धर्म में (व्यक्तित्व का भाव मिटाने रूप) मर जाना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयानक होता है। तात्पर्य यह कि दूसरो के स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार जो कर्म उनके लिए नियत हो, वे यदि सौम्य, उत्तम एव

निर्दोष प्रतीत हों, और अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार नियत कर्म उनकी अपेक्षा क्रूर, वुरे, दोषयुक्त एवं हीन दीखते हों, तो भी अपने लिए अपने ही स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ होते हैं । इसलिए अपने व्यक्तित्व का भाव मिटा कर अर्थात् व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड़ कर सवके साथ एकता के ज्ञान-युक्त अपने स्वाभाविक कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है। अपने स्वाभाविक कर्म करने में यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी कल्याण-कर होती है; परन्तु अपने कर्म छोड़ कर दूसरो के कर्मों में पड़ने से दुर्गति होती है (३५)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक ३ से आरम्भ करके भगवान् ने पहले देहधारी (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) के लिए कर्म करना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य वता कर, फिर तत्त्वज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य (सवकी एकता) के ज्ञानयुक्त, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए किस तरह किया करते हैं कि जिससे वे सव कुछ करते हुए भी कर्मों के वन्धनो से सदा मुक्त रहते हैं— इस विषय का संक्षेप में वर्णन करते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सवको उसी तरह लोक-संग्रह के लिए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का उपदेश श्लोक ३० तक दिया। अव उपरोक्त विधि से अर्थात् सवके साथ अपनी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का माहात्म्य, तथा उनके न करने से हानि वताते हैं। भगवान् कहते हैं कि जिन लोगो की आत्मज्ञान में स्थिति नहीं हुई है, वे भी मेरे (सर्वात्म-भावापन्न भगवान् श्रीकृष्ण के) इस सार्वभौम, सार्वजनिक एवं सदा एक समान उपयोगी, सनातन उपदेश में विश्वास करके श्रद्धापूर्वक एवं दोष-दृष्टि से रहित होकर इसके अनुसार वरते, यानी जगत् की एकता के विश्वास सहित सवके साथ साम्य-भाव से, अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले सव लोगो के साथ जोड़ कर तथा सवके साथ सहयोग रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करे, तो उनको भी कर्मों का कोई वन्धन नहीं होता। जो कर्म दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यक्तित्व के अहंकार से किये जाते है, उन्हीं के अच्छे-वुरे परिणाम कर्ता को भोगने पड़ते है, क्योकि व्यक्तित्व की आसक्ति ही से वन्धन होता है। परन्तु संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए, सर्वात्म-भावापन्न महापुरुषो की शिक्षानुसार जो अपने कर्तव्य-कर्म, दूसरो के साथ एकता एवं सहयोगपूर्वक किये जाते है, उनका उत्तरदायित्व कर्म करने वाले पर नहीं रहता। प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जिसके जिम्मे जो कर्तव्य होता है, उसको यथायोग्य श्रद्धापूर्वक वजाने में जो वुरा भला हो जाय उसका जिम्मेवार वह नहीं होता। इसी तरह जगत् का व्यवहार चलाने में योग देने के लिए अपना कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक करने वाले को कर्मों के अच्छे-वुरे फल का वन्धन नहीं होता।

परन्तु जो मूर्ख लोग, (भगवान् के) इस सर्व-लोक-हितकर उपदेश की अवहेलना

करके और इसमें दोषारोपण करके, अपने व्यक्तित्व के अहकार और अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही निरन्तर कर्म करते रहते है, अथवा दूसरो से अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव के कारण, कर्मो को दुःख रूप, बोझ-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर छोड़ देते है, यानी संसार के व्यवहारो को त्याग कर निठल्ले बन जाते है, वे अवश्य ही नष्ट हो जाते है।

सब शरीरो की अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है—चाहे शरीर ज्ञानी का हो या अज्ञानी का; और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक चेष्टाएँ सभी करते है; परन्तु ज्ञानी अपनी इन्द्रियो को वश में रखता हुआ स्वतन्त्रता से चेष्टाएँ करता है, अतः वह सदा मुक्त रहता है, और अज्ञानी उनके वश में होकर बँधता है—यही अन्तर है।

पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, अतः शरीर के प्रत्येक अग एवं जगत् के प्रत्येक पदार्थ का, अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के तारतम्य के अनुसार स्वाभाविक धर्म होता है, जो उसके साथ ही रहता है। जिस तरह मन का स्वाभाविक धर्म संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का स्वाभाविक धर्म विचार करना, चित्त का चिन्तन करना, अहंकार का अभिमान करना, आँखो का देखना, कानो का सुनना, नाक का सूंघना, जिह्वा का स्वाद लेना, त्वचा का स्पर्श करना, वाणी का बोलना, मुख का खाना-पीना, हाथो का काम करना, पैरो का चलना, गुह्य इन्द्रियो का मल त्याग करना, दाँतो का काटना या चबाना, नखो का खुरचना, इत्यादि। इस तरह सूक्ष्म, स्थूल, कोमल, कठोर, पवित्र, मलिन आदि भेद से प्रत्येक अंग का, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यतानुसार अलग-अलग चेष्टाएँ करना और अपने अनुकूल विषय में राग एव प्रतिकूल विषय में द्वेष होना, स्वाभाविक धर्म होता है। सारे अंगो का समूह ही शरीर है; अत. सबकी अपनी-अपनी स्वाभाविक चेष्टाओ ही से शरीर का व्यवहार होता है, अर्थात् जब प्रत्येक अंग—चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, कोमल हो या कठोर, पवित्र हो या मलिन—अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार यथायोग्य चेष्टाएँ, एक दूसरे के साथ एकता के सहयोग से करता है तभी शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। यदि इनमें से कोई भी अग अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार चेष्टा न करे तो शरीर का निर्वाह होना कठिन हो जाय। इसलिए शरीर-यात्रा की सिद्धि के लिए जितनी आवश्यकता बुद्धि से विचार करने, मन से संकल्प करने आदि सूक्ष्म इन्द्रियो के व्यवहारो की है, उतनी ही हाथो से काम करने, पैरो से चलने आदि स्थूल इन्द्रियो के व्यवहारो की है; और जितनी आवश्यकता आँखो से देखने, कानो से सुनने, जिह्वा से स्वाद लेने, नाक से सूंघने, त्वचा से स्पर्श करने, वाणी से बोलने, मुख से खाने-पीने आदि कोमल एव पवित्र इन्द्रियो के व्यवहारो की है, उतनी ही दाँतो से काटने, नखो से खुरचने, गुह्य इन्द्रियों से मल त्यागने आदि कठोर एवं मलिन अंगो के व्यवहारो की है। सभी अंग एक दूसरे के

उपकारी-उपकार्य है। इसलिए प्रत्येक के अपने-अपने स्वाभाविक धर्म सबके लिए हितकर होते हैं।

स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों में सत्व गुण की अधिकता होने के कारण उनकी स्वाभाविक योग्यता स्थूल पदार्थों के ऊपर रहने एवं उन पर शासन करने की होती है। इसलिए स्थूल अंगो के ऊपर सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के ऊपर उनसे सूक्ष्म मन और मन के ऊपर उससे भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि है; तथा इन सबके ऊपर, इन सबका सूक्ष्म सार, इन सबको धारण करने वाला, सबमें एक समान व्यापक, सबका एकत्व-भाव चेतन आत्मा है, जिसका सभी पर आधिपत्य है। वह सबका उपादान एवं निमित्त कारण है; इसलिए उसका स्वभाव शरीर के सब अंगो को एकता के सूत्र मे पिरोये हुए, सबको चेतना-युक्त रखते हुए, तथा सबकी चेष्टाओं में सत्ता एवं स्फूर्ति देते हुए भी, उनमें अलिप्त अर्थात् निस्संग, राग-द्वेषादि विकारो से रहित अर्थात् निर्विकार, सदा एकसार अर्थात् सम एवं अकर्ता बने रहना है; उसकी कभी उत्पत्ति, नाश एवं परिवर्तन नहीं होता। अतः बुद्धि आत्माभिमुख अर्थात् सबके स्वामी सर्वव्यापक आत्मा के ज्ञानयुक्त (सबकी एकता के निश्चययुक्त) होकर कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करती रहे, मन बुद्धि का अनुगामी रहता हुआ उसके निर्णयानुसार इन्द्रियो का संचालन करे, और इन्द्रियाँ मन के अधीन रहती हुई अपने-अपने विषयो में वरतें—इस तरह प्रत्येक अंग दूसरे अंगो के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे से शृंखलाबद्ध होकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करे, तभी शरीर-यात्रा उत्तमता से हो सकती है। यदि शरीर का कोई भी अंग अपने स्वाभाविक धर्म को निन्दनीय एवं दोषयुक्त समझ कर उसकी अवहेलना करके उच्छृङ्खल हो जाय और दूसरो के धर्म का आचरण करने लग जाय, अर्थात् रज एवं तम-प्रधान अग सत्व-प्रधान अंगो की अवहेलना करें, तथा कठोर एवं मलिन अंग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवहार, कोमल और पवित्र अंगो की अपेक्षा दूषित और हीन मान कर उन्हें छोड़ दें और दूसरे अंगो के व्यवहार करने की चेष्टा करें, तो बड़ा अनर्थ हो जाय; क्योंकि न तो उनमें दूसरों के धर्म पालन करने की योग्यता होती है और न दूसरो में उनके धर्म पालन की। ऐसी दशा में विशृंखलता होकर सारा शरीर ही नष्ट हो जाय।

तात्पर्य यह कि सभी अंगों के समूह-रूप शरीर का निर्वाह और उसकी स्वस्थता सभी अंगो की पृथक्-पृथक् क्रियाओ (स्वाभाविक चेष्टाओं) पर निर्भर है, और प्रत्येक अंग की स्वाभाविक चेष्टा, सभी अंगो के समूह-रूप शरीर की स्वस्थता और उसकी सामूहिक क्रियाशीलता पर निर्भर है। अतः प्रत्येक अंग और प्रत्येक शरीर का अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के तारतम्य की योग्यतानुसार व्यवस्थित रूप से अपने-अपने व्यापार में लगे रहना ही श्रेयस्कर होता है।

आत्मा अपनी इच्छा-रूप प्रकृति से नाना भाव धारण करता हुआ और सभी अगो के समूह-रूप शरीर को चेतना (क्रिया) युक्त करता हुआ अर्थात् उसके द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करवाता हुआ भी वस्तुत. अद्वैत, निर्विकार एव सम रहता है, इसलिए वह सदा अकर्ता अर्थात् कर्म-अकर्म आदि द्वन्द्व-भाव से रहित होता है। परन्तु उसमें अकर्मी होने (अर्थात् क्रियारहित होने) का विशेष गुण (विशेष धर्म) आरोप करके उक्त अकर्म-शीलता के धर्म को शरीर के कर्मशीलता के धर्म से श्रेष्ठ मान कर, शरीर से अकर्मी होने के लिए उसके स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) छोड़ देने का प्रयत्न किया जाय तो उससे उलटी दुर्दशा होती है। शरीर और आत्मा अथवा कर्म और अकर्म की भिन्नता के राजस-ज्ञानयुक्त, व्यक्तित्व के अहंकार से अपने स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) छोड़ देने से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो कर्म-अकर्म का द्वैत-भाव मिटा कर आत्मज्ञान के साम्य-भावयुक्त अपने शरीर की योग्यता के स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) में प्रवृत्त रहने से होती है (गी० अ० ४ श्लो० १८ से २४, अ० ५ श्लो० २ से ७)।

व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था प्रत्येक शरीर (पिण्ड) की है, वही समष्टि रूप से प्रत्येक समाज अथवा राष्ट्र की, और वही अखिल जगत् (ब्रह्माण्ड) की है। जिस तरह शरीर (पिण्ड) आत्मा की त्रिगुणात्मक व्यष्टि प्रकृति (व्यक्तिगत स्वभाव) का वनाव है, उसी तरह समाज, राष्ट्र और जगत् (ब्रह्माण्ड) आत्मा की त्रिगुणात्मक समष्टि प्रकृति (सवके स्वभाव) का वनाव है; और जिस तरह तीन गुणो के तारतम्य (कमीवेशी) युक्त नाना अंगो का समूह शरीर है, उसी तरह तीन गुणो के तारतम्ययुक्त अनेक शरीरो (व्यक्तियो) का समूह समाज, राष्ट्र और जगत् है; और जिस तरह शरीर के प्रत्येक अग के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार चेष्टाएँ करने से शरीर-यात्रा उत्तमता से होती है, जिससे सभी अंगो को शान्ति, पुष्टि और तुष्टि मिलती है, उसी तरह प्रत्येक शरीर (व्यक्ति) के अपने-अपने स्वाभाविक धर्मानुसार सासारिक व्यवहार करने से समाज, राष्ट्र और जगत् का धारण एवं पोषण होता है, जिससे सवको शान्ति, पुष्टि और तुष्टि अर्थात् श्रेय की प्राप्ति होती है। जगत् के सभी वनावो में तीनो गुणो का तारतम्य (कमीवेशी) वना रहता है, इसलिए इसमें सूक्ष्म, स्थूल, सौम्य, क्रूर, पवित्र, मलिन आदि सभी तरह के व्यवहारों का होना अनिवार्य है, और वे सभी व्यवहार एक दूसरे पर निर्भर अर्थात् एक-दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं; अत अपने-अपने स्थान में सभी श्रेष्ठ और सवके लिए हित-कर है। सांसारिक व्यवहार के लिए सत्वगुण-प्रधान लोगो के बौद्धिक विचार के सूक्ष्म एवं सौम्य कर्मो की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही रजोगुण-प्रधान लोगो के युद्धादिक क्रूर एवं हिंसात्मक कर्मों की, और उतनी ही तमोगुण-प्रधान लोगो के स्थूल एवं मलिन कर्मों की आवश्यकता है। कर्म सव एक ही आत्मा की प्रकृति के अनेक भाव होने के कारण

उनमें वस्तुतः अच्छापन या बुरापन, उत्तमता अथवा निकृष्टता कुछ भी नहीं है। अच्छापन या बुरापन, उत्तमता अथवा निकृष्टता कर्ता के भाव से उत्पन्न होती है। दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, व्यक्तित्व के अहंकारयुक्त किये जाने पर उत्तम, सौम्य एवं पवित्र माने जाने वाले कर्म भी वास्तव में निकृष्ट, क्रूर एवं दूषित होते हैं; और दूसरों के साथ एकता के निश्चय से, अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले जगत् के हित के लिए किये जाने वाले, अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के धर्म अर्थात् अपने कर्तव्य-कर्म, यदि घोर—हिंसात्मक अथवा हीन एवं मलिन माने जाते हो तो भी वे बहुत श्रेष्ठ एवं पवित्र होते हैं। त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहार में यदि घोर—हिंसात्मक कर्मों तथा मैले साफ करने के मलिन कर्मों को निन्दनीय एवं निकृष्ट मान कर छोड़ दिया जाय तो संसार-चक्र चल ही नहीं सकता। जगत् में राजसी-तामसी प्रकृति के भूत-प्राणी भी होते हैं और वे घोर—हिंसात्मक कर्मों ही से शासित हो सकते हैं एवं उपद्रव करने से रोके जा सकते है। इसी तरह शरीरों से उत्पन्न मलिनताओ को साफ करने ही से लोग सुखपूर्वक रह सकते हैं। यदि घोर—हिंसात्मक कर्मो को कोई न करे तो क्रूर आसुरी स्वभाव के प्राणी जनता को रहने ही न दें, और यदि मैला साफ करने का काम कोई न करे तो मुर्दा लाशो एवं कूड़े-कर्कट से जनपद अर्थात् शहर, और गाँव इतने गंदे हो जायें कि प्रजा का जीना ही कठिन हो जाय, तथा उत्तम और पवित्र माने जाने वाले व्यवहार बनना भी असंभव हो जाय। तात्पर्य यह कि अपने-अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार सबके धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म, अपने-अपने स्थान में लोकोपकारी है—अतः वे सभी श्रेयस्कर हैं। किसी को भी अपने अथवा दूसरों के स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मों को निकृष्ट मान कर उनसे घृणा, तिरस्कार एवं ग्लानि करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि अपने स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मों को दूसरो से निकृष्ट एवं दोषयुक्त मान कर, उन्हें छोड़ कर दूसरो के धर्म अर्थात् दूसरो के स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म, जो अपने स्वभाव के अनुकूल न हो, स्वीकार किये जायें तो उनसे बड़ा अनर्थ होता है; क्योकि दूसरो के कर्तव्य-कर्म करने की योग्यता अपने में नहीं होती, इसलिए उनका तो अच्छी तरह सम्पादन नहीं हो सकता, और अपने कर्म छोड़ दिये जायें, तब दोनो से भ्रष्ट होना पड़े, जिससे अपना भयानक पतन होने के साथ-साथ समाज अथवा राष्ट्र में भी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय; तथा उसके प्रभाव से संसार-चक्र में भी उस हद तक त्रुटि आ जाय। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्वाभाविक धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने में अपने व्यक्तित्व को मिटा देना चाहिए, अर्थात् अपने पृथक् व्यक्तित्व की अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले जगत् के साथ एकता करके उसके हित में अपना हित और उसके स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझते हुए, अपने-अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यतानुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! तो फिर मनुष्य इच्छा नहीं करता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पापाचरण करता है, मानो कोई जबर्दस्ती उससे करवा रहा है। तात्पर्य यह कि जबकि अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म को छोड कर दूसरो के धर्म (कर्तव्य-कर्म) का आचरण भयावह (पाप-रूप) होता है, तो फिर मनुष्य (नहीं चाहता हुआ भी) बलात् उसमें क्यो लगता है—अपनी इच्छा से तो भयावह कर्म में कोई भी प्रवृत्त नहीं होता (३६)। भगवान् बोले कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम, यह क्रोध, जो बहुभोजी (कभी तृप्त न होने वाला) और महापापी है, इसी को तू इस विषय में (अपना) वैरी जान। तात्पर्य यह कि विषय-सुखो, धन, मान, कीर्ति, परिवार, स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति आदि अनन्त प्रकार की कामनाएँ, जो दूसरो से अपनी पृयक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न होती हैं, और जो कभी शान्त नहीं होतीं तथा जिनकी पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न

होकर बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं, वे ही मनुष्य को अपने धर्म से विमुख करती हैं (३७)। जिस तरह धुएँ से अग्नि आच्छादित होती है, और जिस तरह मैल से दर्पण और झिल्ली (जरायु-चर्म) से गर्भ ढका रहता है, उसी तरह इस (काम) से यह (आत्मज्ञान) ढका हुआ है (३८)। हे कौन्तेय ! ज्ञानी की इस सदा की शत्रु, कभी तृप्त न होने वाली काम-रूपी अग्नि से ज्ञान ढका हुआ है। तात्पर्य यह कि कभी शान्त न होने वाले काम यानी व्यक्तिगत स्वार्थों की तरह-तरह की कामनाएँ ही आत्मज्ञान को घेरे रखती हैं, इसलिए सर्वभूतात्मैक्य (सबकी एकता के) ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में यह (काम) सदा ही विघ्न करता है (३९)। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके रहने के स्थान कहे जाते हैं; इन्हीं के द्वारा आत्मज्ञान को आच्छादित करके, यह जीवात्मा को मोहित करता है। तात्पर्य यह कि यह काम ही इन्द्रियो, मन और बुद्धि में रह कर इनको बहिर्मुख रखता है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने पाता (४०)। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इन्द्रियो को अपने वश में करके, (आत्म) ज्ञान और (लौकिक) विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को मार (४१)। (स्थूल देह से) इन्द्रियाँ परे अर्थात् ऊपर कही जाती हैं, इन्द्रियो से परे मन और मन से परे बुद्धि है, तथा जो बुद्धि से भी परे है, वह (आत्मा) है (४२)। हे महाबाहो ! इस प्रकार बुद्धि से परे (अपने आत्मा) को जान कर, बुद्धि से मन को वश में करके कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार (४३)।

स्पष्टीकरण—३५वें श्लोक में भगवान् ने व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्मों) का आचरण करना श्रेयस्कर, और पराये धर्मों का आचरण भयावह बताया। यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जब अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म हीन एवं सदोष हों तो भी कल्याणकर होते हैं, और दूसरो के धर्म उत्तम हों, तो भी वे भयानक पाप-रूप होते है, तो फिर अपने कर्म छोड़ कर दूसरो के कर्म करने रूपी पापों में लोगो की प्रवृत्ति क्यो होती है ? जानबूझ कर दु:खदायक पापाचरण में पड़ना तो कोई नहीं चाहता। यद्यपि स्वयं अर्जुन की भी पापाचरण करने की इच्छा बिल्कुल नहीं थी, फिर भी वह विवश होकर युद्ध करने के अपने क्षात्र-धर्म को छोड़ कर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने आदि पराये धर्म को स्वीकार करने को उद्यत क्यो हो रहा था ? इस विवशता का क्या कारण है ? इस विषय का विशेष-रूप से खुलासा करने के लिए, अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि रजोगुण से उत्पन्न काम और उसकी प्रतिक्रिया क्रोध ही सम्पूर्ण अनर्थों का कारण है; अर्थात् जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नताओं को सच्ची मानने के अयथार्थ राजस ज्ञान से मनुष्य अपने को दूसरो से पृथक् मान कर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरो में अहंभाव यानी देहाभिमान कर लेता है, और उन शरीरो के लिए अनन्त प्रकार की अस्वाभाविक एवं अनावश्यक उपाधियाँ अपने (आत्मा) से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने की कामनाएँ करता रहता है, इसी से विरुद्धाचरण होते

है। यदि विचार कर देखा जाय तो शरीरो की वास्तविक आवश्यकताएँ तो भूख-प्यास आदि प्राकृतिक वेगो को शान्त करने मात्र की होती हैं, जिनकी पूर्ति के साधन सहज ही उपलब्ध हो जाते है। प्राकृतिक आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के साधन (समष्टि) प्रकृति साथ ही उत्पन्न कर देती है, जो अपने-अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म करने से अनायास ही प्राप्त हो जाते है। परन्तु अधिकांश लोग केवल शरीरो की प्राकृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मात्र ही से सन्तोष नहीं करते, किन्तु इन्द्रियो से नाना प्रकार के अनावश्यक विषय भोगने की कामनाएँ करते है; मन से धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि उपाधियो की कामनाएँ करते है; और बुद्धि से सामाजिक, साम्प्रदायिक एव धार्मिक आचरणो द्वारा इस लोक में कीर्ति एव मरने के बाद परलोक में भोग्य पदार्थो एवं स्वर्गादि सुखो, अथवा मुक्ति—अपने आप=आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र से—प्राप्त करने की कामनाएँ करते रहते है। संसार में उक्त कल्पित विषय-भोग तथा उपाधियाँ एवं सुख आदि असीम एवं अनन्त है, अत उनकी प्राप्ति की चाहनाओ का कोई अन्त नहीं आता—उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी लगातार उत्पन्न होती रहती है। उनसे कभी तृप्ति नहीं होती और न किसी मनुष्य की सभी चाहनाओ की पूर्ति ही होती है। अतः उक्त चाहनाओ रूपी काम की प्रतिक्रिया से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। फिर लोभ और क्रोध मनुष्य का विवेक दबा देते है, फलत. वह अनेक प्रकार के कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि राजस काम (पृथक्ता के ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना) ही सब अनर्थो का मूल है। इसी से मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म (धर्म) को छोड़ कर दूसरो के धर्म का आचरण करने का पाप करता है। अर्जुन को भी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न काम से ही अपना क्षात्र-धर्म छोड कर भिक्षा आदि दूसरो के धर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा हुई थी। यद्यपि वह बडा बुद्धिमान् मनुष्य था, इसलिए इन्द्रियो के विषयो और मानसिक (कल्पित) उपाधियो को तुच्छ समझ कर, उनकी चाहनाओ में तो आसक्त नहीं था, परन्तु धर्म-नाश के दोष एवं हिसा के पाप तथा नरक-प्राप्ति के भय से बचने के विचार से वह युद्ध से हटना चाहता था। दूसरे शब्दो में सामाजिक एवं साम्प्रदायिक धर्म की रक्षा करने से, एवं अहिंसा आदि के पुण्य से उत्पन्न स्वर्ग एवं कल्याण की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना, जो उसकी बुद्धि को घेरे हुए थी, उसी के कारण वह अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म को छोड कर पर-धर्म स्वीकार करने को उद्यत हुआ था। सारांश यह कि दूसरो से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना ही सारे अनर्थो का कारण है। यदि अर्जुन स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियो, मन एव बुद्धि से भी सूक्ष्म और इन सब पृथक्ताओ से परे, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, सदा एकसा रहने वाले एकत्व-भाव, सबके अपने वास्तविक आप—आत्मा के सत्य (सात्विक) ज्ञान में स्थिति कर लेता तो वह जगत् की सारी पृथक्ताओ को एक ही आत्मा

के अनेक नाम और रूपों का कल्पित बनाव अर्थात् अपना ही खेल जान लेता, और तब उसे अपने से भिन्न धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं कल्याण आदि की अन्यत्र से प्राप्ति की कामना नहीं रहती, और न अपने शरीर के स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) छोड़ने का भाव ही उसके अन्तःकरण में उत्पन्न होता। इसलिए अर्जुन को निमित्त करके भगवान् सबको उपदेश देते हैं कि बुद्धि से भी परे जो सबका एकत्व-भाव—अपना वास्तविक आप=आत्मा है, उसमें अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति करके, सब अनर्थों के कारण इस राजस काम पर विजय प्राप्त करो। इन्द्रियो, मन और बुद्धि पर इस (काम) का प्रभाव रहता है, परन्तु इन सबसे परे, सबके स्वामी आत्मा के ज्ञानयुक्त बुद्धि से मन को वश में करके इस काम पर विजय प्राप्त हो सकती है। जिस तरह किसी प्रवल शत्रु पर विजय पाने के लिए, उससे भी अधिक प्रबल शक्ति की सहायता लेना आवश्यक होता है, उसी तरह राजस काम रूपी महाबली शत्रु पर विजय पाने के लिए, आत्मज्ञान रूपी सबसे अधिक बलवान् शक्ति का आश्रय लेना ही एकमात्र उपाय है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान ही से मनुष्य अपना धर्म यथायोग्य ठीक-ठीक पालन कर सकता है; इसलिए सबकी एकता का सात्विक ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम और आवश्यक कर्तव्य है। यहाँ जो कामरूपी शत्रु को मार डालने को कहा है, उसका तात्पर्य काम का वस्तुतः अभाव कर देना नहीं है, किन्तु उसका राजसीपन अर्थात् दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव, जो सब अनर्थों का हेतु है, उसको पलट कर सबकी एकता के सात्विक ज्ञान-युक्त सबके हित-संपादन के काम में परिणत कर देना है। गुणी का विशेष गुण पलट देना ही उसको मार देना है। किसी भी पदार्थ का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता। धर्म के अविरुद्ध सात्विक काम को तो भगवान् ने अपनी विशेष विभूतियो में गिनाया है (गी० अ० ७ श्लो० ११)। सबकी एकता के सात्विक ज्ञान-युक्त अपने-अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) पालन करने के लिए सांसारिक पदार्थों के उपयोग की इच्छा—सात्विक काम है। इस सात्विक काम से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु जगत् के व्यवहार अर्थात् लोक-सग्रह के लिए यह आवश्यक होता है।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चौथा अध्याय

दूसरे और तीसरे अध्याय में कथित समत्व-योग की प्राचीनता, नित्यता एवं उसका महत्त्व आगे के तीन श्लोको में भगवान् कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।२।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि यह अविनाशी समत्व-योग मैंने विवस्वान्—सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा (१)। इस तरह (उत्तराधिकार की) परम्परा से प्राप्त, इस (समत्व-योग) को राजर्षियो ने जाना। हे परन्तप! वह समत्व-योग दीर्घ काल पाकर इस लोक (मनुष्य समाज) से नष्ट (लुप्तप्राय) हो गया था (२)। यह वही प्राचीन समत्व-योग है, जो अब मैंने तुझे बतलाया है, क्योकि तू मेरा भक्त और सखा (मित्र) है ; यह (समत्व-योग) अत्यन्त ही उत्तम रहस्य अर्थात् तत्त्वज्ञान का मर्म है (३)।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा=परमात्मा अपनी एक विशेष विभूति—सूर्य रूप से समत्व-योग के आचरण द्वारा जगत् का धारण-पोषण करता है, अत· जगत् में सूर्य द्वारा इस समत्व-योग का प्रचार हुआ और सूर्य द्वारा ही यह समत्व-योग जगत् में सदा विद्यमान रहता है। सूर्य स्वभाव ही से सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता और गति देता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं है, न उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष है। वह सदा अपने केन्द्र पर अविचल रहता हुआ निरन्तर प्रकाश और उष्णता फेंकता रहता है—जिसकी जैसी योग्यता हो उसके अनुसार उनका उपयोग करे—इससे सूर्य में कोई विकार नहीं होता। वह अपना कर्तव्य नियमित रूप से पालन करने में अटल रहता है, कभी त्रुटि नहीं करता। ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे, उत्कृष्ट-निकृष्ट, पवित्र-मलिन आदि में वह भेद नहीं करता, सब पर एक समान प्रकाश डालता और जीवन देता है। वह किसी में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, न कोई

उसका निज का स्वार्थ ही होता है; केवल लोक-संग्रह अर्थात् जगत् को धारण करने के लिए ही उसका अस्तित्व है। तात्पर्य यह कि सूर्य में स्वभाव ही से समत्व-योग के आचरण का आदर्श है और इस प्रत्यक्ष आदर्श द्वारा समत्व-योग का उपदेश सब कोई ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए जब तक सूर्य है तब तक यह समत्व-योग भी जगत् में विद्यमान है। देश-भेद, काल-भेद और समाज-भेद से वह बदलता हुआ भिन्न-भिन्न रूपो में भले ही रहे, परन्तु वह सर्वथा नष्ट कभी नहीं हो सकता।

सूर्य से उक्त समत्व-योग को मानव-समाज के आदि-व्यवस्थापक एवं सबसे पूर्व-वर्ती राजा मनु ने ग्रहण करके इसके आधार पर मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित रखने की योजना की। मनु से इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ और इक्ष्वाकु से उसके पीछे के राजाओ में वंश और राज्य-परम्परा से यह प्रचलित रहा। तात्पर्य यह कि मनुष्य समाज की व्यवस्था के आरम्भ ही से यह समत्व-योग प्रधानतया राजाओ की विद्या चली आ रही है, क्योंकि निर्दोष राज्य-शासन के लिए इस विद्या का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। जिस तरह सूर्य समत्व-योग के आचरण द्वारा स्वभाव ही से सबको उसी समत्व-योग का उपदेश देता है उसी तरह राजा भी सूर्य का अनुकरण करके स्वयं इस समत्व-योग के आचरण द्वारा अपनी प्रजा में इसका प्रचार करता रहे, तभी राज्य और समाज की सुव्यवस्था रह सकती है; इसलिए राजा के लिए इस समत्व-योग अर्थात् ब्रह्म-विद्या का जानना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु संसार के परिवर्तनशील स्वभ ाव के कारण, काल पाकर यह समत्व-योग समाज-विशेष से लुप्त हो जाया करता है जिससे उस समाज में बहुत विशृंखलता आ जाती है। द्वापर-युग में इस देश में यही अवस्था हो गई थी, जिसके परिणामस्वरूप सब लोग बहुत दुःखी हो गये थे; तब सबके अन्तःकरण की सम्मिलित प्रेरणा के फल-स्वरूप, सर्वात्मा= परमात्मा ने अपनी एक विशेष विभूति भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अवतार धारण करके उसी समत्व-योग का पुनः प्रचार करने के लिए, अर्जुन को निमित्त बना कर ससार को फिर से उसका उपदेश दिया। उस समत्व-योग के रहस्य को अच्छी तरह समझने और उसके अनुसार आचरण करने के लिए, प्रथम श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सद्गुरु से उपदेश लेने की, और निःसंकोच होकर प्रश्न करके चित्त के सन्देह मिटा कर उस उपदेश को अच्छी तरह समझने और धारण करने की और फिर उसके अनुसार आचरण करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अर्जुन में इन सभी बातो की योग्यता थी। भगवान् श्रीकृष्ण का वह भक्त था, इसलिए उनके उपदेश में उसकी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उनसे मित्रता का भाव होने के कारण निःसंकोच होकर खूब अच्छी तरह प्रश्न करके सब प्रकार के सन्देह मिटाने की योग्यता भी उसमें थी; और कार्य-कुशल एवं वीर क्षत्रिय होने के कारण समत्व-योग का आचरण भी वह यथायोग्य अच्छी तरह कर सकता था; इसलिए वह इस उपदेश का पूर्ण अधिकारी था।

उपर्युक्त प्रसंग को लेकर, अर्जुन के पूछने पर भगवान् सर्वव्यापक आत्मा की नित्यता, अपने सर्वात्म-ईश्वर-भाव, तथा जीवात्मा और परमात्मा के कल्पित भेद एवं वास्तविक अभेद का खुलासा करके, फिर कर्म करने में मनुष्यों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन आगे करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेदसर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य बहुत पहले का है, अतः मैं कैसे जानूं कि यह (समत्व-योग) आप ही ने पहले कहा है (४)। श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु हे परंतप! तू नहीं जानता। तात्पर्य यह कि परमात्मभाव में स्थित मुझको अपने स्वरूप यानी सबके वास्तविक अपने आप-आत्मा की एकता, नित्यता एवं सर्वव्यापकता का पूर्ण-रूप से अनुभव होने के कारण मैं सर्वज्ञ हूँ, अतः भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की सब बातों को मैं जानता हूँ, इसलिए तेरे और मेरे अनेक जन्मों का मुझे ज्ञान है; परन्तु तू अपने व्यक्तित्व के भाव-जन्य देहाभिमान में आसक्ति रखने के कारण अल्पज्ञ है, इसलिए तुझे अपने पूर्वजन्मो का ज्ञान नहीं है (५)। मैं (सबका) आत्मा जन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत-प्राणियो का ईश्वर (स्वामी) होता हुआ भी, अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर, अपनी (योग) माया से (विशेष रूपो में) प्रकट होता हूँ। तात्पर्य यह कि मैं, सबका अपना आप—समष्टि-आत्मा वास्तव में अनादि, अजन्मा और निर्विकार होता हुआ भी अपने स्वभाव ही से, सब भूत-प्राणियों के स्वामी-भाव से अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक अनेक विशेष रूप धारण करता हूँ (६)। हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब मैं अपने विशेष रूप को रचता हूँ अर्थात् विभूति-संपन्न रूप धारण किया करता हूँ। भले आदमियों की रक्षा और दुष्टों के नाश तथा धर्म की (पुनः) अच्छी तरह स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। तात्पर्य यह कि जब-जब लोगो में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य भाव कम होकर पृथक् व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त बढ़ जाने के कारण अधिकतर मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने धर्म (स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म) छोड़ कर दूसरो के धर्म* का आचरण करने रूपी अधर्म में विशेषतया प्रवृत्त हो जाते है और अनीति एवं अत्याचार करते हैं, जिससे जगत् में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब मैं (सबका आत्मा) परिस्थिति के अनुसार स्वेच्छा से विशेष रूपो में प्रकट होकर, अपने कर्तव्यों पर आरूढ़ रहने वाले श्रेष्ठ लोगो की रक्षा और कर्तव्य-विमुख दुराचारियो का नाश करके जगत् और समाज की सुव्यवस्था रखने वाले धर्म की पुनः स्थापना किया करता हूँ (७-८)। मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जो इस प्रकार तत्त्व से जानता है, वह शरीर का अभिमान छोड़ कर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें मिल जाता है। तात्पर्य यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह तात्त्विक विचार करके समझ लेता है कि सबका आत्मा=परमात्मा स्वेच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक जन्म धारण

---

* तीसरे अध्याय के श्लोक ३२ से ३५ तक का स्पष्टीकरण देखिए।

करता और सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी वास्तव में अजन्मा, अकर्ता, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, दूसरे शब्दो में जो अपने वास्तविक आप—आत्मा के असली स्वरूप (समष्टि-भाव) को यथातथ्य जान लेता है, वह स्वय सर्वात्म-भावापन्न परमात्म-स्वरूप हो जाता है यानी उसका जीव-भाव मिट जाता है—फिर वह अज्ञानी जीवो की तरह परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता (९)। बहुत से लोग मेरे (सर्वात्मा=परमात्मा के) साथ तन्मय होकर, अर्थात् मन को सबके अपने आप=आत्मा में जोड कर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्म-विश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एवं आत्म-ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर, मेरे भाव में आ मिले है। तात्पर्य यह कि अनेक लोग मेरा अवलम्बन करके, द्वैत-भाव छोड़ कर अपने वास्तविक आप—सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक एवं नित्य आत्मा के एकत्व-भाव के अनुभव द्वारा मुझ (परमात्मा) में समा गये है। सारांश यह कि आत्मा जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है—चाहे वह व्यक्तित्व के भाव से जीव होकर परवशता से जन्मे-मरे और कर्मों के वन्धनो में बँधा रहे, अथवा समष्टि-भाव से परमात्म-स्वरूप होकर स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करे (१०)। जो मुझ (सबके अपने-आप, सर्व-व्यापक आत्मा) को जिस तरह का मान कर वर्ताव करते है, (उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप) मै (सर्वव्यापक आत्मा) उनके साथ उसी तरह वर्तता हूँ। हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे अर्थात् सबके अपने-आप सर्वव्यापक आत्मा ही के मार्ग का अनुसरण करते है। तात्पर्य यह कि जो लोग व्यष्टि-भाव में अहकार करके अपने-आप (आत्मा) को जिस तरह का मान कर आचरण करते है, उसी के अनुसार वे हो जाते है और उसी के अनुसार उनके इर्द-गिर्द के जगत् के बनाव वन जाते है, और जगत्-रूपी जगदीश्वर उसी के अनुसार उनके साथ वर्ताव करता है (११)। यहाँ (मनुष्य-देह) में कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग देवताओ का पूजन करते है; मनुष्य-लोक में कर्मो के फल शीघ्र ही उत्पन्न होते है। तात्पर्य यह कि कई लोग अपने कर्मो की सिद्धि के लिए दैवी शक्तियो को आत्मा से भिन्न मान कर उनकी उपासना करते है; उनको उस उपासना में लगे हुए अपने मन की भावना और एकाग्रता के प्रभाव से अपने-अपने कर्मो के अनुसार बहुत जल्दी सफलता मिलती है। वास्तव में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की देह में वुद्धि का विशेष विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है, अत यह कर्म-भूमि है; और इसी देह में मनुष्य अपने भविष्य का स्वय निर्माण करता है। इस देह में जितने ही अधिक मनोयोग से कर्म किये जाते है, उतनी ही जल्दी और उतनी ही अधिक उन कर्मों के अनुसार सफलता प्राप्त होती है (१२)। मेरे (समष्टि-भावापन्न आत्मा के) द्वारा गुणो के अनुसार कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। उस (व्यवस्था) का कर्ता होते हुए भी मुझ (सवके आत्मा) को निर्विकार एव अकर्ता ही जान। मुझ (सवके आत्मा) को कर्मो का कोई लेप नहीं होता, (क्योकि) मुझ (सवके आत्मा) को कर्मो के फल की

चाह नहीं रहती। इस तरह जो मुझ (सबके अपने आप—आत्मा) को यथार्थतया जानता है, वह उपरोक्त वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कर्म करता हुआ कर्मो के बन्धन में नहीं बँधता अर्थात् कर्मो के अधीन नहीं होता। पूर्वकाल में भी कर्मो के बन्धनो से मुक्त रहने की इच्छा रखने वालों ने इसी तरह उपरोक्त वर्ण-व्यवस्था के रहस्य को जान कर अर्थात् इसी तरह ज्ञान-युक्त कर्म किये हैं। अतः जिस तरह पहले वालो ने बहुत पहले कर्म किये हैं, उसी तरह तू भी अपने वर्ण के स्वाभाविक कर्म ही कर। तात्पर्य यह कि यद्यपि जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त, शरीरों के भिन्न-भिन्न स्वाभाविक गुणो की योग्यता के अनुसार कर्म करने की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष द्वारा निर्मित हुई है, क्योंकि सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष सब लोगो की सम्मिलित इच्छाओं और सबकी सम्मिलित शक्ति एवं सबके सम्मिलित ज्ञान का केन्द्र होता है, इसलिए जो-जो व्यवस्थाएँ समष्टि-समाज के लिए समय-समय पर आवश्यक, उपयोगी और हितकर होती हैं, उन्हे सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष ही निर्माण करता है; परन्तु यह सब कुछ करता हुआ भी वास्तव में वह निर्विकार—अकर्ता ही रहता है क्योकि सर्वव्यापक आत्मा में कर्ता, कर्म और कर्म-फल की कोई भिन्नता नहीं रहती। इसलिए जिसको उक्त सर्वात्म-भाव का अनुभव हो जाता है उसे किसी कर्म के फल की इच्छा नहीं रहती, अतः उपरोक्त वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सब कर्म करते हुए भी उसको कर्मो का कोई बंधन नहीं होता (१३ से १५)।

स्पष्टीकरण—भगवान् ने जब यह कहा कि इस समत्व-योग (ब्रह्म-विद्या) का उपदेश मैंने ही पहले पहल सूर्य द्वारा लोगो को दिया था, तो इस पर स्थूल (भौतिक) दृष्टि के (देहाभिमानी) साधारण लोगो को इस शंका का होना स्वाभाविक ही है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो द्वापर-युग के अन्त में वसुदेवजी के घर जन्मे थे, और सूर्य एव मनु आदि बहुत पहले ही हो चुके थे, फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश सबसे पहले कैसे दिया? इस शंका के समाधान के निमित्त, अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक १२ से ३० तक कहे हुए आत्मज्ञान के आधार पर इस विषय का खुलासा करते हैं। भगवान् कहते हैं कि एक ही अज, अविनाशी, सम, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा आत्मा अपनी स्वाभाविक इच्छा से अनेक रूप धारण करता है। व्यष्टि-भाव से वह नाना जीव रूप होकर पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार करके अनेक प्रकार के कर्मो द्वारा जीव-रचित सृष्टि निर्माण करके अपने को उन्हीं कर्मो के अधीन मानता है, और अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर देह में अभिमान करके अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, उत्पत्ति-नाशवान्, सदा परिवर्तनशील, एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो से युक्त मानता है, और वर्तमान शरीर के ज्ञान के अतिरिक्त भूत और भविष्य का ज्ञान साधारणतया नहीं रखता, और वही ब्रह्म अथवा आत्मा समष्टि-परमात्म-भाव से अपने वास्तविक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वरूप का यथार्थ अनुभव रखता

हुआ, अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति (इच्छा-शक्ति) के स्वामी रूप से जगत् की व्यवस्था करता है। उक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण जगत् में निरन्तर उलट-फेर होता रहता है, और उस उलट-फेर में जब व्यष्टि-भावापन्न देहाभिमानी लोग अपने व्यक्तित्व के अहंकार से व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए विरुद्धाचरण करके जगत् में अत्यन्त विषमता उत्पन्न कर देते हैं, जिससे अव्यवस्था होकर घोर अशान्ति फैल जाती है, और सब लोग उस अव्यवस्था से बहुत व्याकुल हो जाते हैं, तब उस अशान्ति से निस्तार पाने की सबकी सम्मिलित आतुरता की प्रतिक्रिया-स्वरूप वह समष्टि-भावापन्न आत्मा (परमात्मा) अपनी सात्विक प्रकृति द्वारा अपने एक विशेष अश से, परिस्थिति के उपयुक्त किसी विशेष महापुरुष के रूप में प्रकट होकर विरुद्धाचरण करने वाले अत्याचारियो का, यथायोग्य शिक्षा अथवा दण्ड द्वारा शमन करके, तथा अपने स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) पर आरूढ़ रहने वाले सज्जनो का (उन अत्याचारियो से) उद्धार करके एव उक्त विषमता का सामंजस्य करके पुन. सुव्यवस्था स्थापित करता है। जिस तरह, (१) किसी राष्ट्रीय राज्य में जब व्यक्तिगत स्वार्थों के संघर्ष से विषमता बहुत बढ जाती है, तब जनता अनेक प्रकार के क्लेशो से अत्यन्त पीडित हो जाती है और समाज-सगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है; उस दशा में उस राष्ट्र के जिस महान् व्यक्ति में सारे राष्ट्र की एकता का पूर्ण भाव होता है और जनता का जिसमें विशेष विश्वास होता है तथा जिसमें राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँध कर उसका ठीक-ठीक सचालन करने की योग्यता एव शक्ति होती है, वह आगे आकर अत्याचारियो को दण्ड देने एवं भले आदमियों की रक्षा करने द्वारा शान्ति-स्थापन करता है; अथवा, (२) किसी साम्राज्य के किसी विशेष प्रान्त में उक्त प्रकार की अशान्ति अथवा विप्लव होने पर राष्ट्रपति अथवा सम्राट् परिस्थिति के उपयुक्त एवं आवश्यकता के अनुसार किसी विशेष रूप में वहाँ जाकर उपरोक्त उपायो द्वारा शान्ति-स्थापन करता है; उसी तरह, सबका एकत्व-भाव अर्थात् समष्टि आत्म-शक्ति=परमात्मा अपने संसार रूपी साम्राज्य में कहीं पर अशान्ति उत्पन्न होने पर अपने एक विशेष अंश से किसी विशेष विभूति-सम्पन्न व्यक्ति के रूप में वहाँ अवतार लेकर शान्ति-स्थापन करता है। यद्यपि राष्ट्रपति अथवा सम्राट् अपने राज्य की सुव्यवस्था के लिए किसी विशेष प्रान्त में एक विशेष व्यक्ति के रूप में कार्य करता है, परन्तु उसका राष्ट्रपति अथवा सम्राट् का भाव ज्यो का त्यो बना रहता है, तथा उसकी राज्य-सत्ता की दुहाई और उसके दण्ड-विधान के कानून आदि ज्यो के त्यो सारे राज्य में समान भाव से व्यापक रहते है; दूसरे शब्दो में समष्टि-भाव से वह अपने साम्राज्य की सीमा में सर्वव्यापक रहता है, तथा दुष्टो को दण्ड देने और भले आदमियो की रक्षा करने आदि के कर्म करता हुआ भी वास्तव में वह उन कर्मों से नहीं बँधता, क्योकि उन कर्मों में उसका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, किन्तु उसके वे कर्म सारी प्रजा की एकता के साम्य-भाव-युक्त सारे राज्य की सुव्यवस्था के लिए होते हैं।

इसलिए सब-कुछ करता हुआ भी वह उन कर्मों के सम्बन्ध में वस्तुतः अकर्ता ही रहता है, और श्रेष्ठ तथा दुष्ट सबको अपनी प्रजा ही समझता है। इसी तरह समष्टि आत्म-शक्ति अथवा परमात्मा, जगत् अथवा समाज को धारण करने और उसे सुव्यवस्थित रखने के लिए परिस्थिति के उपयुक्त अपने एक विशेष अंश से किसी विशेष व्यक्ति के रूप में प्रकट होकर आवश्यकतानुसार आचरण करता है, तो भी उसकी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्व-शक्तिमत्ता आदि सर्वात्म-भाव में कोई फर्क नहीं आता और न उसे कर्मों का कोई बन्धन ही होता है, क्योंकि उसके कर्म किसी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं होते, किन्तु समष्टि-हित के लिए होते हैं; इसलिए वास्तव में वह अकर्ता ही रहता है; और दुष्टो का दमन एवं सज्जनो की रक्षा करता हुआ भी वह उन दुष्टो तथा सज्जनो अथवा जगत् के किसी भी पदार्थ को अपने से भिन्न नहीं समझता, किन्तु सबको अपने ही विराट् शरीर के अनेक अग अनुभव करता है।*

जिस तरह व्यष्टि-भाव में अत्यन्त आसक्त लोग अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरो को हानि पहुँचाने के अपराध में जेल जाते हैं और जेलखाने में कैदी की हैसियत से बन्धन में रहते है, तथा जेल के क्लेश भोगते हैं; और कभी-कभी राजा भी जेल की सुव्यवस्था के उद्देश्य से जेलखाने के अन्दर जाता है और उसके प्रबन्ध में यदि गड़बड़ देखता है तो ठीक करता है। इस प्रकार जेलखाने के अन्दर अपराधी कैदी भी जाता है और राजा भी, और वहाँ जाना या न जाना कैदी के भी अधिकार में है और राजा के भी अधि-कार में है; अन्तर इतना ही है कि कैदी अपने व्यक्तित्व के भाव के कारण कुकर्म करके अपने लिए पहले बन्धन उत्पन्न कर लेता है, फिर उनका फल भोगने के लिए परवशता से जेल जाता है, और राजा अपनी सारी प्रजा की एकता के भाव से, सबके हित के लिए जेल की सुव्यवस्था करने को स्वतन्त्रतापूर्वक जाता है। इसलिए कैदी, जेल जाना दु:ख और बन्धन रूप समझता है, परन्तु राजा को कोई दु:ख या बन्धन प्रतीत नहीं होता। इसी तरह व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा व्यक्तित्व के अहंकार से व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए नाना प्रकार की वासनाओ के बन्धन में बँध कर अपनी वासनानुसार नाना शरीरो को धारण करता और छोड़ता है, जिसको वह अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण परवशता से जन्मना, मरना और नाना प्रकार के क्लेश भोगना मानता है; परन्तु सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, अतः वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रता-पूर्वक शरीर धारण करता और छोड़ता है, और ऐसा करने में उसको कोई क्लेश या बन्धन प्रतीत नहीं होता।

---

*इस विषय का विशेष खुलासा भगवान ने गीता के १०वें और ११वें अध्याय में किया है।

यद्यपि व्यष्टि-भावापन्न प्रत्येक जीवात्मा में भी वही सर्वात्म-भाव की शक्ति अव्यक्त रूप से मौजूद है, परन्तु जब तक वह अपने-आपको पृथक् शरीरो के संकुचित भाव में सीमाबद्ध मानता है, तब तक अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परवश एवं तुच्छ जीव रहता है। जब यह व्यष्टि-भाव की मान्यता दूर करके अपने असली सर्वात्म-भाव का पुन. अनुभव कर लेता है, तब परमात्म-स्वरूप हो जाता है। जिस तरह, (१) एक बीज के अन्दर वृक्ष होने की शक्ति सूक्ष्म-रूप से मौजूद रहती है, और जब तक उक्त शक्ति का विकास नहीं होता, तब तक वह एक छोटा-सा बीज ही रहता है, परन्तु जब उस शक्ति का विकास हो जाता है तब वही अनन्त बीजो का आधार वृक्ष हो जाता है, उसी तरह छोटी-सी जीव-शक्ति में महान् परमात्म-शक्ति मौजूद है अर्थात् अन्तवान् व्यष्टि शरीरो में अनन्त समष्टि आत्म-शक्ति मौजूद है—उसका जैसा और जितना विकास होता है उतनी ही वह व्यक्त और विस्तृत हो जाती है। अथवा जिस तरह, (२) एक राष्ट्रीय राज्य के प्रत्येक व्यक्ति में समष्टि राज्य-सत्ता मौजूद रहती है और उसको सारे राज्य-शासन में योग देने के पूर्ण अधिकार प्राप्त होते है, यदि वह अपने व्यक्तित्व का भाव कम करके अपने राष्ट्र की एकता के कार्यों में योग देने लगे तो राज्य-शासन के सभी कार्य कर सकता है, और जितना ही व्यक्तित्व का भाव कम करके राष्ट्रीय एकता का भाव अधिक करता है तथा राष्ट्र के लिए अधिक स्वार्थ-त्याग करता है उतना ही राज्य-शासन के उच्च अधिकार प्राप्त करता है, और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया राष्ट्र के अर्पण कर देने से वह राष्ट्रपति भी हो सकता है; उसी तरह जीवात्मा अपने व्यक्तित्व का भाव ज्यो-ज्यो कम करता है, त्यो-त्यो कर्म-रूप जगत् पर अधिक आधिपत्य प्राप्त करता है, और जो अपने व्यक्तित्व को अपने समष्टि-भाव के व्यक्त स्वरूप जगत् से पूर्ण एकता कर देने द्वारा अपने असली स्वरूप का पूर्ण अनुभव कर लेता है, वह स्वय परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा ही का व्यष्टि-भाव होने के कारण जैसी इच्छा करता है वैसा ही स्वय बन जाता है, और अपनी इच्छा के अनुसार ही कर्मो द्वारा अपनी सृष्टि निर्माण करके उसमें वर्तता है तथा अपनी निर्माण की हुई कर्म-रूप सृष्टि के भोग भोगता है। यह कहावत ठीक है कि "जिसकी जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है" यानी अपने से सम्बन्ध रखने वाली अपने इर्द-गिर्द की सृष्टि अपनी ही भावना के अनुसार बन जाती है—अपनी सृष्टि का रचयिता मनुष्य आप ही है। जिस तरह मकड़ी आप ही तार फैला कर उसके ऊपर चलती है, उसी तरह मनुष्य सब प्रकार से अपने आत्मा ही के रचे हुए जगत् में व्यवहार करता है; आप ही अपने को एक विशेष व्यक्ति मान कर अपने लिए शरीर रचता है और उस शरीर के लिए आचरणीय कर्म नियत करता है; परन्तु अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप की विस्मृति के कारण उन कर्मो से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना करता है, और उस स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपने से भिन्न देवताओ आदि को

मान कर उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए उनकी उपासना करता है, तब उस उपासना में अपने मनोयोग की दृढ़ता एवं तीव्रता के प्रभाव से सफलता जल्दी मिल जाती है। परन्तु उस सफलता का कारण स्वयं अपने-आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता, क्योकि अपना मन जब एकत्व-भाव में जुड़ता है तभी सफलता होती है। मन को एकता में जोड़ने की योग्यता केवल मनुष्य-देह में ही है। मनुष्य-योनि के सिवाय अन्य योनियो में विचार-शक्ति का विकास न होने के कारण कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है; उनकी सभी चेष्टाएँ स्वाभाविक होती है; उनमें न तो कर्तापन का अहंकार रहता है, न कर्म करने की जिम्मे-वारी; अतः वह केवल भोग-भूमि है। परन्तु मनुष्य-देह में विचार-शक्ति का विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है। इस देह में जीवात्मा अपने को प्रकृति के सर्वया अधीन नहीं मानता, किन्तु वह प्रकृति के ऊपर शासन करने का प्रयत्न करता है और दूसरो से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार करता है, इसलिए वह अपने कर्मों का जिम्मेवार होता है और अपने कर्मो के शुभाशुभ फल भी उत्पन्न करता है। इसलिए यह कर्म-भूमि है। इस देह में कर्मो की सिद्धि के पाँच कारणो (गी० अ० १८ श्लो० १३ से १५) की अनुकूलतापूर्वक, अच्छी तरह विधिवत् किये हुए कर्मो की सिद्धि अवश्य होती है। परन्तु जो लोग कर्मो के फल के लिए दैवी शक्तियो की उपासना करते है, वे अपने मनोयोग की शक्ति के प्रभाव से फल जल्दी उत्पन्न कर लेते है। जैसे तेज मसाले की शक्ति के उपयोग से वनस्पतियो के फल जल्दी उत्पन्न किये जाते है, उसी तरह मानसिक शक्ति से कर्मों के फल जल्दी उत्पन्न किये जा सकते है। सारा जगत्-प्रपंच मन के संकल्पो की रचना है, अतः एकाग्र किये हुए मन के तीव्र संकल्प से कर्मो की सिद्धि तत्काल ही हो सकती है। सारांश यह कि जो अपने-आपको जैसा मानता है वैसा ही वह बन जाता है। यदि अपने को एक स्थूल शरीर का पुतला अथवा एक तुच्छ, अल्पज्ञ, कर्मों के बन्धनो से बँधा हुआ जीव मानता है और परमात्मा को अपने से भिन्न—कोई विशेष व्यक्ति मानता है तो उसके लिए वैसा ही हो जाता है; क्योकि सृष्टि कल्पनामय है, जैसी कल्पना होती है वैसा ही बनाव बन जाता है। मनुष्य-देह में ही यह योग्यता है कि जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण करके चाहे जैसा बन जाय। यदि अपने लिए आधिभौतिक और आधिदैविक सुखो की प्राप्ति के निमित्त देवताओं की उपासना करता है, तो अपनी भावना के अनुसार उन्हीं द्वारा उसका फल उत्पन्न करके भोगता है*; और यदि अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदा-नन्द आत्मा का अनुभव कर लेता है तो परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए, मनुष्य (स्त्री-पुरुषो) के शरीरो के

---

*देवताओ की उपासना से कामनाओ की सिद्धि होने का विशेप खुलासा सातवें अध्याय के श्लोक २० से २३ तक में किया गया है।

प्राकृतिक गुणों की योग्यतानुसार कार्य-विभाग की व्यवस्था सर्वात्म-भावापन्न महापुरुषो ने बनाई है। जिस तरह व्यष्टि शरीर के सत्वगुण-प्रधान अंग—मस्तक में बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियो का निवास होने के कारण वह ज्ञान का केन्द्र होता है; रजोगुण-प्रधान अंग—भुजाओं में बल का निवास होने के कारण उनमें शासन और रक्षण की विशेष योग्यता होती है; रजोगुण और तमोगुण-प्रधान अंग—जंघाओ और पैरो में चलने-फिरने आदि क्रियाओ की विशेष शक्ति होने के कारण उनमें व्यवसाय और श्रम द्वारा ऊपर के अंगो की आवश्यकताएँ पूरी करने की योग्यता होती है; उसी सिद्धान्त पर समाज-रूपी विराट् शरीर के भी चार प्रकार के कार्य-विभाग किये गये है*, और उन चार विभागो की क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा रखी गई है।

अतः जो लोग इस गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था-निर्माण के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर सबके हित के लिए (जिसमें वे स्वयं भी शामिल है), सबके साथ एकता के भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए एवं सबके साथ शृखलाबद्ध होकर अपने-अपने शरीरो के गुणो की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करते रहते है, दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति नहीं रखते, उनको उक्त कर्मो का कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वे सब प्रकार से उन्नति करते हुए सुख-समृद्धि सम्पन्न होते है; और जिस समाज के लोग उपरोक्त गुण-कर्म-विभाग के सिद्धान्तानुसार आचरण करते है, वह समाज अवश्य ही उन्नत और सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है।

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते है कि पहले भी सच्ची सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता की इच्छा रखने वाले लोगों ने इसी तरह आत्मज्ञानयुक्त अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य-कर्म किये है, और अब भी धर्माधर्म, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त रहने और सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालो को इसी तरह सबकी एकता के साम्य-भाव से अपने वर्ण के कर्तव्य-कर्म करते ही रहना चाहिए। मोक्ष और बन्धन सब अपनी इच्छा और आचरण पर ही निर्भर है। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप ही है।

× × ×

श्लोक ५ से १५ तक भगवान् ने प्रसंगानुसार अपने अर्थात् समष्टि-भावापन्न परमात्मा के जन्म (शरीर धारण करने) और कर्म (लौकिक व्यवहार करने), तथा व्यष्टि-भावापन्न जीवो के जन्म और कर्म के भेद का खुलासा करने के अनन्तर यह स्पष्ट

---

*गुणो के अनुसार कार्य-विभाग की व्यवस्था के आधार पर चारो वर्णो के अलग-अलग कर्मों का वर्णन अठारहवे अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के अर्थ में देखिए।

किया कि जीवात्मा और परमात्मा में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जीव में भी परमात्म शक्ति बीज-रूप से विद्यमान रहती है, परन्तु व्यक्तित्व का भाव रखने से वह स्वयं ही अपनी शक्ति को परिमित कर लेता है। वास्तव में वह अपने कर्मो का आप ही स्वामी है, अर्थात् कर्म करने में स्वतन्त्र है—जैसी इच्छा करता है वैसा ही अपने कर्मों द्वारा बन जाता है।

फिर भगवान् ने जगत् के व्यवहार की सुव्यवस्था के लिए अर्थात् जगत् के धारणार्थ, गुणो के अनुसार कर्मो का विभाग करने द्वारा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की योजना का सिद्धान्त समझा कर उसके अनुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म सबके साथ एकता के साम्य-भाव से, व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति के बिना, सबके हित के लिए करने का उपदेश दिया। अब भगवान् कर्म करने अथवा न करने के मूल प्रश्न को लेकर कर्म की तात्त्विक मीमांसा करते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्थ—कर्म (का स्वरूप) क्या है और अकर्म (का स्वरूप) क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पण्डित भी भ्रम में पड़े हुए हैं।

मैं तुझे वह कर्म (का रहस्य) बतलाऊँगा जिसे जान कर तू अशुभ से छूट जाएगा अर्थात् तेरा मोह दूर हो जायगा। कर्म (साधारणतया कर्म का व्यापक स्वरूप) अवश्य जानना चाहिए; विकर्म (न करने योग्य—निषिद्ध अथवा त्याज्य कर्म का स्वरूप) भी जानना चाहिए; और अकर्म (कर्म से सर्वथा रहित होने अर्थात् कर्म-शून्यता का स्वरूप) भी जानना चाहिए; क्योकि कर्म की गति गहन है। **जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् जो कर्म-रूप जगत् की निरन्तर परिवर्तनशील झूठी भिन्नता में अकर्म-रूप सच्चा एकत्व-भाव (सर्वत्र एक आत्म-तत्त्व—अपने आप) का अनुभव करता है, और अकर्म रूप सत्य, नित्य, अपरिवर्तनशील एकत्व-भाव (एक आत्म-तत्त्व—अपने-आप) में कर्म-रूप विश्व की कल्पित एवं परिवर्तनशील भिन्नता का बनाव देखता है—इस तरह जो कर्म-अकर्म में अभेद देखता है—वही मनुष्यो में बुद्धिमान् है और वही समत्वयोगी सम्पूर्ण कर्मो का कर्ता (कर्मो का स्वामी) है।** तात्पर्य यह कि मनुष्यो की कौन-कौन सी चेष्टाएँ कर्म रूप है, जिनके अच्छे-बुरे फल (शुभाशुभ परिणाम) में मनुष्य बँधता है, और कौनसी चेष्टाएँ अकर्म-रूप है जिनसे मनुष्य कर्म के शुभाशुभ परिणाम से मुक्त रहता है—इस विषय को अर्थात् कर्मों में फँसने और उनसे मुक्त होने के असली रहस्य को आत्मज्ञान के बिना, केवल सांसारिक विषयो में निपुण, बुद्धिमान् एवं शास्त्रज्ञ पण्डित लोग भी यथार्थतया नहीं जानते। बहुत से लोग तो सासारिक (गृहस्थी के) व्यवहार करने मात्र ही को बन्धन रूप कर्म समझते है—चाहे वे व्यवहार शुभ हो या अशुभ, विहित हो या निषिद्ध, चाहे वे पूर्व-कथित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार लोक-सग्रह के लिए किये जायँ, या व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, और चाहे वे व्यक्तित्व के भाव सहित किये जायँ, या व्यक्तित्व का अहंकार छोड़ कर; और उक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सब सासारिक (गृहस्थी के) व्यवहार छोड-छाड़ कर सन्यास धारण कर लेने, अथवा उद्यम-हीन होकर ध्यान में निमग्न हो जाने, अथवा समाधि लगाने, अथवा भजन, स्मरण आदि ईश्वराराधना में निरन्तर लगे रहने आदि को अकर्म अर्थात् कर्मो से रहित होना मानते हैं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं किन्तु भ्रमात्मक है। भगवान् अर्जुन को कहते है कि तू भी उसी भ्रम में पड कर गुण-कर्म-विभाग के सिद्धान्तानुसार अपने हिस्से में आये हुए कर्तव्य-कर्म (क्षात्र-धर्म) को बन्धन-रूप कर्म समझ कर उसे छोड कर अकर्मी बनने के मोह में पड़ा हुआ है, इसलिए मैं तुझे कर्म का असली तत्त्व बताता हूँ जिसे जानने से तेरा यह दु:खदायी मोह दूर हो जायगा। यह विश्व सब कर्म-रूप है, इसलिए कर्म किए बिना कोई भी रह नहीं सकता और सबके कर्मों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, इसलिए कर्मों की गति अर्थात् कर्मों का पसारा, प्रभाव और पहुँच अत्यन्त ही गहरी अर्थात् जगत् में सूक्ष्म

रूप से अत्यन्त व्यापक है। अतः कर्म और अकर्म के रहस्य को यथार्थतया जानने के लिए, पहले कर्म के इस स्वाभाविक एवं व्यापक स्वरूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। फिर जिस विधि से कर्म करने से बन्धन होता है, उस निषिद्ध अर्थात् न करने योग्य (त्याज्य) कर्म—जिसको विकर्म कहते हैं—उसका स्वरूप जानना चाहिए; और जिस विधि से कर्म करने से कुछ भी बन्धन नहीं होता, उस अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए। संसार कर्ममय होने के कारण कुछ न कुछ करना प्रत्येक देहधारी का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ, बन्धन करने वाले निषिद्ध कर्म अथवा (न करने योग्य) विकर्म रूप होती है, और किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ अकर्म (कुछ भी न करने यानी निष्कर्म) रूप हो जाती हैं—इस रहस्य को जानना प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भेद-वाद के शास्त्रो के विद्वान् लोग इस मर्म को समझ नहीं सकते कि जगत् की भिन्नता को सच्ची मानने के मिथ्या-ज्ञानयुक्त किये हुए कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से विहित अथवा शुभ प्रतीत हों तो भी वे निषिद्ध अथवा अशुभ विकर्म-रूप होते हैं। इसी तरह भिन्नता के मिथ्या-ज्ञानयुक्त, शरीरों के गुणो की योग्यता के स्वाभाविक एवं आवश्यक कर्तव्य-कर्मों का ममता और अहकार से त्याग भी विकर्म-रूप हो जाता है। अतः इस प्रकार भिन्नता के भाव से कर्म करना और त्यागना दोनों ही निषिद्ध एवं बन्धन रूप होते हैं—इसलिए दोनों ही से रहित होना चाहिए; और सर्वत्र एकता को सच्ची मानने के सत्य ज्ञान से ममता और अहंकार के बिना किये हुए सब प्रकार के कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से बन्धन-रूप अथवा निषिद्ध एवं अशुभ विकर्म-रूप प्रतीत होते हो, तो भी वास्तव में वे निर्बन्धन अकर्म-रूप ही होते है—इसलिए उन्हें अवश्य करना चाहिए। इस रहस्य को वही महापुरुष ठीक-ठीक जानता है जो विश्व की कल्पित भिन्नता में सच्ची एकता का अनुभव करता है, यानी इस जगत् को सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा ही के अनेक रूप समझता है—अपने-आप से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। वही समत्वयोगी सच्चा बुद्धिमान् है, सारे कर्म उसी के किये हुए हैं, यानी वह सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता—सब कर्मों से उत्तीर्ण—कर्मों का स्वामी है; और कर्म के रहस्य को यथार्थतया जानने वाला भी वही है (१६, १७, १८)। जिसके सभी व्यवहार अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के संकल्प से रहित होते है, अर्थात् जिसके मन में दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव ही उत्पन्न नहीं होता, और (सर्वत्र एकत्व-भाव के) आत्म-ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कर्म भस्म हो गये हैं, अर्थात् शुभाशुभ फल से शून्य अतः बन्धनरहित हो गये है, बुद्धिमान् लोग उसी को सच्चा विद्वान् कहते हैं (१९)। कर्मों के फल में आसक्ति न रख कर अर्थात् केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का ही भाव न रख कर (अपने आप में) सदा तृप्त अर्थात् अपने-आप को सदा परिपूर्ण अनुभव करने वाला, और (अपने से भिन्न किसी अन्य पर) निर्भर न रहने

वाला (स्वावलम्बी पुरुष), कर्मों में अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी (वास्तव में) वह कुछ भी नहीं करता (२०)। (जो दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की) आशा से रहित है और जिसने मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है, तथा पदार्थों के सग्रह में जिसका ममत्व छूट गया है, वह (अपने स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार) अपने शरीर के स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता (२१)। (उपरोक्त रीति से कर्म करने से) जो कुछ सहज ही लाभ हो जाय उसी में सन्तुष्ट, (हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दु.ख आदि) द्वन्द्वो से परे अर्थात् इनसे ऊपर उठा हुआ, ईर्ष्या-द्वेष आदि से रहित, और कर्मों की सफलता अथवा असफलता में एक समान निर्विकार रहने वाला अर्थात् हानि-लाभ, जय-पराजय आदि से विचलित न होने वाला पुरुष (सब प्रकार के कर्म) करता हुआ भी बन्धन से सर्वथा रहित होता है (२२)। सर्वत्र एकत्व-भाव रूपी आत्मज्ञान में स्थित चित्त वाले, आसक्ति-रहित मुक्त पुरुष के, यज्ञ (लोक-संग्रह) के निमित्त किये हुए सारे कर्म विलीन हो जाते है, अर्थात् अकर्म-रूप हो जाते है। अर्पण अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और कर्म करने के हथियार आदि साधन ब्रह्म है; हवि अर्थात् कर्म करने का द्रव्य (व्यवसाय की वस्तु) ब्रह्म है; अग्नि, अर्थात् जिसके उद्देश्य से कर्म किया जाता है वह ब्रह्म है, और होता अर्थात् कर्म का कर्ता ब्रह्म है, इस तरह कर्म करने में जिसका सर्वत्र ब्रह्म-भाव होता है, उसकी स्थिति ब्रह्म ही में होती है अर्थात् वह स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जिनको आत्मज्ञान होता है उनके चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सभी व्यवहार केवल लोक-सग्रह रूपी-यज्ञ के लिए होते है, उनमें व्यक्तित्व का भाव कुछ भी नहीं रहता; और सब व्यवहारो में उनको सर्वत्र ब्रह्म अथवा अपने वास्तविक आप का ही अनुभव होता है। सव वर्णों तथा सब व्यवसायो (पेशो) के करने वालो, उनके व्यवसायो, व्यवसाय करने के साधनो, तथा जिन वस्तुओ या पदार्थो के व्यवसाय किये जाते है उनको, और जिन लोगो से उनके व्यवसायो का संबंध होता है उन सवको वे एक ही आत्मा के अनेक रूप समझते है; अत वे स्वयं और उनके सव कर्म ब्रह्म अथवा आत्म-स्वरूप ही होते है। उनके लिए कर्मों के वन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता—जहाँ एक से अनेक होने का भाव होता है वहीं वन्धन होता है (२३-२४)।

स्पष्टीकरण—तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने पूछा था कि मेरे लिए अपने क्षात्र-धर्मानुसार युद्धादिक घोर (हिंसात्मक) कर्म करना कल्याणकर है या सव कर्मो को छोड कर अकर्मी हो जाना और आत्मज्ञान में लग जाना ठीक है; उसके उत्तर में भगवान् ने सवके लिए, अपने-अपने शरीरो के स्वाभाविक गुणो की योग्यता के कर्म, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार, आत्मज्ञान-युक्त साम्य-भाव से करना श्रेयस्कर वताया। अब भगवान्

कर्म (कर्म करने) और अकर्म (कर्म से रहित होने) का तात्त्विक विवेचन करके अर्जुन का संशय अच्छी तरह मिटाते है। भगवान् कहते है कि आत्मा (सबके अपने वास्तविक आप) की क्रिया-शील त्रिगुणात्मक प्रकृति का नाना भावो युक्त बनाव—क्रिया-प्रतिक्रिया-स्वरूप यह विश्व—कर्म-रूप ही है, अर्थात् समष्टि (सबके) स्वाभाविक कर्मों ही से विश्व का अस्तित्व है; और इस (विश्व) में सर्वत्र वास्तविक एकता होने के कारण प्रत्येक कर्म का प्रभाव जगत् में सूक्ष्म रूप से अत्यन्त विस्तृत होता है। किसी भी व्यक्ति के कर्मों का संबंध और प्रभाव किसी देश-विशेष, काल-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष तक ही परिमित नहीं रहता, किन्तु सबके कर्मों का संबंध और प्रभाव स्थूल अथवा सूक्ष्म (दृष्ट अथवा अदृष्ट) रूप से जगत् में अत्यन्त व्यापक और विस्तृत होता है। अतः कर्म-अकर्म का यथार्थ रहस्य सर्वभूतात्मैक्य—आध्यात्मिक ज्ञान के बिना, केवल आधिभौतिक और आधिदैविक भेद-भाव की दृष्टि से जाना नहीं जा सकता—चाहे भेद-भाव के शास्त्रो का कितना ही अध्ययन किया जाय और उन पर कितना ही विचार किया जाय। जगत् की नाना प्रकार की भिन्नताओं को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्म-अकर्म का निर्णय, कर्म के स्थूल रूप और उससे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ की दृष्टि से, अथवा भेद-वाद के शास्त्रो में वर्णित, मरने के बाद प्राप्त होने वाले सुख-दुःख अथवा स्वर्ग-नरक आदि के विचार ही से करते है—कर्मो के सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव और उनसे होने वाले दृष्ट व अदृष्ट समष्टि हिताहित का सूक्ष्म एवं व्यापक विचार वे नहीं करते। उनमें से बहुत से विद्वान् लोग तो संसार अथवा गृहस्थी के व्यवहार-मात्र ही को बन्धन-रूप कर्म समझते है—चाहे कोई व्यवहार शुभ हो या अशुभ, विहित हो या निषिद्ध, और चाहे वह किसी भी विधि से और किसी भी भाव से किया जाय—उनकी दृष्टि में सभी व्यवहार बन्धन के हेतु होते है; और संसार अथवा गृहस्थी के सारे व्यवहारों को छोड कर निरुद्यमी हो जाना अर्थात् संन्यास ले लेना ही वे मोक्ष का साधन—अकर्म समझते है; क्योकि उनके मतानुसार, यह दुःखदायी एवं बन्धन-रूप जगत् कर्मों पर ही निर्भर होने के कारण, जब तक जगत् को बनाये रखने के हेतु-भूत कर्म किये जाते है, तब तक न तो यह जंजाल मिटता है और न इससे छुटकारा ही होता है; इसलिए कर्मो को सर्वथा त्याग देने से जगत् रूपी जंजाल से मनुष्य का संबंध-विच्छेद हो जाता है, तब शरीर छूटने (मरने) के बाद मुक्ति प्राप्त हो जाती है–फिर जन्म-मरण के चक्कर में आना नहीं पड़ता। दूसरे पण्डित लोग यह कहते है कि यज्ञादिक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य आदि परोपकार के कार्य, और ईश्वरोपासना, जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया, अहिंसा आदि शुभ कर्मों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए (गी० अ० १८ श्लो० ३)। उनके मत में इन शुभ कर्मों से बन्धन नहीं होता, किन्तु इनसे पुण्य उत्पन्न होकर मरने के बाद स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति-रूप मुक्ति हो जाती है; इसलिए ये कर्म बन्धन के हेतु नहीं, किन्तु मोक्ष के हेतु—

अकर्म है। कई विद्वान् कहते है कि किसी प्रयोजन-सिद्धि की कामना से जो कर्म किये जाते है उन्हीं से बन्धन होता है, इसलिए ऐसे काम्य-कर्मों को सर्वथा छोड़ देना ही मोक्ष का हेतु—अकर्म है। और कई बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म करने में कोई बन्धन नहीं है, बन्धन कर्म के फल में है, इसलिए कर्म का फल छोड देना ही अकर्म है (गी० अ० १८ श्लो० २)। भगवान् कहते है कि कर्म-अकर्म का उपर्युक्त विवेचन, आध्यात्मिक विचार की सच्ची कसौटी पर जांच करने पर ठीक नहीं उतरता। कर्म-अकर्म का यथार्थ निर्णय करने के लिए सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चेतना-युक्त शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) सभी कर्म-मय हैं; क्योकि चेतना क्रिया-शील है, इसलिए कोई भी सचेतन पदार्थ कर्म करने से सर्वथारहित हो नहीं सकता। अपने-अपने शरीरो के स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार साधारणतया कुछ न कुछ चेष्टाएँ सब को करनी होती है, चाहे कोई कितना ही त्यागी हो या ज्ञानी अथवा संन्यासी (गी० अ० ३ श्लो० ३३)। कई लोगो का मत है कि शरीर और जगत् कर्म-मय है तो भले ही हो—हमें उनसे क्या मतलब? हमें तो अपनी मुक्ति से प्रयोजन है, सो सब कर्म छोड-छाड कर जगत् और शरीर से पृथक् होने से वह प्राप्त हो जायगी; हमारे कर्म न करने से शरीर छूट जायगा अथवा जगत् का प्रलय हो जायगा तो सारा झंझट ही मिट जायगा। परन्तु यह समझ गलत है, क्योकि दूसरो से पृथक् व्यक्तित्व के भाव से न तो कोई जगत् से अलग हो सकता है और न मर कर मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है। पृथक्ता के भाव से जगत् का प्रलय भी कोई नहीं कर सकता, क्योकि पृथक्ता का भाव ही तो जगत् की भिन्नता का बनाव है और वही बन्धन एव दु:खरूप प्रतीत होता है। बन्धन और मोक्ष सापेक्ष द्वन्द्व है, अर्थात् जब बन्धन माना जाता है तब उससे छुटकारा पाने को मोक्ष कहते है। जीवात्मा जब अपने को दूसरो से पृथक् व्यक्ति मानता है, तभी वह अपने लिए बन्धन उत्पन्न करता है; और जब उस पृथक्ता के भाव को मिटा कर पूर्ण एकता का अनुभव कर लेता है, तब (अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न) बन्धन मिट जाने से अपने को मुक्त मानता है। प्रकृति और पुरुष के सयोग से होनेवाले इस जगत् के सभी बनाव द्वन्द्व अर्थात् जोडे के रूप में है, और सभी द्वन्द्व अर्थात् जोडे सापेक्ष एवं सम है, यानी एक ही वस्तु के दो रूप होने के कारण वे समान परिमाण में रहते है। उनमें से किसी का भी पृथक् अस्तित्व नहीं होता। जो इन जोडो की आपस की भिन्नता एव विषमता को सच्ची मानता है वह इनके बन्धन में बँधता है, परन्तु जो इनको एक ही वस्तु के दो रूप समझता है अर्थात् इनकी वास्तविक एकता का अनुभव करता है, उसकी दृष्टि में ये द्वन्द्व सम होकर शान्त हो जाते है, यानी उसको इनसे कोई विक्षेप नहीं होता, अत. वह सदा मुक्त रहता है। तात्पर्य यह कि मुक्ति कोई स्वतत्र या पृथक् पदार्थ नहीं है कि जिसकी प्राप्ति किसी विशेष क्रिया के करने अथवा न करने से होती है, अथवा जिसके लिए किसी विशेष देश (गो-लोक, ब्रह्म-लोक आदि लोकान्तर) में जाना पडे, अथवा किसी काल-

विशेष की प्रतीक्षा करनी पड़े, अथवा किसी एक शरीर को छोड़ कर दूसरा रूप धारण करने की आवश्यकता पड़े। मुक्ति के लिए न किसी से अलग होने की आवश्यकता है, न सबको मटियामेट करके सुनसान कर देने ही की जरूरत है। मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता का अनुभव तो अपने आपके वास्तविक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से, यहाँ का यहाँ, इसी शरीर में, जगत् में रहते हुए और सब व्यवहार करते हुए ही होता है। दूसरे शब्दो में अपने-आपके वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति है। द्वैत-भाव जितना ही अधिक मिट कर दूसरो के साथ एकता का अनुभव होता है, और जितना ही अधिक दूसरो के साथ एकता का व्यवहार होता है, उतना ही अधिक स्वतन्त्रता या मुक्ति का अनुभव होता है। जब सारा द्वैत-भाव मिट कर सर्वत्र एकता का पक्का अनुभव हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप पूर्ण साम्य-भावयुक्त आचरण होने लगते है, तब सारा जगत् अपना ही स्वरूप दीखने लगता है। फिर अपने से भिन्न न किसी बाँधने वाली वस्तु का भ्रम रहता है और न किसी मुक्त करने वाली का। न कुछ त्यागने को रहता है और न ग्रहण करने को। सर्वत्र अपना-आप ही रहता है, जो न बन्धन का विषय है और न मोक्ष का। यदि मनुष्य शरीर के रहते ही अपने-आपके परिपूर्ण सर्वात्म-भाव का अनुभव न हुआ, और पृथक् व्यक्तित्व के भाव को सर्वात्म-भाव में लय नहीं किया, अर्थात् सबको अपना ही स्वरूप नहीं जाना, तो मरने के बाद मुक्ति किस साधन से होगी और उस मुक्ति का स्वरूप क्या होगा ? मन और बुद्धि के व्यवहार न रहने से मुक्ति का अनुभव ही किस साधन से होगा ? कुछ भी न रहने की शून्यता तो मुक्ति है ही नहीं ! न जड़ता ही मुक्ति है ! बेहोशी अथवा सुषुप्ति अथवा जड़ अवस्था में भी मन और बुद्धि के व्यवहार नहीं होते और न क्लेशो की प्रतीति ही होती है, परन्तु वह मुक्ति नहीं है। मुक्तावस्था तो वह है कि जिसमें निरपेक्ष, एवं देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, पूर्ण आनन्द रहे, और जिस आनन्द की प्रतिक्रिया न हो। मरने के बाद की जिस मुक्ति अथवा सुख-शान्ति अथवा स्वर्ग की आशा की जाती है वे तो काल-परिच्छेद, देश-परिच्छेद और वस्तु-परिच्छेद वाले है, अर्थात् वे वर्तमान काल में, इसी लोक में और इसी शरीर में नहीं होते। वर्तमान की सारी आयु तो ग्रहण और त्याग, विधि और निषेध एवं दूसरो की दासता तथा खुशामद आदि के बन्धनो और शारीरिक कष्टो में बिताई जाय, और फिर मरने के बाद मुक्ति की आशा रखी जाय, यह कोरा भ्रम है।

यज्ञादिक धार्मिक एव साम्प्रदायिक कर्म-काण्ड, दान, पुण्य आदि परोपकार के कार्य, और जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया और अहिंसा आदि शुभ कर्म अज्ञानी लोगो की आधिभौतिक दृष्टि से श्रेष्ठाचार अवश्य माने जाते है, और आधिदैविक दृष्टि से व्यक्तिगत पारलौकिक सुखो के साधन माने जाते है; परन्तु उनमें पृथक् व्यक्तित्व का भाव, कर्तापन का अहंकार तथा फलासक्ति आदि बने रहने के कारण वे अकर्म-रूप नहीं है।

इन शुभ कर्मों के फलस्वरूप मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होकर जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तब फिर वहाँ से गिरावट होती है ऐसा माना जाता है (गी० अ० ९ श्लो० २६)। इसके अतिरिक्त सभी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, अथवा दान-पुण्य आदि परोपकार के कार्य, अथवा जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया, अहिंसा आदि सदा-सर्वदा शुभ-कर्म नहीं माने जाते; क्योंकि यज्ञ, दान और तप, सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के होते हैं (गी० अ० १७ श्लो० ११ से २२); इनमें से सात्विक यज्ञ, दान और तप ही शुभ कर्म है, दूसरे नहीं।

इसी तरह पृथक्ता के भाव से किया हुआ काम्य-कर्मों का और सारे कर्म-फलों का त्याग भी अकर्म नहीं है; क्योंकि व्यक्तित्व के भाव से किया हुआ किसी भी प्रकार का त्याग वास्तव में त्याग नहीं होता (गी० अ० १८ श्लो० ८)। कर्म करने में कामना का सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि बिना उद्देश्य के कोई भी चेष्टा नहीं होती। बुद्धियुक्त प्राणी की प्रत्येक चेष्टा कुछ न कुछ उद्देश्य लेकर ही होती है। इसी तरह कर्म-फल का भी सर्वथा त्याग नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है, अतः कर्म के साथ फल और फल के साथ कर्म बने ही रहते हैं। प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य ही होता है। परन्तु जो लोग केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से कर्म करते हैं और कर्म-फलो से केवल अपना ही स्वार्थ-साधन करते है, वे ही कर्मो में बँधते है। जो सबके हित के उद्देश्य से अपने शरीर की योग्यता के कर्म करते हैं और उनके फल से सबको लाभ पहुँ-चाते हैं वे नहीं बँधते—वे वास्तव में अकर्मी हैं। यद्यपि साधारणतया अज्ञानी लोगो को कर्मों के फल भोगने में स्वतन्त्रता प्रतीत नहीं होती; परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होता है वे इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्र होते है। उनकी सर्वात्म-भाव में स्थिति हो जाने के कारण उनके कर्मों के फल किसी व्यक्ति-विशेष तक ही परिमित नहीं रहते, किन्तु उनमें सब का साझा होता है। उनके कर्मो के अच्छे (अनुकूल) फल में पुण्यात्माओ का साझा होता ह और बुरे (प्रतिकूल) फल में पापात्माओ का। जो यह कहा जाता है कि प्रारब्ध कर्मों के फल ज्ञानवानो को भी भोगने पडते है, सो भी पूर्णतया ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान होने पर सारे कर्म भस्म हो जाते है, चाहे वे सचित हो या प्रारब्ध, क्रियमाण हो या आगामी (गी० अ० ४ श्लो० ३७)। तात्पर्य यह कि ज्ञानी को कर्मो के फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ भी नहीं रहती, अतः वे उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालते। उसके सभी कर्मो के फल वास्तव में सबके लिए होते है, इसलिए वह स्वय पूर्ण स्वतत्र रहता है। कर्म-फल भोगने में थोडी या बहुत स्वतन्त्रता तो साधारण लोगो को भी है। जब अच्छे कर्मो के फलस्वरूप अच्छे-अच्छे मिष्ठान्न भोजन आदि भोग्य-पदार्थ प्राप्त हो तो उनको भोगे या न भोगे—अपने अधिकार की बात है। यह बात प्रत्यक्ष है कि राजस-तामस आहार से तथा राजस-तामस अन्य पदार्थों के भोग से रोगादि अनेक उपाधियाँ उत्पन्न होती है;

यदि कोई व्यक्ति अपने मन को वश में रख कर राजस-तामस भोगो को न भोगे तो वह उन दु:खो से भी बच जाता है। इस तरह से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भोगने में, मन के संयम की कमी-बेशी के अनुसार, थोड़ी या बहुत स्वतन्त्रता सब को है। जब कि साधारण अज्ञानी लोगो को भी फल भोगने में कुछ स्वतन्त्रता है, तो फिर आत्मज्ञानी तो सारे कर्मो का स्वामी होता है, उसको अच्छे और बुरे फल भोगने व न भोगने में पूर्ण स्वतन्त्रता होने में सन्देह ही क्या हो सकता है ? सभी शरीर उसी के है। जिस शरीर की जैसी योग्यता हो उससे उसी तरह के भोग भोगता हुआ भी वास्तव में वह कुछ भी नहीं भोगता—सर्वथा अभोक्ता रहता है। यह बात अवश्य है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव अर्थात् आत्मज्ञान में जितनी अधिक स्थिति होती है, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता कर्म और फल के विषय में होती है। परन्तु फल-रहित कोई कर्म नहीं होता और न कर्म-फल को सर्वथा त्याग देने की आवश्यकता ही है।

सारांश यह कि चेतनायुक्त सभी सृष्टि कर्ममय होने के कारण जगत् में कर्म सर्वव्यापक है, उससे सर्वथा रहित होकर कोई अकर्मी नहीं हो सकता। और स्वाभाविक कर्मो में साधारणतया कोई बन्धन और मोक्ष की शक्ति भी नहीं है। बन्धन और मोक्ष कर्ता के भाव और करने की विधि पर निर्भर है। अब देखना चाहिए कि किस भाव और किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म, दु:ख-रूप एवं बन्धन के हेतु होते हैं—जिनकी विकर्म संज्ञा है; और किस भाव एवं किस विधि से किये हुए अथवा न किये हुए कर्म निर्बन्धन—अकर्म रूप होते है।

कर्म करना—प्रवृत्ति, और न करना अथवा त्यागना—निवृत्ति भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है। राजस और तामस प्रवृत्ति अर्थात् पृथक्ता के राजस और विवेकशून्य तामस ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २१-२२), अयथार्थ और विपरीत निर्णय करने वाली राजस एवं तामस बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३१-३२), तथा राग, द्वेष और प्रमाद के राजस एवं तामस भाव (गी० अ० १८ श्लो० २७-२८) युक्त, फलासक्त और विषाद-पूर्ण राजस एवं तामस धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३४-३५) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अथवा कोरी मूढता से किये जाने वाले राजस और तामस कर्म (गी० अ० १८ श्लो० २४-२५) बन्धन के हेतु—विकर्म होते है। इसी तरह राजस और तामस निवृत्ति, अर्थात् कर्मो को दु:ख और कष्टदायक जान कर, अथवा निरी मूर्खता से किया हुआ राजस अथवा तामस कर्म-त्याग (गी० अ० १८ श्लो० ७-८) भी बन्धन का कारण—विकर्म होता है। दूसरी तरफ सात्विक प्रवृत्ति, अर्थात् सबकी एकता के सात्विक ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २०), यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) तथा असंग, अनहंकार, धैर्य, उत्साह और अविचलता के सात्विक भाव (गी० अ० १८ श्लो० २६) युक्त, सभी व्यवहार यथायोग्य साम्य-भाव से धारण

करने की सात्विक धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३३) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर किये जाने वाले सात्विक कर्म (गी० अ० १८ श्लो० २३) वास्तव में अकर्म है। यही सच्चा सात्विक त्याग अर्थात् सच्ची निवृत्ति है (गी० अ० १८ श्लो० ९ से ११)।

यह पहले कह आये हैं कि जगत् की भिन्नता को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्मों के बाहरी स्थूल रूप और उनसे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ ही को अधिक महत्त्व देते है, क्योकि उनकी दृष्टि व्यक्तित्व के भाव तक ही सकुचित रहती है; अतः प्रत्येक कर्म का प्रभाव विशेष व्यक्तियो तक ही सीमावद्ध मान कर वे कर्म-अकर्म का निर्णय करते हैं, अर्थात् किसी कर्म का प्रत्यक्ष हानि-लाभ, उस कर्म के करने वाले, और जिनसे उस कर्म का प्रत्यक्ष सम्पर्क दीखता हो उनको क्या होता है—इसी वात को, अथवा भेद-वाद के शास्त्रो में वर्णित उन कर्मो के फलस्वरूप, मरने के वाद स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःख की प्राप्ति के विचार को ही वे विशेष महत्त्व देते है; समष्टि जगत् अथवा समाज की व्यवस्था पर उस कर्म का सूक्ष्म प्रभाव, अप्रत्यक्ष रूप से क्या पड़ेगा, इस वात पर वे ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि कर्मों के वाह्य रूप पर ही विहित अथवा शुभ कर्म, एवं निषिद्ध अथवा अशुभ—विकर्म का स्वरूप वे सदा के लिए निश्चित कर लेते है; और विहित अथवा निषिद्ध, कुछ भी न करने को अकर्म मान लेते है। उदाहरणार्थ :—(१) चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार व्यवसाय करना वे केवल इसीलिए विहित मानते है कि उनसे उन व्यवसायो के करने वालो तथा उनके कुटुम्ब आदि की आजीविका और अर्थोपार्जन होते है। इसके अतिरिक्त जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के समष्टि-हित का भाव उनके मन में नहीं रहता; फलतः वे गुणो की योग्यतानुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर स्थिर न रह कर जिस रीति से द्रव्योपार्जन अधिक हो वही काम करने लग जाते है। यदि वश-परम्परागत व्यवसाय करने से अधिक धन प्राप्त हो तो वही करते हैं, नहीं तो जिन कामो से द्रव्योपार्जन अधिक होता हो उन्हें करने लग जाते है। इस तरह वर्ण-व्यवस्था को विगाड़ कर उसके असली प्रयोजन और उसके वास्तविक लाभ से वचित रहते है। (२) सत्य वोलना, हिंसा न करना, किसी का धन न छीनना, क्षमा करना, शुद्धता रखना, इन्द्रियो का निग्रह करना आदि सदाचारो को वे इसलिए श्रेष्ठ धर्म मानते है कि इनका आचरण करने वाला पुण्य का भागी होता है, उसका अन्त करण शुद्ध होता है, वह श्रेष्ठ माना जाता है, और जिनके साथ उक्त सदाचारो का सवंध होता है उनको सुख होता है। परन्तु उनके सिवाय दूसरे लोगो को उन व्यवहारो से हानि-लाभ—प्रत्यक्ष में अथवा अप्रत्यक्ष में सूक्ष्म रूप से क्या होगा, इसका वे समुचित विचार नहीं करते। इन सदाचारो को वे प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ और नित्य-धर्म-रूप—अवश्य कर्तव्य मानते है। यद्यपि साधारणतया इन सदाचारो से लोगो को वहुत लाभ होता है, इसलिए ये वास्तव में

ही शुभ कर्म है। परन्तु अनेक अवसर ऐसे भी आते है जब कि राजस-तामस भाव से करने पर इन सदाचारो से जनता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बहुत हानि पहुँचती है और जगत् अथवा समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है—इस विषय की वे भेदवादी विद्वान् लोग उपेक्षा करते है। (३) काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, अभिमान, हिंसा आदि को वे इसलिए निषिद्ध एवं पाप-रूप मानते है कि इनके आचरण करने वाले को पाप लगता है, दु.ख होता है और उसका अन्तःकरण मलिन होता है; और इनके आचरण का जिनसे संबंध होता है उनको भी हानि और कष्ट होता है। यद्यपि साधारणतया इनके आचरण से लोगो को हानि और कष्ट अवश्य ही होता है, इसलिए ये त्याज्य है। परन्तु अनेक अवसर ऐसे आते है कि जगत् और समाज की सुव्यवस्था के लिए सात्विक भाव से किया हुआ इनका आचरण लोगो के लिए हितकर होता है; अतः वह अवश्य-कर्तव्य होता है, क्योकि ऐसे अवसरो पर इनके बिना लोगो का बड़ा अहित होता है। इस बात को वे लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते। (४) धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, पूजा, पाठ, जप, तप, दान आदि धार्मिक कृत्यो को वे इसलिए अवश्य-कर्तव्य नित्य-धर्म मानते है कि उनकी मान्यतानुसार इनके करने वालो को सद्गति मिलती है यानी मरने के बाद स्वर्गादि ऊर्ध्व लोक प्राप्त होते है, उनकी आत्मिक उन्नति होती है, और अन्त में उनकी मुक्ति हो जाती है; लोगो में वे धर्मात्मा कहलाते है, और दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके व्यक्तिगत लाभ उठाते है। कई व्यक्तियो को इन कृत्यो से आर्थिक लाभ भी होता है; और इन कृत्यों को न करने वालो की दुर्गति होती है, वे नरक में पड़ते है और अधर्मी एवं नास्तिक कहलाते है। इस बात पर वे ध्यान नहीं देते कि अनेक अवसरो पर ये धार्मिक कृत्य बड़े-बड़े अनर्थों, अत्याचारो और भयानक विप्लवो के कारण हो जाते है और समाज के विध्वंस के हेतु बन जाते है।

परन्तु, जिनको सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान अर्थात् सारे जगत् की एकता का यथार्थ अनुभव होता है, वे कर्मो के उक्त बाह्य रूप से तथा व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से ही उनके अच्छे-बुरेपन, अथवा धर्म-अधर्म, अथवा शुभ-अशुभ, अथवा विहित-निषिद्ध का निर्णय नहीं कर लेते, किन्तु उन कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से समष्टि जगत् और समाज की व्यवस्था पर क्या पड़ेगा, इस एकत्व-भाव की व्यापक दृष्टि से निर्णय करते है। इस सिद्धान्तानुसार व्यष्टि हानि-लाभ के विचार समष्टि हानि-लाभ के अन्तर्गत रहते है, क्योकि जगत् में सर्वत्र वस्तुतः एकता होने के कारण कोई भी व्यक्ति दूसरों को हानि करके आप अकेला लाभ नहीं उठा सकता, दूसरो का अहित करके अकेला अपना हित नहीं कर सकता, और दूसरो को दु.खी करके अकेला सुखी नहीं हो सकता। यदि ऐसा अस्वाभाविक प्रयत्न किया जाता है, तो क्रिया की प्रतिक्रिया होकर इस तरह के प्रयत्न करने वाले को ही हानि पहुँचती है। वास्तविक लाभ, हित अथवा सुख तो सबके साथ

एकता का अनुभव करने अर्थात् "अनेको में एक और एक में अनेक" देखने से होता है; इसलिए आत्मज्ञानी महापुरुष इसी एकता के अनुभव से गुणो के अनुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का आचरण, समष्टि-लोक-हित यानी जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त करते हैं। जब तक वंश-परम्परागत व्यवसाय (पेशा) करने के गुणो की योग्यता शरीर में होती है, तब तक वह व्यवसाय करते है; परन्तु जिस समय शरीर में उक्त गुणो की योग्यता न रहे अथवा उस व्यवसाय की समाज को आवश्यकता न रहे, तब गुणो की योग्यता और परिस्थिति की आवश्यकतानुसार व्यवसाय बदल कर शरीर के वर्तमान गुणो की योग्यता का व्यवसाय स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करते। जिससे सच्ची लोक-सेवा होती हो और समाज की सुव्यवस्था बनी रहती हो, वही ऊँचा अथवा नीचा माना जाने वाला व्यवसाय आवश्यकतानुसार बड़ी प्रसन्नता से कर लेते है—किसी वर्ण-विशेष के व्यवहारो ही में आसक्ति नहीं रखते।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, क्षमा, शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि सदाचार जब तक सूक्ष्म विचार से सबके लिए हितकर होते है, तब तक वे उन्हें अवश्य करते है; परन्तु जब कभी समष्टि दृष्टि से वे हानिकारक या अहितकर होते है, तब वे उन सदाचारो की उपेक्षा कर देते है; ऐसी दशा में वे उनको निषिद्ध अथवा त्याज्य विकर्म समझते है, चाहे स्थूल दृष्टि से वे विशेष व्यक्तियो के लिए लाभकारी अथवा सुखदायक क्यो न दीखते हो। इसी तरह काम, क्रोध, दम्भ, मान, लोभ, भय, हिंसा आदि निषिद्ध माने जाने वाले आचरण यदि समष्टि दृष्टि से समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक एव लोक-हितकर हो, तो उनको विहित कर्म समझ कर वे अवश्य करते है; उनसे व्यक्तिगत हानि अथवा क्लेश होने की परवाह नहीं करते। (इस विषय का विशेष खुलासा प्रसगानुसार यथास्थान आगे किया जायगा)।

इस प्रकार आत्मज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते है कि किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, विकर्म होता है; और किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, अकर्म होता है।

जो इस तरह "अनेको में एक और एक में अनेक" अर्थात् कल्पित पृथक्ता के भाव में सच्चे एकत्व-भाव के यथार्थ ज्ञान से प्रवृत्ति और निवृत्ति, अथवा कर्म-योग और सन्यास के अभेद (गी० अ० ५ श्लो० ३ से ५) के रहस्य को यथातथ्य जानता है, वह सारे कर्मो से पारगत, सब कर्मो का अधिष्ठाता, सब कर्मों का स्वामी और कर्म के सिद्धान्त को यथार्थ जानने वाला सच्चा पण्डित होता है, और वही कर्म-अकर्म के विषय में सच्चा निर्णायक और आदर्श दिखाने वाला होता है। वह सर्वात्म-भाव के समत्व-योग में स्थित महापुरुष ससार के सब प्रकार के अच्छे और बुरे माने जाने वाले कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता (गी० अ० १८ श्लो० १७)। वह महाकर्ता और साथ ही महा-अकर्ता होता

है। उसकी दृष्टि में कर्ता, कर्म, करण, देश, काल, वस्तु आदि सब ब्रह्म रूप अथवा अपने-आपके स्वरूप होते हैं। इसलिए उसके व्यवहारो में कर्म-रूपता कुछ भी नहीं रहती। लौकिक स्थूल दृष्टि से उसके व्यवहार शुभ हो या अशुभ, विहित हों या निषिद्ध, उच्च हो या नीच, लाभदायक हो या हानिकारक, पवित्र हो या मलिन, पुण्य हो या पाप—वह महापुरुष भेद-बुद्धि से रहित होने के कारण इन द्वन्द्वो से परे होता है, और सर्वत्र एकत्व-भाव के सात्विक-ज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने का ज्ञान-यज्ञ करता रहता है।

× × ×

संसार के कर्म-रूप होने के कारण अर्थात् सबके कर्मों पर निर्भर रहने के कारण सबके कर्म संसार को धारण करने वाले यज्ञ होते हैं; परन्तु यज्ञ भी सात्विक, राजस और तामस भेद से कई प्रकार के होते हैं। श्लोक २४ तक भगवान् ने एकत्व-भाव के सात्विक-ज्ञानयुक्त, सात्विक यज्ञ अथवा ज्ञान-यज्ञ का स्वरूप और उसकी महिमा कही। अब व्यष्टि-भाव से किये जाने वाले दूसरे प्रकार के यज्ञो का थोड़ा-सा उल्लेख करके बताते हैं कि यद्यपि ये भी यज्ञ ही माने जाते हैं, परन्तु सच्चा यज्ञ ज्ञान-यज्ञ ही है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी (कर्मों में लगे हुए लोग) दैव-यज्ञ को ही करते हैं, अर्थात् सांसारिक सुखो के लिए देवताओ की उपासना करते हैं; और दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ को यज्ञ से ही होमते हैं, अर्थात् कई लोग ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति के लिए अपने यज्ञो को उस ब्रह्म के अर्पण करने रूपी यज्ञ करते हैं (२५)। कई लोग कान आदि इन्द्रियो को संयमरूपी अग्नि में होमते हैं; और कई शब्द आदि विषयो को इन्द्रियरूपी

अग्नि में होमते है। तात्पर्य यह कि कई लोग इन्द्रियों के नियन्त्रण यानी उनको अपने विषयों से हटाने रूपी यज्ञ करते है, और कई लोग इन्द्रियों के विषयो को विधिवत् भोगते रहने का यज्ञ करते है (२६)। और कई लोग, इन्द्रियो और प्राणो के सारे व्यापारो को, ज्ञान से प्रकाशित अन्त.करण के सयम रूप योग-अग्नि में होमते है, अर्थात् आत्म-विचारपूर्वक मन को सब इन्द्रियो और प्राणो की क्रियाओ से हटा कर उसे एकाग्र करने के प्रयत्न में लगे रहते है (२७)। कई द्रव्य-यज्ञ अर्थात् परोपकार के लिए द्रव्यादि को लगाने रूप सात्विक दान देने, कई तप-यज्ञ (सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक तप करने), कई योग-यज्ञ (पातंजल राज-योग का अभ्यास करने), कई स्वाध्याय-यज्ञ (पढने-पढ़ाने), और कई ज्ञान-यज्ञ (आत्मा का विचार करने) में यत्नशील होकर अत्यन्त दृढ़ व्रत से लगे रहते है (२८)। कई लोग प्राण अर्थात् श्वास को अन्दर खींचने, और अपान अर्थात् श्वास को बाहर छोडने की गति को रोकने द्वारा प्राणायाम करके अपान को प्राण में और प्राण को अपान में होमते है, अर्थात् श्वास लेना और छोड़ना कुछ समय के लिए रोक कर प्राण और अपान की एकता करके, प्राणायामरूपी यज्ञ करते है (२९)। कई नियत आहार करने वाले कर्मयोगी प्राणो को प्राणो में होमते है, अर्थात् नियमित भोजन करके श्वास-प्रश्वास की गति पर ध्यान लगाने द्वारा मन और इन्द्रियो का नियन्त्रण करने रूपी यज्ञ करते है। यज्ञो द्वारा पाप नाश किये हुए ये सभी लोग यज्ञ के जानने वाले है; अर्थात् उपर्युक्त चेष्टाएँ करने वाले लोग इन सब क्रियाओ को यज्ञ समझ कर ही करते है और ऐसा मानते है कि इनसे हमारे पाप नष्ट हो जावेंगे (३०)।

× × ×

अब भगवान् उपर्युक्त विविध प्रकार के यज्ञो की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान सहित किये जाने वाले यज्ञ की श्रेष्ठता और उसकी अकर्म-रूपता का प्रतिपादन करके, उक्त ज्ञान की प्राप्ति के साधन और उसका माहात्म्य कह कर, फिर उस ज्ञानयुक्त, अपने स्वाभाविक कर्म करने के उपदेश को दुहराते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

अर्थ—यज्ञ के अवशिष्ट (परिणामरूप) अमृत को भोगने वाले मनुष्य (स्त्री-पुरुष) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (परन्तु) हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! यज्ञ से रहित (मनुष्य) का यह लोक भी नहीं है, तो दूसरा कहाँ ? तात्पर्य यह कि अपने-अपने शरीर की योग्यतानुसार अपना-अपना कर्तव्य-कर्म, सबकी एकता के ज्ञान-युक्त, लोक-संग्रह यानी समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था के लिए करने रूपी यज्ञ से जो कुछ पदार्थ प्राप्त हो, उनसे दूसरो को यथायोग्य लाभ पहुँचाते हुए, जो उनको अपने उपयोग में लेते हैं वे सनातन ब्रह्म-रूप हो जाते हैं। परन्तु जो इस तरह लोक-संग्रह के लिए अपने कर्तव्य-कर्म रूपी यज्ञ नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं, अथवा पशु-पक्षियो की तरह केवल अपने शारीरिक सुखो के लिए ही दौड़-धूप करते रहते है, वे लोग इस लोक में भी किसी योग्य नहीं रहते, न किसी प्रकार की उन्नति कर सकते हैं, न सुख-शान्ति की प्राप्ति ही, तो फिर इस शरीर के छूटने के बाद परलोक में उनको सुख अथवा मुक्ति की प्राप्ति क्या होनी है ? ऐसे अवनत संस्कारो के लोग मरने के बाद मूढ़ योनियो में जाते हैं, जहाँ कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती (३१)। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञो का वर्णन विद्वानो द्वारा वेदादि शास्त्रो में विस्तार से किया हुआ है, उन सबको कर्म-जन्य जान, ऐसा जानने से तू मुक्त

होगा। तात्पर्य यह कि जगत् में अनेक प्रकार के यज्ञो का शास्त्र-विहित प्रचार है और वे सब यज्ञ कर्म करने ही से सम्पादित होते है, इसलिए वे भी सब कर्म-मय है अर्थात् अकर्म रूप नहीं होते। कर्म की व्यापकता का रहस्य इस तरह जान लेने से अपने कर्तव्य कर्म करने अथवा न करने के व्यक्तित्व का अहंकार मिट जाता है, फिर उन कर्मों से कोई बन्धन नहीं होता (३२)। हे परन्तप! द्रव्य-मय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योकि हे पार्थ! सारे कर्म ज्ञान में पूर्णतया समाप्त हो जाते है। तात्पर्य यह कि पदार्थों को अग्नि में होमने, या दान देने अथवा शरीर की नाना प्रकार की क्रियाओ से होने वाले द्रव्य-मय यज्ञो की अपेक्षा सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ होता है। सर्वत्र एकता के ज्ञान-युक्त किये जाने पर सम्पूर्ण कर्मों का कर्मत्व समूल नष्ट हो जाता है (३३)। (अहंकार रहित नम्रता और सरलतापूर्वक) दण्डवत् प्रणाम करके एव सेवा भाव से युक्त विधिवत् पूछने (सच्ची जिज्ञासा करने) द्वारा तू उस (ज्ञान) को जान; तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेगे। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार की शारीरक उपाधियो के अहंकार की आसक्ति से रहित होकर अत्यन्त नम्रता और सरलतापूर्वक लोक-सेवा करते रहने से जब सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब तत्त्वज्ञानी महात्मा लोगो के उपदेश से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त होता है (३४)। जिसे जान लेने पर, हे पाण्डव! तुझे फिर इस प्रकार का मोह नहीं होगा; उस ज्ञान से सारे भूत-प्राणियो को तू अपने-आप में और मुझमें देखेगा। तात्पर्य यह कि उक्त ज्ञान की प्राप्ति होने पर तू सारे विश्व को, अपने आपको और मुझ को एक ही आत्मा के अनेक रूप समझगा, यानी सर्वत्र एकत्व-भाव हो जायगा, तब फिर कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह होने का अवकाश नहीं रहेगा (३५)। यदि तू सारे पापियो से भी बढ कर पाप करने वाला है तो भी ज्ञान-रूपी नौका से तू सारे पापो को तर जायगा। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त कर्म चाहे कितने ही घोर-हिंसात्मक अथवा पापात्मक हो, वास्तव में वे पाप रूप नहीं होते; क्योकि पाप-पुण्य आदि के भाव, भेद-बुद्धि से होते है; जब सब भेद मिट कर सर्वत्र एकता हो जाती है, तब सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते है, फिर पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रहता (३६)। हे अर्जुन! जिस तरह प्रज्वलित अग्नि, लकड़ियो को भस्मीभूत कर देती है, उसी तरह (एकत्व-भाव की) ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है; अर्थात् एकत्व-भाव के ज्ञान-युक्त किये हुए कर्मों का कर्मत्व कुछ भी नहीं रहता (३७)। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है और वह (ज्ञान) समत्व-योग में पूर्णता-प्राप्त पुरुष, समय पाकर स्वयं ही अपने-आप में पा लेता है। तात्पर्य यह कि जब तक भेद-बुद्धि से स्थूल शरीरो में अहंभाव रहता है तब तक ही मलिनता रहती है, परन्तु जब एक ही आत्मा के सर्वत्र समान भाव से व्यापक होने के अभेद-ज्ञान द्वारा अन्त -करण शुद्ध हो जाता है, तब फिर किसी भी प्रकार की अपवित्रता के लिए स्थान नहीं रहता। इस अभेद-ज्ञान का उपदेश ३४वें श्लोक में कथित विधि से तत्त्वदर्शी महात्माओ से लेकर,,

फिर उसके अनुसार सर्वत्र एकता के साम्य-भाव से (समत्व-योग का) आचरण करने के अभ्यास में उन्नति करते-करते जब समय पाकर सम्पूर्ण व्यवहार उक्त साम्य-भावयुक्त निरन्तर होने लग जाते है, तब सारे विश्व की अपने-आप ही में एकता का पूर्ण अनुभव हो जाता है। साराश यह कि आत्मज्ञान कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होता, किन्तु समत्व-योग के आचरण से अपने-आप ही में उसका अनुभव हो जाता है, क्योकि यह अपने-आप ही का यथार्थ अनुभव है। पहले-पहल सर्वात्म-साम्य-भाव में स्थित महापुरुषो से श्रद्धापूर्वक उपदेश लेकर, और उस उपदेश को मन में अच्छी तरह धारण करके, उस ज्ञान-युक्त आचरण करने में लगना चाहिए, क्योकि केवल उपदेश सुन लेने अथवा समझ लेने मात्र से ही सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति नहीं हो जाती, किन्तु उसके अनुसार आचरण करने से उसमें स्थिति होती है। इसलिए यद्यपि महात्माओ से सुना हुआ अथवा पुस्तको में पढ़ा हुआ परोक्ष ज्ञान, समत्व-योग के आचरण का साधन है, परन्तु अपने-आप (आत्मा) के ज्ञान में पूर्ण रूप से दृढ़ स्थिति, समत्व-योग के आचरण से ही होती है। इस तरह समत्व-योग के आचरण का कारण परोक्ष आत्म-ज्ञान है, और फिर अपरोक्ष आत्म-ज्ञान में दृढ़ स्थिति होने के लिए समत्व-योग का आचरण ही परम आवश्यक है; अतः ये दोनो एक दूसरे के साधक है (३८)। श्रद्धावान् और तत्परता से लगने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है, और ज्ञान को पाते ही उसी क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञानी महापुरुषो के उपदेशो में श्रद्धा करके उनके अनुसार आचरण करने के अभ्यास में दृढता-पूर्वक निरन्तर लगे रहने से, तथा इन्द्रियो को वश में रखने से ही आत्म-ज्ञान में स्थिति होती है; और आत्म-ज्ञान में स्थिति होने पर फिर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में कुछ भी देर नहीं लगती—उसी क्षण हो जाती है; क्योकि वास्तव में आत्मज्ञान ही शान्ति, पुष्टि और तुष्टि है (३९)। यथार्थ ज्ञान से रहित और श्रद्धा से शून्य पुरुष संशय में ग्रस्त रह कर नष्ट हो जाता है; संशयशील का न तो यह लोक है और न परलोक, और न उसे सुख ही होता है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष को न तो यथार्थ ज्ञान है और न तत्त्व-ज्ञानी महापुरुषो के उपदेशो में श्रद्धा ही, वह सदा सशय में ही रहता है—किसी एक निश्चय पर नहीं ठहरता; उसका मन सदा डाँवाडोल रहता है, कभी कुछ मानता है कभी कुछ; इसलिए उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। जो सदा सशय ही में पड़ा रहता है, वह इस लोक अर्थात् वर्तमान शरीर में कोई कार्य सुसम्पन्न करके अपना जीवन सफल नहीं कर सकता, और न वह अपना परलोक ही सुधार सकता है; अतः उसका यह लोक और परलोक दोनो ही विगड़ जाते है—तीन काल में भी उसको सुख नहीं होता (४०)। जिसने समत्व-योग में कर्मो का संन्यास कर दिया है और सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से जिसके संशय कट गये है, हे धनञ्जय! उस आत्मज्ञानी को कर्म बांध नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष के सभी कर्म सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त लोक-संग्रह के लिए होते है और अपने आप—आत्मा का

यथार्थ ज्ञान हो जान से जिसके सारे संशय मिट गये हैं, वह कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त है (४१)। इसलिए हे भारत ! (अपने यथार्थ स्वरूप के) अज्ञान से उत्पन्न, अन्तःकरण में स्थित इस संशय को, आत्म-ज्ञान रूपी तलवार से काट कर समत्व-योग में लगने के लिए उठ खड़ा हो। तात्पर्य यह कि आत्मा के यानी अपने-आप के विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जो तेरे अन्त करण में यह सशय उत्पन्न हुआ है कि "मेरे लिए युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा न करना ?" उस सन्देह को उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से दूर करके, सबके साथ एकता के साम्य-भाव से अपने कर्त्तव्य-कर्म—युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हो (४२)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते है कि इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि देव-यज्ञ से लेकर जो-जो यज्ञ श्लोक २५ से ३० तक कहे है तथा उनके अतिरिक्त जो अन्य अनेक प्रकार के यज्ञो का बहुत-सा विधान शास्त्रो में किया गया है, वे सभी किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने से ही सिद्ध होते है। अभिप्राय यह कि कर्म तो सभी दशाओ में करने ही पडते है, बिलकुल क्रिया-रहित होने से कुछ भी नहीं होता। इसलिए समाज और जगत् की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के लिए अपने-अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने रूपी यज्ञ करना ही श्रेष्ठ है, जिससे सबके हित के साथ-साथ अपना भी वास्तविक हित होता है। इसी यज्ञ से मनुष्य-जन्म सार्थक होता है; क्योकि यह जगत् सबके एकत्व-भाव=समष्टि-आत्मा की इच्छा (स्वभाव) का बनाव अथवा खेल है, और यह खेल व्यष्टि आत्मा (जीवात्माओ) के कर्मों से ही सम्पादित होता है, और मनुष्य की देह में बुद्धि के रूप में आत्मा का विशेष विकास होता है, जिससे उसे कर्म करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता है, इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्त्तव्य-कर्म करने द्वारा जगत् को धारण करने में सहायक होने की उसकी विशेष जिम्मेवारी होती है। आलस्य, नींद अथवा अपनी व्यक्तिगत शान्ति में पड़े रहना अथवा अपने व्यक्तिगत सुखो के लिए ही चेष्टाएँ करना तो जड पदार्थों और पशु-पक्षियो का भी स्वाभाविक धर्म है; परन्तु मनुष्य की देह में यही तो विशेष योग्यता है कि वह दूसरो के साथ सहयोग करके सबके हित के लिए, समाज और जगत् के धारणार्थ व्यवहार करे। ऐसा करने से ही वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ, सबकी एकता का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर, अपने असली स्वरूप—शान्ति-पुष्टि-तुष्टिरूप परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। जो लोग मूढतावश निरुद्यमी होकर उपरोक्त लोक-संग्रह के यज्ञ नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में अथवा व्यक्तिगत शान्ति में पड़े रहते हैं, अथवा केवल अपने व्यक्तिगत सुखो के लिए ही दौड-धूप करते रहते है, अथवा मरने के बाद विषय-सुख अथवा मोक्ष की प्राप्ति की आशा लगाये बैठे रहते हैं, वे किसी भी योग्य नहीं रहते। जब कि मनुष्य दह में सब प्रकार के साधन और योग्यताओ के होते हुए भी वे

अपने असली स्वरूप=परमात्म-भाव में स्थिति नहीं कर सकते और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते हैं—जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों की तरह आयु व्यतीत कर देते हैं—तो फिर मरने के बाद क्या कर सकेंगे ? जो लोग तामस ज्ञान से आलस्य और प्रमाद के वश निरुद्यमी बने रहते हैं, वे इस जन्म में तो जड़ पदार्थों की तरह दूसरो के आश्रित रहते हैं, और मरने के बाद जड़ (स्थावर) सृष्टि में जा मिलते हैं; तथा जो लोग दूसरो से अपनी पृथक्ता से राजस ज्ञान से केवल अपने ही स्वार्थों के लिए उद्योग करते हुए दूसरो के स्वार्थों को हानि पहुँचाते है, वे इस जन्म में तो दूसरो के अधीन होकर अपने सब स्वत्व एव अधिकार खो देते हैं एवं दूसरो से सताये जाते है, और मरने के बाद पशु-पक्षियो की योनि धारण करते हैं, जहाँ कुछ भी उन्नति करने की योग्यता नहीं रहती। सारांश यह कि जो लोग अपने शरीरो की स्वाभाविक योग्यता के कर्म, लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, उनका यह लोक तथा परलोक, दोनो बिगड़ जाते हैं।

यद्यपि उक्त लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार करने से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति तो अवश्य होती है, परन्तु पूर्ण पद की प्राप्ति अर्थात् ब्राह्मी स्थिति तब ही होती है, जब कि सबके साथ अपनी एकता का दृढ़ ज्ञान हो जाता है, और उक्त दृढ़-ज्ञानयुक्त सब प्रकार के व्यवहार लोक-संग्रह के लिए स्वतः ही होने लगते हैं; क्योकि कोरे शारीरिक अथवा मानसिक कर्मो की अपेक्षा बुद्धि द्वारा विचार करके किये जाने वाले कर्मो की योग्यता अधिक होती है, और बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होती है, तब सभी कर्म अकर्म-रूप हो जाते हैं और वही निर्द्वन्द्व ब्राह्मी स्थिति है।

वह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने जाति, कुल, पेशे, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवार, विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सभ्यता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, तप, दान, कर्म-काण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य एवं संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियो के अभिमान से रहित होकर, लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से, उन लक्षणो वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषो की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश की जिज्ञासा करे, जिनका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से ३० तक, व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८ तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गुणातीत के वर्णन में, तथा गी०अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में किया गया है; क्योकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करने का

विषय है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते है जिनको स्वयं वह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते है। परन्तु जिनको जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दो में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगो के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं दे सकते। क्योकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास जो वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत साव-धानी रखने की आवश्यकता है। जब तक उपरोक्त लक्षणो वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले, तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियो के बड़प्पन का अभिमान रखता है, तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता; क्योकि वह अपने को दूसरो से बड़ा और ऊँचा मानता है, इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है, और तत्त्वज्ञानी महापुरुषो के सत्संग में, जहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, धनी-निर्धन, पवित्र-पतित, विद्वान-मूर्ख आदि किसी भी प्रकार के भेद विना सबके साथ समानता का वर्ताव होता है, वहाँ जाना और उनके सामने नम्रता प्रकट करना वह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है; और इस तरह के देहाभिमानी लोगो में सेवा-भाव का तो प्रायः अभाव ही होता है।

दूसरी तरफ आत्मज्ञानी महापुरुषो को न तो धन की परवाह होती है, न मान की, और न उन्हें किसी भी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विषय-सुखो अथवा सेवा-शुश्रूषा की इच्छा होती है; क्योकि वे अपने-आप में परिपूर्ण होते है। उनको न किसी से राग होता है न द्वेष; वे न किसी का भय करते है, न किसी की खुशामद। वे तो सम-द्रष्टा होते है, अत सबको एक समान उपदेश देते है। परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्त उपरोक्त देहा-भिमानी लोग, यदि कभी उनके पास जाते है तो वहाँ किसी भी प्रकार का मूल्य चुकाये विना, अर्थात् धन की भेंट अथवा शरीर से सेवा किये विना, तथा किसी भी प्रकार के तप आदि के कष्ट भोगे विना मिलने वाले समत्व-योग के उपदेशो में न तो उनकी श्रद्धा होती है और न वे उन्हे अच्छी तरह समझ कर धारण ही कर सकते है; क्योकि जो घट स्थूल एव भारी पदार्थो से भरा होता है, उसमें सूक्ष्म एवं हल्की वस्तु समा नहीं सकती। इस तरह के देहाभिमानी लोगो की राजस-तामस अन्ध-श्रद्धा तो नाशवान् एवं तुच्छ शारी-रिक सुखो तथा धन, मान, कुटुम्ब आदि की प्राप्ति कराने और मरने के वाद स्वर्ग में ले जाने, अथवा अपने से भिन्न ईश्वर के निकट पहुँचाने रूपी मुक्ति आदि के सरसब्ज वाग दिखाने वाले भेद-वाद के शास्त्रो के रोचक वचनो में ही होती है (गी०अ० २ श्लो० ४२ से ४४); और ऐसे लोगो का मन भी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, किन्तु सदा

संशय-ग्रस्त ही रहता है; इसलिए न तो उनको इहलौकिक अभ्युदय प्राप्त होता है और न पारलौकिक सुख-शान्ति ही। क्योंकि इस जन्म में जिसकी जिन विषयों में आसक्ति रहती है और जिन वासनाओं में वह उलझा रहता है, मरने के बाद उनके अनुसार ही उसके लिए बनाव बन जाते हैं। सारांश यह कि जब इसी जन्म में सुख-शान्ति प्राप्त होने का नकद सौदा हाथ न लगा, तो मरने के बाद परलोक का उधार सौदा क्या हाथ लगेगा ?

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते हैं कि तत्त्व-दर्शी आत्मज्ञानी महापुरुषों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुन कर, उसे अच्छी तरह विचारपूर्वक धारण करके, उसके अनुसार एकता के ज्ञान-युक्त अपने-अपने शरीरों की योग्यता के व्यवहार, संशय-रहित होकर उत्साह और तत्परतापूर्वक करने में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए। इस तरह आचरण करते-करते काल पाकर जब दृढ़ अभ्यास हो जाता है, तब अपने वास्तविक स्वरूप सर्वभूतात्मैक्य-भाव में पूर्ण रूप से स्थिति हो जाती है, फिर उस जीवनमुक्त अवस्था की ब्राह्मी स्थिति से कभी पतन नहीं होता और न अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषय में कभी मोह ही होता है किन्तु लोक-हित के सांसारिक व्यवहार पूर्ण-रूप से स्वतः ही होते रहते हैं। उस स्थिति में कर्मों का पाप-पुण्य रूप कोई बन्धन भी नहीं रहता, क्योंकि सब कर्म अपने-आपके एकत्व-भाव में लय हो जाते हैं। अपने से भिन्न कर्मों का कर्मत्व ही नहीं रहता।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पाँचवाँ अध्याय

जब किसी मनुष्य के चित्त में मोह-वश कोई बात जम जाती है अथवा कोई मत जँच जाता है तो उसका बदलना बहुत कठिन हो जाता है। उसके विरुद्ध उसे जो भी कुछ कहा जाता है, उसमें उसे संशय बना रहता है और अपने मन में जमी हुई बात को सहसा बदलने को उसका दिल नहीं चाहता। अर्जुन के चित्त में यह बात जम गई थी कि लडाई जैसे घोर हिंसात्मक कर्म से अपने स्वजन-बान्धवो की हत्या करवा कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करने की अपेक्षा, सब-कुछ छोड-छाड कर, अर्थात् संन्यास लेकर, भीख माँग के खाना अच्छा है; इसलिए दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायो में भगवान् ने जो समत्वयोग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का स्पष्ट विधान किया, उसमें उसे संशय बना रहा।

सशय बना रहने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म एव गहन है कि उसका अच्छी तरह हृदयंगम हो जाना सहल नहीं है। इसलिए बहुत से लोगो को कर्म (सासारिक व्यवहार) करने में तो कर्तव्याकर्तव्य, विहित-निषिद्ध, पुण्य-पाप आदि के विचार, तथा शारीरिक कष्ट एव परिश्रम आदि अनेक प्रकार के झंझट और बखेड़े प्रतीत होते है; परन्तु कर्मों को छोड कर सन्यास ले लेने पर उन्हें सब झझट और बखेड़ो से रिहाई मिल जाने, तथा आत्मज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त हो जाने की विश्वासपूर्ण आशा बनी रहती है, अतः कर्म करना छोड कर सन्यास ले लेने की तरफ उनका झुकाव सहज ही अधिक होता है। अतएव कर्म-संन्यास और कर्म-योग का तुलनात्मक विवेचन करके कर्म-योग की विशेषता और उसके महत्त्व आदि का अधिकाधिक स्पष्टीकरण करने तथा उसे वार-बार समझाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इसी अभिप्राय को लेकर इस (पाँचवें) अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन का प्रश्न है, जिसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण आगे के अध्यायो में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की विशेषता और उसकी आवश्यकता पर फिर से स्पष्ट शब्दो में जोर देते हुए, सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने की व्याख्या और उसका महत्व, तथा उक्त ज्ञान सहित साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने वाले समत्वयोगियो के लक्षण, उनके आचरण एव उनकी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने के साथ-साथ सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति के साधन आदि विषयो का निरूपण विविध प्रकार से विस्तारपूर्वक करते है।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यऽश्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।१६।।
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।१७।।

अर्थ—अर्जुन वोला कि हे कृष्ण ! आप कर्मो के सन्यास की और फिर (कर्म) योग की प्रशसा करते हो; इन दोनो में से जो एक वास्तव में श्रेयस्कर हो, वही मुझे अच्छी तरह निश्चय करके वतलाइए (१)। श्री भगवान् वोले कि (यद्यपि) संन्यास और कर्मयोग, दोनो ही निःश्रेयसकर है, परन्तु इन दोनो में से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही की विशेषता है, अर्थात् कर्म-योग ही अधिक श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि नि.श्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति तो ज्ञानसहित संन्यास से, अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर घर-गृहस्थी से अलग होकर तथा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कर्म छोड़ कर आध्यात्मिक विचार में लगे रहने से, और ज्ञानसहित कर्म-योग से, अर्थात् गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करते रहने से—दोनो ही से होती है; परन्तु कर्म-योग की यह विशेषता है कि इसमें अभ्युदय अर्थात् आधिभौतिक सुख-समृद्धि और नि.श्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण, दोनो ही प्राप्त होते है। संन्यास-निष्ठा में जगत् की भौतिकता को मिथ्या एव तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार किया जाता है, इसलिए उससे आधिभौतिक अर्थात् इस लोक की उन्नति कुछ भी नहीं हो सकती; परन्तु कर्म-योग-निष्ठा में सारे जगत् को एक आत्मा अथवा अपने-आप के अनेक कल्पित रूप होने के निश्चय युक्त, नामरूपात्मक भिन्नताओ को मिथ्या और सवकी एकता को सत्य जानते हुए सासारिक व्यवहार किये जाते है, इसलिए इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की उन्नति करने की योग्यता रहती है। इस त्रिगुणात्मक जगत् के खेल में दोनो प्रकार की उन्नति आवश्यक है, तथा आधिभौतिक उन्नति के विना आध्यात्मिक उन्नति हो भी नहीं सकती, इसलिए कर्म-योग ही की विशेपता है (२)। जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है, उसे नित्य सन्यासी समझना चाहिए, अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है, क्योकि हे महावाहो ! द्वन्द्वो से

रहित हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है। तात्पर्य यह कि जगत् की पृथक्ता को सच्ची मान कर कर्मो से द्वेष करके, गार्हस्थ्य को छोड़ कर वनवासी हो जाने से, अथवा एक वेष और एक नाम को छोड़कर दूसरे वेष और दूसरे नाम को गृहण कर लेने से सच्चा संन्यास नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, बन्ध-मोक्ष आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठने, यानी भिन्नता के भावो में एकता के अनुभवपूर्वक आचरण करने से ही सच्चा संयास होता है और उसी से सब प्रकार के बन्धनो की निवृत्ति होती है। वेष का संन्यासी तो घर छोड़ कर वनवासी होने पर होता है, परन्तु द्वैत-भाव को छोड़ कर एकत्वभाव से आचरण करने वाला जीवनमुक्त समत्वयोगी सदा ही संन्यासी होता है (३)। सांख्य, अर्थात् घर-गृहस्थी से अलग होकर अध्यात्म-विचार में लगे रहने की संन्यास-निष्ठा, और योग, अर्थात् घर-गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य भाव से जगत् के व्यवहार करने की कर्म-निष्ठा को बेसमझ अर्थात् अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते हैं; पंडित अर्थात् ज्ञानी (ऐसा) नहीं (कहते)। जो दोनो में से किसी (एक निष्ठा) में भी पूर्णतया भली-प्रकार से विधिवत् स्थित हो जाता है, उसे दोनो का फल मिल जाता है (४)। जिस स्थान को सांख्य (पूर्ण अवस्था की संन्यास-निष्ठा वाले) प्राप्त होते हैं, वहीं योगी (पूर्ण अवस्था की कर्म-निष्ठा वाले) भी जाते हैं; जो सांख्य अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त संन्यास निष्ठा, और योग अर्थात् सर्वाभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त कर्म-निष्ठा की एकता देखत है अर्थात् जो इनमें अभेददर्शी है, वही (वास्तव में) देखता है, यानी वही यथार्थदर्शी है (५) परन्तु हे महाबाहो! कर्म-योग के बिना अर्थात् साम्य-भाव से घर-गृहस्थी के व्यवहार किये बिना संन्यास की प्राप्ति बहुत ही दुःख से होती है अर्थात् अत्यन्त कठिन है; कर्म-योग में लगा हुआ मुनि (विचारशील मनुष्य) तुरन्त ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है (६)। श्लोक ४ से ६ तक का तात्पर्य यह है कि सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य, चाहे सबके हित के लिए यानी लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ के स्वाँग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करे, अथवा संन्यासी के स्वाँग में आध्यात्मिक विचारों में लगा रहे तथा उनके प्रचार आदि का कार्य करे, पूर्ण अवस्था में दोनो की योग्यता एक समान है,; स्वाँग दोनों ही एक समान कल्पित होते हैं; शरीर दोनो के स्वभाव से ही क्रिया-शील होते हैं, अतः शारीरिक चेष्टाएँ दोलो ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार लोक-संग्रह के लिए करते रहते हैं; सबकी एकता का आत्मज्ञान दोनो को एक समान होता है, अतः दोनो को एक ही आध्यात्मिक स्थिति अथवा पद प्राप्त है, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के आत्मानुभव की ब्राह्मी स्थिति दोनो की एक ही है; और यदि दूसरो से अपनी पृथक्ता के

राजस ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए गृहस्थी के व्यवहार किये जायें अथवा उनका त्याग करके सन्यास लिया जाय, उस दशा में दोनो ही एक समान बन्धन-रूप एवं दुःखदायी है। इसलिए तत्त्वतः संन्यास और कर्म-योग में कोई अन्तर नहीं है। जो इस अभेद-तत्त्व को ठीक-ठीक जानते है वे ही सच्चे ज्ञानी है। वे ग्रहण अथवा त्याग किसी में भी आसक्ति नहीं रखते, अतः शरीरों के स्वाभाविक व्यवहार छोड़ने का प्रश्न उनके नजदीक उपस्थित नहीं होता। सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हुए विना वास्तविक संन्यास नहीं होता और उक्त साम्य-भाव में स्थिति के सरल साधन गृहस्थी के व्यवहार ही हैं। गृहस्थ अपने पर निर्भर रहने वाले कुटुम्बी जनो तथा अन्य सम्बन्ध रखने वालो को अपना मान कर उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का भाव कम होकर एकता का अभ्यास बढता है और उसके चित्त में आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण भी उत्पन्न होते रहते है। (गी० अ० ६ श्लो० ३ दखिए), तथा मन, इन्द्रियो और शरीर के प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन सहज ही उपलब्ध होने के कारण उसे मन को टिकाने (सयत करने) में भी सुभीता रहता है। अतः अभ्यास करते-करते क्रमोन्नति करता हुआ समय पाकर वह सबके साथ अपनी एकता का पूर्णतया अनुभव प्राप्त कर सकता है और तव वह ब्रह्मरूप हो जाता है; परन्तु अज्ञान अथवा अल्पज्ञान की दशा में सन्यास का स्वाँग धारण कर लेने पर फिर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति होना महान् दुर्लभ होता है, क्योकि सन्यास का स्वाँग धारण कर लेने मात्र ही से मन और इन्द्रियो के स्वाभाविक धर्म नष्ट नहीं हो जाते; अतः प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन उपलब्ध न होने के कारण जव मन और इन्द्रियाँ चचल हो जाती है तव वे अनेक प्रकार के प्रलोभनो में फँस कर बहुत अनर्थ करती है। साराश यह कि गभीरता से विचार करने पर कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है (४-६)। सवकी एकता के साम्य-भाव में जुडा हुआ, (एव दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित) शुद्ध अन्त:करण वाला, मन पर विजयप्राप्त, इन्द्रियजीत पुरुष सव भूतो का आत्मभूत—आत्मा होता है, अर्थात् अपने-आपको सारे जगत् में और सारे जगत् को अपने में अनुभव करता है, (अत: वह जगत् के सव प्रकार के व्यवहार) करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव होने से आत्मज्ञानी कर्मयोगी के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एव इन्द्रियो आदि का इतना सयम हो जाता है कि कर्मों में उसकी आसक्ति नहीं रहती और कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटियो में वह अभेद देखता है, इसलिए कर्तापन का अहकार उसके अन्त करण में नहीं रहता, अत वह सव कुछ करता हुआ भी वास्तव में अकर्ता ही रहता है (७)। उपरोक्त समत्व-योग में जुडा हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, वोलता हुआ, छोडता अथवा देता हुआ, ग्रहण करता अथवा लेता हुआ, आंखें खोलता और मूंदता हुआ भी यही मानता है कि मैं कुछ भी

नहीं करता, इन्द्रियाँ इन्द्रियो के अर्थों (विषयो) में वर्त रही है, यही धारणा रखता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र एकता के भाव में स्थिति हो जाने से तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी की दृष्टि में इन्द्रियाँ और उनके विषय एक ही वस्तु अर्थात् आत्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप होते हैं और आत्मा अथवा अपने-आपको वह उन कल्पित रूपो का आधार अर्थात् उनकी असलियत अथवा वास्तविकता मानता है, इसलिए अपने उन कल्पित बनावो में उसकी आसक्ति नहीं होती। इन्द्रियो के स्वाभाविक व्यवहारो में न तो उसको अपने व्यक्तित्व का अहकार होता है और न उसे किसी विषय में सुख-प्राप्ति की आकांक्षा ही रहती है। इसलिए उसकी इन्द्रियो से स्वाभाविक व्यवहार होते हुए भी उनसे किसी तरह के अनर्थ नहीं होते और न उसे इन्द्रियो के स्वाभाविक व्यवहार त्याग देने की आवश्यकता ही रहती है।* (८-९)

कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके अर्थात् कर्मों को सबके अपने-आप—आत्मा से अभिन्न समझ कर, उनमें सङ्ग अर्थात् कर्ता और कर्म की पृथकता की आसक्ति से रहित होकर, जो (उन्हें) करता है: वह पापो से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह कमल का पत्ता जल से।

तात्पर्य यह कि जो कर्ता, कर्म, करण आदि में सबके एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा सबके अपने-आपको देखता है (गी० अ० ४ श्लो० २४), वह अभेददर्शी समत्वयोगी दूसरो से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रखता, अतः वह यदि लोक-सग्रह के लिए हिंसा आदि पापरूप प्रतीत होने वाले कर्म भी करता है तो भी पापो से सर्वथा रहित रहता है, क्योकि पाप-पुण्य आदि की संभावना भेद-बुद्धि से व्यक्तित्व के अहंकार-युक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने पर ही होती है; परन्तु जहाँ अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं वहाँ पाप-पुण्य के लिए अवकाश नहीं रहता (१०)। समत्वयोगी लोग संग अर्थात् व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से (एवं) केवल इन्द्रियों से भी कर्म किया करते है। तात्पर्य यह कि आत्म-ज्ञानी समत्वयोगी शरीर के स्वाभाविक कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार छोड़ कर, एवं निरुद्यमी बन कर दूसरो पर अपने जीवन-निर्वाह का बोझ डालने, और साथ ही साथ गृहस्थाश्रम, जो सबका उत्पादक और पालक है, उसे दुःखरूप समझ कर हठात् उसका तिरस्कार करने रूपी भेद-भाव की मलिनता से अपने अन्तःकरण को दूषित नहीं करते, किन्तु शरीर के जिस अंग की जैसी स्वाभाविक योग्यता होती है उसी के अनुसार उसके द्वारा सांसारिक व्यवहार लोक-सग्रह के लिए व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर करते रहते हैं जिससे उनका अन्त.करण उक्त द्वैत-भाव रूपी मलिनता से रहित—निर्मल

* गी० अ० २ श्लो० ५५ से ६८ के स्पष्टीकरण में स्थितप्रज्ञ के आचरणो का खुलासा देखिए।

रहता है (११)। युक्त अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के साथ साम्य-भाव में स्थित कर्मयोगी कर्मफल को त्याग कर नैष्ठिकी अर्थात् अटल शान्ति को प्राप्त होता है; (परन्तु) अयुक्त अर्थात् जो एकता के साम्य-भाव में स्थित नहीं हुआ है वह अज्ञानी पुरुष कामना करके फल में आसक्त हुआ बन्धायमान होता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगी को अपने आपकी परिपूर्णता का अनुभव रहता है, इसलिए उसके अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ कहीं अन्यत्र से सिद्ध करने वाकी नहीं रहते, अतः उसके अन्त.करण में कभी अशान्ति नहीं होती, किन्तु उसकी स्वाभाविक शान्ति सहज ही बनी रहती है; परन्तु पृथकता के ज्ञान से जगत् के पदार्थ अथवा इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख अथवा मुक्ति कहीं बाहर से प्राप्त करने की कामना रखने वाले को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्ति रहती है इसलिए वह सदा कामनाओ के बन्धनो में जकड़ा रहता है (१२)। नियामक देही, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहकार एवं इन्द्रियादि सबका प्रेरक एवं सबका शासन करने वाला, सबका स्वामी—आत्मा, सब कर्मों का मन से सन्यास करके, न कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, (दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख और दो मल-मूत्र त्यागने के द्वार, इस तरह) नव द्वारो के (शरीर रूपी) नगर में सुख से रहता है। तात्पर्य यह कि सबका आधार, सबका प्रेरक, सबका स्वामी, सबका नियामक, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द आत्मा व्यष्टि भाव से शरीर में रहता हुआ और सब चेष्टाएं करवाता हुआ भी कर्ता, कर्म, करण आदि भेदो से रहित अपने सहज-स्वभाव आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी जो सबका आत्मभूत-आत्मा होता है (गी० अ० ५ श्लो० ८), वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप सारे संघात के नियामक रूप से स्वेच्छापूर्वक नव दरवाजो वाले इस भौतिक शरीर में स्थित हुआ और इसके द्वारा सब कुछ करता-कराता हुआ भी वास्तव में न कुछ करता है और न कुछ कराता है, किन्तु पूर्ण रूप से शान्त रहता है; क्योकि उसके मन में कर्मो के कर्तापन का कोई अहंकार नहीं होता और न किसी कर्म के फल में उसकी आसक्ति रहती है; यह जगत्-प्रपंच उसको केवल अपना खिलवाड मात्र प्रतीत होता है (१३)। प्रभु अर्थात् परमात्मा लोगो के कर्तापन, कर्मों और कर्मों के फल के संयोग की रचना नहीं करता, किन्तु (सबका अपना-अपना) स्वभाव ही वर्त रहा है, अर्थात् लोग अपने ही स्वभाव अथवा अपने मन के संकल्पो से कर्मों, उनके कर्तापन के अहकार और कर्मों के फल की प्राप्ति की रचना करते रहते है (१४)। सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा न तो किसी के पापो को लेता है और न किसी के पुण्य को ही; ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पडा हुआ है उसी से जीव मोहित हो रहे है, अर्थात् अविचार के कारण लोग अपने वास्तविक स्वरूप—सबकी एकता को भूले हुए है, उसी से यह भ्रम हो रहा है कि कर्मो और उनके फल आदि की रचना कोई दूसरा करता है (१५)। परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान अर्थात् अध्यात्म-विचार से नष्ट हो गया है, उनका (वह)

आत्मज्ञान, उस परमतत्त्व अर्थात् सबके अपने-आपकी वास्तविकता—सबके एकत्व-भाव को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह कि अध्यात्म-विचार से जब द्वैत-भावरूपी पर्दा हट जाता है, तब जिस तरह सूर्य के प्रकाश से जगत् के सारे पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, उसी तरह आत्मज्ञान के प्रकाश से अपने वास्तविक स्वरूप—सबके एकत्व-भाव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है (१६)। जिनकी बुद्धि उस (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) में स्थित हो जाती है, और जो उस (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्व-भाव)को ही अपना आत्मा अनुभव करते हैं, तथा उसी (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) में जिनकी दृढ़ स्थिति हो जाती है, और जो उसी (परमतत्त्व अर्थात् सबके एकत्वभाव) परायण अर्थात् तद्रूप हो जाते हैं, उनका द्वैत-भावरूपी मैल (उक्त एकता के) ज्ञान से धुल जाता है और वे उस पद को पहुँचते हैं जहाँ से लौटना नहीं होता (१७)। श्लो. १४ से १७ तक का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान से शून्य लोगो को यह मिथ्या विश्वास रहता है कि अपने से भिन्न परमात्मा अथवा ईश्वर कर्मों को रच कर उनके पीछे लगा देता है। और उन कर्मों के अच्छे-बुरे फल उनको देता है, इसलिए वे परवशता से कर्मों के बन्धनो से बँधे हुए दुःख पाते हैं और पुण्य अथवा पाप के फल भोगते हैं। भगवान् कहते हैं कि लोगो का यह कोरा भ्रम है। सर्वात्मा=परमात्मा किसी व्यक्ति के लिए विशेष कर्म और उन कर्मों का कर्तापन तथा उन कर्मों के अच्छे-बुरे फलों की प्राप्ति का आयोजन नहीं करता; किन्तु लोग अपने-अपने स्वभाव से अर्थात् अपने पृथक्ता के भाव से ही अपने लिए कर्म और उनका कर्तापन और उनके अच्छे-बुरे फल उत्पन्न करके अपने-आपको उनसे बँधा हुआ और सुखी अथवा दुखी मानते हैं। वास्तव में परमात्मा अथवा ईश्वर लोगों से कोई भिन्न तो है ही नहीं कि जो कहीं अलग बैठा हुआ उनके लिए कर्मों और उनकी कर्तव्यता और उनके फल की योजना करता रहे। सबका आत्मा अर्थात् सबका समष्टि-भाव ही परमात्मा है, इसलिए कर्म और कर्मों की कर्तव्यता एवं कर्मों के फल की प्राप्ति सबके अपने-आपकी ही रचना होती है। पाप, पुण्य, दुःख, सुख, बन्धन, मोक्ष आदि भी सब अपने-अपने स्वभाव अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव की ही रचनाएँ होती है, किसी दूसरे की नहीं। जब तक अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से पृथक् व्यक्तित्व का भाव बना रहता है, तब तक यह भ्रम बना रहता है कि कर्मों का रचने वाला अपने से भिन्न कोई दूसरा है; पर जब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान होकर सर्वात्म-भावरूपी परमतत्त्व में पूर्णतया स्थिति हो जाती है, तब कर्ता, कर्म और कर्म-फलादि सबकी एकता हो जाती है, अर्थात् सबका अपने-आप में समावेश हो जाता है, तब न कोई पाप रहता है, न कोई पुण्य, न सुख रहता है, न दुःख, न कोई बन्धन रहता है न मोक्ष, और न कुछ ग्रहण करने को रहता है और न त्यागने को। सब अपने-आपके ही अनेक रूप हो जाते हैं; उस स्थिति पर आरूढ़ होने से फिर द्वैतभाव का मोह कभी उत्पन्न नहीं होता। सारांश यह कि जो लोग कर्म करने

और उनके फल भोगने में पूर्ण रूप से परतन्त्रता मानते है और अपने से भिन्न किसी दूसरी शक्ति पर निर्भर रह कर स्वावलम्बी, निरुद्यमी एवं उत्साहहीन बने रहते है, वे मोह (भ्रम) में पड़े हुए अपना पतन करते है। मनुष्य सब आप ही करता है और आप ही भोगता है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वय आप ही है (गी० अ० ४ श्लो० ११-१२ और अ० ६ श्लो० ५-६ का स्पष्टीकरण देखिए) (१४ से १७)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् यहाँ सन्यास और कर्म-योग का तुलनात्मक विवेचन करते है। इस विवेचन का यह आशय है कि यदि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो सन्यास और कर्म-योग दोनो ही श्रेष्ठ है; इतना ही नहीं किन्तु दोनो एक ही है, क्योकि जिनको पूर्णरूप से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान हो जाता है उनको अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाता है, अर्थात् वे सबको अपने में और अपने को सब में अनुभव करते है और सारा जगत् उनको अपना ही रूप प्रतीत होता है; अतः जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त चाहे वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्म-ज्ञान-युक्त साम्य-भाव से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार यथायोग्य सांसारिक व्यवहार करके दूसरो को सच्ची कर्म-निष्ठा का आदर्श दिखाते हुए सबके हित में लगे रहे; अथवा संन्यासी का वेष, जो कि देहाभिमान के परिच्छिन्न अहंकार को जला कर सबके साथ एकता के समष्टि अहकार में स्थित होने का सूचक है, उसे धारण करके एक छोटे-से परिवार के बदले "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् अखिल विश्व को अध्यात्म-दृष्टि से अपना परिवार समझते हुए, देशभेद, जातिभेद, धर्मभेद, सम्प्रदायभेद, वर्णभेद, आश्रमभेद, पदभेद आदि सब प्रकार के भेदभावो से ऊपर उठ कर, तथा विधि-निषेध, राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि सब प्रकार के द्वन्द्वो से परे होकर सब लोगो के कल्याण के लिए तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा लोगो की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होवें—यह उनकी इच्छा पर निर्भर होता है, क्योकि वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते है, अतः उनके नजदीक सन्यास अथवा कर्म-योग का भेद कुछ भी नहीं रहता और किसी प्रकार के विधि-निषेध उन पर लागू नहीं होते। साराश यह कि पूर्णावस्था की स्थिति में संन्यास और कर्मयोग दोनो एक ही है। गार्हस्थ्य और संन्यास के स्वाँग दोनो ही एक समान कल्पित है और लोक-सग्रह के लिए दोनो ही अपने-अपने स्थान में एक समान आवश्यक एवं उपयोगी है। सच्चा संन्यास तो राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि द्वन्द्वो से परे होने से होता है, चाहे गृहस्थ के स्वाँग में हो या सन्यासी के स्वाँग में। इसलिए पूर्णावस्था की संन्यास-निष्ठा और कर्म-योग-निष्ठा में भेद समझ कर एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट मानना मूर्खता है।

परन्तु उक्त आध्यात्मिक पूर्णावस्था तक लाखो-करोड़ो में कोई विरला ही पहुँचता है और उन महापुरुषो के लिए इन निष्ठाओ की भिन्नता कोई तथ्य नहीं रखती। साधारण जनता में तो अधिकांश लोग अज्ञानी हुआ करते है। हजारो में कोई एक-आध

तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु होता है; और उन तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओ में भी बहुत थोड़ो को यत्किंचित् तत्त्वज्ञान होता है। ये अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी लोग सांसारिक व्यवहारो को दुःख एवं बन्धनरूप मान कर, अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से, घर-गृहस्थी को छोड़ कर संन्यास का स्वाँग धारण कर लें तो वह वास्तविक संन्यास नहीं होता, किन्तु ऐसे लोग उभयभ्रष्ट हो जाते है और समाज की सुव्यवस्था बिगाड़ कर बड़े-बड़े अनर्थ करते है। शरीर और इन्द्रियो के स्वाभाविक धर्मो को हठपूर्वक छोड़ने में सफलता नहीं हो सकती (गी० अ० ३ श्लो० ३३), किन्तु इन्द्रियो को अपने विषयो से जबर्दस्ती रोकने के प्रयत्न में मन की चंचलता उल्टी बढ़ कर बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है; फलतः इस तरह के संन्यास लेने वालो में से अधिकाश का भयंकर पतन हो जाता है और वे लोग उच्छृंखलता से अव्यवस्थित भोग भोगने और कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाते है।

वर्तमान में इस तरह धर्म की ओट में शिकार करने वाले छोटे-बड़े महन्तो, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों, आचार्यों, गुसाइयो आदि और उनके चेलो तथा अन्य भिखमगे पाखण्डी संन्यासियो की संख्या ५०-६० लाख के करीब बताई जाती है, जिनका गृहस्थो पर बडा भारी बोझा लदा हुआ है और यह इस देश की दरिद्रता और दुखो का एक मुख्य कारण हो रहा है। भला, इस तरह के व्यक्तित्व के अहकार और विषयादिको में आसक्त और केवल अपना पेट पालने वाले लोग कर्मो के बन्धनो से रहित होकर ब्रह्म-भाव में स्थित कैसे हो सकते है और कैसे वे दूसरो का कल्याण अथवा हितसाधन कर सकते है ? हाँ, इतनी बडी सख्या में कुछ त्यागी एवं विरक्त महात्मा, संन्यासाश्रम के गौरव का नमूना दिखलाने वाले भी अवश्य विद्यमान है, जो निःस्वार्थ-भाव से लोगो को अपने सदुपदेशों द्वारा अध्यात्म-ज्ञान एवं कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देकर जनता का हित करते है और जिनके प्रभाव से ही दूसरे पाखण्डी भी पूजे जाते है, क्योकि थोड़ी-बहुत असलियत के बिना केवल नकल ठहर नहीं सकती; परन्तु उन महात्माओ की संख्या आटे में नमक के बराबर अर्थात् बहुत ही अल्प है।

संन्यास-निष्ठा में जगत् की भौतिक अवस्था की एक प्रकार से उपेक्षा की जाती है, अतः उससे उपराम होकर अथवा उसका तिरस्कार करके केवल आध्यात्मिक विचार में ही निरन्तर लगे रहना होता है, इसलिए उसमें आधिभौतिक (लौकिक) उन्नति के अर्थात् भौतिक सुख-समृद्धि एवं भौतिक बल सम्पादन करने के लिए कोई स्थान नहीं रहता। परन्तु आध्यात्मिक विचार भी मन, बुद्धि, इन्द्रियो आदि के सघात एव पच भूतो के पुतले इस शरीर द्वारा ही होते है, और यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण इसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो भाव बने रहते है—ये कभी मिट नहीं सकते। अत. आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति से ही सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। जव तक शरीर की प्राकृतिक आव-

श्यकताएँ—भूख-प्यासादि—पूरी नहीं होतीं, शरीर बलवान् और आरोग्य नहीं होता तथा मन व्याकुल रहता है, तब तक वह आत्मज्ञान में टिक नहीं सकता। भूखे, दरिद्री, निर्बल एवं रोगी लोगो का चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है, इसलिए वे तत्त्वज्ञान में भी उन्नति नहीं कर सकते (मुण्डकोनिषद् मुं० ३ ख० २ मं० ४)। प्राणी मात्र की सबसे पहली आवश्यकता पेट भरने की रहती है। अतः जो लोग यहाँ पर (इसी शरीर में) अभ्युदय (भौतिक उन्नति) नहीं कर सकते अर्थात् भौतिक दृष्टि से अवनत दशा में रहते हैं, उनका पारमार्थिक (आध्यात्मिक) कल्याण होना बहुत ही कठिन होता है। यद्यपि सन्यास-निष्ठा भौतिक उन्नति की सर्वथा अवहेलना करती है, परन्तु भूख, प्यास, शीत, ताप आदि शरीर के विकार संन्यासी के भी छूट नहीं जाते, अत इनकी निवृत्ति के लिए उसे गृहस्थो पर निर्भर रहना पडता है और इस तरह के परावलम्बन में चित्त सर्वथा उद्वेग रहित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन उपलब्ध न होने पर सन्यासी को अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक कष्ट सहन करने पडते हैं; और सन्यासाश्रम की उच्चता के अहकार के कारण मानापमान के विचार भी समय-समय पर उसके चित्त को विक्षिप्त करते रहते हैं।

परन्तु घर-गृहस्थी में रह कर सासारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य के लिए उपर्युक्त कठिनाइयाँ नहीं रहतीं और न इस प्रकार पतन की ही आशका रहती है, क्योकि वह अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगो के जीवन-निर्वाह के लिए पूर्वकथित वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने शरीर की योग्यता के सासारिक व्यवहार करता रहता है, जिनसे उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए दूसरो पर निर्भर रहना नहीं पडता, किन्तु स्वावलम्बन और उद्यमशीलता से वह केवल अपनी ही शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करके तथा केवल अपनी ही भौतिक उन्नति करके संतोष नहीं करता, किन्तु अपनी योग्यता के तारतम्यानुसार दूसरो की शरीर-यात्रा और सामूहिक उन्नति में भी सहायक होता है। इस तरह कर्तव्य-परायणता और आपस के सहयोग के फलस्वरूप जो भोग्य पदार्थ उसे उपलब्ध होते हैं, उन्हें व्यवस्थित रूप से भोग कर वह अपने मन और इन्द्रियो के वेगो को शान्त करता है, जिससे उनके उच्छृखल होने की सभावना कम रहती है। साथ ही उसे अपने कुटुम्ब और बन्धुजनो से अपनी आत्मीयता अथवा एकता का निश्चय बना रहता है और उस आत्मीयता अथवा एकता के निश्चयपूर्वक वह उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके पृथक् व्यक्तित्व का भाव कम होकर उसे सबके साथ एकता के भाव बढाने और व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागने में सहायता मिलती है। साराश यह कि गृहस्थी में रह कर सासारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में सुविधा रहती है। अस्तु, जो लोग व्यवस्थित-रूप से उपर्युक्त कर्म-योग का अभ्यास करते हैं, उनके चित्त में समय पाकर आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उस तरफ लगने पर शनै-शनै क्रमोन्नति करते हुए जब उनकी

सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, तब वे समत्वयोगी अपने को सबमें और सबको अपने में अनुभव करने रूपी ब्रह्म-भाव में स्थित हो जाते हैं और स्वेच्छा से सब प्रकार के आचरण स्वतन्त्रतापूर्वक करते हुए भी पूर्ण रूप से अलिप्त और अकर्ता बने रहते है।

बहुत से लोगो का यह अनुमान है कि आत्मज्ञानी पुरुष के शरीर, इन्द्रियो, मन, बुद्धि आदि की सारी चेष्टाएँ छूट जाती होगी; परन्तु उनका यह अनुमान गलत है। आत्मज्ञानी पुरुष भी साधारण लोगो की तरह बुद्धि से विचार करता है, मन से संकल्प करता है, चित्त से चिंतन करता है, अहंकार से अहंकार करता है, आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूंघता है, मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता है, वाणी से बोलता है, त्वचा से स्पर्श करता है, हाथो से लेता-देता और काम करता है, पैरो से चलता है, गुह्य इन्द्रियो से मल-मूत्र त्यागता है, इत्यादि। सारांश यह कि वह सभी तरह की चेष्टाएँ अन्य मनुष्यों की तरह ही करता है, परन्तु अज्ञानी मनुष्य की और उसकी चेष्टाओ में इतना अन्तर रहता है कि अज्ञानी अपने को मन, बुद्धि और इन्द्रियो का संघातरूप शरीर मात्र ही समझता है, इसलिए शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थो, विषयो एवं व्यवहारो ही को सब कुछ मान कर उन्हीं में सदा आसक्त एवं तल्लीन रहता है और अनुकूलता-प्रतिकूलता में राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि से उसका चित्त विक्षिप्त एवं अशान्त रहता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियो आदि को तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयो को अपनी रचना समझता है और अपने-आपको उनका आत्मा, उनका आश्रय, उनका नियामक अथवा स्वामी मानता है, अतः वह उनमें आसक्त नहीं होता, किन्तु उनको अपने अधीन रखता है, और उनको अपने-अपने स्वाभाविक धर्मों में लगाये रखता हुआ भी उनके प्रत्येक व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है; और ऐसा करते हुए भी उनके व्यवहारो का उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पडता। जिस तरह एक राजा अपनी प्रजा को कानून आदि द्वारा अपने शासन और नियन्त्रण में रखता हुआ सबको उनकी भिन्न-भिन्न योग्यतानुसार व्यवहार करने में लगाये रखता है और राजा की सत्ता प्रजा में सर्वव्यापक रहती है तथा उस सर्वव्यापक सत्ता के आश्रय में ही प्रजा के सारे व्यवहार होते हैं, परन्तु प्रजा के व्यवहारो में राजा का कोई पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, न उसकी किसी व्यक्ति के अच्छे-बुरे आचरणो में राग-द्वेष की आसक्ति रहती है। इसी तरह आत्मज्ञानी पुरुष के मन, बुद्धि और शरीर द्वारा सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ एकता के भाव से होते रहते है, किसी में भी उसकी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का उद्देश्य नहीं रहता, और न उसे किसी विषय में राग-द्वेष ही रहता है, अत· सब व्यवहार करते हुए भी उसके अन्तःकरण में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी शान्ति ही भग होती है।

बहुत से लोगो को यह सदेह है कि कर्म-रूप जगत् और उसके व्यवहारो को तो जगत्

और जीवो से अलग रहने वाले, उन सबके स्वामी ईश्वर ने बनाया है और सब जीवो के कर्तव्य-कर्मो का भी उसी ने निर्माण किया है तथा वही सब प्राणियो को कर्मों में जोडता है, एवं कर्मो का फल देनेवाला भी वही है, फिर आत्मज्ञानी पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र, अनासक्त कर्मों का स्वामी, सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता और शुभाशुभ फल से रहित कैसे हो सकता है ? उक्त सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् कहते है कि लोगों के कर्म, उनकी कर्तव्यता एवं उनके फलादि को, उनसे कोई अलग रहने वाला ईश्वर नहीं रचता, क्योकि सर्वव्यापक ईश्वर कोई अलग व्यक्ति नहीं है कि जो कहीं अलग बैठ कर कर्म-रूप सृष्टि की रचना, पालन और संहार आदि करता रहे । सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमातमा अथवा ईश्वर स्वयं ही सृष्टि-रूप एवं जीव-रूप होकर अनेक तरह के स्वाँग करता है। (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ७) वे स्वाँग ही अलग-अलग व्यक्तियो के रूप में प्रकट होते है, तथा जिस स्वाँग की जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार अपने-अपने स्वाँग के कर्म और उनकी कर्तव्यता आदि, वे स्वाँग ही स्वयं कल्पित कर लेते है । दूसरे शब्दो में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव से, अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव से अपने लिए कर्मों की कल्पना करता है और आप ही अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के कारण उनका फल उत्पन्न करके आप ही भोगता है। यह बात प्रत्यक्ष है कि कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिए ईश्वर पर निर्भर रह कर निश्चिन्त नहीं हो जाता किन्तु सब कोई अपने लिए थोड़ा या बहुत उद्योग करते रहते है और सब कोई अपने ही कर्मो के फल भोगते है । वास्तव में सर्वव्यापक समष्टि आत्मा, अथवा परमात्मा, अथवा ईश्वर में कर्मों का कर्तापन अथवा भोक्तापन, और पाप-पुण्य, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व कुछ भी नहीं होते; क्योकि सर्वव्यापक आत्मा के एकत्व-भाव में सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते है—किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। कर्ता-भोक्तापन व्यक्तित्व के भाव में है।

जो आत्मज्ञानी लोग इस रहस्य को यथार्थतया जान लेते है, वे तो अपने को स्वाधीन एव स्वतत्र अनुभव करते हुए सारे कर्मों को अपनी ही कल्पना समझ कर स्वामिभाव से उन्हें करते हुए उनमें आसक्त नहीं होते, अत. उन्हें कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, क्योकि अपनी कल्पना वस्तुत अपने को नहीं बांध सकती; न वे अपने परमात्म-स्वरूप से ही कभी डिगते है । परन्तु जो लोग उक्त रहस्य को नहीं जानते उन्हें अपने आत्मस्वरूप का यथार्य ज्ञान न होने के कारण वे नामरूपात्मक कल्पित स्वाँग के व्यक्तित्व के भाव में आसक्ति रखते है और कर्मों तथा उनकी कर्तव्यता और उनके फलो को अपनी रचना नहीं समझते, किन्तु अपने से भिन्न ईश्वर की रचना मानते है । अत वे चाहे गृहस्थी में रह कर ससार के व्यवहार करें, या संन्यास का स्वाँग धर कर गृहस्थी से अलग हो जायें, उनका भ्रम कभी

मिट नहीं सकता, और वे कर्मों के बन्धन में सदा बँधे ही रहते हैं; क्योंकि जो अपने को पराधीन एवं परावलंबी मानता है वह स्वतन्त्र अथवा मुक्त नहीं हो सकता।

श्लोक ८ से १७ तक के अर्थ का अनर्थ करके कई लोग उसकी ओट में बहुत विरुद्धाचरण करते हैं। वे कहते हैं कि "हम तो ब्रह्म अथवा आत्मा हैं, और आत्मा में कुछ करना-कराना है नहीं, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, इससे हमारा (आत्मा का) क्या बनता-बिगड़ता है; हम तो इन्द्रियो से पृथक् हैं, हमारा इन्द्रियो से क्या सम्बन्ध?" इस तरह वे अपने मुख से ब्रह्म अथवा परमात्मा होने की डींगें हाँकते हैं, परन्तु उनमें व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ इतना बढ़ा हुआ होता है और विषयादिको की लालसा इतनी प्रबल होती है कि वे चोरी, ठगी, व्यभिचार, हिंसा आदि घोर कुकर्म करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। जो विषयलम्पट लोग गृहस्थी में रह कर द्रव्योपार्जन की योग्यता न रखने और अपनी मनमानी न चला सकने के कारण संन्यास का स्वाँग धरके आत्मज्ञान की कुछ बातें सीख लेते हैं, अथवा जो गृहस्थी में रहते हुए भी वेदान्ती एवं आत्मज्ञानी होने का झूठा दम भरते हैं, अथवा जो अपने आपको कृष्ण या ईश्वरस्वरूप बता कर लोगो का सर्वस्व छीनने की धुन में लगे रहते हैं, वे ही लोग शास्त्रों के कुछ वाक्यों को चुन कर उनके भाव का विपर्यास करके भोले-भाले लोगो को और विशेष करके श्रद्धालु स्त्रियों को अपने मायाजाल में फँसा कर दुराचार करते हैं और परिणाम में वे अपना तथा दूसरो का सर्वनाश करते हैं। वे लोग अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त की एक प्रकार से विडम्बना और समाज की महान् हानि करते हैं।

इन श्लोकों की उपर्युक्त व्याख्या में यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि भगवान् ने यह निरूपण गृहस्थी में रहने वाले उन समत्वयोगियों के आचरणो का किया है, जो कि सबके साथ अपनी एकता के ज्ञानयुक्त, शरीर और इन्द्रियो के व्यवहार सुव्यवस्थित-रूप से करते हैं; संन्यास का स्वाँग करनेवालों तथा ज्ञान की थोथी बातें बनाने वालो एवं अपने को ब्रह्म अथवा श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर कहने वालो के दुराचारो का निरूपण इन श्लोकों में नहीं है। इसलिए संन्यास का स्वाँग धारण करने वाले पाखण्डी तथा आत्मज्ञान की थोथी बातें बनाने वाले एवं अपने को श्रीकृष्ण कह कर भोले लोगों को ठगने वाले दंभी लोगो के लिए अपने कुकर्मों की सफाई देने की इन श्लोकों में कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिनको आत्मज्ञान हो जाता है वे अखिल विश्व को अपने में अनुभव करते हैं, अतः उनको अपने से भिन्न पदार्थों के संयोग से सुख-प्राप्ति की चाह हो ही कैसे सकती है, तथा दूसरों के धन एवं दूसरो की स्त्रियों पर हाथ मारने का विचार उनके मन में उत्पन्न ही कैसे हो सकता है?

जो धूर्त पाखण्डी लोग आत्मज्ञान की बातो की ओट में इस तरह के अत्याचार करते

है, उनके कुमार्ग में यदि कोई बाधक होता है, अथवा उनका वह चोरी और ठगी का सामान जब कोई दूसरा उडा लेता है तब वे लडाइयाँ और मुकद्दमेबाजी करते है और तब उनके "अहं ब्रह्मास्मि" की पोल अच्छी तरह खुल जाती है।

× × ×

अब भगवान् उपर्युक्त समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति का वर्णन आगे के श्लोको में करते है —

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अर्थ—विद्या और विनय (नम्रता) सपन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में और इसी तरह कुत्ते तथा चाण्डाल में (आत्मज्ञानी) विद्वान् पुरुष समदर्शी होते है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगियो की दृष्टि में विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि

ऊँचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि सभी प्राणियों के विषय में सर्व-भूतात्मैक्य समता (Sameness) का भाव रहता है; क्योंकि वे जानते हैं कि सबका असली तत्त्व यानी सबका मूल आधार—आत्मा एक है, चेतनता सब में एक समान है, और जिन पंचभूतों के सबके शरीर होते हैं वे पंचभूत भी सबमें एक समान हैं, तथा शरीर सभी एक समान विकारी, परिवर्तनशील एवं उत्पत्तिनाशवान् होते हैं; इसलिए तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। भेद केवल तीन गुणो के तारतम्य अर्थात् कमी-वेशी की विचित्रता और उससे उत्पन्न होने वाले पारस्परिक संबंध में होता है, सो वे गुण वैचित्र्य और आपस के संबंध सदा एक-से नहीं रहते, किन्तु निरन्तर वदलते रहते हैं। जिस पदार्थ में कभी सत्वगुण की प्रधानता होती है उसी में कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, और जिसमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता होती है उसमें कभी सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है (गी० अ० १४ श्लो० १०)। दुष्टाचरण करने से विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण भी पतित हो जाता है; रोगग्रसित गौ छूने योग्य भी नहीं रहती; विपत्ति आने पर महाकाय हाथी, चींटी से भी दीन वन जाता है। दूसरी तरफ पहरेदार कुत्ते बहुत लोकोपकारी होते हैं; और भगवद्भक्त एवं आत्मज्ञानी चांडाल वंदनीय हो जाते हैं। हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्य किसी धर्म को स्वीकार कर लेने से ब्राह्मण का ब्राह्मणपन और चाण्डाल का चाण्डालपन नहीं रहता किन्तु सब एक-मेक हो जाते हैं। सारांश यह कि गुण-वैचित्र्य और आपस के संबंध, जो बाहरी दृश्य मात्र हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता किन्तु वे वदलते रहते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग उन वाहरी कल्पित नामों और रूपो की भिन्नताओ की अपेक्षा उनकी असलियत अर्थात् सबकी एकता जो सदा एक समान बनी रहती है, उसको अधिक महत्त्व देते हैं, और सबको एक ही आत्मा यानी अपने-आपके अनेक रूप समझते हुए, किसी के साथ ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, तिरस्कार एवं छल आदि के दुर्व्यवहार नहीं करते और न किसी को दबा कर उस पर अत्याचार ही करते हैं, किन्तु सबके साथ यथायोग्य समता का वर्ताव* करते रहते हैं (१८)। जिनका मन (उक्त) समता के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है, वे संसार को यहीं (इसी शरीर में) जीत लेते हैं, (और) क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष एवं सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह कि द्वैतभाव से उत्पन्न राग, द्वेष आदि सब दोषों से रहित साम्य-भाव (Sameness) ही ब्रह्म है, इसलिए जिनका मन उक्त साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, उन्हें मुक्त होने के लिए कोई दूसरा शरीर धारण करके किसी दूसरे लोक-विशेष में जाने की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु वे यहाँ

---

* समता के वर्ताव की विशेष व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

(इस शरीर में) ही साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं और वे जीवनमुक्त महापुरुष विश्व-विजेता अर्थात् सारे जगत् के स्वामी होते हैं (१९)। जो प्रिय (पदार्थों) को पाकर विशेष हर्षित नहीं होता और अप्रिय (पदार्थों) को पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर-बुद्धि वाला मोहरहित ब्रह्मवेत्ता (समत्वयोगी) ब्रह्म में स्थित है। (पदार्थों और व्यक्तियो के) बाहरी संबधो में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं होता, वह अपने अन्तरात्मा में जो सुख है उसे प्राप्त होता है, और वह ब्रह्मभाव में स्थित समत्व-योगी अक्षय सुख अर्थात् नित्यानन्द का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव रूपी ब्रह्म अथवा परमात्मा में स्थित समत्वयोगी का अन्त.करण सासारिक भिन्नताओ के बनावो और उनके संबंधो में आसक्त नहीं होता किन्तु उसका लक्ष्य सवके भीतरी एकत्व-भाव पर रहता है अर्थात् वह सब बाहरी बनाओ को एक ही आत्मा के अनेक रूप अनुभव करता है, इसलिए अनुकूल पदार्थों अर्थात् शुभ, पवित्र, उच्च कोटि के एवं प्यारे लगने वाले तथा सुखदायक माने जाने वाले पदार्थों अथवा व्यक्तियो के सयोग से उसे कोई विशेष हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल अर्थात् अशुभ, मलिन, हीन कोटि के एव बुरे लगने वाले तथा दुःखदायक माने जाने वाले पदार्थों एवं व्यक्तियो के संयोग से उसे कोई उद्वेग नहीं होता। उसकी स्थिति निरन्तर सबके अन्तरात्मा के साम्य-भाव (Sameness) रूप ब्रह्म में रहती है, अतः वह सदा सबकी एकता के आत्मानंद में ही निमग्न रहता है। सच्चा और अक्षय सुख सबके अन्तरात्मा अर्थात् सबके एकत्व-भाव में है, न कि बाहरी भेद-भाव के दिखावटी बनावो में। बाहर से सुखदायक प्रतीत होने वाले भिन्नता के वनावो में आसक्ति रखने से धोखा होता है (२०-२१)। क्योकि पदार्थो के (बाहरी बनाव के) संयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग है, वे दु.ख के ही जनक होते है (और वे) उत्पत्ति-विनाश वाले भी है, (इसलिए) बुद्धिमान् मनुष्य उनमें प्रीति नही रखता। तात्पर्य यह कि सासारिक पदार्थों के वाहरी वनावों से संबध रखने वाले जितने विषय है—चाहे वे इन्द्रियो के भोग यानी खाने, पीने, देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूंघने आदि से सबध रखने वाले हो, या अनुकूल व्यक्तियो अथवा पदार्थों के संयोग-सम्बन्धी हो—सभी दु ख के ही कारण होते है; क्योकि जिस वस्तु का संयोग होता है उसका वियोग अवश्य होता है, अत सयोग में सुख मानने से वियोग का दु.ख उससे अधिक होता है। सारांश यह कि पदार्थों के बाहरी नाम-रूपो के वनावो में आसक्ति रखने वालो को अवश्य ही धोखा होता है (बृहदा० उ० अ० २ ब्राह्मण ४ मत्र ६)। इसलिए विचार-वान् लोग किसी भी वस्तु के बाहरी रूप में आसक्ति नहीं रखते (२२)। जो यहीं पर (इसी जन्म में) शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता है, वही समत्व योगी है और वही सुखी मनुष्य है। तात्पर्य यह कि मनुष्य-देह में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण इसमें विचारपूर्वक आचरण करने की योग्यता होती है,

इसलिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, अभिमान आदि अनेक प्रकार के राजसी भावो के जो अनर्थकारी वेग उत्पन्न होते है, उनको विचारपूर्वक थाम कर हानिरहित वना देने अर्थात् उनसे कोई अनर्थ न होने देने की योग्यता इस मनुष्य देह में ही होती है, अन्य किसी देह में नहीं होती; अत. जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) इस शरीर के रहते ही इन वेगो पर विजय पा लेता है अर्थात् इनके वश में होकर अनर्थ नहीं करता, वही सच्चा समत्वयोगी है और उसी को सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है (२३)। जो पुरुष (पदार्थो और व्यक्तियो की कल्पित अनेकता के बाहरी रूपो में आसक्ति न रख कर सवकी भीतरी एकतारूपी) अन्तरात्मा में सुख का अनुभव करता है, (सवके भीतरी एकत्व-भाव-रूपी) अन्तरात्मा में आराम पाता है और जो (सवके भीतरी एकत्व-भाव-रूपी) अन्तरात्मा ही से प्रकाशित हो रहा है यानी सवमें एक आत्मा ही के प्रकाश अथवा चमत्कार का अनुभव करता है, वह ब्रह्म-स्वरूप समत्वयोगी ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होता है। तात्पर्य यह कि जो समस्त वाहरी नाम-रूपो की कल्पित भिन्नताओ की सच्ची एकता के अनुभव में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता ह, वह समत्वयोगी द्वन्द्वातीत ब्रह्म-स्वरूप होता है (२४)। **जिनका द्वैत-भाव निवृत्त हो गया है और अन्तःकरण को जिनने अपने वश में कर लिया है, वे सव भूत-प्राणियों के हित में लगे रहने वाले निष्पाप ज्ञानी लोग ब्रह्म-निर्वाण-पद को पाते हैं।** तात्पर्य यह कि जिन महापुरुषो के अन्त करण का द्वैत-भाव निवृत्त हो जाता है, वे ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होकर सव प्रकार के भेद-भाव से रहित सारे भूत-प्राणियों के हित में लगे रहते है, अर्थात् उनकी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टि में विशेष और सामान्य, अथवा व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं रहता, क्योकि वे जानते है कि व्यष्टि अर्थात् एक-एक व्यक्ति का योग ही समष्टि अर्थात् सव है, और समष्टि अर्थात् सवमें व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का समावेश है। इसलिए किसी विशेष व्यक्ति का अनिष्ट करके सव का हित नहीं हो सकता और न सवका अहित करके किसी विशेष व्यक्ति का वास्तविक हित हो सकता है, अतः वे व्यष्टि और समष्टि के हित को अन्योन्याश्रित समझते हुए किसी भी प्रकार के भेद विना प्राणीमात्र के हित* में लगे रहते है (२५)। जिनका काम-क्रोध निवृत्त हो गया है तथा जिनने चित्त को अपने वश में कर लिया है, ऐसे आत्मज्ञानी यतियो के सदा-सर्वदा ब्रह्म-निर्वाण-पद ही वर्त रहा है। तात्पर्य यह कि जिन आत्मज्ञानी जितेन्द्रिय महापुरुषो ने मन को वश में करके द्वैत-भाव से उत्पन्न काम-क्रोधादि मलिन भावो को सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान द्वारा जीत लिया है, वे सदा-सर्वदा ब्रह्म-निर्वाण-पद में ही वर्त रहे है (२६)।

स्पष्टीकरण—श्री भगवान् कहते है कि जो आत्मज्ञानी पुरुष होते है वे भौतिक

---

* सव के हित मे लगे रहने का खुलासा आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

शरीरो के बाहरी भेदभाव के बनाव को महत्त्व नहीं देते, किन्तु सब शरीरो को एक ही निर्विकार एव सम ब्रह्म अथवा आत्मा के अनेक नामो और रूपो का कल्पित बनाव समझकर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का बर्ताव करते है। शरीर चाहे सर्वगुणसपन्न ब्राह्मण का हो या एक मेहतर अथवा चाण्डाल का; पवित्र गाय का हो या अपवित्र कुत्ते का, मोटा हाथी का हो या छोटा चींटी का, उनकी सबके विषय में सदा समदृष्टि रहती है; क्योकि वे जानते है कि ऊँचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सभी द्वन्द्व, सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के बनाव मात्र है (गी० अ० ७ श्लो० ४-५), और वे बाहरी बनाव प्रतिक्षण परिवर्तनशील अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले, एव उत्पत्तिनाशवान् अर्थात् बनने और मिटने वाले होते है, इसलिए उनके भेद सभी कल्पित और झूठे है, अतः इन भेद-भावों का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न वे अपने साम्यभाव से ही विचलित होते है, अर्थात् वे न तो वस्तुतः किसी को ऊँचा, पवित्र अथवा मोटा मान कर उससे विशेष प्रभावित होते है और न किसी को नीचा, अपवित्र अथवा छोटा मान कर उसका तिरस्कार करते है, किन्तु सबके साथ उनके स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार वे समता का व्यवहार करते है। उनको अनुकूल पदार्थो की प्राप्ति से इतना हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल की प्राप्ति से इतना उद्वेग नहीं होता कि जिससे उनके साम्य-भाव में कोई अन्तर आवे, अर्थात् आँखो के सामने अच्छे, चित्ताकर्षक, शुभ एवं पवित्र रूप और दृश्य आवें अथवा बुरे, अशुभ एवं मलिन रूप और दृश्य आवें; कानो में सुरीले, मान बढाने वाले एवं मागलिक शब्द पडें, अथवा कडवे, कर्कश, अपमानजनक एव अमागलिक शब्द पडें; नाक में सुगन्ध आवे अथवा दुर्गन्ध; त्वचा को कोमल, सुहावने एव पवित्र स्पर्श प्राप्त हो अथवा कठिन, असह्य एव मलिन स्पर्श, जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो अथवा बेस्वाद भोजन; इस तरह सभी इन्द्रियो तथा मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थो एवं विषयो की प्राप्ति से उनके अन्त करण में हर्ष अथवा उद्वेग-जनित क्षोभ नहीं होता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञानी पुरुष को इन्द्रियो के विषयो की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। वास्तव में साधारण लोगो की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी को इन विषयो का विशेष ज्ञान होता है, क्योकि उसकी ज्ञान-शक्ति दूसरो की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। परन्तु वह अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का अनुभव करता हुआ भी उनसे विचलित नहीं होता। जिनका मन साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, वे अनुकूल, प्रतिकूल, अच्छे-बुरे आदि सब द्वन्द्वो को अपनी ही प्रकृति का बनाव मात्र समझते है, अर्थात् यह जगत्-प्रपंच उनको अपने ही समष्टि-भाव की इच्छा, प्रकृति अथवा स्वभाव का खेल जान पडता है—उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न द्वैत-प्रपच कुछ रहता ही नहीं।

जगत् के पदार्थों का वस्तुत. अलग-अलग अस्तित्व मान कर उनके संयोग से होने वाले

क्षणिक सुखो में आसक्ति रखने से दुःख अवश्य ही होता है, क्योकि शरीरो से संबंध रखने वाले वाहरी विषयो की अनुकूलता-रूप जितने भी सुख है, उनके साथ ही प्रतिकूलता-रूप दु.ख लगा रहता है। अनुकूलता, प्रतिकूलता अथवा सुख, दुःख आदि द्वन्द्वो के जोड़े है, अत. वे साथ ही रहते है और दोनो ही परिवर्तनशील एवं आने-जाने वाले है; इसलिए यदि अनुकूलता के संयोग में सुख माना जाता है तो उसके वियोग में दुःख अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त पहले तो उन सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते है, फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख-प्राप्ति की लालसा होती है, और दूसरो के अधिक सुखो की ईर्ष्या होती है, एव प्राप्त सुखो के नाश का भय वना रहता है, और सुख-भोग के अनंतर उसका दुष्परिणाम भी अवश्य होता है। फिर जहाँ अनुकूल पदार्थों की आकांक्षारूप काम उत्पन्न होता है वहाँ उसकी प्रतिक्रियारूप क्रोध अवश्य उत्पन्न होता है (गी० अ० २ श्लो० ६२), और काम-क्रोध अथवा राग-द्वेष ही सब दु.खों एवं बन्धनों के कारण है। इन्द्रियों और विषयो के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख राजस सुख है, जो पहले तो अमृत-सा प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष की तरह होता है (गी० अ० १८ श्लो० ३८), अतः वह वास्तविक सुख नहीं किन्तु दु.ख ही का जनक है। एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्ति रखने से भी वन्धन और दुःख होता है, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। जैसे कि—हरिण और सर्प की कान के विषय में अधिक आसक्ति होने के कारण वे राग सुन कर पकड़े जाते है; हाथी जैसा मोटा पशु स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण मादा (हथिनी) के सयोग के प्रलोभन से वँधता है; पतंग आँखो के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण अग्नि में पड़ कर जलता है; मछली जिह्वा के विषय में विशेष आसक्त होने के कारण जाल में फँसती है; और भौंरा नासिका के विषय में विशेष आसक्ति रखने के कारण पुष्प की सुगन्धि में मस्त होकर उसी में वन्द हो जाता है। जव कि एक-एक इन्द्रिय के विषय की आसक्ति इतनी दु.खदायक एवं वंधन का कारण होती है, तव पाँचो इन्द्रियो के विषयो में आसक्त होने से दु.खो का क्या ठिकाना ? सारांश यह कि पदार्थों के वाहरी संयोग से होने वाले विषय-सुखो की आसक्ति वास्तव में वहुत दु खदायक होती है, इसलिए विचारवान पुरुष इनमें आसक्ति नहीं रखते।

यदि सूक्ष्म विचार कर देखा जाय तो पता लगता है कि पदार्थों के वाहरी रूपो में जो सुख प्रतीत होता है वह भी वस्तुतः उन वाहरी नाम-रूपो के परिवर्तनशील वनाव का नहीं होता किन्तु उन पदार्थों और भोगने वाले दोनो के भीतरी तत्त्व—सच्चिदानन्द-घन-स्वरूप आत्मा की एकता का प्रसाद होता है। जव मन में किसी नाम-रूपात्मक वाह्य पदार्थ के प्राप्त करने अथवा किसी विषय के भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है, तव मन की वृत्ति उस इच्छित वस्तु को अपने से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने के लिए वहिर्मुख होती है, उस समय उसमें अन्तरात्मा के एकत्व-भाव से विमुख होने का क्षोभ होता है; फिर जब इच्छित

पदार्थ प्राप्त हो जाता है तब इच्छा पूरी होने पर वह पीछे लौट कर कुछ काल के लिए अन्तरात्मा की एकता में विश्राम करती है और तब उस एकाग्रता की शान्ति का आनन्द अनुभव करती है, जिसको वह अज्ञानवश पदार्थों के बाहरी सयोगो का सुख मानती है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियो के विषयो में कोई स्वतन्त्र सुख नहीं है, किन्तु उनमें प्रतीत होने वाला सुख सबके एकत्वभाव यानी अन्तरात्मा (वास्तविक अपने-आप) के ही आनन्द का आभास है। वास्तव में आनन्दस्वरूप एक आत्मा ही है जो सबका अपना-आप है।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियो में विषय भोगने की शक्ति भी सब के एकत्वभाव आनन्द-स्वरूप आत्मा के प्रसाद से ही होती है। इस पर एक दृष्टान्त नमूने के तौर पर दिया जाता है—

एक बादशाह अथवा अमीर धन-कुबेर के पास कल्पनातीत भोग्य पदार्थ उपस्थित है। रात्रि का समय प्रायः सभी इन्द्रियो के विषय-भोगो के लिए विशेष अनुकूल होता है। अस्तु विलासिता की सपूर्ण सामग्रियो से सजे हुए और ऋतु के अनुसार ठडे अथवा गरम हो सकने वाले महल में, बिजली के देदीप्यमान प्रकाश में, रूपवती युवतियो के हाव-भाव-कटाक्षयुक्त नाच, गायन, वाद्य और अपने गुण-कीर्तन की कविता आदि से वह प्रफुल्लित हो रहा है; भवन विविध प्रकार की मनोमुग्धकर सुगन्धियो से महक रहा है, जिसमें वह उन रमणियो से घिरा हुआ भाँति-भाँति के स्वादिष्ट भोजन और मादक पीने के पदार्थों का स्वाद लेता हुआ उनसे तरह-तरह के विलास करता है। साराश यह कि सब प्रकार के बढ़िया से बढिया भोग उसे प्राप्त है—जरा-सी भी कसर नहीं है। दीन-दुनिया की उसे कुछ भी खबर नहीं है। ऐसे अनुपम भोग भोगते हुए चार या छ. घटे बीत जाते है; नींद आने लगती है। वह कोशिश करता है कि नींद को रोके परन्तु नहीं रुकती। युवतियाँ विनय करती है कि "हुजूर ! नींद क्या लेते है, जरा इधर तो देखिए। एक रमणी नई तर्ज की गजल और एक नया नाच पेश करती है उसे तो एक नजर बख्श दीजिए"। परन्तु "हुजूर" को अब वे भोग-विलास कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वह उन सबके बीच में नींद के खुर्राटे लेने लगता है। जब कोई छेडता है तो कहता है कि थोड़ी देर मुझे नींद ले लेने दो, फिर तरोताजा होकर मौज उड़ावेंगे। आखिर "जहाँपनाह" नींद की गोद में पनाह लेते है। सुबह होने लगता है, "भैरवी" का समय हो जाता है, परन्तु "हुजूर" अभी नहीं जागते हैं। उन्हें जगाने की किसी में हिम्मत नहीं है—खफा होने का डर है—क्योकि नींद से जागना बहुत ही बुरा लगता है। कुछ समय बाद प्राकृतिक वेग उन्हे जगाते है। यद्यपि सुस्ती तो छाई हुई है और सिर में दर्द भी है, तो भी विषयो की आसक्ति फिर उस तरफ खींचती है और पहले की तरह राग-रग होने लगते है, परन्तु थकावट के असर से पहले वाला मजा नहीं रहता। थोड़ी देर बाद सूर्य भगवान् का प्रकाश रग फीका करने में मदद देता है। लाचार जल्सा बर्खास्त होता है और "हुजूर" को दिन-

भर लम्बी तान कर पड़े रहना पड़ता है। जब शाम तक नींद लेकर वह स्वस्थ हो जाता है तब दूसरी रात को फिर विलास करने के योग्य होता है।

यह दृष्टान्त कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु जो लोग इस तरह की विलासिता करते है, उनके यहाँ यह प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। इस प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट है कि वास्तव में पदार्थो के बाहरी रूपों के नाना विधि के भोगो में सुख नहीं है, क्योकि यदि उनमें सुख होता तो उनसे थकावट न आती और उनको छोड़कर नींद लेने की इतनी आतुरता नहीं होती और न नींद लेने से आराम और स्वस्थता ही प्राप्त होती।

केवल विषय-भोगो की विलासिता में ही नहीं, किन्तु बाहरी नाम-रूपो की पृथकता को सच्ची मान कर भेद-बुद्धि से किये जाने वाले सभी व्यवहारो में--चाहे वे धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, सन्ध्या-वन्दन, ध्यान, जप, तप, पूजा, पाठ, प्राणायाम, भजन, कीर्तन, शास्त्राध्ययन, तीर्थाटन, दान, पुण्य, व्रत, उपवास आदि हो अथवा किसी वर्ण एवं आश्रम के विविध प्रकार के व्यवसायो के काम-धंधे हो, अथवा अन्य किसी भी तरह के शारीरिक एवं मानसिक व्यापार हो--उन सब में, थकावट, अरुचि, विमनस्कता एव व्याकुलता आदि आये बिना नहीं रहती और वह थकावट तथा व्याकुलता आदि तभी दूर होती है जब कुछ समय तक गहरी नींद लेकर आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति कर ली जाती है।

गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सुख अथवा आराम मिलने का कारण यह है कि उसमे बाहरी दृश्य के सारे भेदभाव कुछ काल के लिए मिट कर परम-सुख रूप आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति हो जाती है, और वह अवस्था ऊँचे, नीचे, पवित्र, मलिन, छोटे, मोटे आदि सभी प्राणियो के लिए एक समान आनन्द-स्वरूप होती है, अर्थात् उस अवस्था का जितना आनन्द एक विद्वान् ब्राह्मण को और महलों में सोने वाले एवं मखमल आदि के कोमल विस्तरो पर लेटे हुए एक सम्राट् को होता है, उतना ही पथरीली भूमि पर, एवं गदगी में पडे हुए एक मजदूर एवं अछूत-चमार अथवा भंगी को होता है और उतना ही अन्य देहधारियो को होता है। साराश यह कि उस अवस्था में किसी की कोई विशेषता नहीं रहती, किन्तु पूर्ण एकता अथवा समता होती है (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मंत्र २२)। यही कारण है कि जब बाहरी भेदभाव के व्यवहारो में थकावट आदि आकर वे दु.खदायी प्रतीत होने लगते है, तब उनसे निवृत्त होकर आनन्द-रूप सुषुप्ति अवस्था के एकत्व अथवा साम्य-भाव में प्रविष्ट होने (नींद लेने) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, और जब उस सुषुप्ति अवस्था की आन्तरिक एकता में स्थिति हो जाती है तभी सुख-शान्ति मिलती है, और यही कारण है कि उसमें प्रविष्ट होने पर फिर उसे छोडने को जी नहीं चाहता एव दूसरे सारे विषय-भोग उस आनन्द के सामने तुच्छ प्रतीत होते हैं। उस आन्तरिक एकता के आनन्द की प्राप्ति होने पर बाहरी भेदभाव के व्यवहारो की प्रति-

क्रिया-जन्य जो थकावट और व्याकुलता आदि होती है, वे शान्त हो जाती है और उसी आन्तरिक एकत्व-भाव के आनन्द की प्राप्ति करके प्राणी फिर बाहरी व्यवहार करने के योग्य होते है। तात्पर्य यह कि मन भीतरी एकता के आनद का कुछ अंश लेकर बाहर आता है और बाहरी विषयों में उसे खर्च करता है, और जब वह उस आनंद को खर्च कर चुकता है, तब फिर उसे अंदर से आनन्द लाना पड़ता है और तब फिर से वह बाहरी विषयो में बर्तने के योग्य होता है। जिस तरह बालक अपनी माता की गोद से अलग होकर खेलता है और खेलते-खेलते जब थकावट आती है तब वह पीछे अपनी माता की गोद में जाकर लेट जाता है और उसका स्तन-पान करके जब ताजा हो जाता है, तब फिर खेलने के योग्य होता है; उसी तरह मन गहरी नींद (सुषुप्ति) की अवस्था के आन्तरिक एकत्व-भाव अथवा प्रकृति माता की निश्चल अवस्था रूप गोद से निकल कर जाग्रत अवस्था के बाहरी विषयो में वर्तता हुआ जब भीतर से लाई हुई आनद की पूंजी को खर्च कर देता है, तव थक जाता है; और फिर सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में प्रकृति माता की निश्चल अवस्था रूप (आन्तरिक एकता की) गोद में कुछ काल के लिए विश्राम करके जब उसके आनद से आनंदित हो जाता है, तब पुनः बाहरी विषयो में बर्तने के योग्य होता है।

इस से स्पष्ट है कि बाहरी नाम-रूपात्मक भिन्नता के विषय-भोगो तथा अन्य व्यवहारो में वस्तुतः कोई सुख नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके भीतरी एकत्व-भाव के आनन्द का आभास (प्रतिबिम्ब) मात्र है; इसलिए पदार्थों के बाहरी नाम-रूपो के सयोगो में सुख मान कर उनमें आसक्ति करने अर्थात् उनमें उलझे रहने से दुःख होता है।

इस विवेचन में सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था को जो आनदरूप एवं आनन्द का केन्द्र बताया है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि "नींद लेने में ही सच्ची एव स्थायी सुख-शान्ति होती है, अतः सब विषय-भोग तथा अन्य व्यवहार छोड-छाड़ कर दिन-रात नींद में ही पडे रहना चाहिए;" क्योकि यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में सारे बाहरी भेद-भाव मिट कर थोडे समय के लिए प्रकृति की निश्चल अवस्था-रूपी एकत्व-भाव में स्थिति होती है और शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की पृथक्ता के सभी भाव उनके कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में लय होते है, तब कुछ काल के लिए सब भिन्नताएँ मिट जाने से एकता का आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु वहाँ अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने-आप अर्थात् सर्वान्तर्यामी आत्मा अथवा सबकी एकता का ज्ञानपूर्वक अनुभव नहीं होता, किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान अथवा अन्धकार का आवरण बना रहता है, इसलिए नींद का सुख तामस माना गया है (गी० अ० १८ श्लो० ३९), जो नींद आने से पहले और नींद खुलने के बाद नहीं रहता।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्न दोनो अवस्थाओ की कारण है, अत जाग्रत

और स्वप्न अवस्थाओ के प्रपंच का आविर्भाव (उत्पत्ति) सुषुप्ति अवस्था से होता है और उसी में उसका तिरोभाव (लय) हो जाता है। जब जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ सुषुप्ति से आविर्भूत होती है तब उस एकत्व-भाव की अवस्था के सुख से संयुक्त रहती है; फिर जब भेद-भाव की आसक्ति-युक्त व्यवहारो में उस सुख का व्यय हो जाता है और एकत्व-भाव से विमुखता-जन्य क्लेश दबाते है, तब उस दुःख को मिटाकर सुखी होने के लिए फिर से एकत्व-भाव की सुषुप्ति अवस्था में जाने की आवश्यकता होती है। इस तरह सुषुप्ति अवस्था से आना और उसमें जाना बना रहता है। इसलिए यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के बाहरी द्वैत-प्रपंच की अपेक्षा सुषुप्ति अवस्था में एकत्व-भाव के विशेष आनन्द का अनुभव होता है, क्योकि वहाँ द्वैत-प्रपंच कुछ काल के लिए दब जाता है, परन्तु द्वैत-प्रपंच सर्वथा मिट नहीं जाता, अर्थात् वहाँ "एक में अनेक और अनेको में एक" का ज्ञान नहीं होता, अतः वहाँ सच्चा और अक्षय सुख नहीं है। सच्चा एव अक्षय सुख तो जाग्रत अवस्था में ही सात्विक ज्ञान द्वारा अखिल विश्व की एकता का पूर्ण रूप से अनुभव कर लेने से होता है। सारांश यह कि सात्विक ज्ञान से सबकी एकता के निश्चय-पूर्वक विषयो को यथायोग्य भोगते हुए भी उनसे जो सुख प्रतीत हो, उसे बाहरी पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुआ न समझ कर सबके अन्तरात्मा अर्थात् सबके एकत्व-भाव यानी सच्चिदानन्द-स्वरूप अपने-आपके आनन्द का आभास समझने ही से यथार्थ सुख होता है।

जब कि सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत और स्वप्न के द्वैत-प्रपच कुछ समय के लिए तमोगुण में दब जाने से भी इतना सुख होता है कि जिसके प्रसाद से जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ भी सुख-रूप प्रतीत होती है, तब सबकी एकता के वास्तविक अर्थात् सात्विक ज्ञान की स्थिति के सुख का तो कहना ही क्या ? वह तो अकथनीय है।

यदि पदार्थो के बाहरी रूपो में वास्तविक सुख होता तो अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु सभी अवस्थाओ में उनसे सुख होता; पर ऐसा होता नहीं है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ बहुत सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी किसी अवस्था में वही पदार्थ घोर दु.खरूप हो जाता है। कोई भी सासारिक पदार्थ अपनी बाहरी नाम-रूपात्मक पृथक्ता के भाव में सुखदायक अत. प्यारा नहीं होता, किन्तु उसमें प्यारापन अन्तरात्मा यानी सबके अपने-आपके एकत्व-भाव का होता है। स्त्री के लिए पति और पति के लिए स्त्री, माता-पिता के लिए पुत्र और पुत्र के लिए माता-पिता, इसी तरह कुटुम्बी एवं संबंधी-जन, धन, सम्पत्ति, राज, समाज, विद्या, बुद्धि, मान, प्रतिष्ठा, धर्म, कर्म, लोक, परलोक, देह, इन्द्रियाँ, यहाँ तक कि ईश्वर और मुक्ति आदि जितने भी सासारिक एवं पारमार्थिक विषय है, वे सब आत्मा यानी अपने-आप (सबकी अन्तरात्मा) के लिए अच्छे लगते हैं; अर्थात् जिस-जिसके साथ अपनी अनुकूलता और अपनी एकता का अनुभव होता है वही पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, और जब वह अपने लिए अनुकूल

नहीं होता और अपने से बिलग माना जाता है तब उसमें प्यारापन नहीं रहता, और न उससे सुख ही होता है; किन्तु उल्टा द्वेष होकर दुःख होता है (वृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४)। इसलिए आत्मज्ञानी समत्वयोगी सासारिक पदार्थो की पृथक्ता के बाहरी नाम-रूपो को एक ही सम आत्म-तत्त्व (सबके अपने-आप) के अनेक रूप अनुभव करता हुआ इन्द्रियो के विषयो को आसक्ति रहित होकर विधिवत् भोगता है और सब प्रकार के सासारिक व्यवहार यथायोग्य करता है और उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता में सम रह कर किसी से राग अथवा द्वेष नहीं करता; तथा काम, क्रोध* आदि के वेगो से विचलित नहीं होता। उसकी दृष्टि सब नाम-रूपात्मक शरीरो की असली एकता पर रहती है, अतः वह पृथक्ता के सारे द्वन्द्वो से परे होकर एकता के ब्रह्म-भाव से सारे भूत-प्राणियो को अपना ही रूप अनुभव करता है और सबके हित के लिए जगत् के सब प्रकार के व्यवहार उनके स्वामीभाव से करता हुआ इसी शरीर में सच्चे एव अक्षय सुख के भडार वाणी से परे ब्रह्मनिर्वाण-पद में स्थित रहता है। मनुष्य जन्म उसी का सार्थक है, जो इस तरह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दु.ख, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो में सम रह कर व्यष्टि और समष्टि की एकता के अनुभव से सब लोगो के हित के लिए जगत् के व्यवहार करता हुआ अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म-भाव में स्थित रहता है। जो बाहरी नाम-रूपो की भिन्नताओ में जितनी ही कम आसक्ति रखता है और सबकी आन्तरिक एकता में जितना ज्यादा विश्वास रखता है अथवा जितना ही अधिक अन्त करण को लगाये रखता है, उतना ही अधिक वह ब्रह्मनिर्वाण-रूपी मोक्ष के निकट पहुँचता है।

श्लोक २५वें में "सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् सब भूत-प्राणियो के हित में लगे रहने का वाक्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। आधिभौतिक सुखवाद के पडित लोग अर्थात् भौतिक सुखो को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान् लोग "अधिक लोगो के अधिक सुख" के सिद्धान्त को ही कर्तव्यता एवं नीतिमत्ता की पराकाष्ठा मानते है। यद्यपि साधारणतया यह सिद्धान्त समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत अच्छा है, क्योकि इसके आचरण से जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति और उसके अनेक प्रकार के कष्टो की निवृत्ति में बहुत कुछ सहायता मिलती है, इसलिए इसका आचरण करना ठीक है; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष एवं पूर्ण नहीं है। इसमें कई प्रकार के दोष एव त्रुटियाँ है।

---

* काम-क्रोध आदि के वेगो का अन्त करण में उत्पन्न होना तो स्वाभाविक है, परन्तु ज्ञानी के अन्त करण में वे वेग पानी के ऊपर लकीर खीचने की तरह होते है अर्थात् उत्पन्न होते ही शान्त हो जाते है; अथवा वह उनका इस तरह सदुपयोग करना है कि उनसे कोई अनर्थ नही होता, किन्तु उल्टा लोक-हित होता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी के अन्त करण में उनका विष पलट कर अमृत हो जाता है।

प्रथम तो भौतिक दृष्टि से "अधिक लोगों" का और उनके सुख की अधिकता एवं न्यूनता का निर्णय होना ही असंभव है, क्योकि सब देशों के सब लोगों की गणना करके, किसको किस बात से सुख और किसको किस बात से दुःख होता है, इसका पता लगाना अशक्य है। इसी तरह "अधिक सुख" का भी निश्चय होना अशक्य है; क्योकि सुख का कोई निश्चित माप अथवा तोल अथवा मात्रा नहीं है कि किसी विशेष माप, तोल अथवा मात्रा को सबसे अधिक मान लिया जाय। सुख, मन की एक अनुकूल वेदना है, जो सदा एक-सी नहीं रहती। किसी को, किसी समय, किसी विषय में अनुकूलता प्रतीत होती है, दूसरे व्यक्ति को, अथवा दूसरे समय (उसी व्यक्ति को), उसी विषय में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। एक व्यक्ति को थोड़ा भी सुख बहुत प्रतीत होता है, और दूसरे व्यक्ति को बहुत सुख भी थोडा प्रतीत होता है; और जहाँ बाहरी अथवा शारीरिक सुख प्रतीत होता है वहाँ भीतरी अथवा मानसिक दुःख हो सकता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तियो की संख्या और सुख की मात्रा का निर्णय वर्तमान काल ही को लक्ष्य करके किया जायगा, और ऐसा करने से वर्तमान में जो सुख है, वह भविष्य में भी सुख-रूप ही रहेगा या नहीं, एवं भविष्य में होने वाले व्यक्तियो के लिए वर्तमान का सुख, सुख-रूप होगा कि नहीं, अथवा वर्तमान से अधिक होगा अथवा न्यून होगा—इत्यादि बातो का कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। इस तरह के कई दोष "अधिक लोगो के अधिक सुख" के सिद्धान्त में है। इसलिए भगवान् ने "अधिक लोगो के अधिक सुख" के सिद्धान्त को आदर्श नहीं माना है; किन्तु उससे आगे बढ कर "सर्वभूतहिते रताः" के निर्दोष एवं अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सुख और हित में बड़ा अन्तर है। सबका हित अथवा सबकी भलाई करने और सबको सुख देने में बहुत फर्क है। हित तो सदा-सर्वदा सुखदायक होता है, परन्तु सुख सदा-सर्वदा हितकर नहीं होता अर्थात् हित से कभी किसी को दुःख नहीं होता: परन्तु सुख से अहित हो सकता है। साधारणतया लोगो को सुख पहुँचाने के तीन मुख्य प्रकार हो सकते है—(१) शरीर को नाना प्रकार के आराम देने के लिए भाँति-भाँति के आधिभौतिक सुखो का आयोजन करना, (२) अन्त.करण की प्रसन्नता के लिए विशेष लोगो के साथ प्रेम और आदर का वर्ताव करने तथा पठन-पाठन, खेल-तमाशे एवं हास्य-विनोद की व्यवस्थाएँ करने आदि विविध प्रकार के आधिदैविक सुखो का आयोजन करना, और (३) आत्मिक शान्ति के लिए दार्शनिक शिक्षा एवं उपदेशो आदि द्वारा तथा उपासना एवं योगाभ्यास के साधनो आदि द्वारा आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति के साधन करना। इनमें आधिभौतिक और आधिदैविक सुख प्रतिक्षण परिवर्तनशील एव उत्पत्ति-नाशवान् होते है और उनके साथ ही उनकी प्रतिक्रिया (reaction) भी लगी रहती है यानी उनके परिणाम में

दुःख होता है। आध्यात्मिक सुख में यद्यपि ये दोष नहीं है, परन्तु उसमें शारीरिक और मानसिक सुखो का तिरस्कार होता है, और मन की वृत्ति आत्मा अथवा परमात्मा में ठहराने में पहले कष्ट होता है और जब-जब वह वृत्ति बहिर्मुख होती है तव-तब विक्षेप होता है। परन्तु हित वह है कि जिसमें उपरोक्त दोष और त्रुटियाँ नहीं होतीं और जिसमें पहले अथवा पीछे कोई क्लेश अथवा विपरीत परिणाम नहीं होता।

सुख और हित का अन्तर समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यो पर ध्यान देना चाहिए :—भूखो के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट पकवान और प्यासो के लिए वर्फ सहित ठडे पानी अथवा शर्बत आदि का प्रबन्ध करना, वस्त्रहीन लोगो के लिए बढ़िया कीमती वस्त्र बनवा देना, गृहहीन लोगो के लिए सब प्रकार के ऐशो-आराम के साधनो से सुसज्जित विशाल भवन बनवा देना, निर्धनो को धन देना और सर्व-साधारण के मनो-विनोद के लिए हास्य-विनोद, खेल-तमाशे, सैर-सपाटे के साधन कर देना आदि आयोजन अवश्य ही सुखकर होते है, परन्तु ये सदा हितकर नहीं होते, क्योकि इनसे उद्यमहीनता, विलासिता, अमीरी और परावलम्बन के भाव बढते है, तथा लोगो का रहन-सहन बहुत खर्चीला हो जाता है। इसके सिवाय खान-पान, रहन-सहन, ऐशो-आराम एव मनो-विनोद आदि के सामान नित-नये एक-दूसरे से बढकर बनते रहते है, इसलिए इन साधनो से लोगो के जीवन की आवश्यकताएँ एव विलासिता दिन-दिन बढती रहती है जिनका कभी अन्त नहीं आता और जिनसे कभी तृप्ति नहीं होती, न कभी सन्तोष ही होता है। इस प्रकार के विलासी जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते है तथा आकस्मिक दुर्घटनाओ की विपत्तियाँ भी आती रहती है। फिर उन रोगादि के प्रतीकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना और विपत्तिनिवारक आयोजन करके दुखियो की सहायता करना आवश्यक होता है, परन्तु वे आयोजन भी (कुछ हद तक) सुखकारक ही होते है—हितकारक नहीं होते; क्योकि रोगो की चिकित्सा के लिए जो अस्पताल आदि सस्थाएँ होती है उनसे यद्यपि आराम मिलता है और विपत्तिनिवारक संस्थाओ से यद्यपि लोगो को विपत्तियो में सहायता मिलती है परन्तु उनसे जनता के रोग और विपत्तियाँ मिट नहीं जातीं, किन्तु जब तक रोगो और विपत्तियो के उपरोक्त कारण वने रहते है, तब तक वे दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। इसी तरह लोगो की ज्ञान-वृद्धि आदि के लिए विद्याध्ययन की व्यवस्थाएँ करना तथा आत्मिक सुख के लिए आत्मज्ञान की शिक्षा तथा उपदेश आदि की व्यवस्थाएँ करना आदि सुखकारक अवश्य होती है, परन्तु वे भी सदा हितकारक नहीं होतीं; क्योकि दुष्ट प्रकृति के लोगो की विद्या और ज्ञान, उनके अत्याचारो में सहायक हो सकते है और अव्यावहारिक आत्मज्ञान से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। (इस अध्याय के श्लोक १ से १७ तक के स्पष्टीकरण में पृ० १८२ देखिए)।

परन्तु लोगो का हित करने में इस प्रकार एकांगी एवं दोषयुक्त सुखो के आयोजन नहीं होते। "सर्वभूतहित" के सिद्धान्त के आधार पर समाज की व्यवस्था करने में लोगो को अपनी-अपनी योग्यता के कामो में लगाये रख कर उन कामो द्वारा एक-दूसरे के जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियाँ यथायोग्य प्राप्त होने का प्रबन्ध रहता है और साधारणतया, परिस्थिति के अनुसार सादे खान-पान, सादे रहन-सहन तथा सादे मनोविनोद के साधनो में सन्तुष्ट रहने तथा इन्द्रियो के भोगो में संयम रखने द्वारा शरीर को आरोग्य, सुदृढ एवं सहनशील, तथा अन्तःकरण को शुद्ध, शान्त और प्रसन्न बनाये रखने का स्वभाव बनाया जाता है, जिससे विलासिता न बढ़े और उस विलासिता से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के रोग आदि दुष्परिणाम एव उपद्रव न हो, किन्तु सब कोई स्वावलम्बन एवं शान्ति-पूर्वक जीवन-यात्रा करते हुए अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। विद्याध्ययन सदाचार की शिक्षासहित कराया जाता है, और आत्मज्ञान का अभ्यास व्यावहारिक विज्ञान सहित कराया जाता है, जिनसे सबकी भलाई होती है। इस प्रकार "सर्व-भूतहित" के सिद्धान्तानुसार आचरण करने में किसी विशेष व्यक्ति, समाज अथवा व्यक्तियों की संख्या को अथवा किसी विशेष प्रकार के सुख को महत्व नहीं दिया जाता, किन्तु आत्मौ-पम्य-बुद्धि से सबके साथ पूर्व-वर्णित समता का वर्ताव किया जाता है, अर्थात् सबको एक ही आत्मा—अपने-आपके अनेक रूप जान कर सबके साथ यथायोग्य साम्य-भाव का व्यवहार किया जाता है। किसी भी प्राणी से बर्ताव करते समय अपने-आपको उसकी स्थिति में रख कर फिर उसके सुख-दु ख आदि की वेदनाओ का अनुमान करना होता है; अर्थात् यह विचारना होता है कि यदि मै उसकी स्थिति में होता और मेरे साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता तो मुझे वह कैसा लगता और उस बर्ताव का वर्तमान और भविष्य में मुझ पर क्या प्रभाव पड़ता? इस तरह आत्मौपम्य-बुद्धि द्वारा विचारपूर्वक सबके साथ उपरोक्त समता का बर्ताव करने से किसी का अहित नहीं होता और न उसका दुष्परिणाम ही होता है।

इस प्रकार समष्टि-भाव से, वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखते हुए, तात्त्विक विचारपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उससे यदि किसी को प्रत्यक्ष में थोड़ा या बहुत सुख न भी हो तो उससे किसी को दु ख तो वर्तमान में या भविष्य में अवश्य ही नहीं होता। इसलिए सूक्ष्मदर्शी, तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी का लक्ष्य सबके हित करने का रहता है और गीता में भगवान् ने अनेक स्थलो पर सब के हित में लगे रहने का ही उपदेश दिया है।

श्लोक १८वें में वर्णित साम्य-भाव के विषय में आजकल बहुत विवाद चल रहा है। एक तरफ उदार विचार के लोगो का कहना है कि भगवान् ब्राह्मण, चाण्डाल, स्त्री,

पुरुष, भले, बुरे, पशु, पक्षी, आदि सबके साथ समता के बर्ताव करने का उपदेश देते हैं; और दूसरी तरफ रूढ़िवादी लोगो का कहना है कि इस श्लोक में "समदर्शिन." वाक्य है, उसका स्पष्ट अर्थ समता देखना है, न कि समता का बर्ताव करना। अब विचार यह करना है कि भगवान् का अभिप्राय सबमें समता देखने मात्र ही का है या जैसा देखे उसी के अनुसार बर्ताव करने का भी है। यदि समता के बर्ताव का यह तात्पर्य हो कि जो बर्ताव एक सत्वगुण-प्रधान सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण गुण सम्पन्न व्यक्ति के साथ किया जाय, वही एक तमोगुण-प्रधान मूर्ख एवं उजड्ड व्यक्ति के साथ, और वही एक पशु के साथ किया जाय, और जो बर्ताव एक सज्जन के साथ किया जाय, वही दुर्जन के साथ किया जाय, और जो वर्ताव स्त्री के साथ किया जाय, वही पुरुष के साथ किया जाय, तब न तो ऐसा बन सकता है और न कोई समझदार व्यक्ति इस तरह के समता के वर्ताव का समर्थन ही कर सकता है; क्योकि वास्तव में यह समता का वर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का वर्ताव है। समता का बर्ताव तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले सारे शरीरो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने आपके अनेक रूप समझते हुए, जिस शरीर के गुणो की जैसी योग्यता हो और जैसा आपस का सम्बन्ध हो, उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाय। यदि शरीरो के गुणो की योग्यता के अनुरूप वर्ताव न होकर उसके विपरीत बर्ताव होता है तो वह समता का बर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का बर्ताव है। जिस तरह—सत्वगुण की प्रधानता के कारण ब्राह्मण माने जाने वाले सदाचारी विद्वान् के शरीर की योग्यता ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा एव सदुपदेशादि द्वारा लोक-सेवा करने की होती है, अतः उस शरीर को सर्वात्मा=परमात्मा का एक सत्वगुण-प्रधान रूप एवं समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अंग समझ कर उसकी सात्विक लोक-सेवा के अनुरूप आदरपूर्वक उसका सत्कार करना, सात्विक भोजन, उपयुक्त वस्त्र, स्थान एवं विद्याध्ययन आदि के साधनो द्वारा उसकी शारीरिक एव मानसिक आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना, उसके योग्य समता का बर्ताव है; और तमोगुण की प्रधानता के कारण चाण्डाल माने जाने वाले एक अशिष्ठ मूर्ख व्यक्ति की योग्यता अपने शारीरिक श्रम द्वारा मजदूरी करने अथवा मैला साफ करने आदि लोक-सेवा करने की होती है, अतः उसे भी उसी तरह सर्वात्मा=परमात्मा का एक तमोगुण प्रधान रूप एव समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अग समझ कर उसके साथ प्रेम करना, उसका तिरस्कार अथवा उससे घृणा कदापि न करना, किन्तु उस पर अनुग्रह रखना तथा उस तम·प्रधान शरीर और उसके शारीरिक परिश्रम की स्थूल लोक-सेवा के अनुरूप, शरीर को सुदृढ रखने वाले मोटे भोजन, वस्त्र तथा सादे रहन-सहन आदि के साधनो द्वारा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करने में सहायक होना और उसकी सब प्रकार की उन्नति करने में सहायता और सहयोग देना, उसके योग्य समता का वर्ताव है। गाय के

शरीर में यद्यपि मनुष्य शरीर की अपेक्षा तमोगुण की प्रधानता होती है, परन्तु अन्य पशुओ की अपेक्षा उसमें कुछ सत्वगुण अधिक होता है, अतः अन्य पशुओ की अपेक्षा वह पवित्र, अहिंसक एवं विशेष लोकोपयोगी पशु है; उसको भी सर्वात्मा==परमात्मा का एक विशेष रूप एवं लोकोपयोगी आवश्यक अंग समझ कर उस शरीर की आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार उसकी सावधानी से रक्षा करना, निर्मल पानी एवं अच्छे घास आदि से उसका पालन करना, स्वच्छ एवं सुरक्षित स्थान में रखना तथा उस शरीर के योग्य उसका उपयोग करना, उसके योग्य समता का वर्ताव है; और कुत्ता एक मलिन एवं मांसाहारी पशु होने पर भी मनुष्यो की अनेक प्रकार की सेवाएँ करता है; उसके लिए यद्यपि गाय जितनी हिफाजत की आवश्यकता नहीं है, फिर भी उसको परमात्मा का एक विशेष रूप एवं जगत् का एक आवश्यक अंग समझ कर, उसके साथ प्रेम और दया का भाव रखते हुए, भूखे-प्यासे होने पर उसे खाना-पीना देना तथा आपत्तियो से उसकी रक्षा करना और उसकी योग्यतानुसार उसका उपयोग करना, उसके योग्य समता का बर्ताव है। हाथी के शरीर की योग्यता मनभर आहार खाने और विस्तृत देश में रहने तथा भारी काम करने की होती है, और चींटी के शरीर की योग्यता एक कण आहार खाने और स्वल्प स्थान में रहने की होती है। इस तरह भिन्न-भिन्न शरीरो की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, परन्तु प्रत्येक शरीर एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष गुण-सम्पन्न रूप होता है और सभी शरीरो का कुछ न कुछ उपयोग और उनकी आवश्यकता भी होती है, निरर्थक पदार्थ जगत् में कुछ भी नही है; इसलिए सब शरीरों को परमात्मा के जगत-रूपी विराट् शरीर के अग समझ कर प्रत्येक शरीर की अलग-अलग योग्यता और उपयोगिता के अनुसार ही उसके साथ उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए, और किसी की प्राकृत आवश्यकताओ की पूर्ति में वाधा न देना, किन्तु सबके प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रखना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार पुरुष के साथ पुरषोचित, स्त्री के साथ स्त्रियोचित, पशुओ के साथ पशुओ के उपयुक्त वर्ताव करना, सज्जन के साथ सज्जनोचित (सौजन्य एवं मित्रता का) और दुर्जन के साथ दुर्जनोचित (शासन एवं उपेक्षा का) वर्ताव करना, समता का वर्ताव है।

इस तरह गुणो की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव करते हुए भी सवकी वास्तविक एकता के साम्य-भाव को भूल कर किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि नहीं करना चाहिए, न किसी को दवाना और न किसी पर अत्याचार ही करना चाहिए। शरीरो की जो वाहरी भिन्नताएँ है, वे सव एक ही आत्मा (अपने-आप) के अनेक रूप है—ऐसा निश्चय रखने से अपने-आपके साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के वुरे वर्ताव हो नहीं सकते। जिस तरह एक ही शरीर के अनेक अंग होते हैं—कोई छोटा, कोई वडा, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई कोमल, कोई कठोर, कोई पवित्र, कोई मलिन,

कोई ज्ञान-व्यवसायी, कोई कर्म-व्यवसायी आदि, परन्तु वास्तव में उनमें पृथक्ता नहीं होती और कोई भी अंग किसी दूसरे अंग से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि नहीं करता, सभी आपस में एकत्व-भाव से सहयोग करके वर्तते हैं। यदि कोई अंग रोग से ग्रसित होता है तो सभी अंग उस अंग के कष्ट का अनुभव करते है और उसकी चिकित्सा करते हैं। यदि कोई अंग दूषित हो जाता है तो दूसरे अंग, सारे शरीर की स्वस्थता के लिए उस अंग का यथोचित उपचार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसे काट भी फेंकते है, परन्तु द्वेषभाव से नहीं। इसी तरह सभी भूत-प्राणियो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के जगत् रूपी विराट् शरीर के अनेक अंग समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमभाव* का यथायोग्य बर्ताव करना ही सच्ची समता का बर्ताव है। शरीरो की योग्यता के जो भेद है वे प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणो के तारतम्य के बनाव है, और वे अस्थायी एवं परिवर्तनशील हैं अर्थात् सदा बदलते रहते है। इस गुण-वैचित्र्य के तत्त्व को भूल कर केवल शरीरो में आसक्ति करके आपस में राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के विपरीत आचरण करना अनर्थ का हेतु होता है, क्योकि इससे समाज का संतुलन बिगड़ता है।

उपरोक्त गुण-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करना यद्यपि समता का बर्ताव है, परन्तु अनेक बाते ऐसी है जो सभी शरीरो के लिए समान रूप से उपयोगी एवं आवश्यक है। जिस तरह—रहने, सोने, बैठने और घूमने-फिरने के लिए पर्याप्त भूमि, पीने आदि के लिए स्वच्छ पानी, स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध हवा तथा प्रकाश, भूख की शान्ति के लिए भोजन एवं एक से अनेक होने की स्वाभाविक इच्छा अथवा काम के वेग की शान्ति के लिए नर-मादा का सहवास आदि प्राकृतिक आवश्यकताएँ समान-रूप से मनुष्य (स्त्री-पुरुष) एवं पशु-पक्षियो को भी रहती है। इनके अतिरिक्त मनुष्यो (स्त्री-पुरुषो) के शरीरो में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण साधारणतया इनमें अपने स्वाभाविक गुणो, विद्या, ज्ञान, बल एव वैभव सबधी उन्नति करने की विशेष योग्यता होती है; तथा मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक आदि मानसिक वेदनाएँ भी सभी स्त्री-पुरुषो में प्राय. स्वाभाविक होती है; अत उपरोक्त सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तथा सब प्रकार की उन्नति करने के लिए सबको एक समान सुविधाएँ रहनी चाहिएँ, तथा सबकी मानसिक वेदनाओ का ध्यान भी रखना चाहिए। गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न ब्राह्मणपन और चाण्डालपन के भेद की अपेक्षा मनुष्यत्व का अभेद अधिक व्यापक और स्थायी होता है, अतः वह अधिक सत्य है। इसी तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा मनुष्यत्व अधिक व्यापक और अधिक सत्य है, इसलिए मनुष्यत्व के एकत्व-भाव की योग्यता, ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व

---

* प्रेम का स्पष्टीकरण बारहवे अध्याय में देखिए।

के भेद की अपेक्षा अधिक होती है; फलतः मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारों और सामान्य आवश्यकताओ की योग्यता उपरोक्त ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि भिन्नताओ के विशेष अधिकारो और विशेष आवश्यकताओ से अधिक होती है। अतः गुण-वैचित्र्य की भिन्नताओ के अनुसार विशेष बर्ताव करने में मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारो और आवश्यकताओ की अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिए। सारांश यह कि सर्व-साधारण के सामान्य अधिकारो को छीन कर विशेष लोगो के विशेष अधिकारो की रक्षा करना "समदर्शन" के विरुद्ध है। प्राणियो की सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन, यदि बलात् न छीने जाएँ तो वे स्वतः ही प्रस्तुत रहते है; तथा साधारणतया मनुष्यो (स्त्री-पुरुषो) के शरीरो की जो उपरोक्त विशेष आवश्यकताएँ है उनकी पूर्ति में भी यदि स्वार्थवश जबर्दस्ती बाधाएँ न दी जायँ तो वे भी अनायास ही पूरी होती रहे, और ऐसा होने से गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न पृथक्-पृथक् शरीरो की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण भी सुगमता से होते रहे, और समाज का संतुलन बना रहे जिससे सबका हित होता रहे, क्योकि व्यष्टि-हित समष्टि-हित पर और समष्टि-हित व्यष्टि-हित पर निर्भर है। परन्तु जब मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के साधारण अधिकारों और स्वाभाविक आवश्यकताओं को कुचलने का अस्वाभाविक प्रयत्नः विशेष-शक्ति-संपन्न लोगों द्वारा किया जाता है, तब सर्वत्र विषमता उत्पन्न होकर तथा संतुलन बिगड़ कर सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, जिससे महान् अनर्थ होते है।

सारांश यह कि १८वें श्लोक में भगवान् ने जो "समदर्शन" का विधान किया है उसका अभिप्राय ऊपर लिखे अनुसार सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप अनुभव करते हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्ण साम्य-भाव का बर्ताव करने का है। तीसरे अध्याय के श्लोक ३५ में भगवान् ने सबके कर्तव्य-कर्मो को अपने-अपने स्थान में श्रेष्ठ कहा है, और फिर चौथे अध्याय के श्लोक २४ में कर्ता, कर्म, करण आदि सबको ब्रह्म-रूप बताया है, अर्थात् जो परमात्मा पण्डितो तथा उनके शास्त्र-ग्रन्थो में है, हवन करने वालो तथा हवन-कुड एवं हवन के साधनो में है, ज्ञानियो तथा उनके ज्ञान में है, साधुओ तथा उनके वेष में है, योगियो तथा उनकी समाधि में है, मन्दिरो, पुजारियो तथा मूर्तियो में है, और जो परमात्मा कर्मकाण्डियो तथा उनके कर्मो में है—वही परमात्मा शासक क्षत्रिय और उसकी तलवार में, वही वैश्य और उसकी कलम में, वही शिल्पकार और उसकी शिल्पकला में, वही लोहार और उसकी भट्टी में, वही कुम्हार और उसके चाक में, वही सुथार और उसके बसूले में, वही जुलाहे और उसके करघे में, वही कारखानो और मशीनो में, वही एंजिन और बायलरो में, वही मेहतर और उसकी झाड़ू में, वही चमार और उसके

चमडे में, तथा वही कसाई और उसके छुरे में है, और वही परमात्मा पुरुषो और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगो में और वही स्त्रियो तथा उनके गृहस्थी के काम-काज में है। तात्पर्य यह कि यदि कर्म और व्यवसाय (पेशे) की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी गीता में उपरोक्त समता के बर्ताव ही का विधान है।

जो लोग कहते है कि भगवान् "समदर्शन" अर्थात् सबमें एक एवं सम आत्मा देखने मात्र ही का उपदेश देते है, न कि "समवर्तन" अर्थात् समता के वर्ताव करने का, वे या तो इस उपदेश के उपरोक्त अभिप्राय से अनभिज्ञ है, या उसकी उपेक्षा करते है। यदि यहाँ पर 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल आँखो से देखना ही लिया जाय तो कुछ अर्थ ही नहीं होता, क्योकि समता अथवा एकता (सवका आन्तरिक एकत्व-भाव अर्थात् आत्मा) स्थूल आँखो अर्थात् चर्म-चक्षुओ से देखने का विषय नहीं है। एकता अथवा समता तो बौद्धिक विचार अर्थात् ज्ञान-चक्षु का विषय है, अत. "समदर्शन" वाक्य का तात्पर्य साम्य-भाव के ज्ञान से है (गी० अ० ६ श्लो० ९, अ० १२ श्लो० ४), न कि आँखो से समता देखने मात्र से। जव वुद्धि साम्य-भाव में स्थित हो जाती है तब देखने, सुनने आदि सारे ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो के व्यवहार स्वत· ही साम्य-भाव से होने लगते है, क्योकि विचारवान् पुरुषो के सारे व्यवहार बुद्धि ही की प्रेरणा से होते है। इस पर भी यदि "समदर्शन" वाक्य का अर्थ केवल "समान देखना" ही लिया जाय तो भी जैसा देखा जाता है उसी के अनुसार वर्ताव होता है—देखने के विपरीत बर्ताव नहीं हो सकता। इससे भी सिद्ध है कि "समदर्शन" से भगवान् का अभिप्राय केवल समता देखना मात्र ही नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण—जो अपने को सवका आत्मा=परमात्मा कहते है, उनकी कही हुई गीता में ऐसा अस्वाभाविक उपदेश कभी नहीं हो सकता कि सव में देखो तो समता और वर्ताव करो उसके विपरीत विषमता का, सर्वत्र एक एवं सम आत्मा अथवा व्रह्म को परिपूर्ण जानो (वासुदेव. सर्वमिति), और व्यवहार करो उसके साथ घृणा, तिरस्कार और निर्दयता का, अर्थात् ज्ञान तो सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव का रक्खो और बर्ताव भिन्नता के भावयुक्त विषमता का करो, कहना-सुनना तो यह कि "एक ही परमात्मा सबमें समानभाव से व्यापक है, इसलिए सबके साथ प्रेमभाव से रहना चाहिए" और वर्ताव में उस पर कुछ भी अमल न करना तथा लोगो से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार करना, लड़ना, झगडना और निर्बलो के अधिकार छीन कर उन पर अत्याचार करना एव उनको पददलित रखना! इससे अधिक पाखण्ड दूसरा क्या हो सकता है? इस उल्टी समझ से ही तो इस हिन्दू जाति की इतनी दुर्दशा हो गई है कि जिससे निस्तार पाना असंभव-सा हो रहा है। गीता का स्पष्ट आदेश है कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव का आचरण करो (गी० अ० २ श्लो० ४८ से ५०, अ० ६ श्लो० २९ से ३२), और किसी भी प्रकार के भेद-भाव से रहित, सब भूत-

प्राणियों के हित में लगे रहो। (गी० अ० ५ श्लो० २५, अ० १२ श्लो० ४)। जब कि सर्वत्र एक आत्मा (अपने-आप) अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म को एक समान देखने को कहा जाता है (गी० अ० १३ श्लो० २७-२८), और उससे भिन्न कुछ भी नहीं बताया जाता—जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा है—तो क्या परमात्मा अथवा ब्रह्म अथवा अपने-आपसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि विषमता का बर्ताव युक्ति-संगत हो सकता है? हठधर्मी से ऊपर उठ कर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि जहाँ बार-बार एकता अथवा समता का ही प्रतिपादन किया गया है, वहाँ किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करने तथा किसी पर अत्याचार करने और निर्बलो के अधिकार छीनने तथा उनको पद-दलित रखने के विषमता के भावो के लिए अवकाश ही नहीं है। प्राचीनकाल के समत्वयोगियो के इतिहासो में भी जगह-जगह उपरोक्त समता के बर्ताव ही के उल्लेख पाये जाते है।

कई लोगो की यह समझ है कि शास्त्रो में समता के बर्ताव के वर्णन ज्ञानी लोगो के आचरणो के है, वे साधारण लोगो पर लागू नहीं हो सकते; ज्ञानियो का पद बहुत ऊँचा होता है, वे यदि विरुद्धाचरण भी करे तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता; कहावत भी है "समरथ को नहिं दोष गुसाँई", परन्तु साधारण लोग उनकी बराबरी नहीं कर सकते; इत्यादि।

यह समझ गलत है। ज्ञानी लोगो के आचरणो का वर्णन साधारण लोगो के अनुकरण करने के लिए ही होता है। यदि ऐसा न हो तो इन वर्णनो का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, क्योंकि ज्ञानियो के लिए तो उनके आचरणो के वर्णन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, अज्ञानियो को ही उनका अनुकरण करने के लिए मार्ग दिखलाने की आवश्यकता रहती है। तीसरे अध्याय में भगवान् ने स्वयं इस बात का खुलासा कर दिया है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग उसका अनुसरण करते है, वह जिस आदर्श को उपस्थित करता है, लोग उसी के पीछे चलते है (गी० अ० ३ श्लो० २१); और यहाँ तक कहा है कि लोग मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते है (गी० अ० ३ श्लो० २३)। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानियो के आचरणो के वर्णन साधारण लोगो के अनुकरण करने ही के लिए किये गये है। जो व्यवहार ज्ञानियो के स्वभाव-सिद्ध अथवा सहज होते है, वे ही साधारण लोगो के लिए आदर्श-रूप से अवश्य-कर्तव्य, अथवा साधन-रूप से आचरण करने योग्य होते हैं। ज्ञानी लोग अपने ज्ञान-रूप प्रकाश में जिस मार्ग से चलते है, अज्ञानी लोगो के लिए उन्हीं के पीछे चलना हितकर होता है, न कि अपने अज्ञान-रूपी अन्धकारमय स्वतन्त्र मार्ग से। ज्ञानी का पद साधारण लोगो से बहुत ऊँचा अवश्य है, परन्तु इसमें साधारण लोगो की ही त्रुटि है। इस त्रुटि को मिटाने और ज्ञानी के पद तक पहुँचने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है, न कि अपनी अज्ञान की दशा ही में पडे रहने में संतोष करने की।

"समरथ को नहिं दोष गुसाँई" का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के आचरण यदि अज्ञानी

लोगो को दोषपूर्ण प्रतीत हो तो भी वास्तव में वे दोषपूर्ण नहीं होते। यह अज्ञानियो की समझ का दोष है कि ज्ञानियो के आचरणो में उन्हें दोष प्रतीत होते है। अज्ञानियो को अपने इस दोष को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, न कि ज्ञानियो के आचरणो में दोषारोपण करके उनसे परहेज करना। इस कहावत का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि "ज्ञानियो के आचरण भी दोषपूर्ण होते है परन्तु उन्हें उनका दोष नहीं लगता।" यदि ज्ञानियो के आचरण दोषपूर्ण होते तो दूसरो के लिए उनके अनुकरण करने का विधान नहीं होता।

समत्वयोगी की किसी व्यक्ति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा आचरण-विशेष में ममत्व की आसक्ति नहीं रहती, न वह किसी रीति-रिवाज में ही कट्टरता रखता है, किन्तु वह समष्टि लोक-हित की व्यापक दृष्टि से जिस परिस्थिति में जो व्यवहार विशेष उपयुक्त होता है वही करता है। लोक-हित के लिए किसी व्यक्ति को कोई हानि या कष्ट हो तो वह लोक-हित को ही अधिक महत्व देता है।

परन्तु वर्तमान समय में भगवान् के कहे हुए उपरोक्त साम्य-भाव के विपरीत अत्यन्त विषमता के आचरण बहुतायत से हो रहे है जिनसे जनता में वहुत अशान्ति फैल रही है। शरीरो के व्यक्तित्व के अहंकार और पृथक्ता के भावो की प्रबलता के कारण व्यक्तिगत स्वार्थों में लोगो की आसक्ति इतनी बढ गई है कि व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भौतिक जड-पदार्थों, वनस्पतियो एवं पशु-पक्षियो के साथ तो मनुष्योचित ही नहीं, किन्तु देवताओ के योग्य बर्ताव हो रहे है, और नीच जाति के माने जाने वाले मनुष्यो के साथ तथा स्त्रियो के साथ जड़ पदार्थों एवं पशु-पक्षियो के योग्य वर्ताव हो रहे है; और ये विरुद्धाचरण एवं अत्याचार, धर्म या मजहब की छाप लगा कर किये जाते है, अर्थात् धर्म अथवा मजहब में अन्ध-श्रद्धा रखने वाले लोग इन विरुद्ध आचरणो को ही सच्चा धर्म मानते है।*

उपरोक्त विवेचन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि गुणो के तारतम्य से उत्पन्न शरीरो की पृथक्-पृथक् योग्यता के विचार की सर्वथा उपेक्षा करके सव एकाकार कर दिया जाय, अर्थात् सबके एक-से कर्म, एक-से भोग और एक-से रहन-सहन यानी एक-सी जीवन-चर्या कर दी जाय; एवं जिन सत्वगुण तथा रजोगुण-प्रधान लोगो में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक उन्नति करने की विशेष योग्यता हो, वे तमोगुण-प्रधान लोगो के साथ वँधे हुए हीनावस्था में ही पडे रहे और अपनी उन्नति करने में अग्रसर न हो। ऐसा करना अप्राकृतिक होने के अतिरिक्त मनुष्यता से भी गिरना है। मनुष्य-देह में आत्म-विकास की विशेषता होने के कारण सव प्रकार की उन्नति करने की योग्यता भी होती है, अत

---

* नवें अध्याय में उपासना का स्पष्टीकरण, सोलहवे अध्याय में आसुरी सम्पत्ति का स्पष्टीकरण और सत्रहवें अध्याय में दान का स्पष्टीकरण देखिए।

गुणो के तारतम्य के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति करने में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और साथ ही उसे सब प्रकार की उन्नति के लिए अवश्य ही प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी में मनुष्य की मनुष्यता है। परन्तु आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति अवश्य होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति रहित आधिदैविक और आधिभौतिक उन्नति अशान्ति और विप्लव का कारण होती हैं, क्योकि उसमें व्यक्तित्व का भाव बेहिसाब बढ कर विषमता के आचरण होने लगते है, जिनसे अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थो की खींचातानी उत्पन्न होकर परस्पर में घोर विद्वेष फैल जाता है। यदि आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती रहे तो उसके प्रसाद से सबमें पारस्परिक एकता के प्रेम का भाव बना रहे और उस एकता के प्रेम सहित सब कोई अपने-अपने गुणो की योग्यतानुसार सांसारिक व्यवहार करते हुए और यथायोग्य भोग भोगते हुए परम सन्तुष्ट रहे। सत्व-रज-प्रधान लोग तम-प्रधान लोगो से अधिक उन्नत होते हुए और विशेष भोग भोगते हुए भी उनको अपना ही अंग समझ कर उनसे एकता के प्रेम का वर्ताव करते रहे तथा उन लोगो की स्वाभाविक आवश्यकताओ और अधिकारो एवं मनो-वेदनाओ को अपनी समझ (गी० अ० ६ श्लो० ३२)—उनकी उपेक्षा न करें—तो समाज का सन्तुलन बना रहे और अशान्ति उत्पन्न नहीं होती। जिस समाज के उन्नतिशील लोग जिस विषय में जितनी ही अधिक उन्नति करे, उसमें उस समाज के सब लोगो को यथायोग्य अपना साझेदार समझें, अर्थात् उस उन्नति का लाभ सारे समाज को यथायोग्य पहुँचावें और उस विषय में सारा समाज ही उन्नत होवे तभी वास्तविक उन्नति होती है; क्योकि दूसरो की सहायता और सहयोग बिना कोई विशेष व्यक्ति अकेला उन्नति नहीं कर सकता। यदि कोई विशेष व्यक्ति तो उन्नति करके विशेष प्रकार के भोग भोगता है और दूसरो को उस उन्नति से सर्वथा वंचित एवं हीन दशा में रखता है तो वह यथार्थ उन्नति नहीं होती, किन्तु वह अवनति का कारण होती है। इसके अतिरिक्त अपनी-अपनी उन्नति करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का जन्म-सिद्ध होता है; उस अधिकार को छीनने अथवा कुचलने का प्रयत्न कदापि नहीं होना चाहिए। उन्नति का मार्ग सबके लिए एक समान खुला रहना चाहिए, उसमें किसी के लिए भी कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए और इस विषय में किसी का ठेका नहीं होना चाहिए—ठेका होने से ही परस्पर में विद्वेष और अशान्ति फैलती है।

दूसरी तरफ रज-तम-प्रधान लोगो को चाहिए कि वे सत्व-रज-प्रधान लोगो से प्रेम का वर्ताव रखते हुए, उनके अधिक उन्नतिशील होने और विशेष भोग भोगने से ईर्षा एव द्वेष न करें, किन्तु उन्हें अपने ही स्वजन समझ कर मोद करें, क्योकि विशेष उन्नति और विशेष भोग, विशेष गुणो का परिणाम होता है। जिसकी जिस विषय में विशेष उन्नति करने की योग्यता होती है वही उस विषय में उन्नति कर सकता है, उसमें किसी विशेष

व्यक्ति अथवा समाज-विशेष का ठेका नहीं है। इसलिए किसी के साथ ईर्षा, द्वेष आदि करने का कोई कारण नहीं रहता।

इस तरह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, तीनो प्रकार की उन्नति करते हुए सब कोई एक दूसरे को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के अग समझते हुए आपस में एकता के प्रेम-भाव का बर्ताव करे, व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) समष्टि (सब) के हित के लिए प्रयत्नशील रहे, और समष्टि (सब कोई) व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) के हित में सहायक रहे, तभी सबकी यथार्थ उन्नति और सबका यथार्थ हित हो सकता है। यही सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव अथवा सच्चा सम-दर्शन है।

इस स्पष्टीकरण के समाप्त करने के पूर्व गीता-प्रतिपादित समत्व-योग, और साधारणतया माने जाने वाले समानता के बर्ताव अथवा आधुनिक साम्यवाद में जो अन्तर है, प्रसंगवश उसका खुलासा कर देना उचित प्रतीत होता है।

गीता के समत्व-योग की भित्ति अथवा मूल आधार सबकी वास्तविक एकता (Unity) एवं समता (Sameness) का सिद्धान्त है। गीता का मन्तव्य है कि सारी चराचर द्वन्द्वात्मक सृष्टि में एक, सत्य, नित्य एव सम (same) आत्मा—जो सबका अपना-आप है—समान रूप से परिपूर्ण है। वस्तुत. इस एक आत्मा—जिसे चाहे ब्रह्म कहें या परमात्मा अथवा ईश्वर कहे, या "अह" यानी "मै" कहे—के सिवाय और कुछ भी नहीं है; और सारी चराचर सृष्टि के जो अनन्त प्रकार के अनेकता के भाव है, वे सव उसी एक के सकल्प या प्रकृति के नाना नामो और नाना रूपो के परिवर्तनशील वनाव है। इस तरह सबकी एकता को सच्ची और अनेकता को झूठी समझ कर, भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले शरीरो के साथ उनके गुणो की पृथक्-पृथक् योग्यतानुसार यथायोग्य व्यवहार करना, और ऐसा करते हुए भी सवकी आपस की वास्तविक एकता का सदा स्मरण रखते हुए, अन्त.करण में किसी के साथ राग, द्वेष, ईर्षा, घृणा, तिरस्कार आदि मलिन भाव न रखना और किसी को वस्तुत. ऊँचा, नीचा, पवित्र, मलिन, अच्छा, वुरा, बड़ा, छोटा आदि न समझना तथा किसी पर अत्याचार न करना, किसी को न दवाना, किसी के स्वाभाविक अधिकार न छीनना—यह गीता-प्रतिपादित समत्व-योग है। जिस तरह एक कुटुम्ब के अनेक सदस्य होते है, उनकी योग्यता भिन्न-भिन्न होती है और वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अलग-अलग कार्य करते है और अलग-अलग भोग भोगते है और आपस में एक दूसरे के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के सवंध रखते है; परन्तु इस भिन्नता के रहते भी, सब एक ही कुटुम्ब के सदस्य होने के नाते, एक दूसरे की कौटुम्बिक एकता का प्रेम उन सवके अन्त करण में वना रहता है, अत एक दूसरे के साथ समता का वर्ताव भी वना रहता है। इसी तरह सारी सृष्टि को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के अनेक अंग समझ

कर सबके साथ एकता के प्रेम सहित यथायोग्य बर्ताव करना गीता-प्रतिपादित समत्व-योग का आचरण है।

परन्तु साधारणतया जो समानता के बर्ताव अथवा आधुनिक साम्यवाद का सिद्धान्त प्रचलित है, वह उक्त सर्वभूतात्मैक्य-सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आधुनिक साम्यवाद के सिद्धान्त केवल भौतिकता पर निर्भर है और भौतिक बनावो में अनन्त भेद होने के कारण उसके अनुसार सबको मूल से ही अलग-अलग मान कर, फिर सबके साथ समानता (Equality) का बर्ताव करने की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है, अर्थात् सब व्यक्तियो की पृथक्ता को वस्तुतः सच्ची मानते हुए और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति के सब प्रकार के भौतिक अधिकार एक समान करने का प्रयत्न किया जाता है। इस कृत्रिम अथवा बनावटी समानता के बर्ताव के सिद्धान्त अथवा साम्यवाद की भित्ति केवल भौतिक नींव पर निर्भर है जो स्वयं परिवर्तनशील है; इसलिए इसकी भित्ति अनिश्चित होने के कारण यह लम्बी मुद्दत तक ठहर नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त कई लोग केवल आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षपाती है। उनका सिद्धान्त है कि जगत् के भौतिक बनावो की सर्वथा उपेक्षा करके केवल आध्यात्मिक एकता पर ही लक्ष्य रख कर सबके साथ एक ही प्रकार के प्रेम का बर्ताव किया जाना चाहिए, यहाँ तक कि दुष्टो को दण्ड भी न देना चाहिए। परन्तु इस त्रिगुणात्मक जगत् के व्यवहारो में इस प्रकार का कोरा आध्यात्मिक साम्यवाद अव्यवहार्य है—कार्यरूप में इसका निर्वाह नहीं हो सकता।

यद्यपि ये दोनो प्रकार के साम्यवाद अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद कहने-सुनने में बड़े सुन्दर और चित्ताकर्षक प्रतीत होते है, परन्तु वास्तविक उपयोग की दृष्टि से दोनो ही अपूर्ण और दोष-युक्त है। गीता के समत्व योग में ये त्रुटियाँ नहीं है। न यह कृत्रिम है और न अव्यावहारिक ही। तात्त्विक विचार न करने पर यह जटिल और दुष्कर भले ही प्रतीत हो परन्तु वास्तविक साम्यवाद अथवा समता का व्यवहार यही है; क्योकि यह मौलिक और तात्त्विक है। और इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनो साम्यवादो का संतुलन और समन्वय हो जाता है।

× × ×

समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति और महिमा कह कर भगवान् अब समत्व-योग में स्थित होने के लिए मन की एकाग्रता के साधनो का वर्णन प्रारभ करते है; और उनमें से एक साधन—राज-योग अथवा ध्यान-योग का सूत्रपात यहाँ से करते है :—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

अर्थ—(इन्द्रियो के) बाहरी विषयो को बाहर करके अर्थात् मन से विषयो का ख़याल हटाकर, दृष्टि को दोनो भौंओ के बीच में स्थित करके तथा नासिका के अन्दर आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जिसने अपने वश में कर लिया है, और जिसने इच्छा, भय तथा क्रोध को निवृत्त कर दिया है, वह मोक्ष-परायण मुनि सदा मुक्त ही है । तात्पर्य यह कि प्राणायामादि साधनो से जिसके अन्तःकरण में बाहरी अनेकता के भाव मिट कर भीतरी एकता का साम्य-भाव जम जाता है, उस जीवनमुक्त महापुरुष के इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने वश में रहते है और किसी भी प्रकार की कामना, भय और क्रोध आदि विकारो के लिए उसके अन्त करण में स्थान नहीं रहता; अतः वह सदा ही मुक्त है, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त उसके लिए न तो कोई विशेष कर्तव्य ही रहता है और न उसे किसी काल-विशेष, देश-विशेष अथवा अवस्था-विशेष की प्रतीक्षा ही करनी पड़ती है; किन्तु वह स्वय इसी देह में परमात्मा-स्वरूप ही होता है (२७-२८) । (वह) मुझे यज्ञो और तपो का भोक्ता, सब लोको का महान् ईश्वर, सब भूतो का सुहृद् (प्यारा-अन्तरात्मा) जान कर शान्ति को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि यज्ञ और तप आदि जितने भी पुण्य-कर्म माने जाते है, उन सबका वास्तविक भोक्ता अर्थात् अन्तिम गति, सबका आत्मा=परमात्मा ही है, क्योकि सब कर्म आत्मा अथवा अपने-आपके लिये किये जाते है, और सबका आत्मा ही परमात्मा है, इसलिए यज्ञादिक सब कर्मो का भोक्ता वही है; और सर्वात्मा=परमात्मा ही सब स्थूल-सूक्ष्म अथवा ऊपर-नीचे के लोको का स्वामी है, अर्थात् परमात्मा की सत्ता एव स्फूर्ति से ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप अखिल विश्व का सचालन होता है और उसी पर सबका अस्तित्व निर्भर है; तथा वही सब भूत-प्राणियो का अन्तरात्मा—सबका प्यारा=अपना-आप है । इस तरह जो इस अखिल विश्व की एकता-स्वरूप सबके अन्तरात्मा को ही सब कुछ जानता है, उसी को सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है (२९) ।

॥पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥

छठा अध्याय

——:०:——

पाँचवें अध्याय के श्लोक २७-२८ में समत्व-योग में मन को ठहराने के लिए भगवान् ने राज-योग या ध्यान-योग के साधन का जो सूत्रपात किया था, उसकी व्याख्या इस छठे अध्याय में की गई है। उक्त व्याख्या करने के पहले भगवान् ने कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की श्रेष्ठता, सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने के महत्त्व, उक्त समत्व-योग में स्थित होने के लिए मन के संयम अर्थात् एकाग्रता की आवश्यकता, और समत्वयोगी के साम्य-भाव युक्त आचरण के स्वरूप आदि के वर्णन को दोहरा कर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर राज-योग या ध्यान-योग के अभ्यास का विधान, केवल समत्व-योग में स्थित होने के लिए एक साधन के रूप में किया गया है, न कि उसकी स्वतन्त्र कर्तव्यता अथवा निरन्तर योगाभ्यास में लगे रहने के लिए।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि कर्म-फल के आश्रय बिना अर्थात् कर्मों के फल में किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति न रख कर, जो (मनुष्य) अपने कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी अर्थात् समत्वयोगी है; न तो निरग्नि अर्थात् गृहस्थाश्रम की अग्नि को त्यागने वाला, और न अक्रिय अर्थात् कर्मों से

रहित होने वाला ही। तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम और उसके व्यवहार छोड़ कर निठल्ले बैठे रहने वाला वास्तविक संन्यासी नहीं होता, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति बिना अपने कर्तव्य-कर्म करने वाला समत्वयोगी ही सच्चा संन्यासी होता है (१)। जिसको संन्यास कहते हैं उसी को, हे पाण्डव! योग अर्थात् समत्व-योग जान; क्योंकि मानसिक संकल्पो के संन्यास बिना कोई भी योगी अर्थात् समत्वयोगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उपरोक्त समत्व-योग को ही सच्चा-सन्यास समझना चाहिए, क्योंकि सच्चा समत्वयोगी वही होता है, जिसके मन में व्यष्टि और समष्टि की एकता हो जाती है, एवं जिसका व्यष्टि-जीवन समष्टि-जीवन के लिए हो जाने से जिसके मन में दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के सकल्प ही नहीं उठते, और जो अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म, अनासक्त बुद्धि से लोक-सग्रह के लिए करता रहता है (२)। योगारूढ होने की इच्छा वाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है, (और) उसी योगारूढ का कारण शम कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जब किसी विचारशील कार्य-कर्ता के सामने अपने कर्तव्य-कर्म करने में अडचनें आती है तथा उनमें दु.ख-रूपता अथवा उलझनें प्रतीत होती हैं अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न होता है, तब वह उन अड़चनो आदि से छुटकारा पाने के लिए उपाय की खोज करता है, और उस खोज में जब उसे यह पता लगता है कि सबकी एकता के ज्ञान सहित साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करना ही सब प्रकार की अड़चनो, दुःखो, उलझनो, एव मोह पर विजय पाने का एकमात्र उपाय है, तब उसे उक्त समत्व-योग में स्थित होने की इच्छा होती है। इसलिए उस विचार-शील पुरुष के योगारूढ होने के लिए इच्छावान् होने का कारण अर्थात् उसमें उक्त इच्छा की जागृति का कारण कर्म ही होता है। इच्छावान् पुरुष से उसकी इच्छा भिन्न नहीं होती, इसलिए श्लोक के पूर्वार्द्ध में "योगारूढ होने की इच्छा वाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है" ऐसा कहा है। जब वह योगारूढ होने की इच्छा वाला पुरुष भिन्नता के भावो में आसक्ति, रूप अपने मन की चंचलता का शमन अथवा निरोघ कर लेता है, अर्थात् मन को एकत्व-भाव में स्थित कर लेता है तब वह पूर्वोक्त समत्व-योग में आरूढ हो जाता है। इसलिए उस योगारूढ पुरुष के समत्व-योग में आरूढ होने का कारण शम अर्थात् मनो-निग्रह कहा गया है। यहाँ भी "उस (मुनि) का कारण शम" कहा है, इसका अभिप्राय "विचारशील पुरुष की उस स्थिति का कारण शम है" ऐसा समझना चाहिए (३)। क्योंकि जब वह (विचारशील पुरुष) इन्द्रियो के विषयो और कर्मों में आसक्त नहीं होता, तथा सब कामनाओ का मन से संन्यास करता है तब (वह) योगारूढ कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वह विचारशील पुरुष समत्व-योग में आरूढ तब होता है जब कि इन्द्रियो के विषयो और

जगत् के कर्मों से व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के संकल्प उसके मन में नहीं उठते, क्योकि योगारूढ़ हो जाने पर उसका मन सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ जाता है, इसलिए वह विषयो तथा कर्मो एवं सारे जगत् को अपने-आप से अभिन्न अर्थात् अपना स्वरूप ही समझता है (४)। आप ही अपना उद्धार करे अर्थात् मनुष्य आप ही अपने को ऊँचा उठावे, अपने को गिरावे नहीं, क्योकि आप ही अपना (उद्धार करने वाला) बन्धु है, और आप ही अपना (पतन करने वाला) शत्रु है। जिसने अपने-आप को अर्थात् अपने अन्त.करण को जीत लिया है, यानी जिसका मन अपने वश में है, वह स्वयं अपना बन्धु है; और जिसने अपने-आप (अन्त.करण) को नहीं जीता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान शत्रुता (वैर) का वर्ताव करता है। तात्पर्य यह कि लोग साधारणतया अपने-आपको दूसरो से पृथक्, पंचभूतो का एक पुतला अर्थात् स्थूल शरीर मात्र ही मान कर, अथवा स्थूल शरीर के अन्दर रहने वाला—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा सूक्ष्म भूतो एवं सूक्ष्म इन्द्रियो के समूह—वासना-मय सूक्ष्म शरीर मान कर अपने को अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान्, दीन, हीन, सदा-सर्वदा प्रकृति के अधीन, उसके विकट बन्धनो से बँधा हुआ, एक तुच्छ व्यक्ति समझते है, और जगत् के कल्पित एवं क्षण-क्षण में बदलने वाले नाम-रूपात्मक पदार्थों को अपने से भिन्न एवं किसी दूसरे के रचे हुए जानकर उन्हीं से सुख होने के भ्रमातमक निश्चय से उनकी प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करते रहते है—अपने-आपके परिपूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप की कुछ भी खबर नहीं रखते—यही आत्मिक पतन है। मनुष्य-शरीर में आकर इस तरह पतन के प्रवाह में बहते चले जाना और उससे ऊपर उठ कर आत्मिक उन्नति का कुछ भी प्रयत्न न करना, अपने-आपके साथ दुश्मनी करना है। सर्व-व्यापक, अनन्तशक्ति-सम्पन्न, सदा-मुक्त-स्वरूप, सच्चिदानन्द घन आत्मा को एक दीन, दुःखी, अनेक बन्धनो से बँधा हुआ परावलम्बी एव तुच्छ व्यक्ति मानना—इससे अधिक शत्रुता और क्या हो सकती है? मनुष्य का मनुष्यत्व तो इसमें है कि वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप, सबके एकत्व-भाव का अनुभव करे, और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियो एवं शरीरादि सघात को अपने व्यष्टि-भाव की रचना समझ कर उस पर शासन करेः तथा अखिल विश्व को अपने समष्टि-भाव की रचना समझ कर व्यष्टि-समष्टि की एकता के निश्चय से पदार्थों के बाहरी नाम-रूपो में आसक्ति न रखे। यद्यपि जीवात्मा ने अपने असली सच्चिदा-नन्द स्वरूप को भुलाकर अपने-आपको एक तुच्छ व्यक्ति कल्पित कर लिया है, परन्तु मनुष्य जब स्वयं अपने समष्टि-भाव, सच्चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर लेता है, तब वह तुच्छता के सारे भाव मिटाकर आप ही अपना उद्धारक हो जाता है। जब कि अपने-आपके असली स्वरूप को भूलने वाला आप ही है तो उसका ज्ञान भी आप ही कर सकता है, इसमें अपने सिवाय दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता। अस्तु, जो लोग अपने से भिन्न, परमात्मा पर यह दोपारोपण करते है कि "उसने हमें मोह में डाल रखा है तथा उसी ने हमारे पीछे

नाना प्रकार की उपाधियो के बन्धन और दु ख लगा रखे है और वही हमारा उद्धार करेगा," वे नितान्त ही भूल में है। भगवान् कहते है कि अपना उद्धार करने वाला आप ही है और आप ही अपने-आपको बाँधने वाला या गिराने वाला है; क्योकि अपने से भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं। अतः विचारवान् पुरुषो को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में आप ही अग्रसर होना चाहिए और पूरे स्वावलम्बी एव आत्मविश्वासी तथा आत्म-निर्भर रहते हुए जगत् के व्यवहार करने चाहिएँ। अपने से भिन्न किसी दूसरे ईश्वरादि की कल्पना करके उस पर निर्भर रह कर परावलम्बी नहीं बनना चाहिए। जो अपने से भिन्न दूसरी किसी दृष्ट अथवा अदृष्ट शक्ति पर निर्भर रहते है, वे स्वय अपने ही दुश्मन है; और जो स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर है, वे अपने-आपके मित्र होते है। अपने-आपके सिवाय दूसरा न कोई लाभ पहुँचा सकता है, न कोई दु.ख दे सकता है और न कोई सुख ही दे सकता है। उपरोक्त रीति से, जो जितना ही अधिक एकत्व-भाव में उन्नत और आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर रह कर सासारिक व्यवहार करता है, उतना ही अधिक वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है, और जितना ही अधिक भिन्नता के दल-दल में फँस कर परावलम्बी होता है, उतना ही अधिक वह गिरता और कष्ट पाता है (५-६)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में आगे समत्व-योग में मन को स्थित करने के लिए साधनरूप से राज-योग या ध्यान योग का कुछ वर्णन होगा। उससे कोई यह न समझ ले कि "यह वर्णन, ससार के व्यवहार छोड कर निरन्तर हठ-योग के योगाभ्यास में लगे रहने वाले योगियो का है," इसलिए भगवान् अध्याय के आरम्भ ही में स्पष्ट शब्दो में फिर से कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की श्रेष्ठता और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते है। भगवान् कहते है कि निरग्नि होने से, अर्थात् जन्म देने और पालन-पोषण करने वाले माता, पिता तथा अपने ऊपर निर्भर रहने वाले स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव एव अन्य कुटुम्ब आदि को छोड़ कर और गार्हस्थ्य-धर्म के कर्तव्यो एव दायित्व से विमुख होकर जंगल में चले जाने और गेरुए वस्त्र आदि का स्वाँग धारण करके भीख माँग कर खाने, एव शरीर की स्वाभाविक योग्यता के सासारिक व्यवहारो को छोड कर निरुद्यमी बन जाने से वास्तव में कोई सन्यासी नहीं हो जाता, क्योकि जब तक शरीर है तब तक ससार का सग सर्वथा छूट नहीं सकता और न कोई सर्वथा क्रियारहित ही हो सकता है। यदि कोई घर को छोड कर मठ, मन्दिर, कुटी, कन्दरा आदि में अथवा वृक्षो के नीचे निवास करता है तो वहाँ उन स्थानो और उनके निकटवर्ती पदार्थो का सग हो सकता है, और माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्ब तथा समाज से नाता तोडता है तो गुरु, चेलो एव सम्प्रदायो से तथा वनो में रहने वाले लोगो एव पशु-पक्षियो से नाता जोड सकता है, अपने उद्यम से उपार्जित धन-सम्पत्ति को त्यागता है तो लोगो की दी हुई भेंटो तथा भिक्षा अथवा दण्ड-कमण्डलु, कोपीन, पुस्तक आदि में उसका ममत्व हो सकता है, गार्हस्थ्य के स्वाँग और

वेष-भूषा को छोड़ता है तो संन्यास के स्वाँग और वेष-भूषा में अधिक आसक्ति रख सकता है—जिनको त्यागना असंभव-सा हो जाता है; और गृहस्थाश्रम के व्यवहारों, कर्तव्यो और मर्यादाओ के बदले संन्यासाश्रम के व्यवहारों, कर्तव्यो और मर्यादाओं के अहकार में अधिक मजबूती से जकडा जा सकता है। सारांश यह कि शरीर के रहते शरीर से और उससे संबंध रखने वाले पदार्थो एवं व्यवहारो से सर्वथा पृथक् कोई किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता। अधिक परिग्रह वालो का जितना ममत्व उनके अधिक परिग्रह में होता है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक ममत्व थोड़े परिग्रह वालो का उनके थोड़े परिग्रह में होता है। एक राजा का जितना ममत्व उसके विशाल ऐश्वर्य में हो सकता है, उतना ही ममत्व एक सन्यासी का उसके दण्ड-कमण्डलु, कोपीन एव पुस्तक आदि में हो सकता है। कर्म और उसके फलों में जितनी आसक्ति एक सांसारिक सुखो की चाहना वाले काम्य-कर्मी गृहस्थ की होती है, उतनी ही एक पारमार्थिक कल्याण की इच्छा वाले संन्यासी की अपने पारमार्थिक साधनो एवं उनके फल—मुक्ति आदि में हो सकती है। सग और आसक्ति का माप पदार्थो की योग्यता, सख्या, परिमाण एवं मूल्य, तथा कर्मों की न्यूनाधिकता पर निर्भर नहीं है, किन्तु अपने मन की स्थिति पर निर्भर है। जिनका मन अपने वश में होता है, उनके पास धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, मान, मर्यादा आदि कितना ही परिग्रह क्यो न हो, और वे चाहे कितने ही बड़े-बड़े काम अपने तथा अन्य लोगो के लिए क्यो न करते हो, उनमें उनका सग और आसक्ति नहीं होती; और जिनका मन अपने वश में नहीं होता, उनका परिग्रह चाहे बहुत ही अल्प हो और उनके लिए कर्तव्य-कर्म भी बहुत ही थोड़े हो, तो भी उनका उतने ही में सग और आसक्ति बहुत ही ज्यादा होती है। जिसका मन जितना ही अधिक अपने वश में होता है, उतना ही अधिक वह निःसंग और अनासक्त रहता है; और जिसका मन जितना ही कम अपने वश में होता है, वह उतना ही कम नि.संग और कम अनासक्त होता है—चाहे कोई बहुत परिग्रह वाला कर्मशील गृहस्थ हो, अथवा परिग्रह और कर्मो का त्याग करने वाला सन्यासी। इसलिए सच्चा संन्यासी वही समत्वयोगी होता है जिसने अपने मन को वश में कर लिया हो, अर्थात् जिसका मन बुद्धि के अधीन और बुद्धि आत्म-निष्ठ यानी सबकी एकता के निश्चयवाली हो, और जो सबकी एकता के निश्चययुक्त साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार यानी अपने कर्तव्य-कर्म करता हो।

जो लोग अज्ञान-अवस्था में ही कर्मो अर्थात् गृहस्थाश्रम के व्यवहारो को त्याग कर निठल्ले हो जाते है उनके मन में समत्व-योग की प्राप्ति का विचार ही उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उनको जगत् के व्यवहारो में उपस्थित होने वाली अड़चनो का सामना नहीं करना पडता, इसलिए उनके निवारण के उपाय ढूढने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती; परन्तु जो लोग जगत् के व्यवहार करते है उन्हीं के सामने अपने व्यवहारों में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ तथा प्रतिकूलताएँ और असफलताएँ आती

हैं; तब जो विचारशील कार्यकर्ता होते है, वे उनके विषय में अनुसंधान करते है, जिससे उनकी समझ में यह बात आती है कि दूसरो के साथ अपनी पृथक्ता के निश्चय से जगत् के व्यवहार करना ही इन आपत्तियो का कारण है, और सबकी एकता के निश्चय से अन्तः-करण को साम्य-भाव में जोड कर व्यवहार करने पर सब आपत्तियाँ मिट कर सब प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्त होती है। अत वे इस समत्व-योग में स्थित होने के प्रयत्न में लगते है, और जब उक्त अभ्यास से अन्त करण का द्वैत-भाव मिट जाता है, तब वे पूर्ण रूप से समत्व-योग में स्थित हो जाते हैं और तब उन्हें सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि उक्त प्रकार की उद्यमशीलता ही मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का कारण है; और उद्यमहीनता ही सब प्रकार की अवनति तथा दु.खो का कारण है। अत. अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्य को उपयुक्त साम्य-भाव-युक्त उद्यमशील बने रहना चाहिए। उद्यमहीनता को कभी आश्रय नहीं देना चाहिए ।

जिन लोगो का यह विश्वास है कि मनुष्य के किये से कुछ नहीं होता, उन्नति और अवनति ईश्वराधीन है, उनके लिए भगवान् यहाँ स्पष्ट कहते है कि **अपनी उन्नति अथवा अवनति करना मनुष्य के अपने ही अधिकार में है, दूसरा कोई ऊँचा चढ़ाने या नीचा गिराने वाला नहीं है।** जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने अन्त.करण को सबके साथ एकता के साम्य-भाव में जोड़ने के प्रयत्न में लगे रह कर अपने-अपने शरीरो की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार अच्छी तरह करते रहते है वे अवश्य ही अपनी उन्नति करते है; परन्तु जो लोग भेद-भाव के विपरीत ज्ञान से अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते है अथवा कर्मो का सन्यास करते है, अथवा ईश्वरादि अदृष्ट शक्तियो पर अथवा दूसरे लोगो पर निर्भर होकर उद्यमहीन बन जाते है वे आप ही अपना पतन करते है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपना उद्धार-कर्ता—मित्र आप ही है; और जो इस तरह अपना उद्धार नहीं करता, वह अपने-आपका पतन करने वाला—शत्रु भी आप ही है। ऊँचे चढने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि चढने का प्रयत्न न किया जाय तो गिरावट होना स्वाभाविक है, क्योकि कोई भी पदार्थ सदा एक स्थिति में नहीं ठहर सकता।

× × ×

अब आगे के तीन श्लोको में भगवान् उपयुक्त समत्वयोगी के आचरणो में उसके अन्त करण की स्थिति कैसी रहती है, इसका वर्णन करते है।

जितात्मन. प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ।। ८ ।।
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ९ ।।

अर्थ—जिसने अपने-आप अर्थात् अपने मन को जीत लिया है (और) जो पूर्ण शान्त है, उसका अन्तरात्मा शीत-उष्ण, सुख-दु ख तथा मान-अपमान में सम अर्थात् एक-सा बना रहता है। तात्पर्य यह कि समत्वयोगी सब प्रकार के द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावो मे एक समान निर्विकार एवं शान्त बना रहता है।(७)। ज्ञान* अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा की एकता, नित्यता, समता एवं सर्व-व्यापकता आदि के अनुभव और विज्ञान* अर्थात् दृश्य जगत् के प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील पदार्थो और भावो को तत्त्वतः एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से, जिसका अन्तःकरण तृप्त अर्थात् शान्त हो गया है, तथा सबके आधार आत्मा में जिसकी स्थिति दृढ़ हो गई है, और जिसने इन्द्रियो को वश में कर लिया है, तथा (जिसकी दृष्टि में) मिट्टी, पत्थर और सोना एक समान है, अर्थात् जो इन पदार्थो को वस्तुतः एक ही समान दृश्य जगत् की कल्पित एव परिवर्तनशील नाम-रूपात्मक भिन्नताएँ समझता है, वह समत्व-योगी युक्त अर्थात् सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ा हुआ कहा जाता है (८)। सुहृद् यानी दूसरो की अपेक्षा अधिक प्यारे लगने वाले आत्मीयजनो, मित्र अर्थात् प्रेम रखने वालो, शत्रु अर्थात् वैर रखने वालो, उदासीन अर्थात् उपेक्षा करने वालो, मध्यस्थ अर्थात् जो न तो उपेक्षा करते हो और न विशेष प्रेम ही रखते हो किन्तु निष्पक्षभाव का बर्ताव करते हो, द्वेष के योग्य अर्थात् जिनके साथ साधारणतया द्वेष होना उचित हो, बान्धव अर्थात् कुटुम्बीजनो, साधु अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषो, एवं पापियो अर्थात् दुराचारियो के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम होती है, अर्थात् जो इनको एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप समझता है वह अधिक श्रेष्ठ है (९)।

स्पष्टीकरण—इन तीन श्लोको से कोई यह न समझे कि समत्वयोगी इतना सज्ञाहीन अथवा जड़ हो जाता है कि उसको सुख-दुःख, ठंडे-गर्म, मान-अपमान, अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे, मिट्टी, पत्थर और सोने आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नही होता। वास्तव में समत्वयोगी इस तरह संज्ञाहीन नहीं होता, वह तो आत्मज्ञान और दृश्य पदार्थो के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है, इस-

---

* ज्ञान-विज्ञान का विशेष खुलासा आगे सातवे और नवे अध्याय मे किया जायगा।

लिए उसे जगत् की इन भिन्नताओ का उतना ज्ञान होता है कि जितना साधारण लोगो को होना संभव नहीं। परन्तु साधारण लोग तो इन सब भिन्नताओ के केवल बाह्य रूपो का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान रखते है, इसलिए इनको सत्य मान कर इनमें आसक्त और विक्षिप्त रहते है, और आत्मज्ञानी समत्वयोगी इन भिन्नताओ के बाह्य रूपो के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता, किन्तु इनके भिन्न-भिन्न गुणो, इनकी परिवर्तनशील अलग-अलग योग्यताओ और इनके सूक्ष्म कारणो सहित इनकी भीतरी असलियत अर्थात् सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ ज्ञान रखता है, और इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान युक्त सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी में आसक्ति नहीं रखता, अत॰ सम और शान्त रहता है। यद्यपि वह शरीर रूप से ठंडे और गर्म, सुख और दु ख, मान और अपमान, अनुकूल और प्रतिकूल, अच्छे और बुरे आदि द्वन्द्वो की अलग-अलग वेदनाएँ उसी तरह अनुभव करता है, जिस तरह कि दूसरे लोग करते है; परन्तु उसकी बुद्धि में यह निश्चय रहता है कि भोक्ता और भोग्य, अथवा अनुभव करने वाला और अनुभव किया जाने वाला, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुतः एक ही है। पृथक्ता के बनाव कल्पित, परिवर्तनशील एवं आने जाने वाले है। किसी अवस्था में सुख और मान आदि अनुकूल वेदनाएँ भी अहितकर होती है, और किसी अवस्था में दु.ख और अपमान आदि प्रतिकूल वेदनाएँ भी हितकर होती है। इसलिए उसका अन्त.करण अनुकूलता-प्रतिकूलता की वेदनाओ का अनुभव करता हुआ भी तत्त्व-ज्ञान के कारण उनसे प्रभावित नहीं होता। इसी तरह यद्यपि मिट्टी, पत्थर और सोने का बाहरी भेद यानी उनके पृथक्-पृथक् रंग, रूप, गुण, मूल्य आदि उसकी इन्द्रियो को वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि दूसरो को, और उनका भिन्न-भिन्न प्रकार से यथायोग्य उपयोग भी वह करता है, परन्तु ऐसा करते हुए भी उसकी दृष्टि इन सबके एकत्व-भाव पर जमी रहती है। वह इन सबको एक समान पार्थिव पदार्थ समझता है। यद्यपि उपयोग की दृष्टि से वह भी इनकी योग्यता भिन्न-भिन्न समझता है, तथापि उसको यह ज्ञान रहता है कि किसी भी पदार्थ के उपयोग, मूल्य और अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सदा एक-से नहीं रहते, किन्तु देश-काल आदि की परिस्थिति के साथ वे बदलते रहते है। किसी परिस्थिति में सोने का कोई उपयोग नहीं होता, तथा उसका सग्रह बहुत ही दुःखदायक होता है, और मिट्टी तथा पत्थर से बडा लाभ होता है, उस स्थिति में सोने की कोई कीमत नहीं होती, किन्तु पत्थर और मिट्टी बड़े कीमती हो जाते है। इसलिए वह पत्थर, मिट्टी और सोने की पृथक्-पृथक् योग्यता का भेद अनुभव करता हुआ भी तात्त्विक विचार से उस भेद को कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है, अत उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में उसको कोई हर्ष या विषाद नहीं होता। इसी तरह अपने शरीर के सबधियो में भी वह भेद का अनुभव अवश्य करता है और उस अनुभव सहित ही वह सबकी पृथक्-पृथक् योग्यता और परस्पर के सबध के अनुसार उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है,

अर्थात् अपने आत्मीयजनो को वह अपने शरीर के निकटवर्ती स्वजन समझता हुआ उनसे घनिष्ठ प्रेम का व्यवहार करता है, मित्रों के साथ साधारण प्रेम का, वैर रखने वालो के साथ उनकी भावनानुसार वैर का, उपेक्षा करने वालो के साथ उपेक्षा का, शत्रु और मित्र की वीच की स्थिति वालो के साथ साधारण शिष्टाचार का, जो द्वेष रखने वाले हैं उनसे उनकी भावना एवं योग्यता के अनुसार द्वेष का, वन्धुजनो के साथ उनके योग्य प्यार एवं सहानुभूति का, सज्जनो के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का, तथा शठो के साथ उनके अनुकूल शाठ्य का वर्ताव करता है। तात्पर्य यह कि जिस शरीर की जैसी योग्यता और जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार वह उसके साथ वर्ताव करता है; परन्तु वे बर्ताव उन भिन्न-भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मो के फल-स्वरूप उनके स्वाभाविक गुणो एव भावनाओ की योग्यतानुसार स्वत. ही होते हैं, अर्थात् उन लोगो की भावनाएँ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्तावो का कारण होती हैं। समत्वयोगी के अन्तःकरण में उन भिन्नता के वर्तावो का कोई प्रभाव नहीं रहता और वह अपनी तरफ से किसी के साथ कोई अच्छा या वुरा वर्ताव नहीं करता, अर्थात् उसके अन्त.करण में न किसी से राग रहता है न द्वेष, न व्यक्तित्व का यह अहंकार रहता है कि मै अमुक व्यक्ति के साथ अमुक प्रकार का अच्छा या वुरा वर्ताव कर रहा हूँ। उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का वर्ताव करता है तो भी वह उसके हित के लिए ही होता है, द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नहीं होता। अतः सबके साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव करते हुए भी अपने शरीर और दूसरो के शरीरों में वह तत्त्वतः कोई भेद नहीं समझता, किन्तु अपने तथा दूसरो के शरीरो को एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप जानता है। भेद केवल गुण-वैचित्र्य का मानता है और गुणो की भिन्नता सदा इकसार नहीं रहती, इसलिए उसको कल्पित जान कर वह उसमें आसक्ति नहीं रखता। उसके अन्तःकरण में एक तरफ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न गुणो की योग्यता और उनके साथ अपने भिन्न-भिन्न संवंधो एवं उन संवंधो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्तावो का अनुभव रहता है, और दूसरी तरफ सवके एकत्व-भाव का अनुभव रहता है, इसलिए वह भिन्नता के प्रभाव से वस्तुत' रहित होता है। उसका अन्त.करण काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ग्लानि, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, सुख, दु.ख आदि अनेक प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओ का अनुभव करता हुआ भी निर्विकार, शान्त एवं सम वना रहता है। श्लोक ९ के अन्तिम पद में "समवुद्धिर्विशिष्यते" कह कर भगवान् ने इस अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिसकी वुद्धि जितनी ही अधिक सवकी एकता [के साम्य-भाव में स्थित होती है, उतनी ही अधिक उसके अन्त.करण में भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएँ प्रभाव-रहित होती है, और जिसकी वुद्धि पूर्णतया सवकी एकता के साम्य-भाव में स्थित हो जाती है, उसका अन्त.करण इन वेदनाओ में तथा अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-वुरे आदि के संवंधो में पूर्णतया सम रहता है

और उसकी स्थिति सबके ऊपर होती है। शारीरिक कष्टो में अविचलित रहने तथा सासारिक पदार्थों से वैराग्य होने की अपेक्षा भी अपने-पराये, शत्रु-मित्र, सज्जन-दुर्जन आदि के सबंध में अन्तःकरण की समता बनाये रखने का पद बहुत ऊँचा है।

× × ×

अब भगवान् १०वें श्लोक से २६वें श्लोक तक मन की एकाग्रता के साधन-रूप राज-योग के अभ्यास का निरूपण करके, श्लोक २७ से ३२ तक उक्त योगाभ्यास की पूर्णता-प्राप्त समत्वयोगी की साम्य-भाव की स्थिति का वर्णन करते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय.।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर. ॥ १४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन· ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। २१ ।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। २२ ।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। २३ ।।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। २४ ।।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्म संस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।। २५ ।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। २६ ।।
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। २७ ।।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। २८ ।।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ३० ।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। ३१ ।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।

अर्थ—योगी[१] अर्थात् समत्व-योग में आरूढ होने की इच्छा वाला साधक पुरुष सदा अर्थात् नित्य-नियम से एकान्त स्थान में (नियत काल तक) अकेला स्थित होकर

---

[१] यहाँ पर 'योगी' शब्द साम्य-भाव की स्थिति प्राप्त करने के साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ है "जोड, मेल, मिलाप, एकता, एकत्व-भाव

चित्त और इन्द्रियो के संघात को अपने वश में करके, आशा और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के संग्रह की ममता से रहित होकर अपने को योग में लगावे अर्थात् एकता का ध्यान करे (१०)। पवित्र देश अर्थात् शुद्ध भूमि पर कुशा और उस पर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर अपना दृढ आसन लगावे, जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा (११)। वहाँ (उक्त) आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियो के व्यापारो को रोक कर, मन को एकाग्र करके, आत्मा यानी अन्तःकरण की (द्वैत-भाव रूपी मलिनता से) शुद्धि के लिए योग में प्रयुक्त होवे अर्थात् एकता के ध्यान में लगे (१२)। काया अर्थात् धड, शिर और गर्दन को सम अर्थात् सीधी (खड़ी) रेखा में स्थिर रख कर अचल होता हुआ तथा (इधर-उधर) दिशाओ को न देखता हुआ अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नोक) पर जमाकर, निर्भय होकर अन्त.करण को अच्छी तरह शान्त रखता हुआ और ब्रह्मचर्य-व्रत को पालन करता हुआ, मन का संयम करके (सब के आत्मा=परमात्मा-स्वरूप) मेरे चिन्तनपूर्वक, मेरे परायण हुआ अर्थात् (सबके आत्मा=परमात्मा=स्वरूप) मुझमें

की स्थिति" इत्यादि। सबकी एकता, आत्मा अथवा परमात्मा में होती है और आत्मा अथवा परमात्मा सम है (गी० अ० ५ श्लो० १९, अ० ९ श्लो० २९, अ० १३ श्लो २७-२८), इसलिए गीता में भगवान् ने सबकी एकता के साम्य-भाव की स्थिति को 'योग' कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४८, अ० ६ श्लो० २९ से ३३)। गीता में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रधानतया इसी अर्थ मे अर्थात् एकता के साम्य-भाव की स्थिति के लिए, और उस साम्य-भावयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करने रूपी कर्म-योग के लिए हुआ है, तथा उक्त साम्य-भाव की स्थिति मे आरूढ होने के साधनो के लिए भी 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तरह सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव मे स्थित होने वाले तथा साम्य-भाव युक्त व्यवहार करने वाले कर्मयोगी को 'योगी' कहा है, और उक्त समत्व-योग के साधक के लिए भी 'योगी' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनेक शब्द ऐसे है जिनका प्रयोग साध्य और साधन, अथवा कार्य और कारण, दोनो के लिए एक ही रूप मे होता है।

कई स्थलो पर 'योग' शब्द साम्य-भाव की स्थिति से कुछ विलक्षण अर्थ में भी आया है। जैसे परमात्मा के विश्व-रूप होने की माया अथवा ऐश्वर्य को 'योग' कहा है (गी० अ० ७ श्लो० २५, अ० ९ श्लो० ५, अ० १० श्लो० ७, अ० ११ श्लो० ८), और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को भी योग कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४५, अ० ९ श्लो० २२)। परन्तु उन स्थलो पर भी एकता अथवा मेल के भाव की ही प्रधानता है। इनके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ दूसरे शब्दो के साथ 'योग' शब्द का समास हुआ है, जैसे—बुद्धि-योग, कर्म-योग, ध्यान-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग आदि, वहाँ भी उन शब्दो से जो-जो भाव व्यक्त होते हैं, उन-उन भावो मे जुडने रूप एकता का अर्थ ही सिद्ध होता है।

लौ लगा कर ध्यान योग में स्थित होवे (१३-१४)। इस प्रकार मन का संयम कर के सदा अपने-आपको युक्त करता हुआ अर्थात् एकता के ध्यान योग में लगा हुआ योगी, (सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप) मुझमें रहने वाली परम निर्वाण-स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है (१५)। परन्तु, हे अर्जुन! बहुत अधिक खाने वाले या बिलकुल न खाने वाले (भूखे रहने वाले), बहुत सोने वाले या बहुत जागने वाले का योग सिद्ध नहीं होता (१६)। यथायोग्य (नियमित) आहार-विहार करने वाले, तथा यथायोग्य (नियमित) कर्माचरण करने वाले और यथायोग्य (नियमित रूप से) सोने तथा जागने वाले का योग दुःखनाशक होता है। तात्पर्य यह कि अपनी शारीरिक प्रकृति के अनुकूल, तथा परिमित मात्रा में आहार, अपनी शक्ति के अनुसार उचित विहार (घूमने-फिरने आदि), तथा अपनी स्थिति के अनुसार व्यवस्थित काम-काज करने और समयानुसार एवं परिमित सोने व जागने से ही योगाभ्यास सुखदायक होता है (१७)। अच्छी तरह वश में किया हुआ चित्त जिस समय आत्मा में भली प्रकार स्थिर हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह अर्थात् बाह्य पदार्थों की प्राप्ति की लालसा से रहित हो जाता है, तब युक्त ऐसा कहा जाता है (१८)। जिस तरह वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है, वही उपमा योगाभ्यास में लगे हुए योगी के संयत चित्त को दी जाती है अर्थात् योगी का एकाग्र किया हुआ चित्त अडोल दीप-शिखा की तरह अविचल रहता है (१९)। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जब उपराम अर्थात् इधर-उधर भटकने से रहित—शान्त हो जाता है और जब वह आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में सन्तुष्ट होता है अर्थात् स्वयं अपने-आपके एकत्व-भाव में स्थित होकर प्रसन्न होता है; (तब वह) इन्द्रियों के अगोचर, जो बुद्धि-गम्य अपरिमित एवं अत्यन्त सुख है, उसका अनुभव करता है और उस अवस्था में स्थित होकर फिर वह तत्त्व से नहीं डिगता अर्थात् अपने-आपके आत्मानुभव से विचलित नहीं होता। जिसको पाकर वह उससे अधिक और कोई लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होकर वह महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता (किन्तु सम रहता है), उस दुःख के सबंध के वियोग को अर्थात् दुःख के अभाव को 'योग' नाम वाला जानना चाहिए अर्थात् उसका नाम समत्व-योग है, और उस समत्व-योग की प्राप्ति, मन को उकताये बिना निश्चयपूर्वक ही करनी चाहिए। तात्पर्य यह कि उपरोक्त योगाभ्यास से चित्त के एकाग्र होने पर सबके एकत्व-भाव अर्थात् सर्वत्र अपने-आप=आत्मा के अनुभव की मस्ती छा जाती है; आत्मानुभव की मस्ती का वह सुख, इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाला नाशवान् अथवा दुःख-परिणाम वाला राजस सुख नहीं होता, किन्तु आत्मनिष्ठ बुद्धि का सच्चा और अक्षय सुख होता है, जिसके प्राप्त होने पर ससार में दूसरा कोई अधिक सुख प्राप्त करने योग्य नहीं रहता, और उस अवस्था

में कितना ही भारी दु:ख आ पड़े तो भी उसका कोई प्रभाव नहीं पडता, क्योंकि उस साम्य-भाव में दुःख की दुःख-रूपता ही नष्ट हो जाती है; इसलिए उस समत्व-योग की प्राप्ति के अभ्यास से चित्त को डावाँडोल न करके, उसमें दृढता के साथ अवश्य लगे रहना चाहिए (२०-२३)। सकल्प से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओ का सर्वथा त्याग कर, मन से ही इन्द्रियो को सब ओर से रोक कर, धारणायुक्त बुद्धि से शनैः-शनैः उपरत अर्थात् सासारिक पदार्थों की आसक्ति से रहित होवे, और मन को आत्मा में स्थित करके बाह्य विषयो का कुछ भी चिन्तन न करे। जिस-जिस विषय को लेकर यह चचल और अस्थिर मन बाहर भटके, उस-उससे रोक कर इसे आत्मा के ही अधीन करे। तात्पर्य यह कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि की जितनी भी कामनाओ के सकल्प मन में उठा करते है, उन सबको छोड कर मन से इन्द्रियो का नियन्त्रण करे, और बुद्धि में आत्मज्ञान की दृढ धारणा करके शनैः-शनैः मन का नियन्त्रण करे और उसे दूसरे विषयो से हटाकर आत्मा में जोडे। मन स्वभाव से ही चंचल होता है, इसलिए उसका एक जगह टिकना कठिन होता है, अतः जिस-जिस विषय की तरफ यह जावे, वहीं इसे रोक कर आत्मा में जोडे, अर्थात सभी पदार्थों में एक ही आत्मा का चिन्तन करने से मन जिस पदार्थ की तरफ जावेगा, वहाँ एक आत्मा को ही पावेगा तब इसे एकाग्र होना पडेगा (२४-२६)। इस शान्त-चित्त, निष्पाप और ब्रह्मस्वरूप योगी का रजोगुण शान्त हो जाता है अर्थात् दब जाता है और इसे निश्चय ही उत्तम सुख प्राप्त होता है (२७)। इस प्रकार सदा आत्मानुभव में लगा हुआ पाप रहित योगी सहज ही ब्रह्म-भाव के आत्यन्तिक सुख का उपभोग (अनुभव) करता है (२८)। जिसका अन्तःकरण सबकी एकता के साम्य-भाव से युक्त हो गया है, वह सर्वत्र समदर्शी अर्थात् सबमें समता का अनुभव करने वाला समत्वयोगी अपने को सब भूत-प्राणियो में और सब भूत-प्राणियो को अपने में देखता है (२९)। जो मुझ अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा को सबमें देखता है, और सबको मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में देखता है उसका मैं नाश नहीं करता ओर न वह मेरा नाश करता है (३०)। जो (सबके) एकत्व-भाव में अच्छी तरह स्थित हो कर सब भूतो में रहने वाले मुझको भजता है, अर्थात् सब भूत-प्राणियो को अपने और सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम रखता है, वह समत्वयोगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में ही बर्तता है, अर्थात् सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्म-स्वरूप मुझमें ही स्थित रहता है (३१)। २९ से ३१ तक के श्लोको का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त योगाभ्यास से जिनकी सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हो जाती है, वे अपने को सबका आत्मा

समझते है और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करते है, यानी सबको अपना ही रूप जानते है, अतः उनमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वे स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाते है। जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी उनकी स्थिति समता-स्वरूप परमात्म-भाव में ही बनी रहती है (२९-३१)। हे अर्जुन ! जो आत्मौपम्य-बुद्धि से, यानी सबको अपना आत्मा समझ कर, सर्वत्र, यानी सबके सुख अथवा दुःख को समान-भाव से देखता है, अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है। तात्पर्य यह कि जो इस निश्चय से कि सब कोई एक ही आत्मा अथवा मेरे "अपने-आपके" अनेक रूप है, यह अनुभव करता है कि "जैसा मै हूँ वैसे ही दूसरे है", और दूसरो के सुख-दु.ख आदि को अपने ही समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य समता* का बर्ताव करता है वही पूर्ण समत्वयोगी है। किसी भी व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय अपने को उसकी स्थिति में रखने की कल्पना करना, अर्थात् मन में यह विचार करके कि यदि मै इसकी जगह होता और यह मेरी जगह होता तो मेरे साथ इसका किस तरह का बर्ताव उचित होता—किस तरह के बर्ताव से मुझे सुख होता और किस तरह के बर्ताव से दुःख—यह आपस की एकता का विचार आत्मौपम्य-बुद्धि है। इस आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही सच्चा समता का बर्ताव है (३२)।

स्पष्टीकरण—गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका में कह आये है कि समत्व-योग में स्थिति होने के लिए भगवान् ने राजयोग अथवा ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करने का विधान भी एक साधन रूप से किया है। यहाँ पर भगवान् उस योगाभ्यास का वर्णन करते है। भगवान् कहते है कि योगाभ्यास करने के लिए पहले शरीर की सारी चेष्टाओ को सम करना आवश्यक है, क्योकि जब तक शारीरिक चेष्टाओ में समता नहीं होती तब तक मन में भी समता अथवा एकाग्रता नहीं हो सकती। इसलिए मन को समता के भाव में एकाग्र करने के निमित्त आहार-विहार, रहन-सहन, सोना-जागना, काम-काज आदि शरीर की सब चेष्टाओ को यथायोग्य सम करना चाहिए। भोजन (खाना-पीना) समयानुसार, उस प्रकार तथा उतनी मात्रा में एवं उस ढग से करना चाहिए कि जो अपनी प्रकृति के अनुकूल हो और जो सहज ही पच जाय, तथा जिससे मन और इन्द्रियो की चंचलता न बढे, एवं अरुचि, अजीर्ण और आलस्य आदि विकार उत्पन्न न हो; घूमना, फिरना, खेलना, कसरत करना, मनोविनोद तथा इन्द्रियो के विषयो में वर्तना आदि विहार, नियत समय पर उचित रीति से उतने ही करने चाहिएँ कि जिनसे शरीर और इन्द्रियो में शिथिलता एवं निर्बलता न आवे, और न उनमें इतनी आसक्ति

* समता के बर्ताव का विशेष स्पष्टीकरण पाँचवे अध्याय मे देखिए।

ही रखनी चाहिए कि उनका व्यसन पड़ जाय, एवं प्रमाद होकर समय का अपव्यय होने लगे। काम-काज भी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार व्यवस्थित रूप से नियत समय पर तथा उतना ही करना चाहिए कि जिससे शरीर में थकावट न आवे और शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता रहे; साराश यह कि आठो पहर काम-धन्धो में ही न बितावे। नींद साधारणतया रात के समय परिमित समय तक लेनी चाहिए, विशेष आवश्यकता के बिना दिन में अथवा असमय में एव अधिक समय तक नहीं सोना चाहिए। व्रत, उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रह कर खान-पान के त्याग से और जागरण करके नींद न लेने से शरीर में शिथिलता और व्याकुलता उत्पन्न होती है, तथा विहारो को सर्वथा त्याग देने से चित्त विक्षिप्त रहता है, और काम-धन्धे छोड देने से शरीर-निर्वाह के साधन प्राप्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह कि इस तरह के त्याग से विषमता और अशान्ति होती है, अत. ये भी समत्व-योग के बाधक है। इसलिए शरीर के आहार-विहार आदि त्यागने नहीं चाहिएँ किन्तु उन्हें उपर्युक्त रीति से नियमित रूप से समुचित परिमाण में करते हुए शरीर की समता बनाये रख कर, नित्य-प्रति नियमपूर्वक नियत समय के लिए, सब प्रकार की कामनाओ और ममताओ की लाग-लपेट से रहित होकर, ध्यान योग का अभ्यास करने के लिए समतल भूमि पर डाभ, उसके ऊपर मृगछाला और उस पर कपड़ा बिछा कर उस पर अपना दृढ आसन जमाकर शरीर को सीधा (सम-रेखा में) रखते हुए दृष्टि को सब तरफ से हटा कर नासिका की नोक पर जमाना चाहिए। उस समय अन्त -करण तथा इन्द्रियो की सब चेष्टाओ को रोक कर मन को केवल आत्मा अथवा परमात्मा के ध्यान में इस प्रकार लगाना चाहिए कि दीपक की लौ की तरह वह निरतर अडिग रहे। इस तरह धीरज के साथ मन को शनै -शनै. दृढतापूर्वक एकाग्र करना चाहिए, और जहाँ-जहाँ वह भागे, वहीं आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् जिस पदार्थ में मन जावे उसी पदार्थ को अपने-आपसे अभिन्न अपना आत्म-स्वरूप अथवा परमात्म-स्वरूप समझना चाहिए। ऐसा समझने से मन जहाँ जायगा वहाँ आत्मा अथवा परमात्मा ही को पावेगा, तब वह आत्मा अथवा परमात्मा में ठहर जायगा। मन, बुद्धि, चित्त और अहकार रूप से अन्त करण के चार भाव है। मन का स्वभाव अत्यन्त चचल तथा सकल्प-विकल्प करने का है; बुद्धि का स्वभाव विचार करने, जानने और समझने का है; चित्त का स्वभाव चिन्तन अथवा स्मरण करने का है; और अहकार का स्वभाव व्यक्तित्व का अनुभव करने का है। इनमें से जिस भाव की प्रबलता होती है वह दूसरे भावो को दबा देता है। अत मन की चंचलता को बुद्धि अथवा चित्त की क्रियाओ से दबाना चाहिए, अर्थात् मन को बाहरी विषयो में भटकने से रोकने के लिए बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि बाहरी पदार्थो में उनका अपना सुख कुछ भी नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके अपने-आप आत्मा का है, इसलिए उनमें आसक्त होना हानिकर

है; अथवा चित्त से यह स्मरण करना चाहिए कि सभी वाहरी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप है, वास्तव में सर्वत्र एक ही आत्मा है, आत्मा से पृथक् इनमें सुख की आशा रखने से दुःख होता है। इस तरह अभ्यास करते-करते जब मन एकत्व-भाव में ठहर जाता है, तब पूर्ण सुख और शान्ति प्राप्त हो जाती है; जिस सुख-शान्ति के आगे संसार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते है, फिर किसी भी पदार्थ के प्राप्त करने की कामना शेष नहीं रहती। उस अवस्था में पहुँचने के वाद फिर दुःख का लेश भी नहीं रहता; क्योकि तब अपने-आपसे पृथक् कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती कि जिससे दुःख होने की संभावना हो। उस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति में अखिल विश्व और ईश्वर अथवा परमात्मा भी आत्मा अर्थात् अपने-आपके ही अनेक भाव प्रतीत होने लगते है—अपने-आपसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता। उस ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव अथवा एकत्व-भाव के आत्मा-नुभव की स्थिति में समत्वयोगी सब प्रकार से जगत् के व्यवहार उनके स्वामी भाव से पूर्ण स्वतन्त्रता और समतापूर्वक करता हुआ भी अपने परमात्म-स्वरूप से कभी डिगता नहीं।

उस पूर्णता की स्थिति पर पहुँचा हुआ समत्वयोगी सब भूत-प्राणियो को एक समान अपना आत्मा ही अनुभव करता है, और सबके सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि को अपने ही समझता हुआ आत्मौपम्य बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य समता का वर्ताव करता है।

× × ×

यद्यपि उपर्युक्त योगाभ्यास से मन को एकाग्र करके समत्व-योग में स्थित होने का विधान भगवान् ने ऊपर के श्लोको में अच्छी तरह किया है, परन्तु उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में दृढ स्थिति होना और सबको अपनी आत्मा समझ कर सबके साथ आत्मौ-पम्य-बुद्धि से समता का वर्ताव करना, इतना गहन और कठिन विषय है कि प्रथम तो इसकी प्राप्ति के लिए जिस योगाभ्यास का वर्णन ऊपर दिया गया है उसमें मन का लगना ही अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है; और यदि किसी तरह मन इस अभ्यास में लग भी जावे तो समत्व-योग की पूर्णावस्था तक पहुँच सकना तो जन्म भर में भी असभव जान पडता है; और यह वात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि किसी भी सासारिक कार्य को पूर्ण किये विना उसका नतीजा नहीं निकलता। अस्तु, इसी अभिप्राय को लेकर अर्जुन आगे के श्लोको में भगवान् से कहता है कि जो समत्व-योग आपने कहा, उसमें मन का पूरी तरह टिक सकना मुझे असभव-सा दीखता है। उस पर भी मनुष्य यदि यत्नपूर्वक इसके अभ्यास में लगे और पूर्णता को पहुँचे विना, अर्थात् थोड़े वहुत अभ्यास के वाद वीच में ही उसका शरीर छूट जाय तो इस अभ्यास से क्या लाभ होगा ? इस अभ्यास में लगने से शास्त्रो में विधान किये हुए हवन-यज्ञ, वलि-वैश्वदेव आदि कर्मकाण्ड तथा देव-पूजन, व्रत-उपवास एव तप आदि धार्मिक कृत्य, जो पारलौकिक सुख के साधन बताये जाते है, वे तो वन नहीं सकते, इसलिए

उन सुखो से वञ्चित रहना पड़ेगा; और इस समत्व-योग में पूर्णता की प्राप्ति न होने के कारण इसका जो फल आपने कहा है, वह प्राप्त नहीं होगा; परिणाम यह होगा कि समत्व-योग के साधन में लगने वाला "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का" की कहावत को चरितार्थ करता हुआ उभय-भ्रष्ट हो जायगा अर्थात् दोनो तरफ़ से जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन आशंकाओ का समाधान करते हुए भगवान् आगे कहते है कि यद्यपि यह अभ्यास कठिन अवश्य है, परन्तु प्रयत्न करने से इस जन्म में नहीं तो आगे के जन्मो में सफलता अवश्य मिलती है। इसके अभ्यास में लगने वाले की इस जन्म में अथवा आगे के जन्मो में कभी अवनति नहीं होती, किन्तु वह उत्तरोत्तर उन्नति ही करता है। सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि के जितने भी साधन है, उन सबसे समत्व-योग श्रेष्ठ है, इसलिए इसी का अभ्यास करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण. पथि॥ ३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतॉल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६ ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि, हे मधुसूदन ! आपने जो यह साम्य-भाव का योग कहा, (मन की) चचलता के कारण मै इसकी दृढ़ स्थिति नहीं देखता; क्योकि यह चंचल मन वडा ही उपद्रवी, जवर्दस्त और दृढ अर्थात् अपनी चंचलता की धुन का पक्का है; उसका निगह (एकाग्र) करना, मै वायु को रोकने की तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ। तात्पर्य यह कि इस चंचल मन का समत्व-योग में स्थायी रूप से टिके रहना असभव-सा है (३३-३४)। श्री भगवान् वोले कि हे महावाहो ! निस्सन्देह मन (वड़ा ही) चचल है, (और) उसको रोकना वहुत ही कठिन है; परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह रोका जा सकता है, अर्थात् जगत् की परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान् भिन्नताओ को धोखे की टट्टी समझ कर उनसे ममत्व न रखने रूपी वैराग्य से, तथा सवके एकत्व-भाव—सत्य, नित्य और सदा एक-सा रहने वाले आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का वार-वार चिन्तन करने के अभ्यास से, मन एकाग्र हो सकता है (३५)। जिसका मन अपने अधिकार में नहीं है उसको समत्व-योग की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है, ऐसा

मेरा मत है; परन्तु जिसका मन (उपरोक्त अभ्यास और वैराग्य-द्वारा) अपने अधिकार में हो जाता है, उसे प्रयत्नपूर्वक उपाय करने से (समत्व-योग) प्राप्त हो सकता है (३६)। अर्जुन बोला कि हे कृष्ण ! जो मनुष्य (समत्व-योग में) श्रद्धावान् है अर्थात् विश्वास-पूर्वक इसके अभ्यास में लगा हुआ है, परन्तु जितेन्द्रिय न हो सकने के कारण इस अभ्यास में जिसका मन स्थिर नहीं रहता, (ऐसा अभ्यासी) समत्व-योग की पूर्णावस्था को न पहुँच कर (फिर) किस गति को जाता है अर्थात् मरने के बाद उसकी क्या दशा होती है ? हे भगवान् ! (स्वर्गादि सुखो के देने वाले कर्मकाण्डादि में) अप्रतिष्ठित (और मन की चचलता के कारण) ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में विमूढ (रहने से) क्या वह छिन्न-भिन्न (बिखरे हुए) बादल की तरह दोनों तरफ से भ्रष्ट होकर नष्ट नहीं हो जाता ? तात्पर्य यह कि समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को एकाग्र करने के अभ्यास में लगे रहने के कारण वह समत्व-योग का अभ्यासी दूसरे लोगो की तरह कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, बलि-वैश्वदेव जप-तप, व्रत-उपवास, देव-पूजन आदि पारलौकिक सुखो के देने वाले शास्त्रीय साधन सम्पादन कर नहीं सका, और उक्त योगाभ्यास की पूर्णता न होने के कारण उसे आत्मानुभव हुआ नहीं—ऐसी दशा में क्या वह उक्त साधारण लोगो से अलग रह कर उसी तरह नष्ट नहीं हो जाता, जिस तरह एक बादल का टुकडा दूसरे बादलो से अलग होकर नष्ट हो जाता है (३७-३८) ? हे कृष्ण ! आप मेरे इस संशय को पूर्णतया काटने योग्य हो, आपके सिवाय इस सशय का काटने वाला दूसरा कोई नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह कि जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो कालो का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ होता है, और जो स्वय भय, स्वार्थ, पक्षपात, भ्रम, दुराग्रह और संशय से रहित, तत्त्वदर्शी एवं दयालु होता है, वही इस लोक तथा परलोक से सबंध रखने वाली उक्त शका का ठीक-ठीक समाधान कर सकता है; और आपमें ये सभी गुण मौजूद है, इसलिए केवल आप ही में इस विषय का निश्चित निर्णय देने की योग्यता है, अत आप मेरे इस सशय को कृपा करके काटिए (३९)। श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ ! इस लोक और परलोक (दोनो) में उसका (कभी) विनाश नहीं होता; क्योकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म (इस समत्व-योग के अभ्यास) में लगे रहने वाले किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती (४०)। पुण्य कर्म करने वाले पुरुषो को मिलने वाले (उच्च) लोको को प्राप्त होकर तथा वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके फिर वह योग-भ्रष्ट पुरुष अर्थात् पूर्वोक्त समत्व-योग का अधूरा अभ्यासी, पवित्र श्रीमानो (सम्पत्तिशाली लोगो) के घर में जन्म लेता है (४१)। अथवा बुद्धिमान् समत्वयोगियो के कुल में ही जन्म लेता है; इस प्रकार का जन्म इस लोक में बडा ही दुर्लभ है (४२) । वहाँ (उसे) उस पूर्वजन्म की बुद्धि का सयोग प्राप्त होता है, अर्थात् इस जन्म में जो समत्व-योग के सस्कार उसकी बुद्धि में जम जाते है उनका वहाँ उदय होता है, और हे कुरुनन्दन ! (वहाँ भी) फिर वह उससे

आगे समत्व-योग की पूर्ण सिद्धि के लिए यत्न करता है (४३)। पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही (उस समत्व-योग की तरफ) खींचा जाता है; समत्व-योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म अर्थात् कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है। तात्पर्य यह कि समत्व-योग के जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रो में कहे हुए धार्मिक कर्म-काण्ड आदि कृत्य कोई महत्व नहीं रखते, वह उनसे ऊपर उठ जाता है (४४)। और प्रयत्न-पूर्वक उपाय करने वाला योगी अर्थात् समत्व-योग का अभ्यासी कई जन्मो में (उत्तरोत्तर) उन्नति करता हुआ (द्वैत-भाव-रूपी) मैल से शुद्ध होकर अन्त में परम गति को पा जाता है (४५)। तपस्वियो से (समत्व-योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है; ज्ञानियों से भी (वह) श्रेष्ठ माना गया है; और कर्मियों अर्थात् कर्मकाण्डियो से भी (समत्व-योग का अभ्यास करने वाला) योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो, अर्थात् समत्व-योग में लग (४६)। (उक्त समत्व-योग के अभ्यास में लगे हुए) सारे योगियो में भी जो अपने अन्त.करण को मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में लगा कर श्रद्धा सहित मुझको भजता है, वह मेरे मत में सर्व-श्रेष्ठ योगी है। तात्पर्य यह कि जो समत्व-योग के अभ्यास में लगने वाला साधक सबके आत्मा=परमात्मा के एकत्व-भाव में मन लगा कर एक परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने के निश्चय से सबके साथ प्रेम करने रूपी ईश्वर-भक्ति करता है, वह सब अभ्यास करने वालो में श्रेष्ठ है; क्योकि इस दुहरे (डबल) अभ्यास के कारण उसे बहुत जल्दी सफलता प्राप्त होती है (४७)।

स्पष्टीकरण—पूर्ववर्णित अर्जुन की शंकाओ के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि यह बात सच है कि समत्व-योग में मन की पूर्णतया स्थिति होना बहुत ही कठिन और दीर्घकाल के अभ्यास का काम है, अर्थात् एक तरफ जगत् की भिन्नता के बनावो में ममत्व की आसक्ति कम करने और दूसरी तरफ सबकी एकता के भाव में मन को लगाने का अभ्यास निरंतर दीर्घ काल तक करते-करते मनुष्य कई जन्मो में जाकर पूर्णावस्था को पहुँचता है; परन्तु इससे घबडाने अथवा हताश होने की कोई बात नहीं है, क्योकि किसी भी देहधारी की हस्ती (अस्तित्व) इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाती। यह बात दूसरे अध्याय में कह आये है कि मरना-जन्मना तो कपड़े बदलने की तरह है। जीवात्मा का वासनामय सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है तो पूर्वजन्मो में किये हुए शारीरिक एवं मानसिक व्यवहारो और विचारो के संस्कारो को साथ रखता है। यह सिद्धान्त निश्चित है कि यह सब जगत् मन के संकल्पों की रचना है, अत. मनुष्य अपने मन में जो-जो सकल्प करता है उनके सस्कार जमा होते रहते है और उनके अनुसार ही वह अपना भविष्य बना लेता है। यदि अच्छे संस्कार होते है तो एक देह छोड़ने के बाद

फिर वह मनुष्य आदि की उन्नत देह धारण करता है, और यदि बुरे सस्कार होते है तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता अथवा प्रेत आदि की हीन देह धारण करता है। जो समत्व-योग के अभ्यास में लग जाता है, उसे हीन योनि कभी प्राप्त नहीं होती, क्योकि समत्व-योग का अभ्यास व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्यो की तरह नहीं है कि जिनसे अन्त.करण में भेद-भावरूपी मलिनता बढती रहती है और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरो से द्वेष करने अथवा दूसरो को कष्ट देने के बुरे सस्कार उत्पन्न होते है, और जिनसे थोडे समय के लिए नाशवान्, अतः मिथ्या सुख प्रतीत होकर फिर उसका दुष्परिणाम होता है और तव हीन योनियो में जाना पड़ता है, जहाँ उन्नति करने की कोई योग्यता ही नहीं होती। समत्व-योग के अभ्यास में सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को लगाना होता है, जिससे व्यक्तित्व का भाव कम होकर अन्तःकरण का द्वैत-भाव रूपी मैल साफ होता है; तथा इसमें किसी का अहित करने या किसी को क्लेश देने का भाव नहीं होता, इसलिए इसके अभ्यास करने वाले के मन में बुरे संस्कारो का संचय नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले धार्मिक कृत्यो में शरीर को बहुत क्लेश तथा परिश्रम उठाना पडता है; वे कृत्य यदि सागोपाग पूरे न हो जायें तो उनका कोई फल नहीं होता; यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उल्टा अनिष्ट होता है, और यदि वे विधिपूर्वक पार पड़ भी जायें तो उनका अदृष्ट फल कालान्तर में होना माना जाता है। परन्तु समत्व-योग के अभ्यास में न तो शरीर को क्लेश अथवा परिश्रम होता है, न इसमें त्रुटि रहने से कोई अनिष्ट होता है। इसका थोडा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता, न इसके फल के लिए कालान्तर अथवा लोकान्तर अथवा देशान्तर अथवा पूर्णता ही की अपेक्षा रहती है; किन्तु जितना ही समत्व-योग का आचरण होता है उतना ही आत्मबल एव उतनी ही सुख-शान्ति, इसी जन्म में ही नहीं किन्तु इसका आचरण करते हुए ही प्राप्त होती जाती है, और ज्यो-ज्यो इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, उसी के अनुसार आत्मबल और सुख-शान्ति बढती जाती है। उन्नति करते-करते जब पूर्ण-रूप से सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति हो जाती है, तब पूर्ण ब्रह्म परमात्म-भाव की प्राप्ति हो जाती है। इस जन्म में इसके थोडे से अभ्यास के बाद ही यदि किसी अभ्यासी का शरीर छूट जाय और विषय-सुख भोगने की वासना बनी रहे तो मरने के बाद उक्त अभ्यास के बल से वह उन वासनाओ के अनुरूप सुख भोगने के लिए दिव्य (सूक्ष्म) भोग भोगने के उपयुक्त—दिव्य (सूक्ष्म) लोगो में रह कर भोग भोगने का अनुभव करता है, अर्थात् मन में जैसी वासना अथवा सस्कार होते है उसी के अनुसार वह अपने लिए सुख के साधन कल्पित करके सुख भोगता है; परन्तु उक्त सुख भोगते हुए भी पूर्व-जन्म वाले समत्व-योग के सस्कार जमा पडे रहते है, अत जब बहुत समय तक भोग भोग लेता है, तब उक्त सस्कारो के प्रसाद से फिर मनुष्य-

लोक में श्रेष्ठाचारी धनी पुरुषो के घर में जन्म लेता है, जहाँ भौतिक सुखो की सामग्री और आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् समत्व-योग की उन्नति के साधन, दोनो मौजूद रहते है। और यदि इस जन्म में सुख-भोगो की वासना नहीं रहती है तो मरने के बाद दूसरा जन्म आत्मज्ञानी समत्वयोगियो के घर में होता है, जहाँ समत्व-योग के अभ्यास में उन्नति करने के सब साधन उपस्थित रहते है। समत्व-योग के अभ्यास के बिना मरने के बाद प्रथम तो मनुष्य देह मिलना ही कठिन है, और मनुष्य देह में भी उपरोक्त अच्छे आचरणो वाले श्रीमानो अथवा ज्ञानवान् समत्वयोगियों का संयोग होना तो अत्यन्त ही दुर्लभ होता है।

समत्व-योग के अभ्यासी का दूसरा जन्म चाहे उपरोक्त श्रेष्ठाचारी धनियो के घर में हो अथवा ज्ञानी समत्वयोगियो के कुल में, वहाँ भी अपने पूर्वजन्म के अभ्यास के सस्कारो की प्रबलता के कारण, वह समत्व-योग के अभ्यास ही में प्रयत्नशील रहता हुआ उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है। इस तरह क्रम से उन्नति करता हुआ वह समय पाकर पूर्ण पद में स्थित हो जाता है। सारांश यह कि समत्व-योग के अभ्यास में एक बार लग जाने पर मनुष्य का, इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी कभी पतन अथवा अवनति नहीं होती, किन्तु उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। **इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से सांसारिक व्यवहार करने के समत्व-योग के साथ व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्य अथवा कर्मकाण्ड की कोई तुलना नहीं है।** समत्व-योग का सच्चा जिज्ञासु अर्थात् जिसके चित्त में इस विषय का बोध प्राप्त करने की सच्ची लगन लग जाती है, अथवा जो इस विषय के अध्ययन और अनुसंधान में लग जाता है, उसका हृदय भी इतना उदार हो जाता है कि वेदादि-शास्त्रो में विधान किये हुए लौकिक फल देने वाले कर्मकाण्डो की उसे कोई इच्छा नहीं रहती और न उसे उनकी आवश्यकता ही रहती है। भेद-भाव को बढ़ाने और दृढ़ करने वाले उन कर्मकाण्डात्मक शास्त्रो में वर्णित रोचक वचन (पुष्पिता वाणी, गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४) उसके मन को नहीं लुभाते, क्योकि वह उन प्रलोभनो से ऊपर उठ जाता है; और जो इस समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के विविध आचरण करने के प्रयत्न में लग जाता है, वह तो तपस्वियो, कर्मकाण्डियो और ज्ञानियो आदि सबसे श्रेष्ठ हो जाता है, अर्थात् जो राजसी और तामसी प्रकृति के लोग व्रत, उपवास आदि से शरीर को कृश करने वाले तथा सरदी-गरमी आदि से शारीरिक कष्ट सहने के अनेक प्रकार के तप करते है, और जो लोग यज्ञ, हवन, पूजा, पाठ आदि कर्मकाण्डो में लगे रहते है, एवं जो लोग अध्यात्म-ज्ञानविषयक कोरे शास्त्रार्थ और वाद-विवाद में लगे रहते है, उन तपस्वियो, कर्मकाण्डियो और शुष्क ज्ञानियो से समत्व-योग के आचरण का प्रयत्न करने वाला योगी श्रेष्ठ होता है। समत्व-योग का अभ्यास करने वाले

में भी जो सबके आत्मा=परमात्मा में मन लगा कर श्रद्धापूर्वक विश्व प्रेम रूपी भक्ति करता है, वह सबसे उत्तम है। इसका यह कारण है कि परमात्मा की सर्वव्यापकता के विश्वासपूर्वक उसकी उक्त प्रकार की उपासना करने से मन शीघ्र एकाग्र हो सकता है, क्योंकि मन जहाँ जावे, वहाँ ही परमात्मा का दर्शन करने से उसका भटकना बन्द होने में बहुत सुगमता होती है, और इस तरह अभ्यास के साथ-साथ परमात्मा की सच्ची उपासना करते रहने के दुहरे साधन से समत्व-योग की सिद्धि बहुत जल्दी और सुगमता से होती है। इसलिए इस भक्ति और योग का दुहरा अभ्यास करने वाला सबसे उत्तम अभ्यासी होता है।

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

सातवाँ अध्याय

छठे अध्याय में भगवान् ने समत्व-योग में मन को ठहराने के लिए ध्यान योग के अभ्यास का साधन कहा; जिस पर अर्जुन ने शंका की कि मन अत्यंत चंचल है, इस कारण उसका उक्त अभ्यास में टिकना अशक्य प्रतीत होता है। उस शंका का समाधान करते हुए भगवान् ने उक्त अध्याय के अन्त में अपनी यानी सबके आत्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना सहित योगाभ्यास करने वाले साधक को सबसे उत्तम साधक बता कर, भक्ति अथवा उपासना सहित ध्यान योग से मन के सुगमता से एकाग्र हो सकने का संकेत किया था। अब उक्त भक्ति अथवा उपासना के वास्तविक स्वरूप का विस्तृत रूप से निरूपण आगे किया जाएगा।

उपासना करने के लिए पहले यह निश्चय होना चाहिए कि जिसकी उपासना की जाय, उसका क्या स्वरूप है; यानी परमात्मा के किस रूप अथवा किस भाव की उपासना करनी चाहिए। इसलिए भगवान् ने पहले अपनी सर्वरूपता के विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण करके फिर उस सर्वरूप अथवा विश्वरूप की यानी सबकी एकता के निश्चय-युक्त विश्व प्रेम रूपी उपासना करने का विधान किया है।

उपासना के विधान में उपास्य और उपासक की पृथक्ता की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, क्योंकि भक्ति अथवा उपासना अपने से भिन्न किसी महान् शक्ति की कल्पना किये बिना बन नहीं सकती। मन को लगाने के लिए अपने से भिन्न कोई न कोई दूसरा अवलम्बन अवश्य चाहिए, क्योंकि अपने-आपमें मन की स्थिरता होनी अत्यन्त कठिन होती है। यही कारण है कि भगवान् ने अपने और अर्जुन के बीच उपास्य-उपासक का भेद कल्पित करके उपासना का विधान किया है। इससे यद्यपि यह भान होता कि यहाँ जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु यह भिन्नता केवल चंचल मन को ठहराने के लिए—उसे आसरा अथवा अवलम्बन देने के उद्देश्य से—कल्पित की गई है। वास्तव में इस भेद-कल्पना का अभिप्राय द्वैत-सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का नहीं है, क्योंकि उपास्य और उपासक दोनो, वस्तुतः सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही है—सबके अपने-आप=आत्मा से भिन्न न उपास्य है न उपासक। अपने-आपको व्यष्टि मानने से अल्पज्ञ एवं अल्प-शक्तिमान् जीव-भाव होता है; और समष्टि मानने से सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान् परमात्म-भाव होता है। पृथक्ता के व्यष्टि-भाव की आसक्ति छुड़ा कर समष्टि अथवा एकत्व-भाव में स्थिति कराने के लिए ही उपास्य-उपासक के भेद की कल्पना की गई है। परन्तु उपासना के इस विधान में भगवान ने सर्वत्र अपने

सर्वात्म-भाव, अर्थात् देश-परिच्छेद, काल-परिच्छेद और वस्तु-परिच्छेद से रहित—सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में एक समान व्यापक—अपने अनादि और अनन्त सर्वरूप यानी विश्व रूप की अनन्य-भाव से उपासना करने को वार-वार कहा है; किसी लोक-विशेष, देश-विशेष अथवा स्थान-विशेष में वैठे हुए, अथवा किसी काल-विशेष में उत्पन्न अथवा प्रकट होने वाले किसी व्यक्ति-विशेष के रूप की भेद-भाव से उपासना करने को नहीं कहा है। इससे स्पष्ट है कि उपास्य-उपासक की भिन्नता की कल्पना भेद मिटाने के लिए की गई है, न कि भेद दृढ करने के लिए। वास्तव में गीता में सवकी एकता का अद्वैत-सिद्धान्त ही माना गया है।

उत्तम पुरुष वाचक सर्वनामो का प्रयोग भगवान् कृष्ण ने अपने व्यक्ति-भाव के लिए नहीं किया है किन्तु सबके अपने आप आत्मा के लिए किया है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४ ।।
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। २५ ।।
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। २६ ।।
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।। २७ ।।
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।। २८ ।।
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।। २९ ।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। ३० ।।

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ! मुझमें मन लगा कर मेरे आश्रय से, अर्थात् मेरी उपासना के अवलम्बनपूर्वक, (पूर्वकथित) ध्यान योग से तू निस्सन्देह, समग्र अर्थात् सबमें परिपूर्ण, मुझको जैसा जानेगा सो सुन। तात्पर्य यह कि मन किसी न किसी विषय में अवश्य ही लगा रहता है, यह उसका स्वभाव है। उसे कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। यदि उसे सबमें एक समान व्यापक एक, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, सबके आत्मा= परमात्मा के चिन्तन में लगाने का प्रयत्न न किया जाय तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले नानात्व के भावो में आसक्त रहने के कारण एकाग्र नहीं हो सकता; इसलिए उसको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सबके आत्मा= परमात्मा की उपासना में लगाना चाहिए, अर्थात् यह चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिए कि जगत् सब परमात्मा का स्वरूप है और वह परमात्मा सारे जगत् में एक समान व्यापक है। इस तरह परमात्मा की उपासना के अवलम्बन से मन समत्व-योग के अभ्यास में सहज ही स्थित हो जायेगा और उस अभ्यास से यह निश्चित एवं दृढ ज्ञान हो जायेगा कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, वास्तव में जो कुछ है वह सब परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है (१)। यह विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने वाले स्थूल और सूक्ष्म जगत् के निरन्तर बदलने वाले भिन्नता के भावो में एक, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील आत्मतत्त्व एक समान भरा हुआ है—यह तत्त्व-

ज्ञान, मैं तुझे बताता हूँ जिसे जान लेने पर फिर यहाँ (संसार) में कुछ भी जानने के लिए बाकी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि यह विश्व सबके आत्मा= परमात्मा ही के सगुण और निर्गुण, अथवा साकार और निराकार, अथवा जड और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष-रूप द्वन्द्वों अथवा जोड़ो का बनाव है, जिसने इस रहस्य को अच्छी तरह जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया; फिर उसके लिए जगत् में वस्तुतः जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता, क्योकि जगत् में जो भी कुछ है वह सब परमात्मा के इन युगल भावो का ही विस्तार है (२)। हजारो मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि के लिए, अर्थात् सर्वात्मा=परमात्मा को यथार्थतया जानने-रूपी उक्त विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता है; और उन यत्न करने वाले सिद्धो अर्थात् साधको में कोई विरला ही मुझ परमात्मा को तत्त्वतः यानी यथार्थ रूप से जानता है। तात्पर्य यह कि संसार में अधिकांश मनुष्य तो खाने, पीने, सोने, संतान उत्पन्न करने आदि विषयो तथा उन विषयों के साधनो की प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करने ही में लगे रहते है, इनके सिवाय और कुछ भी विचार करने का उनके मन में संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। यदि उनमें से कोई कुछ विचार करते है तो वे भी अधिकतर आधिभौतिक* और आधिदैविक* विचारो तक ही रह जाते है, आध्यात्मिक* विचारो की तरफ कोई विरले ही लगते है। जो लोग आध्यात्मिक विचार करने में लगते है, उनमें भी अधिकांश लोग आत्मा को जगत् से भिन्न मानते है और जगत् का तिरस्कार करके आत्मज्ञान की खोज में लगे रहते है। "एक में अनेक और अनेको में एक" के विज्ञान सहित ज्ञान, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो भावो की एकता के तत्त्वज्ञान की पूर्णता को कोई विरला ही पहुँचता है (३)। पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश (अवकाश अथवा पोल), मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह आठ भेदो वाली मेरी प्रकृति अलग है। यह (मेरी) अपरा प्रकृति है; और इससे दूसरी जीवभाववाली मेरी परा प्रकृति जान, जिससे हे महाबाहो! यह जगत् धारण किया जाता है। ऐसा समझ कि इन (दोनो) प्रकृतियो से ही सब भूत-प्राणियो की उत्पत्ति होती है, अत अखिल विश्व का प्रभव और प्रलय, अर्थात् आदि और अन्त मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि एक तरफ सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा अथवा जड़ प्रकृति, सूक्ष्म और स्थूल पंच तत्त्व और उनके विस्तार—इन्द्रियाँ और उनके विषय आदि—एव मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-रूप से व्यक्त होती है, जिनसे पिण्ड (व्यष्टि शरीर) और ब्रह्माण्ड (समष्टि जगत्) के प्रतिक्षण परिवर्तनशील बनाव बनते है; और दूसरी तरफ सबके आत्मा=

* आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विचारो का खुलासा "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में देखिए।

परमात्मा की परा अथवा चेतन प्रकृति पूर्वोक्त अपरा प्रकृति के सब सूक्ष्म और स्थूल भावों के अनन्त प्रकार के प्रतीत होने वाले बनावो के अन्दर उनके जीवनरूप से स्थित होकर सबको एकता के सूत्र में पिरोये हुए धारण करती है। इस तरह सबका आत्मा=परमात्मा ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का वास्तविक आधार है। दूसरे शब्दों में यह विश्व सबके आत्मा=परमात्मा ही की कल्पना का खेल है (४-६)। हे धनंजय ! **मुझसे परे अर्थात् मुझसे वस्तुतः भिन्न कुछ भी नहीं है; सूत में पिरोये हुए मणियों की तरह यह सब मुझमें पिरोया हुआ है।** तात्पर्य यह कि जिस तरह सूत के मणियो की माला गूँथी जाय तो माला का रूप और नाम बनने के पहले सब सूत होता है, और माला के बन जाने के बाद भी सूत के सिवाय और कुछ नहीं होता, और माला को फिर से उधेड़ी जाय तो भी सूत ही रहता है। मणिये अथवा माला किसी भी अवस्था में सूत के सिवाय और कुछ भी नहीं होते। यदि मणिये लकडी, पत्थर अथवा धातु के होते हैं, तो भी वे पृथ्वीतत्त्व के ही होते है और सूत भी पृथ्वी तत्त्व ही होता है। इसलिए तत्त्वतः वे सब एक ही वस्तु के अनेक रूप होते है। इसी तरह, भगवान् कहते हैं कि जगत् का जो भी कुछ बनाव है, वह वस्तुतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है; जो कुछ भी है, वह सब मेरे ही अनेक रूप है (७)। हे कौन्तेय ! जल में रस मै हूँ; सूर्य और चन्द्रमा में ज्योति (मै) हूँ; सब वेदो में ओंकार मै हूँ; आकाश में शब्द और पुरुषो में पुरुषत्व मै हूँ। पृथ्वी में विकार रहित गंध और अग्नि में तेज मै हूँ; सब भूत-प्राणियो में जीवन और तपस्वियों में तप मै हूँ। हे पार्थ ? सब भूतो का सनातन बीज (सदा बना रहने वाला कारण) मुझे जान; बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियो का तेज मै हूँ। काम और राग के विकारो से रहित बलवानो का बल मै हूँ; **और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणीमात्र में धर्मानुकूल काम अर्थात् स्वाभाविक इच्छा मै हूँ।** तात्पर्य यह कि परमात्मा संसार के यावन्मात्र पदार्थों के अन्दर उनके आधार-भूत—सूक्ष्म कारण-रूप से अथवा उनके सार यानी सत्त्व-रूप से अथवा उनके आपस के साधर्म्य-रूप से ओत-प्रोत भरा हुआ है। उदाहरणार्थ :—अनेक भेदो वाले जल का सूक्ष्म कारण एवं उसका सत्त्व—रस है; मधुरता अर्थात् स्वाद, द्रवता अर्थात् पिघलाहट और शीतलता अर्थात् तरी जो जल के धर्म है, वे रस ही से है; दूसरे शब्दो में रस ही जल का अस्तित्व है, अतः जल में परमात्मा रस रूप से ओत-प्रोत भरा हुआ अथवा पिरोया हुआ है। इसी तरह सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों में प्रकाश-रूप से, वेदो में ओंकार-रूप से, आकाश में शब्द-रूप से, पुरुषो में पौरुष-रूप से, पृथ्वी में गन्ध-रूप से, अग्नि में तेज-रूप से, भूत-प्राणियो में जीवन-रूप से, तपस्वियो में तप-रूप से, सारी सृष्टि में उसके अनादि एव अनन्त बीज-रूप से, बुद्धिमानो में बुद्धि-रूप से, तेजस्वियो में तेज-रूप से, बलवानो में बल-रूप से—इस तरह नाना

प्रकार के पदार्थों में उन सबके आधार एवं सूक्ष्म कारण रूप से, सबके सार-रूप से, तथा सबके परस्पर के साधर्म्य-रूप से परमात्मा सबमें ओत-प्रोत भरा हुआ तथा सबको एकता के सूत्र में पिरोये हुए है। कार्य से कारण और धर्मी से धर्म वस्तुतः पृथक् नहीं होते, तथा आधार के विना आधेय की स्थिति नहीं होती, एवं प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके सार अथवा सत्त्व पर निर्भर रहता है। अस्तु, आत्मा अथवा परमात्मा सबका आधार, सबका कारण, सबका सार अथवा सत्त्व है, इसलिए जगत् सब परमात्मामय है; दूसरे शब्दो में जो कुछ है सब परमात्मा ही है। जगत् की रचना और विस्तार समष्टि इच्छा अथवा काम पर निर्भर है अर्थात् सब भूत-प्राणियो की स्वाभाविक इच्छा ही से जगत् प्रवर्तित हो रहा है, अत. भगवान् ने अन्त में यह कह कर अपनी सर्वरूपता को अधिक स्पष्ट कर दिया है कि भूत-प्राणियो में जो उनके स्वाभाविक धर्मानुसार काम अथवा इच्छा होती है, वह भी मै ही हूँ। यहाँ "धर्मानुकूल काम" कहने का प्रयोजन यह है कि सृष्टि-विस्तार की इच्छा या काम सब प्राणियो में स्वाभाविक होता है, और यह काम लोक-संग्रह का हेतु है। इस सात्त्विक काम से सबके एकत्व-भाव में कोई बाधा नहीं आती यानी किसी की कोई हानि नहीं होती, किन्तु जगत् की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है, इसलिए यह धर्मानुकूल है, परन्तु दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की जो कामनाएँ की जाती है, चाहे वे शारीरिक विषय-भोग आदि की हो या पारमार्थिक कल्याण की, उनमें पृथक्ता का भाव भरा हुआ होता है और उनसे दूसरो की हानि होती है, इसलिए यह राजस काम स्वाभाविक धर्म के विरुद्ध है (८-११)। **और जो सात्त्विक और जो राजस तथा तामस भाव है, वे मुझसे ही है ऐसा जान; और (यद्यपि) वे मुझ में है परन्तु मै उनमें नही हूँ।** तात्पर्य यह कि जगत् में जिन सत्त्व, रज और तम गुणो के तारतम्य से उत्पन्न अनन्त प्रकार की भिन्नताओ की प्रतीति होती है, वे तीनो गुण सबके आत्मा=परमात्मा ही की कल्पना है अर्थात् परमात्मा ही के सकल्प के खेल है। इसलिए परमात्मा ही उनका आधार और अवलम्बन है; परन्तु उनका आधार और अवलम्बन होता हुआ भी परमात्मा उनमें रुका हुआ एव उन पर अवलम्बित नहीं है; क्योकि यद्यपि कल्पना, कल्पना करने वाले पर अवलम्बित रहती है, परन्तु कल्पना करने वाला, अपनी कल्पना पर अवलम्बित नहीं रहता। इसलिए परमात्मा इन तीन गुणो के अधीन और इन पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु इनसे परे है और इनकी कमी-वेशी से उत्पन्न विकारो का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। अपनी कल्पना से इनको सत्ता एव स्फूर्ति-युक्त करता हुआ भी वह इनसे अलिप्त निर्विकार एव सदा एक-सा रहता है (१२)। इन तीन गुणो के (तारतम्य अर्थात् कमी-वेशी के) नानात्व के भावो से यह सब जगत् मोहित हो रहा है, इसलिए इनसे परे मुझ निर्विकार को नहीं जानता; यह मेरी दैवी अर्थात् अलौकिक त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो

पुरुष मुझे ही भजते है, वे इस माया को तर जाते है। तात्पर्य यह कि साधारण लोग सबके आत्मा=परमात्मा के सकल्प-रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा योग-माया के नाना नामो और नाना रूपो के बनाव में ही उलझे हुए रहते है, इसलिए इस नानात्व के बनाव के मूल आधार, इसके रचयिता सबके आत्मा=परमात्मा को नहीं जान सकते। जो माया के स्वामी महेश्वर यानी सबकी एकता स्वरूप सबके आत्मा=परमात्मा की उपासना करते है; उनकी इस त्रिगुणात्मक माया और इस अनेकता के फैलाव में आसक्ति नहीं रहती, अत. वे इससे ऊपर उठ जाते है; क्योकि जो जिसकी दृढतापूर्वक उपासना करता है, वह उसी को पाता है, अतः जो लोग माया और उसके कार्य रूप भिन्नता की उपासना करते है, वे माया तक ही रहते है; और जो माया के परे, उसके स्वामी सबकी एकता स्वरूप परमात्मा की उपासना करते है, वे परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाते है। (१३-१४)। जिनकी विचार-शक्ति माया से नष्ट हो गई है, ऐसे विवेक-शून्य एव बुरे कर्मों में प्रवृत्त रहने वाले अधम पुरुष आसुरी भावो में आसक्त होकर मेरी शरण में नहीं आते अर्थात् सबकी एकता स्वरूप मेरी उपासना नहीं करते। तात्पर्य यह कि जिनकी बुद्धि जगत् की मायिक भिन्नताओ में ही उलझी रहती है, उनको सत्, असत्, धर्म, अधर्म अथवा अच्छे, बुरे का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता और उनकी प्रकृति आसुरी हो जाती है, अत वे लोग स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य-कर्म करना छोड कर विरुद्धाचरण द्वारा लोगो का अनिष्ट करने तथा दूसरो को कष्ट देने में प्रवृत रहते है; उन पाप-कर्म करने वाले नीच पुरुषो का मन सबके आत्मा=परमात्मा की एकता के भाव से उपासना में कभी नहीं लगता (१५)। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! सुकृत अर्थात् अच्छे कर्म करने वाले चार प्रकार के मनुष्य मुझको भजते है :—(१) आर्त अर्थात दु.ख से पीडित अथवा विपद्ग्रस्त, (२) जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा वाले, (३) अर्थार्थी अर्थात् (परमार्थ के निमित्त) द्रव्योपार्जन की कामना वाला, और (४) ज्ञानी अर्थात् मुझ परमात्मा को सबका आत्मा जानने वाला (१६)। इनमें से ज्ञानी सदा अनन्य-भाव से मेरी निष्काम-भक्ति में लगा रहता है, अर्थात् अपने सहित सबमें मुझ परमात्मा को समान भाव से व्यापक जानते हुए, व्यक्तित्व के भाव से रहित होकर तथा किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की कामना बिना, सबके साथ प्रेम के भाव में जुड़ने रूप मेरी उपासना करता है; इसलिए उसकी विशेषता है अर्थात् वह सबसे उत्तम भक्त है। निश्चय ही ज्ञानी को मै अत्यन्त प्यारा हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्यारा है, अर्थात् ज्ञानी सर्वत्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करता हुआ सबके साथ एकत्व-भाव का प्रेम करता है, किसी के साथ राग-द्वेष नहीं रखता, और इसीलिए वह भी सबका प्यारा होता है (१७)। (यद्यपि) ये सब ही (भक्त) उदार है, परन्तु ज्ञानी को तो मै अपना आत्मा ही मानता हूँ क्योकि वह अपने अन्त करण को मुझ परमात्मा ही में लगाकर सबकी एकता के सर्वोत्तम

भाव में स्थित रहता है (१८)। श्लोक १६ से १८ तक का तात्पर्य यह है कि स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य-कर्मो का आचरण करने वाले तथा परोपकारी अर्थात् लोक-हितकर कार्यों में लगे रहने वाले पुण्यात्मा पुरुष बुरे कर्म करने वाले मनुष्यो की तरह माया के बनाव में ही डूबे नहीं रहते, किन्तु अपने पुण्य-कर्मों के प्रभाव से माया के स्वामी महेश्वर अर्थात् परमात्मा की भक्ति में प्रवृत्त रहते है। उन परमात्मा के पुण्यवान् भक्तो की चार श्रेणियाँ है :—एक वे है जो कष्ट अथवा विपत्ति में आर्त या व्याकुल होकर परमात्मा को याद करते है, अथवा जगत् को दुःख रूप समझ कर उससे निस्तार पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है; दूसरे वे है जो ज्ञान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिए परमात्मा की उपासना करते है; तीसरे वे है जो परोपकार अथवा लोक-सेवा के निमित्त द्रव्य-प्राप्ति के लिए परमात्मा का भजन करते है; और चौथे वे है जिनको यह ज्ञान होता है कि जो कुछ है सो सब परमात्मा ही है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है—इस निश्चय से सबके साथ नि.स्वार्थ भाव से प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति करते है। यद्यपि पूर्वकथित कुकर्मों में लगे रहने वाले आसुरी प्रकृति के देहाभिमानी एवं स्वार्थी लोगो की अपेक्षा ये चारो प्रकार के भक्त उदार अथवा उत्तम है, क्योकि ये अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए दूसरो की हानि नहीं करते, किन्तु दूसरो का उपकार करते है; और इनकी सबके आत्मा=परमात्मा में श्रद्धा होने के कारण ये उसकी उपासना करते है जिससे इनका देहाभिमान कम होता है और देह से संबध रखने वाले पदार्थो में ममत्व का त्याग भी यथायोग्य अवश्य ही होता है; परन्तु प्रथम तीन प्रकार के भक्त अज्ञानी और भावुक होते है, वे तत्त्व से परमात्मा का स्वरूप नहीं जानते, अतः इन चारो में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योकि उसका अन्त·करण निरन्तर सबके एकत्वभाव परमात्मा में ही लगा रहता है और उसको सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् वह सबको परमात्मा ही का स्वरूप अनुभव करता है, अत. उसका द्वैतभाव निवृत्त हो जाता है; फलतः उसको सब अपने आत्मीय जनो की तरह अत्यन्त प्यारे लगते है, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह भी सबको प्यारा लगता है और उसकी स्थिति परमात्मा में हो जाती है (१६-१८)। बहुत जन्मो के अनन्तर ज्ञानवान् पुरुष, इस अनुभव के दृढ़ हो जाने पर कि "सब कुछ वासुदेव ही है", मुझमें मिल जाता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसे महान् आत्मा विरले ही होते है। तात्पर्य यह कि अनेक जन्मो में अभ्यास करते-करते ज्ञानवान् भक्त को जब पूरी तरह यह अनुभव हो जाता है कि "जो कुछ है सब परमात्मा ही है" तो उसे परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं भासता और तब वह स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। परन्तु इस तरह सबकी एकता के परमात्म-भाव में स्थित होने वाला ज्ञानी भक्त कोई विरला ही होता है (१९)। (नाना प्रकार की) कामनाओ से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (उपासना के) जिस-जिस नियम में उनकी प्रकृति उन्हें प्रेरित करती है, उस-उसका

अनुसरण करके, भिन्न-भिन्न देवताओ की उपासना करते है। जो-जो (देव-भक्त) जिस-जिस रूप की श्रद्धापूर्वक आराधना करना चाहता है, उस-उस (देव-भक्त) की श्रद्धा "मैं" उस (देवता) ही में दृढ़ कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त वह (देव-भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उससे उसकी वे कामनाएँ मेरे ही निर्दिष्ट किये हुए विधानानुसार पूर्ण होती है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा=परमात्मा तो एक ही है, परन्तु जिन लोगों की बुद्धि, धन, पुत्र, कुटुम्ब, मान, मर्यादा आदि इहलौकिक पदार्थों, विषय-भोगो और स्वर्गादि पारलौकिक सुखो की अनेक प्रकार की कामनाओ से विक्षिप्त रहती है, वे उन कामनाओ की पूर्ति, परमात्मा से भिन्न, किन्हीं अदृष्ट शक्तियो यानी देवताओ से होने के भ्रम में पडे हुए भिन्न-भिन्न देवताओ की कल्पना करके अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुसार, उनके पूजन-अर्चन के नियम-उपनियम बनाकर उनकी उपासना करते है; अर्थात् जिनकी जैसी प्रकृति होती है, उसी के अनुसार वे अपने अनुकूल गुणो की प्रधानता वाले देवता कल्पित कर लेते हैं, और जिस-तरह के आचरण अपने को अच्छे लगते है, तथा जो-जो खान-पान, रहन-सहन आदि नाना प्रकार के विषय अपने को प्यारे लगते है, वही आचरण और विषय उन देवताओ को अच्छे और प्यारे लगने का विश्वास करके उन आचरणो तथा विषयो की सामग्रियो द्वारा उन कल्पित देवताओ का अर्चन-पूजन करते है। जो जिस देवता की श्रद्धायुक्त उपासना करने लगता है, उसी में उसकी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, क्योकि श्रद्धा मन से होती है और मन जिस विषय में लग जाता है, उसमें उसकी दृढ़ आसक्ति हो जाती है। उस अटल श्रद्धा के प्रसाद से ही उसकी कामनाओ की सिद्धि होती है। अपना-आप=आत्मा ही व्यक्तित्व के भाव से अनेक प्रकार की कामनाएँ करता है, आप ही मन रूप से देवताओ की कल्पना करके उनमें दृढ श्रद्धा करता है और आप ही अपनी श्रद्धा के प्रतिफल-स्वरूप उनका फल उत्पन्न कर लेता है। साराश यह कि यद्यपि सब-कुछ करने कराने वाला अपना-आप=आत्मा ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई कुछ भी करने-कराने वाला नहीं है, परन्तु व्यक्तित्व के भाव में आसक्त अज्ञानी लोग सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओ को कामनाओ की पूर्ति करने वाला मानते है (२०-२२)। परन्तु उन अल्पबुद्धि लोगो का वह (कामनाओ की पूर्ति-रूप) फल नाशवान् होता है; देवताओ की उपासना करने वाले देवताओ को प्राप्त होते है और मेरी भक्ति करने वाले मुझमें आ मिलते है। तात्पर्य यह कि यद्यपि उपरोक्त देवताओ की उपासना के निमित्त को लेकर जो फल होता है, वह अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा के प्रसाद से ही होता है परन्तु उन मूर्ख लोगो की देवोपासना नाशवान् सासारिक पदार्थों की कामनाओ को लेकर होती है, अत. उनका फल नाशवान एवं दु ख-परिणाम वाले सासारिक भोगो की प्राप्ति-रूप ही होता है। इसके अतिरिक्त उन देवोपासको की गति उन देवताओ तक ही होती है, अर्थात् वे उन कल्पित रूपो के ही दास बने रहते हैं,

क्योंकि जिसका मन जैसी कल्पना करता है वह उसी के अनुरूप हो जाता है। सबका आत्मा=परमात्मा, जो सब रचनाओ का आधार और उनका स्वामी है, उसकी अनन्य-भाव से उपासना करने वाले परमात्मा रूप हो जाते है (२३)। मूर्ख लोग मेरे अव्यय यानी सदा एक-सा रहने वाले उत्तमोत्तम परम-भाव को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्ति भावापन्न हुआ मानते हैं। तात्पर्य यह कि मै (सबका आत्मा=परमात्मा) अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, सब में एक समान तथा सदा एक-सा रहने वाला, देश, काल एवं वस्तु-परिच्छेद से रहित, निर्विकार हूँ, और सब दृश्य-प्रपच के अन्दर सद्-रूप से विद्यमान रहता हुआ भी मन, बुद्धि और इन्द्रियो के अगोचर हूँ; परन्तु बेसमझ लोग मुझ (परमात्मा) को उत्पत्ति-नाशवान् एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील एक शरीर विशेष ही मानते है; अथवा किसी लोक-विशेष, देश-विशेष अथवा स्थान-विशेष में बैठा हुआ, किसी काल-विशेष में व्यक्त अथवा प्रकट होकर सीमाबद्ध रहने वाला एक विशेष व्यक्ति मानते है। वे मूर्ख लोग मेरे वास्तविक स्वरूप—सब देश, सब काल, सब वस्तुओ और सब भावो में तथा सब व्यक्तियो में एक समान रहने वाले, सच्चिदानन्द-परब्रह्म, परिपूर्ण-भाव को नहीं जानते (२४)। मै अपनी योगमाया से ढका हुआ, अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा रचे हुए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के नाना भाँति के नाम-रूपात्मक कल्पित बनावो से आच्छादित हुआ, सब लोगो को दृष्टिगोचर नहीं होता; (इसलिए) यह मूढ जनता, उत्पत्ति और विनाश से रहित मुझ (अनादि-अनन्त) को वस्तुतः नहीं जानती (२५)। हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके है, वर्तमान में है और भविष्य में होंगे, उन सब भौतिक बनावो को मै जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी (यथार्थरूप से) नहीं जानता (२६)। हे परतप ! हे भारत ! ससार में सभी भूत-प्राणी इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न नाना प्रकार के द्वन्द्वो के मोह से मोहित हो रहे हैं (२७)। परन्तु जिन पुण्य-कर्म करने वाले पुरुषो के पापो का अन्त हो जाता है, वे द्वन्द्वो (परस्पर विरोधी भावो के जोड़ो) के मोह को छोड कर दृढतापूर्वक मुझे भजते है (२८)। जरा (बुढापा) और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते है, वे उस ब्रह्म को तथा सारे अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान लेते है (२९)। जो अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित मुझको जान लेते है, शरीर छूटते समय भी समाहित-चित्तवाले पुरुष मुझ परमात्मा को (सबके आत्मा-रूप से) जानते है (३०)। श्लोक २५ से ३० तक का तात्पर्य यह है कि साधारण लोग इन्द्रियो और मन में ही आसक्त रहते है, और इन्द्रियो तथा मन की योग्यता, उत्पत्ति और विनाशवान् तथा सुख-दु.ख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वो अथवा भिन्नता के भावो से परिपूर्ण जगत् के परिवर्तनशील दृश्य अथवा बनाव ही को विषय करने की होती है, अत. वे इस बनाव की अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके इन्हीं में उलझे

रहते हैं। आत्मा अथवा परमात्मा को विषय करने की योग्यता इन्द्रियो और मन में नहीं होती; क्योकि आत्मा अथवा परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इन्द्रियो, मन आदि सबका कारण, सबका आधार, सबका प्रेरक और सबकी सत्ता एवं चेतनता-स्वरूप है, अर्थात् इन्द्रियो, मन आदि में जो सत्ता और चेतनता है, वह सब आत्मा की है और इनको अपने-अपने विषयो का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा की चेतनता से होता है—ये तो केवल ज्ञान के साधन यानी हथियार है—वास्तव में ज्ञान-स्वरूप चेतन आत्मा अथवा परमात्मा ही है; अत· ये हथियार सबके ज्ञाता—सबके जानने वाले चेतन आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं जान सकते (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ४ मं० १४)। हाथ से हथियार पकडे जाते है परन्तु हथियार हाथ को नहीं पकड सकते। सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा तो अपना अनुभव रूप ही है। अन्य सब पदार्थों को जानने वाला तो सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सारे ज्ञान का सग्रह सबके अपने-आप—सबके आत्मा=परमात्मा में होता है; परन्तु अपने-आप-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा को जानने वाला अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं होता; अपने-आप का यथार्थ ज्ञान अपने अनुभव सिवाय दूसरे किसी साधन से नहीं होता। अत. इन्द्रियो और मन के विषयो ही में लगे रहने वाले स्वार्थ-परायण लोग आत्मा अथवा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते; परन्तु जो लोग लोक-हित के पुण्य-कर्मों में लगे रहते है, वे राग, द्वेष, आदि द्वन्द्वो के मोह-रूपी पाप से मुक्त हो जाते हैं और वे ही सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य-भाव से भक्ति करने में तत्पर रहते हैं अर्थात् वे अखिल विश्व के साथ प्रेम करते है; और वे जरा (बुढापा) एवं मरण-धर्मवाले परि-वर्तनशील शरीर की आसक्ति छोडकर सबके आत्मा=परमात्मा के ज्ञान के लिए प्रयत्न करते है। उन्हीं को परमात्मा के नाना भावो का और उन भावो के आधार परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होता है और वह ज्ञान उनको शरीर छूटने तक भी बना रहता है (२५ से ३०)।

स्पष्टीकरण—मन की एकाग्रता के लिए अपनी उपासना के विधान के प्रकरण में भगवान् ने यहाँ पर अपनी सर्वरूपता या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनो भावो युक्त पिण्ड (व्यष्टि) और ब्रह्माण्ड (समष्टि) रूप जगत् की वास्तविक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा है।

यह जगत् सबके आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म की इच्छा अथवा सकल्प का खेल यानी दृश्य है (छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ६ खण्ड २, बृहदा० उ० अ० १ ब्रा० ४)। प्रकृति, स्वभाव, माया, ब्रह्मा आदि अनेक नाम सबके आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म की उस समष्टि इच्छा अथवा संकल्प ही के है। जब समष्टि आत्मा=परमात्मा की इच्छा एक से अनेक रूप होकर जगत् का खेल करने की होती है, तब वह इच्छा अपरा और परा दो

भावो वाली प्रकृति-रूप होकर जगदाकार होती है। पाँच इन्द्रियो और उनके पाँच विषयों को आदि लेकर अनन्त प्रकार के फैलाव सहित स्थूल और सूक्ष्म पंच-महाभूत एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि सूक्ष्म शक्तियाँ, अपरा प्रकृति अर्थात् परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का क्षर एवं जड़ माना जाने वाला भाव है। इस भाव को क्षेत्र भी कहते है (गी० अ० १३ श्लो० ५-६)। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाला नामरूपात्मक भाव है। परमात्मा की इस अपरा प्रकृति में इन्द्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले जगत् के सब स्थूल यानी आधिभौतिक पदार्थों और भावो का, तथा प्रत्येक पदार्थ एवं भाव के अन्दर रहने वाली उनकी सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियो का समावेश है। परमात्मा की दूसरी परा प्रकृति है, जो उसकी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का अक्षर एवं चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव है। यह परा प्रकृति अथवा चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, तथा अपरिवर्तनशील है, अर्थात् अपरा प्रकृति के नाना भावो-रूप जगत् के बदलते रहने पर भी यह परा प्रकृति-रूप चेतन भाव ज्यो का त्यो रहता है। अपरा प्रकृति के नाना भावो में जो नित्यता, सत्यता, चेतनता और सुख-रूपता आदि प्रतीत होती है, वे सब परमात्मा की इस परा प्रकृति अर्थात् अध्यात्म-भाव की है। यह परा प्रकृति उपरोक्त सब स्थूल यानी आधिभौतिक और सूक्ष्म यानी आधि-दैविक जगत् में कारण-रूप से ओतप्रोत पिरोयी हुई है और यह सारे जगत् का जीवन और सारे जगत् का आधार है। इस परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ भी कहते है (गी० अ० १३ श्लो० १-२)।

जिस तरह समष्टि-आत्मा=परमात्मा अपनी इच्छा से एक से अनेक रूप होता है, वही स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष देखने में आता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अकेला ही होता है, पर वह जब एक से अनेक होने की इच्छा करता है, तब नर मादा को और मादा नर को प्राप्त होकर दो होते है और फिर उनसे अनेक संतानो का फैलाव होता है। जो कोई इस तरह नर-मादा के सयोग का फैलाव नहीं करता, वह भी अनेको के समूह अथवा समाज में रहना अवश्य चाहता है। एक से अनेक होने की यह इच्छा स्वाभाविक है। इस तरह आत्मा अथवा परमात्मा ही अपनी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया से अपरा और परा प्रकृति, अथवा क्षर और अक्षर, अथवा जड़ और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष रूप होकर जगत् का फैलाव करता है। दूसरे शब्दो में सबका आत्मा=परमात्मा आप ही स्थावर और जंगम अथवा चर और अचर सृष्टि रूप होकर अनन्त प्रकार का बनाव करता है और आप ही उन सब में चेतन रूप से प्रविष्ट होकर सबको सत्ता एव स्फूर्ति युक्त करता है। जिस तरह माला के मणिये सूत के आधार पर घूमते रहते है, अथवा जिस तरह कुएँ में से पानी निकालने के अरहट में अनेक कलश रस्से में पिरोये हुए घूमते है, उनका आधार रस्सा होता है—रस्सा उनको एकता की शृंखला में बांधे रहता हुआ उन्हें घुमाता रहता

है; उसी तरह जीव-भावापन्न चेतन आत्मा अथवा परमात्मा अपने नाना नामो और नाना रूपो वाले जड़ भावो अथवा पदार्थों में पिरोया हुआ उनके निरन्तर बदलते रहने वाले प्रवाह अथवा शृंखला को धारण करता हुआ चालू रखता है।

इस विषय का विशेष खुलासा करने के लिए भगवान् कई उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जल के अनेक नाम होते है, जैसे—समुद्र-जल, नदी-जल, कूप-जल, तडाग-जल आदि, तथा उसके अनेक रूप होते हैं, जैसे—तरल पानी-रूप, ठोस बर्फ-रूप, सूक्ष्म भाप-रूप आदि; परन्तु उन अनेक नामो और अनेक रूपो में जल का सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे रस कहते है, वह एक ही रहती है, और वह सब दशाओ में विद्यमान रहती है; जल के विविध नामो और रूपो में परिवर्तन होने पर भी रस ज्यो का त्यो रहता है—वास्तव में जल, रस के सिवाय और कुछ नहीं होता; अत. जल में उसके एकत्व-भाव रस-रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशमान् पदार्थों का अस्तित्व प्रकाश पर निर्भर है; सूर्य, चन्द्र आदि अनेक नाम और रूप एक प्रकाश ही के है; अत प्रकाशमान् पदार्थों में उनके एकत्व-भाव प्रकाश-रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। वेदो का अस्तित्व, जगत् के स्थूल, सूक्ष्म और कारण भावो और उन सबकी एकता के बोधक "प्रणव" यानी "ओंकार" पर निर्भर है; क्योकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण भाव और उन सबकी एकता का व्याख्यान ही वेदादि-शास्त्रो का विषय है; इसलिए सब वेदो में, उनके एकत्व-भाव "ओंकार" रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। आकाश के भिन्न-भिन्न नामो और रूपो (घटाकाश, मठाकाश, हृदयाकाश, महाकाश आदि) में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे शब्द कहते है, सर्वत्र विद्यमान रहती है, अतः आकाश में उसके एकत्व-भाव शब्द रूप में "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न नामो और रूपो में उसका सूक्ष्म तत्त्व अथवा तन्मात्रा, जिसे गन्ध कहते है, सर्वत्र विद्यमान रहती है; अत पृथ्वी में उसके एकत्व-भाव गन्ध-रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। अग्नि के भिन्न-भिन्न नामो और रूपो में उसका सूक्ष्म तत्त्व, जिसे तेज कहते है, सर्वत्र विद्यमान रहता है; अत अग्नि में उसके एकत्व-भाव तेज रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। भिन्न-भिन्न नामो और रूपो के भूत-प्राणियो का अस्तित्व उनकी जीवन-शक्ति है, अत· सब भूत-प्राणियो में उनके एकत्व-भाव जीवन रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। तपस्वियो का अस्तित्व तप पर निर्भर है अर्थात् तप के कारण ही वे तपस्वी कहलाते है; इसलिए तपस्वियो में उनके एकत्व-भाव तप रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। सारी सृष्टि का सनातन कारण "मैं" हूँ; इसलिए सब भूत-प्राणियो में उनके कारण रूप एकत्व-भाव से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बुद्धिमानो का अस्तित्व बुद्धि पर निर्भर है, अर्थात् बुद्धि होने से ही वे बुद्धिमान् कहलाते है, इसलिए बुद्धिमानो में उनके एकत्व-भाव बुद्धि रूप से "मैं" आत्मा

अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। तेजस्वियो का अस्तित्व तेज पर निर्भर है, अर्थात् तेज के होने से ही वे तेजस्वी कहलाते है; अतः तेजस्वियो में उनके एकत्व-भाव तेज रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बलवानो का अस्तित्व वल पर निर्भर है, अर्थात् वल होने से ही वे बलवान् कहलाते है; अतः बलवानो में उनके एकत्व-भाव बल रूप से "मै" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। और सब भूत-प्राणियो में सृष्टि के विस्तार की जो स्वाभाविक इच्छा अथवा काम होता है, उन सबकी स्वाभाविक इच्छा अथवा काम रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा सबमें परिपूर्ण हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के सभी पदार्थों का अस्तित्व सबके एकत्व-भाव पर निर्भर है, और वह एकत्व-भाव सबके अन्दर रहने वाला "मैं" सबका आत्मा=परमात्मा ही हूँ। नाना नामो और नाना रूपो में विभक्त चराचर जगत् मेरे एकत्व-भाव के आधार पर ही स्थित हो रहा है।

जिन स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-रूप पंच-महाभूतो का प्रत्येक स्थूल पिण्ड, अर्थात् शरीर होता है, वे ही पंच-महाभूत सब शरीरो अथवा पिण्डों के समूह-रूप जगत् में होते है, इसलिए भौतिक दृष्टि से सब स्थूल पदार्थों में एकता है; और प्रत्येक स्थूल पिण्ड अथवा शरीर के अन्दर जो पंच-महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राएँ, इन्द्रियो की सूक्ष्म-शक्ति रूप से रहती है, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं अन्य सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ होती है, जिनसे प्रत्येक शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव तथा व्यवहार होते है, वे ही सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ (जिनको देवता कहते है), सारे जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार की हलचल कर रही है, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आधिदैविक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से सव काम कर रही है। इसलिए आधिदैविक दृष्टि से भी सबकी एकता है। स्थूल पंच महाभूत और सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ अथवा देवता लोग परमात्मा की अपरा प्रकृति है; और परमात्मा की परा प्रकृति इन सबका जीवन अथवा अध्यात्म-भाव है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव सभी एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित भाव और रूप है। तात्पर्य यह कि जगत् में सब प्रकार से वस्तुतः एकता है; और जो अनन्त प्रकार के भेद प्रतीत होते है, उनका कारण सबके आत्मा अथवा परमात्मा की उक्त इच्छा, स्वभाव, प्रकृति अथवा माया के सत्त्व, रज और तम गुणों का तारतम्य (कमी-वेशी) यानी गुण-वैचित्र्य है; और जव कि ये तीन गुण भी सबके आत्मा= परमात्मा की इच्छा, कल्पना अथवा माया अथवा प्रकृति के भाव है, तो सबका आत्मा= परमात्मा ही वस्तुत. इन सबका आधार है। कल्पना अपने आधार—कल्पना करने वाले के आश्रित रहती है, कल्पना करने वाले से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं होता; परन्तु कल्पना करने वाला कल्पना के आश्रित नहीं होता, न वह किसी कल्पना में रुका हुआ ही रहता है। इसलिए यद्यपि परमात्मा इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को कल्पित भिन्नताओं का आधार है, फिर भी वह इनके अन्दर रुका हुआ नहीं है। परमात्मा के किसी अंश में कल्पनाओं

के उठने और लय होने के साथ-साथ गुण-वैचित्र्य के नाना प्रकार के बनाव बनते और बिखरते रहते है, परन्तु सबका एकत्व-भाव परमात्मा अपने-आपमें ज्यो का त्यो रहता है। उन कल्पित भिन्नता के बनावो के होने, मिटने तथा बदलने से सबके एकत्व-भाव परमात्मा में कोई अन्तर नहीं आता, न कोई विकार होता है। जिस तरह समुद्र में अनन्त लहरें उठती और मिटती रहती है, परन्तु सारी लहरो का एकत्व-भाव पानी ज्यो का त्यो रहता है; अथवा आकाश में हवा के अनेक रूप होते और मिटते रहते है, परन्तु आकाश सब दशाओ में ज्यो का त्यो रहता है; उसी तरह सबके एकत्व-भाव परमात्मा में त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव होते और मिटते रहते है, परन्तु परमात्मा ज्यो का त्यो रहता है।

इस प्रकार अधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, सब भावो की एकता का विज्ञान सहित ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। आगे तेरहवें अध्याय में इसी विज्ञान सहित ज्ञान को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान रूप से यथार्थ ज्ञान कहा है और यही अवश्य प्राप्त करने योग्य है। इस ज्ञान को अच्छी तरह प्राप्त कर लेने पर फिर वस्तुतः कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योकि संसार में जो कुछ भी जानने लायक है, उस सबका समावेश इसी में होता है। सम्पूर्ण सांसारिक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थो के विज्ञान का अन्त इसी में होता है, क्योकि सबकी अन्तिम गति (Goal) यही सबकी एकता है। सारे विचारो का समावेश इसी में होता है। यही सबकी पराकाष्ठा अथवा चरम सीमा है। दूसरे जितने भी विज्ञान (Sciences) है और जितने भी ज्ञान अथवा दार्शनिक विचार (Philosophies) है, वे सब इस सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की शाखाएँ-प्रशाखाएँ अथवा परिवार है, और सब इसी निर्दिष्ट स्थान को ले जाने के साधन है। जिसने सबकी एकता के इस रहस्य को यथार्थ रूप से पूर्णतया जान लिया, उसके लिए फिर वस्तुत. कुछ भी जानना शेष नहीं रहता (छान्दोग्य-उपनि० प्र० ६ खण्ड १)।

परन्तु यह सबकी एकता का विज्ञान सहित ज्ञान इतना सूक्ष्म और गहन है कि इसका समझ में आना और इसमें मन की स्थिति होना अत्यन्त ही कठिन है। साधारण लोग अपने और अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि में ही इतने निमग्न रहते है कि उक्त ज्ञान-विज्ञान के सूक्ष्म विचार के लिए न तो उन्हें अवकाश मिलता है और न उनकी उसमें प्रवृत्ति ही होती है। जिन प्रत्यक्षवादी लोगो का देह-अभिमान अत्यन्त बढ़ा हुआ और बहुत दृढ़ होता है, वे इन्द्रियगोचर भौतिक पदार्थों ही में आसक्त रहते है और इन्द्रियो से प्रतीत नहीं होने वाली सूक्ष्म वस्तुओ में विश्वास नहीं करते। वे इस बात को सुनना ही पसद नहीं करते कि इस नाना-भावापन्न स्थूल जगत् के भीतर कोई एक सूक्ष्म एव सम शक्ति भरी हुई है, जिससे सबका अस्तित्व बना हुआ है। वे तो यही मानते है कि जैसा हमको हमारी इन्द्रियों से प्रतीत होता है, वैसा ही वस्तुत. सब अलग-अलग है। इससे परे इस नानात्व को एक करने वाली कोई सूक्ष्म-शक्ति नहीं है। "मै क्या हूँ", "यह जगत् क्या है", "मरना-जन्मना

आदि परिवर्तन क्यो होते है", "जगत् और शरीर जैसे दीखते है वैसे ही है अथवा इनमें और भी कोई अदृष्ट तथ्य है" ? इत्यादि विषयो का अनुसंधान करने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती।

जिन थोड़े से लोगों को इस विषय की जिज्ञासा होती है, उनमें से कई लोग तो भौतिक अनुसन्धान से आगे बढ़ना नहीं चाहते, अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों का भौतिक विश्लेषण करके उनके भौतिक तत्त्वो की खोज करने के भौतिक विज्ञान तक ही रहते हैं; और भौतिक तत्त्वों के अनेक होने के कारण वे इस बात को नहीं मानते कि उनमें वास्तविक एकता हो सकती है। वे लोग स्थूल शरीरो को सुख देने वाली भौतिक उन्नति तो करते है, परन्तु सबकी एकता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए वे आध्यात्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहते है।

जो लोग उपरोक्त आधिभौतिकता से आगे बढ़कर आधिदैविकता में विश्वास करते है, उनका देह-अभिमान कुछ कम हो जाता है और वे इन्द्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनन्त प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों को उत्पत्ति-नाशवान् तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण सच्चा नहीं मानते, किन्तु वे मनोविज्ञान को सच्चा मानते है और उसी पर निर्भर रहते है। भिन्न-भिन्न लोगो के मन के संकल्प और वेदनाएँ भिन्न-भिन्न होती है और बुद्धि के विचार भी भिन्न-भिन्न होते है तथा कर्मों के भोग भी पृथक्-पृथक् होते है; इसलिए सबकी एकता का सिद्धान्त उनकी समझ में भी नहीं बैठता। उनका मत है कि जीव वास्तव में अनेक और बिल्कुल भिन्न-भिन्न है और जगत् के पदार्थो के स्थूल रूपों के मिथ्या होने पर भी उनमें जो सूक्ष्म शक्तियाँ है, वे ऊपरी स्थूल रूपो के बदलते रहने पर भी ज्यो की त्यो बनी रहती है, अतः वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न, नित्य और सत्य है; तथा स्थूल और सूक्ष्म सारे जगत् को रचने और उसका संचालन तथा संहार करने वाली एक शक्ति उन सबसे पृथक् है, जो परमात्मा, ब्रह्म तथा ईश्वर आदि अनेक नामो से पुकारी जाती है। परन्तु उस शक्ति को वे अपने से तथा जगत् से सर्वथा पृथक् मानते है। "यह जगत् एक परमात्मा ही का व्यक्त रूप है" यह उनकी समझ में भी नहीं बैठता। इसलिए सबकी एकता के सिद्धान्त तक वे भी नहीं पहुँचते।

इनके अतिरिक्त जो लोग आध्यात्मिक विचारो में लगे रहते है, वे आधिभौतिक और आधिदैविक विषय का सर्वथा तिरस्कार करते है और शुष्क अध्यात्म विचारो में ही निमग्न रहते है। उनका कहना है कि जगत् सब झूठा है, इसलिए "एक में अनेक और अनेकों में एक" के सिद्धान्त के विचार की आवश्यकता ही नहीं। वे लोग आधिभौतिक और आधि-दैविक जगत् से अलग होकर केवल आत्म-चिन्तन द्वारा व्यक्तिगत सुख-शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न ही में लगे रहते हैं; परन्तु स्वयं आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक —तीनो भावो वाले जगत् के अन्तर्गत होने के कारण न तो वस्तुत.

उससे अलग हो सकते है और न सुख-शान्ति अथवा मुक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि जब तक पृथक्ता के भाव बने रहते है तब तक सुख-शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सारांश यह कि ये लोग भी सबकी एकता के विज्ञानसहित ज्ञान की उपेक्षा करते हैं; इस-लिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अर्थात् सबके एकत्व-भाव आत्मा अथवा परमात्मा को यथार्थ रूप से नहीं जान सकते।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक=तीनो भाव सबके आत्मा=परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के ही अन्तर्गत है; और जब तक इन प्रकृतियो के आधार सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा=परमात्मा में मन नहीं लग जाता, तब तक इन भावो की ही उलझन बनी रहती है, और उस उलझन में पडे हुए लोग परस्पर में द्वेष करके अनेक प्रकार के कुकर्म करने के आसुरी व्यवहारो में प्रवृत्त हो जाते है, अत. वे लोग सबके एकत्व-भाव=परमात्मा की तरफ कभी लौट ही नहीं सकते।

इस विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन यह है कि नाम-रूपात्मक जगत् के भिन्न-भिन्न दृश्य-पदार्थों में मन की जो आसक्ति रहती है, उनसे उसको हटाकर उसे सबके आत्मा=परमात्मा में लगाया जाय। मन कहीं न कहीं आसक्त तो रहता ही है, यह उसका स्वाभाविक धर्म है; परन्तु भिन्नता के भावो में आसक्ति रखना हानिकर है, क्योंकि वे भिन्नता के भाव कल्पित एवं परिवर्तनशील होने के कारण झूठे यानी मिथ्या है और मिथ्या पदार्थों में आसक्ति रखने से धोखा होता है। अस्तु, पृथक्ता के भावो से मन को हटाकर उसे सबके एकत्व-भाव=परमात्मा में लगाना चाहिए; अर्थात् मन में इस बात का विश्वास करना चाहिए कि एक ही परमात्मा सब चराचर जगत् में समान भाव से व्यापक है और यह जगत् एक ही परमात्मा के अनन्त रूप हैं—इस विश्वास से परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता का चिन्तन करते रहना चाहिए। जब एक ही परमात्मा की सर्वव्यापकता का दृढ विश्वास हो जाता है, तब किसी भी भूत-प्राणी से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के भाव नहीं रहते, क्योंकि सबको एक ही परमात्मा का स्वरूप जानने से परमात्मा के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि हो नहीं सकते, अत सबके साथ प्रेम* का बर्ताव होने लगता है। यही परमात्मा की सच्ची उपासना है। इस तरह सर्व-व्यापक परमात्मा की उपासना का अभ्यास करते-करते सबकी एकता का ज्ञान उत्तरोत्तर बढता जाता है और अन्त में स्वयं अपने साथ सबका अभेद-ज्ञान होकर सर्वात्म-भाव में स्थिति हो जाती है, अर्थात् इन्द्रियो, मन और बुद्धि से परे अपने आप=आत्मा का अनुभव होकर अखिल विश्व अपना ही स्वरूप प्रतीत होने लगता है। परन्तु जिनका मन सासा-रिक पदार्थों और विषय-भोगो अथवा स्वर्ग, वैकुठ अथवा मुक्ति को प्राप्त करने की नाना

* प्रेम के बर्ताव का स्पष्टीकरण आगे बारहवें अध्याय में देखिए।

प्रकार की कामनाओ ही में उलझा रहता है, वे लोन उन कामनाओं की पूर्ति के लिए परमात्मा की भेदोपासना करते हैं, यानी परमात्मा को कोई विशेष व्यक्ति मान कर तथा उसके साथ व्यक्तित्व की उपाधियाँ लगाकर, एवं स्वयं दीन, दास अथवा भिखारी बन कर, गरज-खुशामद से अथवा पदार्थों द्वारा पूजन-अर्चन से उसे प्रसन्न करके अपनी उक्त कामनाओ की पूर्ति उससे करवाना चाहते हैं*; अथवा परमात्मा से भिन्न देवताओ की कल्पना करके उनकी उपासना से अपनी उक्त कामनाओ की सिद्धि की आशा करके वे लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार नाना प्रकार की सामग्रियों द्वारा उन कल्पित देवताओं का अर्चन-पूजन करते हैं। जो जिस कल्पित देवता की उपासना में श्रद्धा रखता है, वह एक प्रकार से उस देवता का पशु हो जाता है, और जिस प्रकार मनुष्य अपने पशु को अपने कब्जे से छोड़ना नहीं चाहता, उसी तरह वे कल्पित देवता भी अपने अन्ध-श्रद्धालु उपासक रूपी पशु को छोडना नहीं चाहते; यानी उक्त उपासक का मन अपने माने हुए इष्ट देवता ही में सदा उलझा रहता है उनको नहीं छोड़ता। अतः कामनाओ की सिद्धि के लिए उपासना करने वाले इसी तरह गोते खाते रहते हैं। उनके पृथक्ता के भाव और दूसरो के साथ राग-द्वेष आदि कभी नहीं मिटते। सारांश यह कि जो लोग उक्त कामनाओ से रहित होकर परोपकार अथवा लोक-संग्रह के काम करते हैं, उन्हीं के मन के पृथक्ता के भाव और राग-द्वेष शनैः-शनैः कम होते रहते है और उन्हीं का मन परमात्मा की यथार्थ उपासना में लगता है; जिसके प्रसाद से वे समय पाकर परमात्मा के नाना भावो की एकता का अनुभव करके स्वयं परमात्म-भाव की प्राप्ति कर लेते हैं; और वह अनुभव उनको अन्त समय में भी बना रहता है, जिससे वे फिर परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आते।

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

* यथार्थ और अयथार्थ उपासना के भेद का विशेष स्पष्टीकरण नवें अध्याय में देखिए।

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में भगवान् ने भक्ति अथवा उपासना के विधान में अपनी सर्वरूपता का वर्णन किया, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा; और उसी प्रसग में अध्याय के अन्त में अपने अनेक भावो अर्थात् ब्रह्म-भाव, अध्यात्म-भाव, कर्म-भाव, अधिभूत-भाव, अधिदेव-भाव और अधियज्ञ-भाव का संक्षेप से उल्लेख करके, फिर मनुष्य के मरने के समय की स्थिति का भी कुछ उल्लेख किया था। अब अर्जुन के पूछने पर इस अध्याय में भगवान्, पहले अपने उन भावो का खुलासा करके, फिर मनुष्य के मरने के बाद उसकी क्या दशा होती है, इस विषय की विस्तृत व्याख्या करते हैं; क्योकि पारलौकिक विज्ञान के बिना केवल इस लोक के विज्ञान सहित ज्ञान का विवेचन अधूरा ही रह जाता; इसलिए इस विषय का अच्छी तरह खुलासा इस प्रकरण में होना आवश्यक था। इसी प्रसंग में भगवान् जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य भी संक्षेप से कहते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। २१ ।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। २२ ।।

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसे कहते है ? (तथा) अधिदेव क्या कहा जाता है ? (१) हे मधुसूदन ! यहाँ इस देह में अधियज्ञ कौन किस प्रकार है ? और समाहित-चित्तवाले पुरुषो द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार से जाने जाते हो, अर्थात् जिनका मन आत्मा अथवा परमात्मा में लग जाता है, वे शरीर छूटते समय आप (परमात्मा) को कैसा जानते है ? (२) श्री भगवान् बोले कि (उत्पत्ति, नाश, वृद्धि, ह्रास आदि विकारो से रहित, एव निरन्तर वदलने वाली प्रकृति से परे, सदा एक-सा रहने वाला) परम अक्षर भाव ब्रह्म है; स्वभाव अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अपने-आप का भाव अथवा हरएक प्राणी के शरीर में "मैं" रूप से रहने वाला व्यष्टि आत्म-भाव अथवा जीव-भाव अध्यात्म कहा जाता है; भूत-भाव के उद्भव करने वाले विसर्ग, अर्थात् स्थावर-संगम रूप जगत् के अनन्त प्रकार के भावो की उत्पत्ति, पालन और संहार रूप सृष्टि-व्यापार का नाम कर्म है (३) । क्षर अर्थात् उपजने, मिटने, घटने, बढने वाला निरन्तर परिवर्तनशील भाव अधिभूत है; और पुरुष अर्थात् प्रत्येक शरीर और जगत् के व्यापारो को धारण करने वाली, सबके आत्मा=परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियो अथवा विभूतियो के रूप में प्रकट होने वाला समष्टि मनोमय देव-भाव अधिदेव है; (और) हे देहधारियो में श्रेष्ठ ! इस देह में अधियज्ञ (उपास्य) "मैं" ही हूँ; अर्थात् हाड, मास, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थो के पिण्ड-रूप इस देह को पवित्र करने वाला तथा इसका धारण पोषण करने वाला, "मैं" रूप से प्रत्येक देह में स्थित, सबका परम प्यारा अन्तरात्मा ही परम वंदनीय एवं परम उपास्य अधियज्ञ है (४) । और जो अन्तकाल में केवल मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ कर जाता है अर्थात् शरीर के साथ तादात्म्य संबंध छोड़ता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है । तात्पर्य यह कि अर्जुन ने पूछा था कि समाहित-चित्त वाला पुरुष अन्त समय में आपको किस प्रकार से जानता है; उसके उत्तर में भगवान् कहते है कि अन्त समय में जिसका मन विकारवान् शरीरो की आसक्ति से हट कर केवल मेरे चिन्तन में लगा रहता है, वह मुझ सबके आत्मा में मिल कर परमात्मा-स्वरूप ही हो जाता है; अत. उसके लिए मुझे जानने का प्रश्न ही नहीं रहता; जानना वहाँ होता है जहां कोई दूसरा होता है; जव अपना ही स्वरूप हो जाय तो कौन किसको जाने ? (५) हे कौन्तेय ! जो अन्त समय में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है, वह सदा उस भाव में भावित होने से, उसी

को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मन जिन-जिन भावों अथवा पदार्थों में सदा दृढ़ता से लगा रहता है, उन्हीं के संस्कार उसके चित्त पर वासना-रूप से अंकित होते रहते हैं और मरते समय उन्हीं संस्कारो अथवा वासनाओ की स्फूर्ति हो आती है, फिर मरने के अनन्तर उन्हीं संस्कारो अथवा वासनाओ के अनुसार उसकी गति होती है अर्थात् उन्हीं संस्कारो अथवा वासनाओ के अनुसार वह अपना परलोक बना लेता है और वासनामय शरीर से वह कल्पित भोग भोगता है; और परमात्मा में मन लगा रहे तो परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (६)। इसलिए तू सब काल में मेरा स्मरण करता रह और युद्ध भी कर; मन और बुद्धि को मुझमें लगा देने से तू निस्सन्देह मुझ ही को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि मन और बुद्धि को सबके एकत्व-भाव परमात्मा में लगाये रख कर अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करते रहने से मनुष्य परमात्म-स्वरूप हो जाता है (७)। हे पार्थ! अभ्यास-योग से युक्त होकर, अर्थात् मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ सासारिक व्यवहार करने के अभ्यास में निरन्तर लगा रह कर, तथा चित्त को दूसरी तरफ न जाने देकर, दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन करते रहने से अर्थात् सब कुछ परमात्म-स्वरूप समझने से मनुष्य (उसे ही) प्राप्त होता है (८)। जो मनुष्य मृत्यु के समय भक्ति से युक्त होकर अथवा योगाभ्यास के बल से मन को निश्चल करके, दोनो भौंओ के बीच में प्राण यानी दृष्टि को अच्छी तरह ठहरा कर, कवि अर्थात् सर्वदर्शी-सर्वज्ञ, पुराण अर्थात् सबसे प्राचीन, अनुशासन करने वाले अर्थात् सबके नियता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण करने वाले, अचिन्त्य-रूप अर्थात् मन के अगोचर स्वरूप वाले, अन्धकार अथवा अज्ञान से परे, आदित्यवर्ण अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा का चिन्तन करता है, वह उस दिव्य परम-पुरुष (परमात्मा) को पाता है (९-१०)। वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग अर्थात् आसक्ति रहित यति जिसमें प्रवेश करते हैं, (और) जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करते हैं, वह पद यानी परमात्म-भाव मैं तुझे सक्षेप से बतलाता हूँ (११)। (इन्द्रियरूपी) सब द्वारो को रोक कर, मनको हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में ठहरा कर, योग-धारणा में स्थित हुआ, (और) "ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जापपूर्वक मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड कर जाता है, अर्थात् शरीर के साथ तादात्म्य संबध छोड़ता है, उसे परम गति प्राप्त होती है (१२-१३)। हे पार्थ! जो निरन्तर अनन्य-भाव से मेरा नित्य-प्रति स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त अर्थात् सदा एकत्व-भाव में जुड़े हुए योगी को मैं सुलभ अर्थात् सहज ही प्राप्त हूँ (१४)। मुझे प्राप्त होकर महात्मा लोग दु:खालय अर्थात् जन्मने, मरने, बुढापे और रोग आदि नाना प्रकार के दु:खो से भरे हुए, (एवं) अशाश्वत अर्थात् क्षण-भंगुर (निरन्तर बदलते रहने वाले) पुनर्जन्म (दूसरे शरीर) को नहीं पाते, यानी फिर से किसी योनि में नहीं आते;

क्योकि उन्हें परम सिद्धि मिल जाती है अर्थात् वे मुझ परमात्मा म मिल जाते है (१५)। हे अर्जुन! ब्रह्म-लोक-पर्यन्त (स्वर्गादि सारे) लोक पुनरावर्तनशील है, अर्थात् सबसे ऊँचा जो ब्रह्मलोक माना जाता है, वहाँ गये हुओं को भी कभी न कभी लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझ (परमात्मा) में मिल जाने से फिर जन्म नही होता (१६)। जो अहो-रात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल-विज्ञान के जानने वाले पुरुष है, वे हजार युग-पर्यन्त ब्रह्मा का जो दिन है और हजार युगो की (ब्रह्मा की) जो रात है उसके रहस्य को जानते है; अर्थात् काल-विज्ञान के पण्डित—ज्योतिर्विद् लोगो को विदित है कि ब्रह्मा का दिन हजार युगो का और रात भी हजार युगो की होती है (१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त (कारण-प्रकृति) से, सब व्यक्तियाँ (स्थावर-जंगम सृष्टि) प्रकट होती है; और रात के आने पर उसी अव्यक्त सज्ञा वाली (कारण-प्रकृति) में सबका प्रलय हो जाता है। इस तरह, हे पार्थ! वही यह भूत-प्राणियो का समुदाय बार-बार हो-होकर रात के आने पर विवशता-पूर्वक (नियत रूप से) लय होता है, और दिन होने पर प्रकट होता रहता है। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा=परमात्मा का समष्टि-सकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति, अव्यक्त-भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था से उठ कर व्यक्त-भाव रूप स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओ में आती है, यानी कारण-भाव से कार्य-भाव होती है तव उससे नाना भावो वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, मकडी के तार अथवा बाइस्कोप के दिखाव की तरह प्रकट हो जाती है; और जब समष्टि-संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति पुन. अव्यक्त भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था में जाती है, तब नाना भावो वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का उस अव्यक्त (कारण-भाव) में फिर लय हो जाता है। ब्रह्मा, प्रकृति, स्वभाव, माया, कारण आदि अनेक नाम सबके आत्मा=परमात्मा के समष्टि-सकल्प ही के है। जिस तरह समष्टि जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय होते है, उसी तरह व्यष्टि शरीर अथवा पिण्ड की भी उत्पत्ति और लय होते है (१८-१९)। परन्तु उस अव्यक्त (कारण-भाव) से भी परे जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव (आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म) है, वह सब भूतो के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता (२०)। जिस अव्यक्त को "अक्षर" ऐसा कहते है उसी को परमगति कहते है, जिसे प्राप्त होकर फिर लौटना नहीं पड़ता; वह "मेरा" परम धाम (परमात्मा-भाव) है (२१)। हे पार्थ! वह परमपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, जिसके अन्दर सब भूत स्थित है और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो रहा है (२२)। श्लोक २० से २२ तक का तात्पर्य यह है कि सबके आत्मा=परमात्मा के सकल्प रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का मायिक बनाव जो कुछ भी है, वह सब उत्पत्ति और नाश वाला है। प्रत्येक प्राणी के जन्मने के बाद मरने

और मरने के बाद जन्मने का चक्कर चलता ही रहता है। इसी तरह प्रत्येक लोक अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति होती रहती है, यह अटल नियम है। किसी की उत्पत्ति और प्रलय थोड़े समय में ही हो जाते हैं और किसी की अधिक समय में; परन्तु उत्पत्ति-प्रलय और जन्मने-मरने का चक्कर निरन्तर चलता ही रहता है। प्रकृति के अन्तर्गत जो भी कुछ है उसका इस चक्कर से छुटकारा नहीं है। पिण्ड की दृष्टि से सबसे ऊँचा स्थान मस्तक है, और हठ-योग की समाधि द्वारा वहाँ (दसवें द्वार में) स्थित होकर भी कभी न कभी नीचा उतरना पड़ता है; और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सबसे ऊँचा ब्रह्म लोक माना जाता है और भेदोपासना के फल से वहाँ गये हुए लोग भी कभी न कभी लौटते हैं—वहाँ जाने पर भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि पृथक् व्यक्तित्व के भाव से जहाँ कहीं जाना होता है, वहाँ से आना भी अवश्य ही होता है। ब्रह्मा की आयु पूरी होने पर ब्रह्म लोक का भी प्रलय होना माना जाता है, क्योंकि वह भी प्रकृति के अन्तर्गत ही है और प्रकृति के अन्दर के सभी पदार्थ उत्पत्ति-नाशवान् होते हैं; परन्तु सबका आत्मा=परमात्मा प्रकृति से परे उसका सत् आधार है; उसमें न कोई जाना है न आना, न कोई उत्पत्ति है न नाश; अतः परमात्मा की प्राप्ति होने पर न कहीं जाना पड़ता है, न आना। वह परमात्मा सबका अपना-आप है और अपने वास्तविक आपका आत्मानुभव ही परमात्मा की प्राप्ति, मोक्ष अथवा मुक्ति है। वह आत्मानुभव अथवा परमात्मा की प्राप्ति, अनन्य-भाव की भक्ति करने से, अर्थात् अपने सहित सबको एक ही परमात्मा के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम करने से होती है (२० से २२)।

स्पष्टीकरण—अपनी उपासना के विधान में अपने स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान ने सातवें अध्याय में विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण किया, अर्थात् इस नाना भावापन्न जगत् को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप बताया। उसी विज्ञान सहित ज्ञान का विशेष खुलासा अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में फिर से करते हुए भगवान् (व्यष्टि) शरीर की मृत्यु और पुनर्जन्म के विज्ञान के वर्णन के सिलसिले में (समष्टि) जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का विज्ञान भी कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म-भाव, जीव-भाव, कर्म-भाव, भौतिक जगत्-भाव, सूक्ष्म देव-भाव आदि जितने भाव हैं, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा स्वरूप "मेरे" अनेक भाव हैं, और परमात्मा-स्वरूप "मैं", जो सबका अपना आप है, वह सब शरीरो में "अहं" अथवा "मैं" रूप से विद्यमान हैं। वह "अहं" अथवा "मैं" रूप से सब शरीरो में रहने वाला परमात्मा ही सब नाशवान् नाम-रूपात्मक भावो अथवा पदार्थों का अविनाशी आधार, सबका अवलम्ब, सबको सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाला है, अर्थात् उसी से सबका अस्तित्व और सबकी हलचल होती है—वही सबका अस्तित्व है। जब "मैं" अथवा "अपना-आप" होता है, तब ही दूसरो की स्थिति होती है—"मैं" अथवा "अपने-आप" के विना अन्य कुछ भी नहीं होता। "मैं"

रूप से शरीर में रहने वाला, सबका अन्तरात्मा, सबका "अपना-आप" वस्तुतः परमात्मा है। अतः वह सबका अपना-आप—परम पवित्र परमात्मा ही जानने, पूजने और उपासना करने योग्य है, और वही सबका प्यारा और सबकी अन्तिम गति है। जो व्यक्ति मरण-काल पर्यन्त अपने वास्तविक स्वरूप परमात्म-भाव का इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसका जीव-भाव मिट जाता है और परमात्म-भाव में उसकी दृढ स्थिति हो जाती है। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इस शरीर के रहते भी मनुष्य की जिस विषय में निरन्तर लगन लगी रहती है, उसी को वह प्राप्त होता है; अतः इस शरीर को छोडते समय भी मन जिन विषयो में लगा रहता है और उसमें जो वासनाएँ रहती है, उन्हीं के अनु-सार मरने के बाद वह उसी तरह का बनाव अपने लिए आगे जुटा लेता है; और उन्हीं के अनुसार वासनामय शरीर रच कर नाना प्रकार के कर्म करता और भोग भोगता है; परन्तु मरते समय मन उन्हीं विषयो में लगा रहता है, जिनका अभ्यास जीवन काल में अधिक रहता है। यदि जीवन काल में मन में अधिकतर बुरी भावनाएँ उठती रहती है, बुरी संगति और बुरे आचरण होते रहते है, तथा दूसरो की बुराई करने की प्रवृत्ति रहती है तो मरते समय अच्छे संस्कारो और अच्छी वासनाओ का उद्भव नहीं हो सकता, किन्तु बुरे संस्कार और बुरी वासनाएँ ही उत्पन्न होती हैं। यदि जीवन काल में मन में शुभ संकल्प उठते रहते है, अच्छी सगति और अच्छे कामो में प्रवृत्ति रहती है तो मरते समय भी शुभ संस्कार और शुभ वासनाएँ अवश्य उत्पन्न होती है। यदि जीवन काल में इन्द्रियो के विषयो तथा सासारिक पदार्थों एवं सबधियो में, अथवा किसी विशेष विषय, विशेष पदार्थ अथवा विशेष सबंधी में दृढ़ आसक्ति रहती है तो मरते समय चित्त उन्हीं में लगा हुआ रहता है। यदि जीवन काल में देवताओ, पितरो अथवा भूतो की उपासना में मन लगा रहता है, और उनसे अथवा ईश्वर से भीख माँगने तथा दीनता, दासता एवं परावलम्बन के भाव बने रहते है, तो मरते समय भी वही याद आते है; और यदि जीवन काल में सबके आत्मा=परमात्मा के अनन्य-भाव के चिन्तन में लौ लगी रहती है, तो मरते समय भी परमात्मा का ही ध्यान रहता है। साराश यह कि मनुष्य अपनी जीवनचर्या जैसी रखता है, उसी के संस्कार चित्त पर अकित होते रहते है और मरते समय उन सस्कारो के द्वारा उन भावो की स्मृति हो आती है और उन्हीं के अनुसार उसका परलोक वनता है। अपना भविष्य निर्माण करने की योग्यता इस मनुष्य-देह में ही है। जव मनुष्य-देह में यह योग्यता है कि वह जैसा चिन्तन करे वैसा ही हो जाता है, तो फिर सबके एकत्व-भाव परमात्मा का ही चिन्तन क्यो न करे, कि स्वय परमात्मा-स्वरूप हो जाय, और फिर कोई वस्तु प्राप्त करना वाकी ही न रहे। इसलिए भगवान् कहते है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सदा मेरा अर्थात् सवके आत्मा=परमात्मा का निरन्तर चिन्तन किया करे। मरण-पर्यन्त ऐसा करते रहने से मरते समय भी उसे मेरा ही स्मरण रहेगा और तव वह मेरे भाव ही को प्राप्त होगा अर्थात् मुझमें

मिल जायगा। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब काम-काज अर्थात् सांसारिक व्यवहार छोड़ कर तथा ईश्वर को जगत् से भिन्न कोई विशिष्ट व्यक्ति या शक्ति मान कर दीनता और दासता से दिन-रात उसके भजन-स्मरण में लगा रहे और परावलम्बी बन जाय। भगवान् कहते हैं कि मेरे सर्वात्म-भाव का चिन्तन करते हुए अपने-अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के व्यवहारों में अवश्य लगे रहना चाहिए। दूसरे शब्दो में अपने-अपने व्यवहार सदा यथायोग्य करते हुए भी सबके एकत्व-भाव=परमात्मा का चिन्तन, मन और बुद्धि से करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह कि मन एवं बुद्धि में सबकी एकता का निश्चय रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म स्वावलम्बनपूर्वक करते रहने के निरन्तर अभ्यास से ही परमात्म-भाव की प्राप्ति निस्सन्देह होती है। वह सबका एकत्व-भाव=परमात्मा सर्वज्ञ है, अनादि है, सबका नियन्ता, इन्द्रियों के अगोचर, सबका आधार, चेतन और ज्ञान-स्वरूप है—इन भावो का सदा चिन्तन करते रहना चाहिए; और सबकी एकता के विचार के योग-बल से मन को एकाग्र करके "ओंकार" के जाप द्वारा उक्त भावो वाले परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अ, उ, म्—मात्राओ का समूह "ओंकार" स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत्, अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान काल, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, अथवा कर्ता, कर्म और करण आदि त्रिपुटियो के एकत्व-भाव का वाचक है, इसलिए यह शब्द सच्चिदानन्द परमात्मा का वाचक है। अतः "ओंकार" के इस सर्वभूतात्मैक्य-भाव के अर्थ का चिन्तन करते हुए सदा इसका जाप करते रहने से अन्त समय में भी सबके एकत्व-भाव=परमात्मा ही का चिन्तन अथवा ध्यान बना रहता है, जिससे सब भेद-भाव-जन्य उपाधियाँ मिट कर परम-पद परमात्म-भाव में स्थिति हो जाती है। जो इस तरह सदा अनन्य-भाव से परमात्मा की उपासना करते है, वे स्वयं परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाते हैं और उस भाव को प्राप्त होने पर फिर उन्हें विवशतापूर्वक दु.ख-रूप एव परिवर्तनशील जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पडता।

सबके एकत्व-भाव यानी सबके आत्मा=परमात्मा की प्राप्ति के सिवाय भेद-भाव की उपासना, अथवा धार्मिक क्रियाओ, अथवा शुभ कर्मो, अथवा अन्य साधनो से प्राप्त होने का अनुभव कराने वाले ब्रह्म-लोक से लेकर इन्द्र-लोक, वरुण-लोक, सूर्य-लोक, गन्धर्व-लोक, पितृ-लोक आदि जितने भी सूक्ष्म लोक शास्त्रो में वर्णन किये गये है, वे सभी आवागमनशील है, अर्थात् उन सबमें पृथक्ता के भाव बने रहते है, जिसमे वहाँ गये हुओं को भी समय पाकर लौटना पडता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य-भाव से ऊँचे माने जाने वाले इन्द्र, वरुण, रुद्र, कुबेर आदि देव-भाव, पितृ-भाव, यक्ष-भाव, गन्धर्व-भाव आदि जितने ऊँचे पद माने जाते हैं, उनको वासनामय, सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने पर भी मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता

की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु विवशतापूर्वक लौट कर इस मनुष्य-देह में आना पड़ता है; क्योकि उन सब भावो में पृथक् व्यक्तित्व का भेद बना रहता है, और जहाँ व्यक्तित्व का भेद-भाव रहता है, वहाँ आना-जाना, उत्पत्तिनाश आदि द्वन्द्व भी बने रहते है; अतः जब उन उच्च भावो को प्राप्त होने का अनुभव कराने वाले पुण्य कर्मो के सस्कार क्षीण हो जाते है, तब उस वासनामय सूक्ष्म शरीर को फिर से मनुष्य-शरीर धारण करना पडता है और फिर यहाँ पर जैसे कर्म किये जाते है और उनसे जैसे संस्कार बनते है, उन्हीं के अनुसार आगे के जन्म प्राप्त होते है। यह मनुष्य-देह ही सब तरफ जाने के लिए जकशन-स्टेशन (Junction-Station) है। सब तरफ जाने वाली गाडियाँ इसी स्टेशन पर मिलती है। इस मनुष्य देह में ही जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण कर सकता है और उन्नत अथवा अवनत गति का साधन कर सकता है। जो मनुष्य, इस देह में सबके अपने-आप=आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव कर लेता है, उसको कहीं आने-जाने का अनुभव करना नहीं पडता, किन्तु वह जीते हुए ही पृथक् व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से तथा सब प्रकार की वासनाओ से रहित होकर सबके एकत्व-भाव=परमात्मा में स्थित हो जाता है; और शरीर छोड़ते समय भी आत्मा और परमात्मा की एकता के अनुभव-रूप परम-पद में उसकी स्थिति रहती है, जिस पद को प्राप्त होने पर न तो कोई आने-जाने वाला व्यक्ति रहता है और न कोई आने-जाने के लिए स्थान ही; क्योकि सब-कुछ अपना-आप अर्थात् परमात्मा ही हो जाता है। आना-जाना अथवा जन्मना-मरना व्यक्तियो का होता है, अर्थात् जब तक पृथक् व्यक्तित्व का भाव रहता है, तब तक जन्मना-मरना होता है; परन्तु जिनके व्यक्तित्व का भाव मिट कर परमात्म-भाव में स्थिति हो जाती है, उनके लिए जन्म-मृत्यु एवं अखिल विश्व अपना खेल हो जाता है—अपने से भिन्न कुछ भी नहीं रहता; अतः उस स्थिति की प्राप्ति होने पर जन्म और मृत्यु कुछ भी तथ्य नहीं रखते। ऐसे परम-पद-प्राप्त महापुरुष चाहे जिस रूप में रहे, चाहे सो करें अथवा न करें, उनके लिए किसी प्रकार की विवशता नहीं रहती; वे सब प्रकार से स्वतन्त्र एवं परिपूर्ण होते है।

इस ब्रह्माण्ड का आदि कारण सर्वात्मा=परमात्मा की इच्छा अथवा सकल्प-शक्ति अथवा परा और अपरा भेद वाली प्रकृति है, और वह समष्टि सकल्प अथवा मन-रूप प्रकृति अधिदेव भाव में ब्रह्मा मानी गई है। काल-विज्ञान अथवा ज्योतिष-शास्त्र के जो पूर्ण ज्ञाता है, उन्होने निश्चय किया है कि एक हजार सत-युग, एक हजार त्रेता-युग, एक हजार द्वापर-युग और एक हजार कलि-युग—इस तरह एक हजार चौकडी का उक्त समष्टि मन-रूप ब्रह्मा का दिन अर्थात् जाग्रत अवस्था होती है। इसी तरह एक-एक हजार युगो की चौकडी की समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा की रात्रि अर्थात् सुषुप्ति अवस्था होती है। जब समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था में आकर सकल्प-विकल्प करने लगता है, तब यह नाना भावो युक्त प्रतीत होने वाली सृष्टि, अर्थात् ब्रह्म-लोक से आदि लेकर सारे लोक,

अव्यक्त (अदृष्ट) कारण-भाव अथवा मूल प्रकृति से प्रकट होकर कार्य-भाव से (आकाश में बादलों की तरह), अनन्त रूपों में व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-गोचर होते हैं; और जब समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर संकल्प-विकल्प रहित हो जाता है, तब यह अनन्त रूपो वाली व्यक्त सृष्टि फिर से अपने अव्यक्त कारण-भाव—मूल प्रकृति में विलीन हो जाती है। जिस तरह मनुष्य जाग्रत अवस्था-रूप दिन के समय अपने काम-धन्धे रूप सृष्टि निर्माण करता है, और सुषुप्ति अवस्था-रूप रात के समय सबको समेट लेता है; उसी तरह समष्टि-मन-रूप ब्रह्मा जाग्रत अवस्था में कल्पित सृष्टि-निर्माण का व्यापार करता है, और सुषुप्ति अवस्था में उसे समेट लेता है। जो अवस्था पिण्ड की है, वही ब्रह्माण्ड की है। परन्तु सब कारणो का कारण, सबका आत्मा=परमात्मा यानी सबका वास्तविक अपना-आप, सब व्यक्त पदार्थो के लय अथवा शान्त हो जाने पर भी ज्यों का त्यो बना रहता है। दूसरे शब्दो में वह अविनाशी परमात्म-तत्त्व अथवा पुरुषोत्तम—जो सबका आदि कारण, सबका आधार और सबकी असलियत अथवा सबकी सत्ता है और जिसमें सब सृष्टि उत्पन्न हो-होकर लय होती रहती है—सब अवस्थाओ में ज्यो का त्यों एक-सा विद्य-मान रहता है; उसमें न कोई आना है न कोई जाना, न उत्पत्ति है न नाश, न वृद्धि है न ह्रास, वह परम-पद पूर्वोक्त अनन्य भाव की उपासना करते रहने से, अर्थात् अपने सहित सबको परमात्म-स्वरूप चिन्तन करते रहने से प्राप्त होता है।

\+ \+ \+

अब भगवान् ज्ञानियो और कर्मकाण्डियो को प्राप्त होने वाली शुक्ल और कृष्ण गतियों का, अर्थात् मरने के उपरान्त देवयान और पितृयान मार्गों से जाने-आने की जो शास्त्रो में मान्यतायें है, उनका सरसरी तौर से उल्लेख करके अन्त में बतलाते है कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने वाला समत्व-योगी इन दो गतियो के रहस्य को जान कर इन मार्गों को मानने की उलझन में नहीं पडता, किन्तु वह इनसे ऊपर रहता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। २७ ।।
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।२८।।

अर्थ—जिस काल में गये हुए (ज्ञानी) योगी लोग फिर नहीं लौटते, और (जिस काल में गये हुए कर्मकाण्डी योगी लोग) लौटते है, उस काल को, हे भरतर्षभ ! अब कहता हूँ (२३)। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने, उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले पुरुष, ब्रह्म को जाते है (२४)। धुआँ, रात्रि तथा कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के छः मास, उनमें गया हुआ (कर्मकाण्डी) योगी, चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् चन्द्र-लोक को प्राप्त होकर फिर लौटता है (२५)। जगत् के शुक्ल और कृष्ण, ये (दो) मार्ग सनातन माने गये हैं; एक से लौटना नहीं होता और दूसरे से लौटना होता है (२६)। हे पार्थ ! इन मार्गो को तत्त्व से जानने वाला कोई भी समत्वयोगी मोहित नहीं होता; इसलिए हे अर्जुन! तू सदा-सर्वदा समत्व योग में युक्त रह। तात्पर्य यह कि जो समत्वयोगी होता है, वह इन मार्गो के असली रहस्य को जानता है, अर्थात् वह जानता है कि ये मार्ग केवल माने हुए है वस्तुतः इनमें कोई तथ्य नहीं है, अतः वह इन मार्गों के वर्णनो से विचलित नहीं होता; उसकी सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव में स्थिति होती है, इसलिए उसे किसी भी मार्ग से कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, किन्तु वह यहाँ का यहीं स्वात्मानुभव-रूप परमात्मा-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। सारांश यह कि समत्व-योग ही सबसे श्रेष्ठ है, अतः उसी में लगे रहना चाहिए (२७)। इस (पूर्वोक्त ज्ञान-विज्ञान के रहस्य) को जानने वाला समत्वयोगी वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, तप और दान के जो पुण्य-फल शास्त्रों में कहे है, उन सबका अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पीछे छोड़ कर सनातन परमात्म-पद को पाता है (२८)।

स्पष्टीकरण—२३ से २६ तक के श्लोको में शुक्ल और कृष्ण गतियो अथवा मार्गों का सदिग्ध-रूप* से उल्लेख करके फिर श्लोक २७-२८ में समत्वयोगी की स्थिति उन गतियो

*इस विषय का यहाँ पर सदिग्ध-रूप से उल्लेख होना इसलिए पाया जाता है कि श्लोक २३ में आवृत और अनावृत "काल' कह कर, फिर श्लोक २६-२७ में 'गति' और 'सृति' अर्थात् मार्ग कहा है, अत यहाँ मरने का 'काल' विवक्षित है अथवा 'गति', यह सदेहात्मक है। इसके सिवाय आत्मज्ञानी पुरुष को ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए किसी विशेष काल में शरीर छोडने की अपेक्षा नही रहती, न किसी रास्ते से जाने की ही आवश्यकता

अथवा मार्गों से परे होने की व्यवस्था देने से भगवान् का यह अभिप्राय प्रकट होता है कि यद्यपि "जिसकी जैसी मति, उसकी वैसी ही गति" अर्थात् "जिसकी जैसी मान्यता होती है, वह वैसा ही हो जाता है" इस सिद्धान्त के अनुसार जो ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति की इच्छा करके उसकी उपासना करता है, वह मरने के उपरान्त अपने मन के संकल्प से कल्पित उपरोक्त शुक्ल अथवा प्रकाशमय मार्ग से हो कर ब्रह्म को प्राप्त होता है; और जो स्वर्गादि सुखो की कामना से कर्मकाण्डात्मक शास्त्रो की विधि के अनुसार यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करता है, वह मरने के उपरान्त अपने मन के संकल्प से कल्पित कृष्ण अथवा अन्धकारमय मार्ग से चन्द्र-लोक में जा कर वहाँ स्वर्गादि भोग भोग कर, फिर पीछा यहाँ लौटता है। इस तरह ये दो गतियाँ सदा से मानी जाती हैं; अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख करके भगवान् कहते है कि समत्वयोगी के लिए ये दोनो मार्ग अथवा गतियाँ कोई महत्व नहीं रखतीं, क्योकि उस पर ये लागू नहीं होतीं। वेदादि-शास्त्रो में वर्णित भेदोपासना और धार्मिक कृत्यो के जो फल होते है, समत्वयोगी उनसे ऊपर उठ जाता है। उसकी स्थिति सबके एकत्व-भाव परमात्म-पद में हो जाती है, इसलिए भेदोपासना और उक्त धार्मिक कृत्यो से प्राप्त होने योग्य ब्रह्म-लोक, स्वर्ग-लोक आदि जितने भी लोक हैं, वे सब उसे अपने ही संकल्पो की रचना प्रतीत होती हैं; वह अपने-आप को परमात्मा अथवा ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है, अतः उसे कहीं जाना-आना नहीं पड़ता। सारांश यह कि समत्वयोगी को इन शुक्ल-कृष्ण अथवा देवयान-पितृयान मार्गों से कोई प्रयोजन नहीं है और न इनके वर्णनों से उसे विचलित होने की ही आवश्यकता है।

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥

रहती है, क्योकि ब्रह्म तो सर्वव्यापक अथवा अपना-आप है, अत जिस क्षण और जिस स्थिति में यह ज्ञान हुआ कि तत्काल ही वह प्राप्त है। यदि श्लोक २४ का तात्पर्य ब्रह्म-लोक मे जाने का लिया जाय तो पहले श्लोक १६ में ब्रह्म-लोक मे गये हुए की पुनरावृत्ति होनी कह आये हैं और यहाँ अनावृत्ति कहते है, अत पूर्वापर का विरोध होता है। इसलिए शुक्ल और कृष्ण गति अथवा देवयान और पितृयान मार्गो की जैसी मान्यता पूर्वकाल से चली आती थी, उसी का संदिग्ध-रूप से ही उल्लेख करके, समत्वयोगी की स्थिति, इन माने हुए दोनो मार्गो से ऊँची होने की व्यवस्था दे दी गई है। तात्पर्य समत्व-योग का माहात्म्य पुष्ट करने का है, गति अथवा मार्गो के प्रतिपादन का नहीं है।

नवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में भगवान् ने जिस विज्ञान-सहित ज्ञान, अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा के नाना भावो-रूप जगत् की एकता के प्रतिपादन का प्रारम्भ किया था, इस नवें अध्याय में पहले उसी ब्रह्म-विद्या का माहात्म्य कह कर फिर उसका अधिक सूक्ष्म एवं गंभीर विचारपूर्वक खुलासा करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि दोष-दृष्टि से रहित तेरे लिए, मैं अब यह सबसे अधिक गुह्य विज्ञान-सहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जान कर तू अशुभ अर्थात् मोह से छूट जायगा। तात्पर्य यह कि मेरे उपदेशो में तू किसी प्रकार का दोषारोपण न कर उन्हें आदर एवं श्रद्धापूर्वक सुनता है, इसलिए मैं तुझे यह विज्ञान-सहित ज्ञान का अत्यन्त ही सूक्ष्म एव गंभीर रहस्य कहूँगा, जिससे तेरी यह मोहजनित किंकर्तव्य-विमूढता निवृत्त हो जायगी (१)। यह (विज्ञान-सहित ज्ञान) राज-विद्या है, अर्थात् सब विद्याओ की राजा है, अथवा राजाओ की सार्वजनिक विद्या है; तथा राज-गुह्य है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण स्थूल बुद्धि के साधारण लोगो के लिए बहुत ही गुप्त है; (तथा) पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष-परिणामवाली, धर्मस्वरूप, सुखसाध्य और अविनाशी है (२)। हे परन्तप! इस धर्म में अश्रद्धा रखने वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्यु-रूप ससार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान-रूप इस स्वाभाविक धर्म अथवा ब्रह्म-विद्या का तिरस्कार करते हैं, वे निरन्तर जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमते रहते हैं, अपने वास्तविक स्वरूप—परमात्म-भाव का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते (३)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते है कि यह विज्ञान-सहित ज्ञान, अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म जगत् का वनाव एक ही सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित नाम और रूप है—इस "एक में अनेक और अनेको में एक" के रहस्य के, सबसे अधिक सूक्ष्म एवं सवसे अधिक गहन होने के कारण साधारण लोगों की बुद्धि इसकी गहराई तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए पहले श्रद्धा अथवा विश्वास की आवश्यकता रहती है, अर्थात् जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष इसके पूर्ण ज्ञाता होते है, उनके उपदेशों में तथा इस विषय के शास्त्रो में श्रद्धा करके उनका श्रवण करना चाहिए। फिर उन श्रवण की हुई वातो पर दोष-दृष्टि से कुतर्क न करके, अर्थात् अपने चित्त में पहले के जमे हुए पक्षपातो को छोड़ कर, शान्तिपूर्वक अच्छी तरह से विचार करना चाहिए। इस तरह करते रहने से शनैः-शनैः इस ब्रह्म-विद्या का रहस्य समझ में आने लगता है; फिर श्रद्धा की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु इसके विचार में मन को आनन्द का अनुभव होने लगता है और फिर उसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती। सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का यह सिद्धान्त जव समझ में आने लगे, तव उसको आचरण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात् दूसरो के साथ व्यवहार करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सव एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, और इस विचार से सबके साथ प्रेम का बर्ताव करना चाहिए। किसी भी सिद्धान्त को व्यवहार में लाये बिना उसका कुछ लाभ नहीं होता। अस्तु, सवकी एकता के सिद्धान्त रूप इस ब्रह्म-विद्या के आचरण से सब प्रकार की उन्नति होती रहती है, और इस अभ्यास में निरन्तर लगे रहने से मनुष्य क्रमोन्नति करता हुआ अन्त में पूर्णावस्था को पहुँच कर अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभव में स्थित हुआ परमानन्द-परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

यद्यपि यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या सवका सार होने के कारण सवसे अधिक सूक्ष्म और गहन है, परन्तु साथ ही साथ वह सब विद्याओ की राजा है, अर्थात् संसार में जितनी विद्याएँ है उन सवका यह आश्रय है; दूसरी सव विद्याएँ इसकी शाखाएँ है, सव इन पर निर्भर है, और सवका समावेश इस में होता है; क्योकि यह विद्या जगत्-रूप से व्यक्त होने वाले उस आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म का अनुभव-स्वरूप है, जो सवका वास्तविक अपना-आप, सवका मूल तत्त्व, सवका आधार एवं सव का अधिपति है, और जो सव कुछ है, तथा जिसमें सव कुछ है (वृहदा० उपनि० अ० २ ब्रा० ५ म० १५)। यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या जिस तरह सव विद्याओ का राजा है, उसी तरह यह राजाओ की भी विद्या है। राजा सारी प्रजा की एकता का केन्द्र होता है, और इस विद्या से सवकी वास्तविक एकता का अनुभव और व्यवहार होता है, इसलिए राजा का इस विद्या से सुसम्पन्न होना अत्यत आवश्यक है। इस विद्या से सम्पन्न राजा ही अपनी भिन्न-भिन्न गुणो, भिन्न-भिन्न योग्यताओ, भिन्न-भिन्न स्वभावो, भिन्न-भिन्न पेशो, भिन्न-भिन्न

मतो एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बँटी हुई प्रजा की वास्तविक एकता के अनुभव-युक्त सबके साथ प्रेमपूर्वक साम्य-भाव से निर्दोष राज्य-शासन कर सकता है, और सारी प्रजा में भी इस विद्या का प्रचार करके सबमें पारस्परिक प्रेम और सहयोग का भाव बनाये रख कर सबकी उन्नति और सुख-शान्ति की सुव्यवस्था कर सकता है। इस ब्रह्म-विद्या को राज-विद्या इसलिए भी कहा है कि यह सार्वजनिक विद्या है, अर्थात् जिस तरह एक सच्ची एवं निर्दोष राज्य-व्यवस्था में सबका समान अधिकार होता है और वह सबके लिए एक समान हितकर होती है, उसी तरह इस राज-विद्या में सब लोगो का एक समान अधिकार है और यह सबके लिए एक समान हितकर है। देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, व्यवसाय-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भेद, पद-भेद, अवस्था-भेद, आश्रम-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना, प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, नीच हो या ऊँच, धनवान् हो या गरीब, पठित हो या अपठित, सबको इसके अध्ययन और आचरण का एक समान अधिकार है और यह सबके लिए एक समान लाभदायक है। यह विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या सबसे पवित्र है, क्योकि यह सारे जगत् के एक आत्मा के अनेक रूप होने का निश्चय कराती है, और आत्मा एक होने के कारण परम पवित्र है, उसमें मलिनता नहीं हो सकती; अत. इसके आश्रय से द्वैत-भाव रूपी सारी मलिनता मिट जाती है, जिससे अपवित्र भी पवित्र हो जाते है। यह ब्रह्म-विद्या सबसे उत्तम है, क्योंकि इसके अवलम्बन से नीच भी ऊँच हो जाते है और अधम भी श्रेष्ठ हो जाते है। यह ब्रह्म-विद्या प्रत्यक्ष बोध-स्वरूप है, क्योकि इससे सब कुछ आत्म-स्वरूप अथवा अपने-आप ही का स्वरूप अनुभव होता है, और अपना-आप सब के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि परोक्ष ज्ञान का। अथवा इस विज्ञान-सहित ज्ञान से जगत् परमात्मा-मय अथवा परमात्मा का व्यक्त रूप बोध होता है, अतः इससे परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त इस ब्रह्म-विद्या का फल भी प्रत्यक्ष ही है, क्योकि जितना ही सबकी एकता का अनुभव होता है, उतने ही द्वैत-भाव-जन्य ईर्षा, द्वेष, भय, दीनता, दासता, परावलम्बन आदि क्लेश उसी समय से कम होते जाते है और उतनी ही सुख-शान्ति तत्काल ही प्राप्त हो जाती है—किसी समय-विशेष, स्थान-विशेष अथवा जन्मान्तर की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यह नकद धर्म है; ज्यो ही इसका आचरण किया कि शान्ति, पुष्टि और तुष्टि सब उपस्थित होने लग जाती है। यह ब्रह्म-विद्या धर्म-रूप है, अर्थात् साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मजहबो की तरह यह कोई माना हुआ अथवा स्वीकार किया हुआ अथवा पीछे से लगाया हुआ आगन्तुक धर्म नहीं है, किन्तु यह सबका स्वाभाविक धर्म है, क्योकि सबका एकत्व-भाव सबके लिए स्वाभाविक है। संसार में जितने भी धर्म भूत काल में हुए है, वर्तमान में है और भविष्य में होगे, प्रकारान्तर से सब एक ही ठिकाने के पथिक है, यानी सबका अन्तिम साध्य सबकी एकता के भाव की स्थिति है; अतः चाहे कोई किसी भी मत अथवा सम्प्रदाय का अवलम्बन करे, सबकी अन्तिम गति और सबका

समावेश इसी में होता है; इसलिए सब धर्मों का मूल-धर्म यह ब्रह्म-विद्या ही है। इस ब्रह्म-विद्या का आचरण सुख-साध्य है, क्योकि इसके आचरण करने में किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम अथवा कष्ट अथवा मानसिक विक्षेप आदि नहीं होते, न इसमें कोई द्रव्य का व्यय होता है, न किसी सामग्री के जुटाने की अपेक्षा रहती है, और न किसी पर निर्भर रहने अथवा किसी के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। यह केवल समझने का विषय है। एक बार श्रद्धा करके इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लेने पर फिर इसका आचरण सुगमता से—सुखपूर्वक हो सकता है। और यह ब्रह्म-विद्या अविनाशी है, क्योकि इसका वस्तुत. कभी नाश नहीं होता।

यद्यपि यह ब्रह्म-विद्या राज-विद्या है, इस कारण इस पर सबका अधिकार है, यह धर्म-रूप , उत्तम, प्रत्यक्ष लाभ देने वाली और सुख-साध्य है; परन्तु केवल आधिभौतिकता* अथवा केवल आधिदैविकता* अथवा केवल आध्यात्मिकता* में ही आसक्त रहने वाले मनुष्यो को यह ब्रह्म-विद्या प्राप्त नहीं हो सकती; क्योकि वे लोग अपने-अपने माने हुए भिन्नता के मतो में इतना अन्ध-विश्वास रखते है कि उनकी बुद्धि में स्वतन्त्र विचार करने के लिए स्थान ही नहीं रहता; अत : वे स्वयं तो इस गभीर रहस्य को समझ नहीं सकते, और जिन लोगो को इन विषयो का यथार्थ अनुभव होता है, उन पर वे श्रद्धा नहीं रखते; फलतः वे अपने कुतर्कों से इस स्वाभाविक धर्म-रूप ब्रह्म-विद्या में दोष-दृष्टि करके अर्थात् इसको निस्सार समझ कर इसका तिरस्कार कर देते है। इसलिए उनका मोह अथवा अज्ञान कभी दूर नहीं होता, और पृथक्ता के भाव बने रहने के कारण उनको सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति भी नहीं होती, किन्तु वे जन्म-मरण के चक्कर में ही निरतर घूमते रहते है। परन्तु जो लोग उपरोक्त दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक इस सिद्धान्त का श्रवण और मनन करके अपने रात-दिन के व्यवहारो में इसका उपयोग करते है, उनका अज्ञान दूर होकर उन्हें उत्तम पद की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

*इस विषय का विशेष सुलासा सातवें अध्याय के स्पष्टीकरण में देखिए।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९ ।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। १० ।।

अर्थ—मेरे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर (अध्यात्म) भाव से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त (परिपूर्ण) हो रहा है; सब भूत मुझ में स्थित यानी मेरे संकल्प में ठहरे हुए है, (परन्तु) मै उनमें अवस्थित नही हूँ, अर्थात् उनमें रुका हुआ, उनमें परिमित अथवा उनके आश्रित नहीं हूँ। और ये (भूत) भी (वस्तुतः) मुझ में स्थित नहीं है; मेरा ईश्वरीय (अलौकिक) योग अर्थात् मेरे संकल्प की अद्भुत माया-शक्ति का कौशल देख (कि) मेरा आत्मा (सब का अपना-आप) भूतों को उत्पन्न और धारण करता हुआ भी भूतो में स्थित नहीं है, अर्थात् उनमें रुका हुआ अथवा उन पर निर्भर नहीं है।

तात्पर्य यह कि जिस तरह लहर, बुदबुदो और बर्फ के अन्दर सर्वत्र जल व्याप्त है—वस्तुतः सब-कुछ जल ही होता है, पर उनके बाहरी रूपो के दिखाव तक ही दृष्टि रखने से सबके एकत्व-भाव=जल का ध्यान नहीं रहता; किन्तु लहर, बुदबुदो और बर्फ की पृथक्ता ही प्रतीत होती है; उसी तरह पिण्ड की दृष्टि से यद्यपि आत्मा अथवा जीवात्मा "मैं" रूप से सारे शरीर में व्याप्त एव परिपूर्ण है—आत्मा ही शरीर का अस्तित्व है—परन्तु, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो पर ही दृष्टि रखने से सब अगो के एकत्व-भाव=आत्मा अथवा जीवात्मा की प्रतीति नहीं होती, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से नाना-भावापन्न जगत् में सबका आत्मा=परमात्मा समष्टि "मैं" रूप से सर्वत्र व्याप्त एवं परिपूर्ण है और वास्तव में सब कुछ परमात्मा ही है, परन्तु जगत् के भिन्न-भिन्न बनावो पर ही दृष्टि रखने से सारे जगत् के एकत्व-भाव=परमात्मा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जगत् के पदार्थों की पृथक्ता ही सच्ची प्रतीति होती है, और साधारणतया लोगो की दृष्टि शरीर और जगत् की पृथक्ता पर ही रहती है। इसलिए भगवान् कहते है कि परमात्मा-स्वरूप "मैंने" अव्यक्त अथवा अप्रकट रूप से जगत् को व्याप्त (परिपूर्ण) कर रखा है, और यद्यपि जगत् का आधार सबका आत्मा=परमात्मा स्वरूप "मैं" हूँ, अर्थात् परमात्मा-स्वरूप "मुझ" से ही जगत् का अस्तित्व है, परन्तु "मेरा" अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है, इसलिए जगत् "मेरा" आधार नहीं है। जिस तरह जादू

का खेल करने वाला जादूगर किसी खेल-विशेष में ही परिमित नहीं रहता; और यद्यपि खेल का अस्तित्व जादूगर पर निर्भर होता है, परन्तु जादूगर का अस्तित्व खेल पर निर्भर नहीं होता—खेल करने और न करने पर भी जादूगर का अस्तित्व ज्यो का त्यों बना रहता है; उसी तरह सवका आत्मा=परमात्मा अपने संकल्प से जगत् के अनेक प्रकार के खेल करता हुआ भी उनमें परिमित नहीं होता; और यद्यपि जगत् का अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है, परन्तु परमात्मा का अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है—जगत् के रहने और न रहने पर तथा उसके निरन्तर वदलते रहने पर भी आत्मा अथवा परमात्मा ज्यो का त्यों वना रहता है, क्योंकि सव कुछ परमात्मा ही है। और यदि गहरे विचार से देखा जाय तो वस्तुतः परमात्मा में जगत् की स्थिति भी नहीं है, क्योकि परमात्मा से भिन्न जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है कि जिसकी स्थिति परमात्मा में होवे। जहाँ दो पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, वहीं आधार-आधेय भाव या व्याप्य-व्यापक भाव अर्थात् एक दूसरे का आधार अथवा एक दूसरे में व्याप्त होना वन सकता है। पर जहाँ एक ही वस्तु के अनेक रूप होते है, वहाँ आधार-आधेयादि भाव वास्तव में वन नहीं सकते, किन्तु केवल समझाने के अभिप्राय से कथन मात्र के लिए वे कल्पित किये जाते है। जिस तरह जादूगर अपने जादू के खेल में अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कार दिखाता है और उन चमत्कारो की दृष्टि से जादूगर उनका आधार कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वे चमत्कार जादूगर से भिन्न नहीं होते, किन्तु जादूगर के ही रूप होते है; उसी तरह यद्यपि परमात्मा-रूपी जादूगर इस जगत्-रूपी खेल का रचयिता और इसका आधार कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह सवके आत्मा=परमात्मा की अद्भुत माया का चमत्कार है कि वह एक ही अनेक भावो और अनेक रूपो में व्यक्त होता है (४-५)। जिस प्रकार सर्वत्र वहने वाला महान् वायु सर्वदा आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सब भूत मुझमें स्थित है, ऐसा समझ। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वायु अत्यन्त विस्तृत परिमाण वाला होकर तथा दशों दिशाओं में चलता रह कर भी सदा आकाश में स्थित रहता है, इसलिए वायु का आधार आकाश है और वायु का अस्तित्व आकाश पर निर्भर है, एवं वायु आकाश में परिमित है—आकाश के विना वायु स्वतन्त्र नहीं रहता; परन्तु आकाश का आधार वायु नहीं है, न आकाश का अस्तित्व वायु पर निर्भर है, और न आकाश वायु में परिमित ही है—जहाँ वायु का अस्तित्व नहीं होता, वहाँ (निर्वात स्थान में) भी आकाश रहता है; उसी तरह यद्यपि सर्वात्मा=परमात्मा ही इस नाना-भावापन्न एवं विस्तृत ब्रह्माण्ड का आधार है, और ब्रह्माण्ड का अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है; परन्तु ब्रह्माण्ड, परमात्मा का आधार नहीं है, न परमात्मा का अस्तित्व ब्रह्माण्ड पर निर्भर है, और न वह इस ब्रह्माण्ड में परिमित ही है—ब्रह्माण्ड के न रहने पर भी परमात्मा तो सदा-सर्वदा रहता ही है। और जिस तरह वायु कभी तेज होकर आंधी और तूफान का रूप धारण करता है, कभी मन्द-

मन्द चलता है, कभी बादल रूप होकर गगन-मण्डल को आच्छादित कर देता है और कभी बादलो को बखेर कर साफ कर देता है—इस तरह वायु के अनेक रूप होने पर भी सर्व-व्यापक आकाश में उसके कोई विकार नहीं होते, वह ज्यो का त्यो स्वच्छ एवं निर्विकार बना रहता है; तूफान से वह डाँवाडोल नहीं होता, न बादलो से भीगता है; उसी तरह जगत् के अनेक तरह के बनाव होने और बिगडने तथा नाना प्रकार के परिवर्तन एवं उथल-पुथल होने आदि विकारो से परमात्मा में कोई विकार नहीं होता। यदि गहरा विचार किया जाय तो वायु आकाश से भिन्न नहीं है, किन्तु आकाश ही का एक बनाव है, अर्थात् आकाश ही वायु-रूप धारण करता है; परन्तु वायु-रूप होता हुआ भी वह अपने सर्वव्यापक आकाश-रूप से शून्य नहीं हो जाता; उसी तरह यह कल्पित जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु परमात्मा ही के संकल्प का एक बनाव है, अर्थात् परमात्मा ही जगत् का रूप धारण करता है; परन्तु जगत्-रूप धारण करता हुआ भी वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्द, अनादि, अनन्त, अव्यय परमात्म-भाव से शून्य नहीं हो जाता (६)। हे कौन्तेय ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते है, और कल्प के आदि में मै पुनः उन (भूतो) को रचता हूँ (७)। मै अपनी प्रकृति के द्वारा, प्रकृति के अधीन रहने वाले इस संपूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार रचता हूँ (८)। और हे धनंजय ! उन (सृष्टि की रचना, संहार एवं धारण आदि) कर्मों में उदासीन की तरह अनासक्त रहने वाले मुझको वे कर्म नहीं बांधते (९)। हे कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति स्थावर-जंगम सृष्टि का निर्माण करती है, इस कारण से जगत् विविध प्रकार से परिवर्तित होता रहता है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्कर चलता रहता है (१०)। श्लोक ७ से १० तक का तात्पर्य यह है कि यह जगत् सबके आत्मा=परमात्मा के संकल्प का मायिक खेल मात्र है। जब सबके आत्मा=परमात्मा का संकल्प अथवा इच्छा होती है तब उस समष्टि इच्छा रूपी योग-माया अथवा प्रकृति के अद्भुत एवं अलौकिक चमत्कार से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते है, जिसे कल्प का आदि कहते है; और जब इच्छा अथवा संकल्प नहीं होता, तब वे बनाव मिट जाते है, उसे कल्प का क्षय या अन्त कहते है। जिस तरह का संकल्प होता है, उसी के अनुसार अनन्त प्रकार के बनाव बनते है और मिट जाते है। यद्यपि यह सब बनने और मिटने के परिवर्तन सबके आत्मा=परमात्मा की समष्टि इच्छा रूपी अलौकिक माया-शक्ति से ही होते है, परन्तु सबका आत्मा=परमात्मा वस्तुत· इन बनावो में नहीं उलझता, न इनके बनने-बिगड़ने से वस्तुतः उसका कुछ बनता-बिगडता ही है। इन परि-वर्तनो से आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार नहीं होता, क्योकि यह सब उसकी कल्पना मात्र ही होते है—वस्तुत· कुछ बनता-बिगडता है नहीं। जिस तरह स्वप्न के अनेक प्रकार के दृश्य स्वप्न-दृष्टा की कल्पना मात्र होते है, स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न वस्तुत कुछ नहीं होते; उसी तरह जगत्-प्रपच आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का दृश्य-मात्र है—आत्मा

अथवा परमात्मा से पृथक् जगत् कुछ है नहीं; इसलिए वह सबका आधार होता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है (७ से १०)।

स्पष्टीकरण—समत्व-योग के अभ्यास में मन को ठहराने के लिए अपनी उपासना के विधान में अपने स्वरूप का वर्णन करने के विज्ञान-सहित ज्ञान का सातवें अध्याय से आरम्भ करके भगवान् यहाँ उसकी सूक्ष्म एवं गंभीर विचारयुक्त व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सबके अपने-आप का अनुभव-स्वरूप सबका आत्मा=परमात्मा "मैं" रूप से सब शरीरो अथवा शरीरों के समूह-रूप चराचर जगत् में ओतप्रोत भरा हुआ है। यद्यपि "मैं (अहं)" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा=परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सब कुछ होने के कारण इन्द्रियो से प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता, यानी वह आँखों से देखा नहीं जाता, कानों से सुना नहीं जाता, नाक से सूँघा नहीं जाता, जीभ से चखा नहीं जाता, त्वचा से स्पर्श नहीं किया जाता, वाणी से कहा नहीं जाता, हाथो से पकड़ा नहीं जाता, यहाँ तक कि उसके स्वरूप की मन से कल्पना भी नहीं की जा सकती, और न वुद्धि से यह जाना जा सकता है कि वह अमुक गुण, अमुक रूप, अमुक आकार और अमुक नाप-तोल वाला है। इतना होने पर भी यह अनुभव सबको अवश्य होता है कि "मैं" हूँ; मन, वुद्धि, आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियो एवं सब अगो का समूह=शरीर "मेरा" है, सब इन्द्रियो, सब अंगो और इन सबके समूह=शरीर को धारण करने वाला "मैं" हूँ; सब इन्द्रियो और शरीर के सारे व्यवहार "मेरी" सत्ता से होते है, और "मैं" ही उनको स्फूर्ति-युक्त करता हूँ, अर्थात् उन सबका प्रेरक और संचालक "मैं" हूँ; इन्द्रियो और शरीरो के भिन्न-भिन्न अंगो के अनेक होने पर भी "मैं" इन सबका प्रेरक और सबका आधार एक ही हूँ; जो "मैं" आँखो से देखने वाला हूँ, वही कानो से सुनने वाला हूँ, वही हाथो से काम करने वाला, वही मन से संकल्प करने वाला और वही वुद्धि से विचार करने वाला हूँ; अतः सबकी एकता "मुझ" में होती है—शरीर के रोम-रोम में "मैं" व्याप रहा हूँ। थोड़ा विचार करने पर यह भी निश्चय होता है कि "मेरे" विना सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियो, और इन सबके समूह=शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, और यद्यपि इन सबका अस्तित्व "मेरे" विना सिद्ध नहीं होता—जव "मैं" होता हूँ, तभी ये होते हैं—तथापि "मैं" स्वत.सिद्ध हूँ और इनके विना भी रहता हूँ; गहरी नींद में मन, वुद्धि, इन्द्रियो एवं शरीर के सभी व्यापार वन्द हो जाते हैं और इनके अस्तित्व की प्रतीति भी नहीं होती, पर "मैं" तो ज्यो का त्यो वना रहता हूँ; और शरीर का अन्त होने पर जव इन सवका नाश हो जाता है तो उनके साथ "मेरा" नाश नहीं होता; इन्द्रियो और शरीरो के परिवर्तन होते रहते हैं—वाल्यावस्था में वे वहुत छोटे होते हैं, जवानी में वड़े हो जाते हैं और वुढापे में क्षीण होकर, मरने पर नष्ट हो जाते है, और फिर कोई नया शरीर वनता है तव फिर नये वन जाते हैं; परन्तु "मैं" सव दशाओं में वही वना रहता हूँ। जव "मेरे" विना इन्द्रियो और

शरीर का अस्तित्व ही नहीं है, तब अधिक गहरा विचार करने पर यह स्वतः सिद्ध होता है कि वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूँ, "मेरे" सिवाय और कुछ भी नहीं है; शरीर के छोटे-बड़े अंगो की जो भिन्नताएँ है वे सब "मेरे" ही कल्पित रूप है; "मैं" जब कल्पना अथवा इच्छा करता हूँ, तब भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियो तथा भिन्न-भिन्न अगो के रूप में प्रकट होता हूँ, और जब इच्छा अथवा कल्पना को समेटता हूँ, तब इन सबका अपने में लय कर लेता हूँ। इच्छा अथवा कल्पना से कर्म होते है और उन कर्मों के अनुरूप शरीर होते है; और जब कि इच्छा अथवा कल्पना "मैं" ही करता हूँ, तो शरीर रूप भी "मैं" ही बनता हूँ; अतः शरीर रूप होने वाला "मेरे" सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता; तात्पर्य यह कि यह सब "मेरे" ही रूप है। जिस तरह मिट्टी के अनेक बर्तन और खिलौने वस्तुतः मिट्टी ही होते है—मिट्टी के सिवाय बर्तन और खिलौने कुछ भी नहीं होते, उसी तरह वास्तव में सब कुछ "मैं" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है, और जिस तरह खिलौनो के बनने और बिगड़ने के विकारो से मिट्टी का कुछ भी बनता-विगडता नहीं—वह ज्यो की त्यो रहती है, उसी तरह इन रूपो के बनने-बिगडने तथा इनमें परिवर्तन होने से "मेरा" कुछ भी बनता-बिगडता अथवा परिवर्तन नहीं होता; कल्पित बनावो के विकार भी कल्पित होते है—वे सत्य वस्तु पर प्रभाव नहीं डाल सकते; "मैं" अपना-आप सदा एक-सा रहने वाला अतः सत्य हूँ, और शरीर के अंग सदा बदलते रहने वाले कल्पित है।

उपरोक्त व्याख्या प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा और शरीर के संबंध की है। यदि कोई भी व्यक्ति "मैं" रूप से अनुभव होने वाले अपने वास्तविक आप यानी आत्मा, और मन, बुद्धि, आदि सूक्ष्म इन्द्रियो, तथा आँख, नाक, कान आदि स्थूल इन्द्रियो, एवं नाना अगो के समूह=शरीर के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करे तो उपरोक्त तथ्य स्वत. ही सिद्ध होते हैं। इसी विचारधारा को आगे बढाई जाय तो यह निश्चय हो जायगा कि जो व्यवस्था छोटे रूप में प्रत्येक देहधारी जीवात्मा और शरीर के सबंध की ऊपर कही है, वही बृहद्-रूप में समष्टि-आत्मा=परमात्मा और जगत् अथवा ब्रह्माण्ड के संबध में हूबहू घटती है। प्रत्येक पिण्ड अथवा शरीर एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड ही है; अर्थात् पिण्ड को ब्रह्माण्ड का एक छोटा-सा—अणु के मान का—नमूना (model) समझना चाहिए; और जो संबंध शरीर और जीवात्मा का ऊपर बताया गया है, वही सबंध जगत् और परमात्मा का समझना चाहिए। जिस तरह प्रत्येक शरीर में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-आप=आत्मा "मैं" रूप से अनुभव होता है, उसी "मैं" शब्द से भगवान् श्रीकृष्ण सारे ब्रह्माण्ड अथवा जगत् के समष्टि अपने-आप, सबके आत्मा को जगत् के अन्दर अनुभव कराते है, और जो व्यवस्था व्यष्टि शरीर की ऊपर कही गई है, उसी प्रकार की व्यवस्था भगवान् सारे जगत् की बताते है। जो आत्मा व्यष्टि शरीर का व्यष्टि-भाव से है, वही आत्मा समष्टि जगत् का समष्टि-भाव से है, और व्यष्टि-भाव से जो पृथक्-पृथक् शरीर है, उन्हीं का समु-

दाय समष्टि-भाव रूप जगत् है। वास्तव में प्रत्येक शरीर के रोम-रोम में "मैं" रूप से रहने वाला व्यष्टि अपना-आप अथवा व्यष्टि आत्मा, और भगवान् श्रीकृष्ण का "मैं" रूप से कहा हुआ सारे ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्यापक समष्टि आत्मा=परमात्मा एक ही है। इस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए आगे ११वें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को इसी शरीर में अखिल विश्व का दर्शन करा कर उसका अज्ञान मिटाया है। अतः परमात्मा और जगत्-संबंधी ज्ञान-विज्ञान के रहस्य को समझने के लिए "मैं" रूप से सर्वत्र अनुभव होने वाले अपने-आप और शरीर के संबंध पर ही विचार करना चाहिए—कहीं बाहर अथवा दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है। यही अनुभव करना चाहिए कि जो प्रत्येक शरीर का "मैं" है वही सारे ब्रह्माण्ड का "मैं" है।

इस विज्ञान-सहित ज्ञान का विशेष विवेचन आगे तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायो में विस्तार से किया है।

× × ×

आत्मोपासना के लिए भगवान् ने अपना, यानी सबके आत्मा=परमात्मा का स्वरूप वताने में सवकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सूक्ष्म एवं गंभीर रहस्य कहा। अव भगवान् अयथार्थ अर्थात् झूठी और यथार्थ अर्थात् सच्ची उपासना का भेद बताते हुए झूठी उपासना के पाखण्ड की निंदा और उसका निषेध करते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अर्थ—मूर्ख लोग (सब) भूतों, यानी अखिल विश्व के महान् ईश्वर-स्वरूप मेरे परम (सबसे परे के) भाव को न जानते हुए, (मुझे) मानव-देहधारी (कोई व्यक्ति या शरीर-विशेष) समझ कर मेरी अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं। तात्पर्य यह कि उपरोक्त "एक में अनेक और अनेको में एक" के विज्ञान-सहित ज्ञान के रहस्य को न जानने वाले मूर्ख लोग, व्यष्टि-रूप से देह, इन्द्रियो, मन, बुद्धि, प्राण आदि सबसे परे, सबके आधार और सबके स्वामी—सबमें "मैं" रूप से रहने वाले, अपने वास्तविक आप=आत्मा के, तथा समष्टि-रूप से अखिल विश्व के आधार और स्वामी, सबके आत्मा=परमात्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात् यथार्थ अविनाशी भाव को नहीं जानते। उनकी दृष्टि विशेष करके स्थूल शरीरो पर ही रहती है, शरीरो से परे, सब शरीरो के

भिन्न-भिन्न अगो और रोम-रोम में व्यापक, एव इन सब शरीरो को धारण करने वाली एक ही महान् शक्ति के विषय में वे ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकते। इसलिए जिस तरह अज्ञानवश वे अपने को दूसरो से अलग एक तुच्छ व्यक्ति अथवा विकारवान मनुष्य-देह मानते है, उसी तरह सबके आत्मा=परमात्मा को भी जगत् से अलग एक मनुष्य-आकृति वाला कोई विशेष ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति ही मानते है। अतः मनुष्य-देह में होने वाले स्वाभाविक गुणो और दोषो, विशेषताओ और त्रुटियों की सबके आत्मा=परमात्मा में कल्पना करके, उस असीम को ससीम, महान् को तुच्छ, एक को अनेक, सम को विषम और अविकारी को विकारी आदि विरुद्ध भावो वाला मान कर उसका तिरस्कार करते है (११)।

(वे) झूंठी आशाएँ रखने वाले, फिजूल कर्म करने वाले, (तथा) मिथ्या (विपरीत) ज्ञान वाले बेसमझ लोग राक्षसी और आसुरी तामसी प्रकृति का ही आश्रय किये रहते है। तात्पर्य यह कि उन तामसी उपासको के दो भेद है—एक तो राक्षसी प्रकृति के है, जो शरीर और जगत् के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानते किन्तु स्थूल शरीरो ही को सब कुछ मानते है, अत. वे लोग केवल शरीरो ही के उपासक होते है, और दूसरे आसुरी प्रकृति के लोग है, जो शरीरो के अतिरिक्त जीवात्माओ को तथा सव जीवात्माओ और सारे जगत् के स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते है, पर जैसा मानना चाहिए वैसा यथार्थ रूप से नहीं मानते; किन्तु परमात्मा के सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं सर्वात्म-भाव की उपेक्षा करके, उसे किसी विशेष लोक अथवा विशेष देश में रहने वाला, विशेष काल में होने वाला तथा विशेष गुणो वाले शरीर ही में परिमित अथवा सीमाबद्ध मान कर, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा किसी नाम-विशेष, अथवा किसी रूप-विशेष, अथवा किसी गुण-विशेष, अथवा किसी देश-विशेष, अथवा किसी उपाधि-विशेष की उपासना करने में ही लगे रहते है; अथवा उसे शरीर और जगत् सबसे सर्वथा अलग, निर्गुण-निराकार भेद वाला मान कर उस निराकार की भेद-उपासना करते है। इस प्रकार के आस्तिक लोगो की उपासना के अगणित भेद होते है, और उनकी अगणित सम्प्रदायें होती है। ये लोग परमात्मा की एकता और सर्वव्यापकता की अवहेलना करके, अपने-अपने सम्प्रदायो से भिन्न दूसरे सम्प्रदायो के लोगों का तिरस्कार करते है, दूसरो से द्वेष करते है, लड़ते-झगडते है और दूसरो को दवाते है। इस तरह सर्वव्यापक परमात्मा को देश, काल और वस्तु-परिच्छेद वाला एव नाना विकारो युक्त एक व्यक्ति मानने वाले उपरोक्त मूढ उपासक लोग आसुरी प्रकृति के होते है। वे राक्षसी और आसुरी प्रकृति के उपासक लोग अपने विपरीत ज्ञान से जो कुछ भी करते है, वह किसी न किसी प्रकार की अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा को लिये हुए ही करते है, परन्तु उन झूठी उपासनाओ का फल नाशवान् होता है, अतः उनकी आशाएँ फिजूल ही होती है; और उनके उक्त कर्मो से वास्तव में किसी का कुछ हित

नहीं होता, इसलिए वे भी निरर्थक होते हैं। जो मनुष्य-देह प्राप्त करके अपने-आपके वास्तविक स्वरूप यानी सबके एकत्व-भाव=परमात्मा का ज्ञान प्राप्त न करके, पृथक्ता के भावो को ही दृढ़ बनाये रखने वाली चेष्टाओ में लगे रहते है, और उनसे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा रखते हैं, उन मूर्खों की सभी चेष्टाएँ ही नहीं, प्रत्युत उनका मनुष्य-जन्म ही निरर्थक होता है (१२)। **परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा लोग यानी विवेकी सज्जन पुरुष, मुझ (सब के आत्मा=परमात्मा) को विश्व का आदि और सब विकारो से रहित जान कर अनन्य-भाव से (अभेद) उपासना करते हैं।** तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण-प्रधान दैवी प्रकृति के विचारशील महापुरुष ऊपर कहे हुए आसुरी प्रकृति वाले लोगो की तरह अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी व्यक्ति-विशेष अथवा उपाधि-विशेष की भेद-उपासना नहीं करते, किन्तु अपने सहित सब चराचर सृष्टि में एक आत्मा अथवा परमात्मा को समान-भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकत्व-भाव के प्रेम करने रूपी परमात्मा की अभेद-उपासना करते हैं (१३)। दृढ़-व्रत होकर यत्न करते हुए निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं; और सबकी एकता के साम्य-भाव में मन लगा कर सदा मेरी उपासना करते रहते है। तात्पर्य यह कि दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष सदा नियमित रूप से सबके आत्मा=परमात्मा के अज, अविनाशी, अविकारी, सर्वव्यापक, सम, सर्वाधार, सर्वभूत-महेश्वर, सच्चिदानन्द आदि भावों का कीर्तन करते रहते हैं; तथा सब लोगो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप जान कर अत्यन्त प्रेम और विनीत भाव से सबको नमस्कार करते हैं और इस प्रकार समत्व-योग का आचरण करते हुए अनन्य-भाव की उपासना में लगे रहते हैं (१४)। और कई लोग ज्ञान-यज्ञ से अर्थात् तात्त्विक विचारो द्वारा भी मेरा यजन-पूजन करते हुए, (अपने साथ मेरी एकता के) अभेद-भाव से, अथवा (पृथकता के) भेद-भाव से, बहुत प्रकार से मेरे विश्वरूप की उपासना करते है। तात्पर्य यह कि जो दार्शनिक लोग तत्त्वज्ञान में लगे हुए है, उनमें से कई लोग सर्वत्र एकत्व-भाव के अद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं, और कई पृथक्ता के द्वैत अथवा भेद सिद्धान्त को मानते है, और अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार ज्ञान यज्ञ के द्वारा उपासना करते हैं; परन्तु "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा=परमात्मा ही द्वैत और अद्वैत सबकी सिद्धि करने वाला एवं सबका आधार होने के कारण, वे सब प्रकारान्तर से सर्वात्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं (१५)। क्रतु, अर्थात् श्रौत कर्म "मैं" हूँ; यज्ञ, अर्थात् स्मार्त कर्म "मैं" हूँ; स्वधा, अर्थात् पितरो को निमित्त करके दिया जाने वाला अन्न अथवा पिण्डादि "मैं" हूँ; औषध, अर्थात् वनस्पतियां "मैं" हूँ; मन्त्र, अर्थात् जिन मन्त्रो का उच्चारण करके हवन-यज्ञादि किये

जाते है, वे मन्त्र "मै" हूँ; आज्य, अर्थात् होमे जाने वाले घृतादिक पदार्थ "मै" ही हूँ; अग्नि "मै" हूँ, (एवं) हवन "मै" हूँ (१६)। इस जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह "मै" हूँ, अर्थात् पुरुषस्वरूप परा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ५) अथवा क्षेत्रज्ञ (गी० अ० १३ श्लो० २), प्रकृतिस्वरूप अपरा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ४) अथवा क्षेत्र (गी० अ० १३ श्लो० १-२), और इन दोनो का आधार अथवा एकत्व-भाव=परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम (गी० अ० १३ श्लो० २२, अ० १५ श्लो० १७-१८) "मै" ही हूँ; वेद्य, अर्थात् यथार्थतया जानने योग्य, सबका मूलतत्त्व—सबका अपना-आप (गी० अ० १३ श्लो० १२-१७) (मै हूँ); पवित्र, अर्थात् शुद्ध, निर्मल, निर्विकार एवं सबको पवित्र करने वाला (मै हूँ); ओंकार, अर्थात् सबकी एकता का बोधक एकाक्षर ब्रह्म "ॐ" (मै हूँ); ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि को लेकर सब शास्त्र भी (मै ही) हूँ (१७)। गति, अर्थात् सबकी हलचल (क्रियाशीलता), अथवा सबकी अन्तिम गति (मै हूँ); भर्ता अर्थात् सबका भरण-पोषण करने वाला (मै हूँ); प्रभु, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय, प्राण आदि शरीर के सब अंग "मेरे है" इस तरह शरीर के स्वामित्व का अनुभव करने वाला, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से अखिल विश्व मेरा है"—सबका स्वामी "मै" परमात्मा हूँ, इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामीभाव का अनुभव करने वाला (मै हूँ); साक्षी, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि की सारी चेष्टाओ को जानने वाला जीवात्मा, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सब चराचर सृष्टि की विविध प्रकार की हलचल का दृष्टा परमात्मा (मै हूँ); निवास (मै हूँ), अर्थात् सब भूत-प्राणी "मुझ में" ही रहते है; शरण अर्थात् सबका रक्षक (मै हूँ); सुहृद् अर्थात् सबका स्वाभाविक प्यारा (मै हूँ); प्रभव (मै हूँ) अर्थात् सबकी उत्पत्ति मुझ परमात्मा से होती है; प्रलय (मै हूँ) अर्थात् सबका लय "मुझ में" होता है; स्थान (मै हूँ) अर्थात् सबकी स्थिति "मुझ में" है; निधान (मै हूँ) अर्थात् सबका समावेश "मुझ में" होता है; और अव्यय बीज अर्थात् सबका अविनाशी एवं अविकारी कारण (मै हूँ) (१८)। "मै" तपाता हूँ, "मै" वर्षा को रोकता और छोड़ता हूँ, अर्थात् "मै" ही सूर्य रूप से तपाता हुआ जल को खींच कर आकाश में थामे रखता हूँ, और "मै" ही उसे बरसाता हूँ; और हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु भी "मै" ही हूँ, और सत् एवं असत् भी "मै ही" हूँ, अर्थात् "मै" ही त्रिकाल-अबाधित अविनाशी सत्य आत्मतत्त्व हूँ और "मै" ही निरन्तर परिवर्तनशील एवं कल्पित जगत का विनाशवान दृश्य-प्रपंच हूँ (१९)। श्लोक १६ से १९ तक का तात्पर्य यह है कि जगत् में जो भी कुछ दृष्ट अथवा अदृष्ट वस्तु है, एवं उपासना के लिए जो भी कुछ हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, वेदाध्ययन, पाठ-पूजा, ध्यान, जप आदि किये जाते है, तथा जो कुछ कहने-सुनने और विचारने में आ सकता है, वह सब "मै" रूप से सबको अनुभव होने वाला, सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा ही है। अत. चाहे कोई

एकत्व-भाव से उपासना करे या पृथक्ता के भाव से करे—सब परमात्मा ही की उपासना होती है; परन्तु उपासना करने में, करने वाले के अन्तःकरण में जैसा भाव होता है, वैसा ही उपासना का स्वरूप होता है और वैसा ही उसका परिणाम होता है, यह बात आगे के श्लोको में कहते है (१६ से १९)। त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्म करने वाले एवं सोमरस पीने वाले पुरुष यज्ञो द्वारा मेरा पूजन करके (स्वर्ग-प्राप्ति के बाधक जो पाप है उन) पापो से शुद्ध होकर स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते है। वे अपने पुण्यों के फल-स्वरूप इन्द्र-लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओ के दिव्य (सूक्ष्म) भोगों को भोगते है। वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का उपभोग करके, पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु-लोक में आते है। इस तरह वेदत्रयी में विधान किये हुए धार्मिक कर्मकाण्ड करने वाले कामना-परायण लोग (अपनी भावना के फल स्वरूप) आवागमन के चक्कर में घूमते रहते है (२०-२१)। परन्तु जो लोग अनन्य-भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम-उपासना करते है, उन (मेरी अनन्य-भाव की उपासना में) सदा लगे रहने वाले, भक्तो का योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थो की रक्षा, मै (सबका आत्मा=परमात्मा) किया करता हूँ। तात्पर्य यह कि इससे पहले के दो श्लोको में यह कहा है कि वैदिक हवन-यज्ञ आदि काम्य कर्म करने वालो को उनकी भावना के अनुसार स्वर्गादि लोगो के सूक्ष्म मानसिक भोग प्राप्त होते है; तब यह आशंका हो सकती है कि उक्त कर्म-काण्ड न करने वाले, परमात्मा के अनन्य-भाव के उपासको को भोग्य पदार्थ प्राप्त नहीं होते होगे ? इस आशंका का निवारण करने के लिए भगवान् कहते है कि जो सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मुझे ही सब-कुछ मान कर अनन्य-भाव से मेरी उपासना करते है, अर्थात् सारे विश्व को परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप समझ कर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का बर्ताव करते है, उनकी सब इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति सारे जगत् में व्याप्त "मैं" परमात्मा किया करता हूँ; दूसरे शब्दो में सबके साथ एकता के भाव में जुडे हुए उन भक्तो के इच्छित पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा में "मेरा" व्यक्त स्वरूप—सारा जगत् सहायक होता है (२२)। जो भक्त लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओ का पूजन करते है, वे भी, हे कौन्तेय ! मेरा ही पूजन करते है; (परन्तु) वह विधिपूर्वक (यथार्थ पूजन) नहीं होता, अर्थात् मेरे सच्चे पूजन की विधि जैसी ऊपर श्लोक १३-१४ में कही है, उसके अनुसार नहीं होता। क्योकि (यद्यपि) "मै' ही सब यज्ञो का भोक्ता हूँ और "मै" ही सबका मालिक हूँ, परन्तु वे मुझे तत्त्वतः नहीं जानते, इसलिए उनका पतन हो जाया करता है। तात्पर्य यह कि जब कि "मै" रूप से सबके अन्दर रहने वाले सबके आत्मा=परमात्मा के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो देवताओ को

कल्पना करके उनको पूजने वाले भी परोक्ष रूप से सबके आत्मा=परमात्मा ही का पूजन करते हैं; परन्तु उनको सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, किन्तु उनके अन्तःकरण में यह भाव होता है कि देवता, पितर, भूत आदि परमात्मा से पृथक् है, और उनकी उपासना करने से ही कामनाओ की सिद्धि होती है, इसलिए वे लोग देवताओ आदि को सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न मान कर उनका पूजन करते है, और वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण होता है (२३-२४)। देवताओ के उपासक देवताओ को प्राप्त होते है, पितरो के उपासक पितरो को प्राप्त होते है, भूतो की पूजा करने वाले भूतो को प्राप्त होते है और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते है। तात्पर्य यह कि जिसका मन जिस भाव में लगा रहता है वह उसी के अनुसार अपने लिए बनाव कल्पित करके अपने को वैसा ही अनुभव करता है (२५)।

स्पष्टीकरण—जो अत्यन्त प्रबल तामसी प्रकृति के देहात्मवादी उपासक होते है, उनकी राक्षसी प्रकृति कही गई है। राक्षस लोग केवल अपने शरीरो के उपासक होते है, और वे खाने, पीने, सोने एवं द्रव्य-संग्रह करके उसके उपयोग से विषयो को भोगने आदि इस शरीर के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखो के सिवाय और किसी परोक्ष विषय की तरफ ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझते, और तत्त्वज्ञान उनके नजदीक कोई चीज नहीं होता। अपने शारीरिक सुखो के लिए दूसरो को दबाने, दूसरो को पीड़ा देने, दूसरो पर अत्याचार करने तथा दूसरो की हिंसा करने में उन्हे कोई ग्लानि नहीं होती, न उन्हे ईश्वर का भय ही होता है। अस्तु, राक्षसी प्रकृति के उपासक लोग अपने शरीर के सुख और भोगो के लिए तथा उनके निमित्त दूसरो की हानि करने और दूसरो को पीड़ा देने के लिए देवी, देव, भूत, प्रेत, यक्ष, पिशाच आदि की तथा विशेष शक्ति-सम्पन्न अत्याचारी मनुष्यो की उपासना करते है[*]।

जो लोग उनसे कुछ कम तामसी प्रकृति के होते है, उनकी आसुरी प्रकृति कही गई है। वे यद्यपि शरीरो के अतिरिक्त उनके अन्दर रहने वाले जीवात्माओ को मानते है, और सब जीवात्माओ से पृथक् उन सबके स्वामी ईश्वर को मानते है, परन्तु सब जीवात्माओ को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहने वाले अत्यन्त तुच्छ प्राणी मान कर आपस में ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करते है; और ईश्वर को सबसे अलग, आसमान में, अथवा समुद्र में, अथवा किसी अन्य स्थान में या किसी लोक-विशेष अथवा देश-विशेष में रहने वाला, अतुल शक्ति एवं अपार वैभव-सम्पन्न, तथा विशेष गुणो से युक्त एक महान्

---

[*] सोलहवें अध्याय में श्लोक ६ से २० तक के अर्थ और स्पष्टीकरण में राक्षसो और असुरो का वर्णन देखिए, और सत्रहवे अध्याय के श्लोक ४ का अर्थ और स्पष्टीकरण देखिए।

व्यक्ति मानते है; और जिस तरह एक सम्राट् अथवा राजा अपनी प्रजा पर शासन करता है, और अपने बनाये हुए कानूनो को मानने वाले पुरुषो की रक्षा करता है, एवं उनका उल्लंघन करने वालो को दंड देता है; उसी तरह उनकी समझ में ईश्वर भी सब जीवो के अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब रख कर उनका यथायोग्य फल देता है; और जिस तरह एक स्वेच्छाचारी राजा को भोग, विलास, खेल, तमाशे, भेंट, पूजा, चापलूसी एवं खुशामद आदि प्यारी लगती है, और दूसरो पर अपना आतंक जमाने से उसे प्रसन्नता होती है, अपनी भेंट-पूजा तथा खुशामद करने वालो पर वह कृपा रखता है, उन्हे पुरस्कार देता है और उनके अपराध क्षमा कर देता है, एवं जो उसकी सत्ता नहीं मानते अथवा उसकी खुशामद नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होता है और उनको दण्ड देता है; उसी तरह उनके मतानुसार उनका ईश्वर भी खेल, तमाशो एव भोग-विलास आदि की सामग्रियो तथा बलिदान-कुर्बानियो से रीझता है, एवं भेंट-पूजा तथा खुशामद और चापलूसी, करने वालो पर प्रसन्न होता है और उनको धन-सम्पत्ति, अधिकार, बल, वैभव, स्त्री, पुत्र, जमीन, जायदाद, मान, प्रतिष्ठा आदि नाना प्रकार के भौतिक सुखो के साधन देता है, और मरने के बाद उन्हें स्वर्ग में भेज देता है, तथा उनके सब पापो को माफ कर देता है; और जो उनके माने हुए ईश्वर को नहीं मानते तथा उन्हीं की तरह उसका भजन-स्मरण, स्तुति आदि नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होकर उनका सर्वनाश कर देता है। इस तरह सब प्रकार के तुच्छ मानवी भावो का अपने कल्पित ईश्वर में आरोप करके उसको बहुत ओछा, अत्यन्त स्वार्थी और अभिमानी व्यक्ति बना देते है, और उसको प्रसन्न करने के अभिप्राय से उसके उन भावो की स्तुति तथा भजन-स्मरण आदि से उसकी खुशामद रूप उपासना करते है। सारांश यह कि तमोगुण-प्रधान आसुरी प्रकृति के लोग ईश्वर को एक राजस-तामस गुणो युक्त मनुष्य-स्वभाव वाला व्यक्ति मानकर राजस-तामस भावो से अनन्त प्रकार की उपासनाएँ करते है, जिनकी अगणित धार्मिक अर्थात् मजहवी सम्प्रदायें बन जाती है; और उन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के भिन्न-भिन्न कर्मकाण्ड एवं भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज होते है। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी, अपने-अपने सम्प्रदाय की उपासना की विधि, कर्मकाण्ड और रीति-रिवाज आदि को दूसरे सम्प्रदायो से उत्तम मानते है, और दूसरो को अपने से निकृष्ट मान कर उनकी निन्दा करते है, और इस तरह परस्पर में द्वेष करके आपस में लड़ते-झगड़ते और एक-दूसरे पर अत्याचार करते है। ईश्वराराधना, देवोपासना एव धार्मिक रीति-रिवाजो से सम्बन्ध रखने वाली साधारण-से-साधारण बात को लेकर आपस में लड मरना और एक-दूसरे की हत्या कर देना, स्वर्ग अथवा बहिश्त को पहुँचा देने वाला धार्मिक कृत्य माना जाता है। अपने माने हुए सम्प्रदाय की उपासना की विधि, कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजो को दूसरो से जबर्दस्ती मनवाना परम पुण्य का कार्य माना जाता है, और इसके लिए लोगो पर अनेक प्रकार के दवाव

डाले जाते हैं। ईश्वर के नाम पर धार्मिक अथवा मजहबी झगड़ों से बहुत अशान्ति और क्लेश होते रहते हैं। संसार में जितने अनर्थ इन धार्मिक अथवा मजहबी विषयो को लेकर ईश्वर के नाम पर होते हैं उतने अन्य किसी भी बात से नहीं होते। इस तरह की आसुरी प्रकृति के लोगो के उपर्युक्त मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वास और हठधर्मी की चेष्टाओ से अपने भयानक पतन और दूसरो को पीड़ा होने के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं होता, न किसी का किसी प्रकार का हित ही होता है।

जो लोग स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति की कामना से शास्त्रो में कही हुई विधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक यज्ञादिक धार्मिक कृत्य करते हैं, वे यद्यपि अपनी भावना के बल से अपने लिए शास्त्रो में वर्णित देवताओ के-से सूक्ष्म सुख-भोग उत्पन्न करके वासनात्मक सूक्ष्म शरीर से कुछ काल तक उन्हे भोगने का अनुभव कर लेते हैं, क्योकि परमात्मा के सर्वत्र व्यापक होने के कारण यज्ञादिक कर्मो द्वारा जो पूजन होता है, वह उसी का होता है; परन्तु उन लोगो की भावना सबके एकत्व-भाव-रूप परमात्मा की उपासना की नहीं होती, किन्तु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए देवताओ से सौदा करने की होती है, इसलिए उस सौदे के अनुसार उनको क्षणिक सुखो की प्राप्ति होकर फिर उनका पतन होता है, और वे नाना भाँति की योनियो में जन्म-मरण के चक्कर लगाते रहते हैं। स्वर्गादि का सुख वास्तविक सुख नहीं होता, क्योकि स्वर्गादि लोक और उनके सुख सब कल्पित होते हैं। अपने मन की कल्पना ही से स्वर्गादि लोक मान लिये जाते हैं, और वैदिक कर्म-काण्ड से उन स्वर्गादि लोको की प्राप्ति की मानसिक भावना से ही उनकी कल्पित प्राप्ति होकर, उनमें स्वप्न के भोगो की तरह कल्पित भोग भोगे जाते हैं। सारांश यह कि जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वह हो जाता है, और अपने लिए वैसे ही कल्पित सामान जुटा लेता है। देवताओ की भावना करने वाले अपने लिए देवताओ का बनाव करके उनमें जा मिलते हैं; मरे हुए पितरो की भावना करने वाले पितरो का बनाव करके उनमें जा मिलते हैं; जड़ पदार्थो में आसक्ति रखने वाले जड़ हो जाते हैं; और सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना करने वाले परमात्मा-स्वरूप हो जाते हैं।

जो सत्वगुण-प्रधान दैवी प्रकृति के महापुरुष होते हैं, वे सारे जगत् में परमात्मा को समान भाव से परिपूर्ण समझ कर सबके साथ एकता से प्रेमपूर्वक समता* के बर्ताव करने रूपी परमात्मा की उपासना करते हैं। वे संसार के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी निरन्तर सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा का ही चिन्तन करते रहते हैं। सबको

*समता के बर्ताव का खुलासा पाँचवे अध्याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण में कर आये हैं।

परमात्मा का रूप जान कर नमस्कार आदि से विनय का वर्ताव करते हैं; और परमात्मा की सर्वरूपता आदि भावो की चर्चा, कथा, कीर्तन आदि रूप से उनकी उपासना करते रहते हैं। कई विचारवान् सज्जन अद्वैत सिद्धान्त के श्रवण, मनन निदिध्यासन आदि के ज्ञान-यज्ञ से परमात्मा की अभेद-उपासना करते हैं; और कई द्वैत सिद्धान्त को मान कर उपास्य-उपासक के भेद-ज्ञानपूर्वक विश्वरूप परमात्मा के विषय में विविध प्रकार के विचार करने रूपी उपासना करते हैं। जगत् में जो कुछ है, वह सब परमात्मा ही है। वेदादि शास्त्र और शास्त्रोक्त यज्ञादिक क्रियाएँ, सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य, सूक्ष्म, स्थूल और कारण भाव, तथा उत्पत्ति-विनाश, दृश्य-अदृश्य सभी एक परमात्मा ही के अनेक रूप हैं। इस अनन्य-भाव से अखिल विश्व को परमात्मा का ही स्वरूप समझकर जो उसकी उपासना करते है, अर्थात् परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् के साथ एकता के प्रेम सहित सब व्यवहार करते है, वे स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाते हैं। उनको कोई भी पदार्थ अप्राप्य नहीं होता, किन्तु उनकी सब इच्छाएँ स्वत. पूर्ण होती है, क्योकि परमात्म-स्वरूप में अखिल विश्व का समावेश होता है; इसलिए उनसे भिन्न कुछ शेष ही नहीं रहता।

दैवी और आसुरी सम्पत्ति तथा सात्विक, राजस एव तामस भावो की विशेष व्याख्या भगवान् ने आगे सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्यायो में की है, उसी के आधार पर इन श्लोको का स्पष्टीकरण किया गया है—यद्यपि बीज रूप से इन श्लोको में भी वे ही भाव विद्यमान हैं। यहाँ उपासना के प्रसंग में दैवी और आसुरी प्रकृतियो का सक्षेप से उल्लेख करके यह स्पष्ट किया गया है कि गीता में ईश्वरोपासना से तात्पर्य, परमात्मा के किसी रूप-विशेष के ध्यान अथवा पूजन करने, या किसी नाम-विशेष के जाप करने आदि ही में लगे रहने का नहीं है, किन्तु परमात्मा को सर्वत्र एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का आचरण करने रूपी समत्व-योग का है। वास्तव में गीता में सर्वत्र समत्व-योग ही का प्रतिपादन है। सातवें से बारहवें अध्याय तक उपासना के ढंग से समत्व-योग का प्रतिपादन है, अतः केवल नाम का भेद हैं, वस्तुतः बात एक ही है।

× × ×

अब भगवान् उपरोक्त अनन्य-भाव से उपासना करने की सीधी-सादी, सरल एव सुगम विधि बता कर उस उपासना का महात्म्य कहते हैं। साथ ही स्पष्ट रूप से यह प्रकट करते है कि इस उपासना में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र को—किसी भी प्रकार के भेद बिना—एक समान अधिकार है, और इससे सबको एक समान लाभ होता है। तात्पर्य यह कि इसमें पूर्ण साम्य-भाव है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन.॥ २६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल, यानी सबको सहज ही प्राप्त हो सकने वाले पदार्थ भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, (उस) शुद्ध अन्तःकरण वाले (भक्त) की भक्ति सहित समर्पित उस भेंट को मैं खाता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा=परमात्मा की बहुमूल्य और बढिया भोग्य पदार्थों में कोई प्रीति नहीं होती, और साधारण वस्तुओं में कोई अप्रीति नहीं होती, क्योंकि ससार के सभी पदार्थ परमात्मा ही की कल्पना के बनाव हैं; इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए बहुमूल्य पदार्थों की भेंट की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अथवा परमात्मा सबमें एक समान है—इस एकत्व-भाव को भूल कर परस्पर में द्वेष उत्पन्न करके जो लडाई-झगड़े और छीना-झपटी आदि किये जाते हैं, उन्हे मिटा कर सबके साथ एकता के प्रेम-पूर्वक एक-दूसरे की यथायोग्य सेवा करना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है; और वह प्रेम-भाव की सेवा अनायास ही उपलब्ध होने वाले साधारण पदार्थों द्वारा जैसी हो सकती है, वैसी बहुमूल्य बढ़िया पदार्थों द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुमूल्य बढ़िया पदार्थ देने में मन में थोड़ा या बहुत क्लेश होने के अतिरिक्त देने का कुछ अभिमान भी होता

है, इसलिए उसमें सच्चा प्रेम कम रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि जो कोई व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल अथवा जल आदि सहज ही मिलने वाले पदार्थों द्वारा ही भक्ति अथवा प्रेम-पूर्वक अखिल विश्व में व्याप्त परमात्मा-स्वरूप मेरी सेवा करता है, वही सच्ची पूजा अथवा उपासना है। अभिप्राय यह कि स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि जितने भी शरीर है, उन सबमें परमात्मा समान भाव से व्यापक है, अत सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर, भिन्न-भिन्न शरीरों की योग्यता एवं आवश्यकता, तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो प्रेमपूर्वक उनको खिलाने आदि की सेवा करता है, उसी प्रेम-भरी सेवा से सबका अन्तरात्मा प्रसन्न होता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता का कारण कोई पदार्थ-विशेष नहीं होता, किन्तु सेवा करने वाले का आन्तरिक भाव होता है (२६)। **जो तू करता है, जो खाता अथवा भोगता है, जो हवन करता है, जो देता है, (और) जो तप करता है, हे कौन्तेय ! वह (सब) मेरे अर्पण कर;** अर्थात् यह चिन्तन करता हुआ सब-कुछ कर कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले, सबके एकत्व-भाव यानी सबके आत्मा=परमात्मा के प्रसाद ही से सब-कुछ हो रहा है। इस तरह (मेरे यानी सबके आत्मा=परमात्मा के अर्पण करने रूप) संन्यास-योग में जुड़े हुए अन्त करण से तू शुभाशुभ फल रूप कर्म-बन्धनो से छूट जायगा, और मुक्त होकर मुझ परमात्मा में मिल जायगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें साधारणतया दूसरो से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व के अहकार के साथ-साथ, दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना रहती है, और यही बन्धन का हेतु है; क्योंकि वास्तव में कोई भी व्यक्ति दूसरो की सहायता और सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकता; इसलिए यह पृथक्ता का अहकार झूठा है कि "अमुक कार्य केवल मेरे ही किये से होता है और इसके फल पर केवल मेरा ही अधिकार है"। यह मिथ्या भाव ही सब अनर्थों का कारण है। भगवान् उपदेश देते हैं कि मनुष्य जो कुछ काम करे, उसमें इस बात का ध्यान रखे कि "मैं" जो कुछ कार्य किया करता हूँ, वह अकेले मेरे ही किये से नहीं हो रहा है, किन्तु सबकी एकता अथवा सहयोग-रूप परमात्मा के प्रसाद से ही सम्पादित हो रहा है। इसलिए प्रत्येक कार्य में तथा उसके फल में सबका साझा समझना चाहिए। यही सबकी एकता का भाव भोजन करने में रखे कि "जो कुछ खाद्य-सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, वह सबकी एकता एव सहयोग-रूप परमात्मा के प्रसाद से ही प्राप्त हुई है, दूसरो से पृथक् होकर मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता"; इसलिए यह समझता हुआ कि मेरे भोजन में सबका साझा है—दूसरो को खिलाता हुआ आप खावे। हवन, यज्ञ* आदि धार्मिक कृत्य करने में भी यही एकता का भाव रखे कि दूसरो के सहयोग बिना कोई धार्मिक कृत्य सपादित

---

*सत्रहवे अध्याय में यज्ञ और तप का स्पष्टीकरण देखिये।

नहीं हो सकता। और तप* करने में भी उसी सर्वभूतात्मैक्य-भाव का ध्यान रखे कि दूसरों के सहयोग बिना किसी प्रकार का तप सिद्ध नहीं हो सकता। इस तरह शरीर के प्रत्येक व्यवहार में सबकी एकता-रूप परमात्मा का स्मरण रखना ही उसे परमात्मा के अर्पण करना है; और इस तरह करने से सभी व्यवहार सबके साथ प्रेम-युक्त एवं सबके लिए हितकर होते है, और उनके करने में दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार और दूसरो से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव न रहने के कारण उन व्यवहारो से कोई बन्धन उत्पन्न नहीं होता। यह सर्वभूतात्मैक्य-भाव का आचरण परमात्मा की सच्ची एवं अत्यन्त सुगम उपासना है—इसी से मनुष्य परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (२७-२८)। **मै (सब का आत्मा) सब भूतो में समान भाव से व्यापक हूँ, न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय हैं और न कोई प्रिय; परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझ में हैं और मै भी उन में हूँ।** तात्पर्य यह कि सबका आत्मा=परमात्मा "मैं" रूप से सबमें समान भाव से व्यापक है, अतः सारा जगत् परमात्मा ही के अनेक रूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए परमात्मा की किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ में प्रीति नहीं होती—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बडा और उच्च कोटि का क्यो न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही बहुमूल्य एवं मनोहर क्यो न हो; न परमात्मा का किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ से द्वेष होता है—चाहे वह व्यक्ति कितना ही छोटा और हीन कोटि का क्यो न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही तुच्छ एवं बुरा क्यो न प्रतीत होता हो—परमात्मा सबमें एक समान है। प्रीति (राग) और अप्रीति (द्वेष) मन के विकार है, और जिनके अन्त:करण में भिन्नता के भावो की दृढता होती है, उनमें ये राग-द्वेष के विकार बने रहते है, और वे सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा=परमात्मा में भी राग-द्वेष का आरोप करके उस से विमुख रहते है; परन्तु जिनकी बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि यह चराचर जगत् सबके आत्मा=परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है, वे सबके साथ एकता का प्रेम करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करते है; और वे चाहे बड़े हो या छोटे, ऊँच हो या नीच, स्त्री हो या पुरुष—किसी भी प्रकार के भेद बिना परमात्म-पद को प्राप्त हो जाते है, यानी सबकी एकता के परमात्म-भाव में उनकी स्थिति हो जाती है (२९)। **यद्यपि कोई दुराचारी भी हो, और (उपरोक्त) अनन्य-भाव से मेरी (सबके आत्मा=परमात्मा की) उपासना करता हो, (तो) उसको साधु यानी सदाचारी ही समझना चाहिए, क्योकि उसको (सबके आत्मा=परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता का) सच्चा एवं दृढ़ निश्चय होता है, अतः वह**

---

*सत्रहवें अध्याय में यज्ञ और तप का स्पष्टीकरण देखिए।

तत्काल ही धर्मात्मा होता है, (और वह) स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है, हे कौन्तेय ! यह अच्छी तरह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी विनाश नही होता । तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति बाहरी दृष्टि से अथवा ऊपर से देखने में हिसा आदि पापाचरण अथवा दूसरे निकृष्ट माने जाने वाले कर्म के कारण दुराचारी भी प्रतीत होता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण में सबके आत्मा=परमात्मा की सर्वव्यापकता यानी सबकी एकता का सच्चा एव दृढ निश्चय हो और वह सबके साथ उपरोक्त प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति अनन्य-भाव से करता हो तो वास्तव में वह सज्जन ही है; क्योकि कर्म अथवा आचरण जड़ होने के कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते—वे चेतन कर्ता पर निर्भर रहते है; इसलिए उनमें अपना अच्छापन या बुरापन नहीं होता । आचरणो का अच्छापन या बुरापन कर्ता के अन्त.करण के भाव पर निर्भर रहता है, इसलिए उनका यथार्थ निर्णय केवल ऊपरी दिखाव से नहीं होता, किन्तु कर्ता के भाव से होता है । जो सबकी एकता के निश्चय से अपने कर्तव्य-कर्म करता है, उसके कर्म चाहे कितने ही नीच अथवा बुरे प्रतीत हो, वास्तव में वे बुरे नहीं होते, प्रत्युत श्रेष्ठ और अच्छे होते है; और उनका करने वाला वास्तव में धर्मात्मा ही होता है, एव उसके अन्त.करण में सदा शान्ति विराजमान रहती है । इस तरह सबकी एकता के अनन्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी परमात्मा की उपासना करने वाला कोई दुराचारी नहीं होता, न उसकी दुर्गति ही होती है यह निश्चित तथ्य है (३०-३१) । हे पार्थ! जो पाप-योनि है अर्थात् जो पूर्व के पापो के कारण तामस स्वभाव वाली (चोर, ठग, डाकू आदि जरायम पेशा) जातियो में जन्म लेने वाले लोग है—वे, और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र, अर्थात् जिनमें रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है, वे भी, मेरा आश्रय करके अर्थात् उपरोक्त अनन्य-भाव से मेरी उपासना करने से परम गति को पाते है, तो फिर पुण्यवान् यानी सदाचारी ब्राह्मणो एवं भक्त यानी सबसे प्रेम करने वाले राज-ऋषियो (क्षत्रियो) का कहना ही क्या ! अर्थात् सत्व-रज की प्रधानता के कारण जो लोग स्वभाव से ही सदाचारी होते है, वे उपर्युक्त अनन्य भाव से मेरी उपासना करें तो उनके परम-पद प्राप्त होने में संदेह ही क्या हो सकता है ? तू इस अनित्य अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील और असुख अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा व्याधि, आदि क्लेशों से युक्त, इस लोक यानी मनुष्य-देह को पाकर (सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप) मेरा (उपरोक्त अनन्य भाव से) भजन कर । तात्पर्य यह कि २८वें श्लोक में भगवान् ने कहा था कि "मैं" सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा

सबमें एक समान हूँ, मुझे कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है, इस विषय का खुलासा श्लोक ३० से ३३ तक में किया गया है। एक एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा "मैं" रूप से ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष आदि सबमें एक समान व्यापक है—उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद केवल भिन्न-भिन्न शरीरो के गुण-वैचित्र्य का होता है, और वह गुण-वैचित्र्य प्रकृति का कार्य है, अतः उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रियो, मन, वुद्धि आदि तक ही रहता है—आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता; आत्मा तो सदा सम ही वना रहता है। जिनके बुद्धि और मन शारीरिक भिन्नता के भावो से ऊपर उठ कर, सबके एकत्व-भाव=आत्मा अथवा परमात्मा की उपासना में लग जाते है, उनके गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न भेद-भाव, आत्मा के एकत्व-भाव में शान्त हो जाते ह, और वे आत्म-स्वरूप हो जाते है। इस आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सबको एक समान अधिकार है, क्योकि आत्मा सबमें एक समान विद्यमान है, यानी सब कुछ आत्मा ही है—चाहे तमोगुण-प्रधान चाण्डाल का शरीर हो या सत्वगुण-प्रधान ब्राह्मण का; चाहे रजोगुण-प्रधान स्त्री का शरीर हो, या रज-सत्व-प्रधान क्षत्रिय का, या रज-तम-प्रधान वैश्य या शूद्र का—सब एक ही आत्मा के अनेक रूप होते है। अतः जो भी कोई उपर्युक्त अनन्य-भाव की आत्मोपासना में लग जाता है, वही शनैः-शनैः उन्नति करता हुआ परम गति को पहुँच जाता है, अर्थात् उसके पृथक् व्यक्तित्व का अथवा शरीर का तुच्छ अहंकार मिट जाता है, और वह सबके आत्मा=परमात्मा के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है। उपर्युक्त आत्मोपासना के अभ्यास की योग्यता इस मनुष्य-देह में ही है, क्योकि इसमें वुद्धि का विशेष विकास होने के कारण आत्मा अथवा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के विज्ञान-सहित ज्ञान के समझने की योग्यता इसी (मनुष्य शरीर) में ही होती है; परन्तु प्रथम तो मनुष्य शरीर प्राप्त होना वहुत दुर्लभ है—अनेक योनियो में चक्कर काटने के वाद यह (मनुष्य शरीर) कठिनता से प्राप्त होता है; और प्राप्त होने पर भी यह अनित्य और असुख ही है, क्योकि संसार के अन्तर्गत होने से इसकी दशा भी क्षण-क्षण में वदलती रहती है; और यह उत्पत्ति-नाशवान् भी है; और अज्ञान दशा में नाना प्रकार के कर्मों के परिणाम-स्वरूप वहुत से झंझट और विक्षेप इसमें लगे हुए रहते है, जिनसे आत्मज्ञान की तरफ प्रवृत्ति होने में वहुत रुकावटें होती है। इसलिए भगवान् कहते है कि इस दुर्लभ, अनित्य और असुख मनुष्य शरीर को पाकर सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा=परमात्मा की उपरोक्त भक्ति में लग कर नाना प्रकार के दुःखों एवं वन्धनो से छुटकारा पाने का साधन तुरन्त ही कर लेना चाहिए, इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए; क्योकि शरीर का एक क्षण का भी भरोसा नहीं है—न मालूम यह कव छूट जाय, और इसके छूटने के वाद फिर मनुष्य शरीर कव प्राप्त हो, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। यह शरीर सबका एक समान अनित्य और असुख है, इसमें भी नीच-

ऊँच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है, इसलिए अपने उपर्युक्त कल्याण का साधन करने में किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। इस भूल में कदापि नहीं रहना चाहिए कि "संसार के नाना प्रकार के झंझट और बखेड़े मिटा कर फिर उक्त आत्मज्ञान अथवा समत्व-योग में लगने का प्रयत्न करेंगे", क्योंकि जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक ये झंझट और बखेड़े शरीर के साथ ही बने रहते हैं—चाहे गृहस्थी में रहे या संन्यासी हो जाय, चाहे घर में रहे या वन में चला जाय—आत्मज्ञान के बिना अन्य किसी भी उपाय से ये मिट नहीं सकते। उपर्युक्त समत्व-योग के अभ्यास से ही ये शनैः-शनैः आप-ही-आप शान्त हो जाते हैं। इसलिए इन झझटो और बखेडो के रहते ही इस अभ्यास में लग जाना चाहिए (३२-३३)। मेरे मन वाला हो अर्थात् सब चराचर सृष्टि के एकत्व-भाव में चित्त स्थिर कर; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मुझको सर्वव्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम कर; मेरा भजन कर, अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरे विराट् शरीर-रूप जगत् के धारणार्थ—लोक-सग्रह के लिए—स्वधर्मानुसार (गी० अ० ३ श्लो० ३५), अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म कर; मुझे नमस्कार कर, अर्थात् चराचर सृष्टि को सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरा व्यक्त स्वरूप समझकर सबको नमस्कार कर और सबके साथ विनीत भाव का वर्ताव कर। इस प्रकार अपने को सबके साथ एकता के भाव में जोड़ कर अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ एवं सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरे परायण हुआ तू मुझ पर-मात्मा में ही मिल जायगा (३४)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय से आरम्भ होकर जिस विज्ञान-सहित ज्ञान का वर्णन चल रहा है, अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा को अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता के प्रेम* का व्यवहार करने रूपी उपासना का विधान किया जा रहा है, उसको इस अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान् ने "राज-विद्या, राज-गुह्य, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष-प्राप्त, धर्म-रूप, सुख-साध्य एवं अव्यय" विशेषण दिये थे; उनमें से "राजगुह्य, उत्तम, प्रत्यक्ष-प्राप्त, धर्म-रूप और अव्यय' विशेषणो की व्याख्या श्लोक ४ से २५ तक हो गई। "राज-विद्या, पवित्र और सुख-साध्य" विशेषणो की व्याख्या इन श्लोको में है। भगवान् कहते हैं कि मेरी यथार्थ उपासना इतनी सुख-साध्य है कि उसको हर-कोई मनुष्य (स्त्री-पुरुष) किसी भी प्रकार के परिश्रम, कष्ट और बाधा के बिना सहज ही कर सकता है। "मैं" सबका आत्मा=परमात्मा सर्वव्यापक एवं सब कुछ हूँ, इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी विशेष देश अथवा काल की अपेक्षा नहीं रहती न किसी प्रकार के आडम्बर करने की ही आवश्यकता है। मनुष्य (स्त्री-पुरुष)

* बारहवें अध्याय मे प्रेम के वर्ताव का स्पष्टीकरण देखिए।

किसी भी देश अथवा स्थान में, किसी भी काल अथवा अवस्था में, किसी भी प्रकार से मेरा चिन्तन कर सकते है, क्योकि "मै" सबका अपना-आप हूँ, और आत्म-चिन्तन सर्वत्र, सब दशाओ में हो सकता है। संसार में जितने पदार्थ है वे सब मेरी (सबके आत्मा=परमात्मा की) कल्पना है, इसलिए मेरी उपासना के लिए किसी भी सामग्री अथवा द्रव्य के जुटाने या भेंट करने की आवश्यकता नहीं है। पदार्थ तो शरीरो की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए होते है, अतः जिसके पास जो पदार्थ हो, उन पदार्थों के द्वारा जो प्रीतिपूर्वक भिन्न-भिन्न शरीरो की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करता है, वही मेरी पूजा है। "मै" सबका आत्मा होने के कारण सदा एवं सर्वत्र एक समान उपस्थित रहता हूँ। इसलिए मेरी उपासना के लिए न तो किसी देश-विशेष, क्षेत्र-विशेष अथवा तीर्थ-विशेष में भटकने की आवश्यकता है, और न किसी विशेष लोक अथवा विशेष दिशा में मेरा निवास समझ कर उसे महत्व देना ही ठीक है किन्तु घट-घट में मेरा निवास जान कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम करना ही मेरी सच्ची उपासना है। मै किसी विशेष नाम अथवा विशेष रूप ही में परिमित नहीं हूँ, किन्तु संसार में जितने नाम है और जितने रूप है, वह सब मेरे है, इसलिए किसी विशेष नाम और विशेष रूप ही में आसक्ति रख कर उनके अवलम्बन मात्र ही से मेरी उपासना नहीं होती; क्योकि विशेष नाम और विशेष रूप, चाहे कितने ही उच्च कोटि के माने जायें, परन्तु उनमें दूसरो से पृथक्ता का भाव होने के कारण वे झूठे होते है। इसलिए सब नामो और रूपो को सबके आत्मा =परमात्मा-स्वरूप मेरा ही खेल समझ कर सबके साथ अपनी एकता के अनुभवपूर्वक सबसे प्रेम करने से ही मेरी उपासना होती है। मेरी उपासना के लिए न तो किसी सांसारिक पदार्थ को त्यागने की आवश्यकता है, और न यज्ञ, उत्सव, भोग, प्रसाद आदि के समारोह करने से अथवा शरीर को कष्ट देने वाले व्रत, उपवास आदि नाना प्रकार के तप करने से ही मेरी उपासना होती है, किन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जो अपने रात-दिन के स्वाभाविक व्यवहार करते है, उन्हीं में सबकी एकता-रूप मेरा स्मरण करते रहना ही मेरा वास्तविक यजन-पूजन है। दूसरे शब्दो में जो शरीर-यात्रा के प्रत्येक व्यवहार में सदा यह स्मरण रखता है कि "सबके एकत्व-भाव=परमात्मा ही के प्रसाद से सब-कुछ हो रहा है, अर्थात् सबकी सहायता और सहयोग से ही प्रत्येक व्यवहार सिद्ध होता है", और जो दूसरो के शारीरिक व्यवहारो में सहायता और सहयोग देता रहता है, वही सच्चा उपासक और भक्त है। साराश यह कि अखिल विश्व को सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरा ही रूप समझ कर सबके साथ अनन्य-भाव के प्रेम-युक्त यथायोग्य समता का व्यवहार करना ही मेरी सच्ची उपासना है। यह उपासना सभी स्त्री, पुरुष, धनी, गरीब, ऊँच, नीच, छोटे, बड़े, सबल, निर्बल, विद्वान्, मूर्ख समान रूप से, स्वावलम्बन और स्वतन्त्रतापूर्वक अत्यन्त सुगमता से कर सकते है। किसी भी प्रकार के जाति-भेद, कुल-

भेद, वर्ग-भेद, सम्प्रदाय-भेद, देश-भेद, काल-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, पद-भेद, अवस्था-भेद आदि की बाधा बिना सबको इसका एक समान अधिकार है। दूसरे मज़हबी अथवा धार्मिक कर्मकाण्डो की तरह किसी जाति-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, वर्ण-विशेष, आश्रम-विशेष अथवा पद-विशेष का ठेका (Licence) इसमें नहीं है; क्योकि सबके साथ प्रेम करने के लिए किसी भी प्रकार की विशेष योग्यता, विशेष शक्ति, विशेष ऐश्वर्य आदि साधनो की अपेक्षा नहीं रहती, और न किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट ही रहती है। जहाँ भेद-भाव और राग-द्वेष होते है, वहीं ये अड़चनें और रुकावटें होती है। (परमात्मा की सच्ची उपासना अथवा भक्ति का विस्तृत वर्णन आगे बारहवें अध्याय में है; उपर्युक्त स्पष्टीकरण उसी वर्णन को लक्ष्य करके किया गया है)।

इस एकत्व-भाव की उपासना से अपवित्र माने जाने वाले पवित्र हो जाते है, नीच माने जाने वाले उच्च हो जाते है, निर्बल सबल हो जाते है, निर्धन संपत्तिशाली हो जाते है, और मूर्ख विद्वान् हो जाते है, अर्थात् जिसमें जिस विषय की कमी होती है, वह सब मिट कर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि-रूप परम-पद की प्राप्ति सबको एक समान हो जाती है। इसलिए मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का एक मात्र कर्तव्य उपर्युक्त अनन्य-भाव की उपासना-रूप से कथन किया हुआ सबके साथ एकता के प्रेम-युक्त साम्य-भाव का व्यवहार ही है।

अत्यंत लज्जा एवं शोक का विषय है कि वर्तमान में अधिकाश भारतवासी महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता जैसे सर्वलोक-हितकर एवं सार्वजनिक—जग-न्मान्य उपदेश की अवहेलना करके उसके सर्वथा विरुद्ध आचरण करने ही में अपना गौरव समझते है। भगवान् तो कहते है कि "मै परमात्मा किसी व्यक्ति-विशेष में परिमित नहीं हूँ, किन्तु सर्वव्यापक हूँ एवं जगत् सब मेरा ही व्यक्त स्वरूप है, अत. सबके साथ प्रेम करना ही मेरी भक्ति या उपासना है"; परन्तु भारतवासी उसके विपरीत, ईश्वर को सबसे अलग—आसमान में अथवा दूसरे लोको में बैठा हुआ एक व्यक्ति मान कर उसे दूर से बुलाते है, और उससे अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते है तथा उसे किसी स्थान-विशेष में बन्द करके अपने ताले के भीतर रखना चाहते है; और जगत् को उससे भिन्न मान कर एक दूसरे से घृणा, तिरस्कार और द्वेष करना धर्म समझते है। भगवान् कहते है कि "मै सबका आत्मा सबके अन्दर ही हूँ"; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध उसे कहीं बर्फ से लदे हुए पहाड़ो की चोटियो पर, अथवा पर्वतो की गुफाओ में, अथवा जंगलो एवं नदी-नालो अथवा समुद्रो में अथवा ग्रामो एव नगरो की तग गलियो में तथा मन्दिरो और मठो में ढूंढते फिरते है। भगवान् कहते है कि "ससार में जितने नाम और रूप है और जितने पदार्थ है वे सब मेरी कल्पना है, और मेरी उपासना के लिए किसी भोग्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है"; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध विशेष रूपो की मूर्तियाँ बना कर

उन्हीं में उसे परिमित मान कर उनके सामने विविध प्रकार के भोग-प्रसाद तथा भोग्य पदार्थों के ढेर के ढेर करके उनका अपव्यय करते है, और जिन शरीरो को उन पदार्थों की अत्यन्त आवश्यकता रहती है उन्हें नहीं देते। भगवान् कहते है कि "मेरी उपासना में स्त्री, पुरुष, ऊँच, नीच आदि सबको एक समान अधिकार है" ; परन्तु भारतवासी उसके विरुद्ध अपने आधे अंग—स्त्रियो को, और समाज की नि.स्वार्थ-भाव से सेवा करने वाले कर्तव्य-परायण अपने भाइयो को हीन-वर्ण का मान कर उनको सब अधिकारो से वंचित रखना ही परम धर्म मानते है। जो वेद, ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है, अथवा ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना जाता है, और जो श्रीकृष्ण, सर्वव्यापक ईश्वर का अवतार माना जाता है, उसी ईश्वर की स्पष्ट आज्ञा होते हुए भी, उसके विरुद्ध ये लोग स्त्रियो और शूद्रो को वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं मानते। यद्यपि भगवान् कहते है कि "मै सब भूत-प्राणियो में एक समान हूँ, जो भक्तिपूर्वक मुझे भजता है वह मुझ में है और मै उसमें हूँ" ; परन्तु ईश्वर के नाम पर स्थापित मन्दिरो और देवालयो में उसके सच्चे भक्त हरिजनो (अछूत माने जाने वाले भाइयो) को उपासना के लिए जाने नहीं दिया जाता। यद्यपि कहने के लिए तो ईश्वर अपवित्रो को पवित्र करने वाला कहा जाता है, परन्तु उन अछूत माने जाने वालो के स्पर्श से ईश्वर के भी अपवित्र हो जाने का मिथ्या भ्रम किया जाता है। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन अछूत माने जाले वाले हरिजनो के पूर्वज कबीर, रैदास प्रभृति अनेक आत्मज्ञानियो ने अपने अतुलनीय अध्यात्म-ज्ञान से भारतवर्ष को ही नहीं, किन्तु सारे जगत् को चकित कर दिया था, और जिनने निडर होकर इन मज़हबी और साम्प्रदायिक अन्धविश्वासो की जोरदार शब्दो में निन्दा की थी, उन्हीं के अनुवर्ती—वर्तमान के हरिजन लोग—साम्प्रदायिक अन्धविश्वासो के इतने पीछे पड़े हुए है कि जिन मन्दिरो और देवालयो में ईश्वरोपासना की इतनी विडम्बना हो रही है, उन्हीं में जाने से वे अपना कल्याण समझते है, और एक सम्प्रदाय के हठधर्मी लोगो के अत्याचारो से पीड़ित तथा तिरस्कृत होकर, दूसरे किसी सम्प्रदाय के हठधर्मियो के चंगुल में फँसना अपने लिए हितकर समझते है। मज़हब, धर्म अथवा सम्प्रदाय, ऊपर से देखने में चाहे कितने ही सुहावने और लाभकारी क्यो न प्रतीत हो, वास्तव में वे एक-दूसरे से अधिक बन्धनो में बाँधने वाले, अन्धविश्वासो में जकड़ने वाले, बलात् दुराचारो में प्रवृत्त कराने वाले, आत्म-सम्मान और स्वावलबन के विरोधी एव आत्मिक पतन के प्रधान कारण होते है। कोई भी मज़हब और सम्प्रदाय मनुष्य का मनुष्यत्व नहीं रहने देता। एक बार किसी मज़हब के घेरे में फँसने के बाद उससे निकलना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है, और मज़हबी घेरे से निकले बिना मनुष्य को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। यह दर्शन-शास्त्रो ही की महिमा है कि वे मनुष्य को साम्प्रदायिक अथवा मज़हबी बेडियाँ तोड कर स्वतंत्र विचार करने का अवसर देते है; और यह वेदान्त दर्शन का ही अनुपम साहस है कि वह खुले आम कहता है कि "ईश्वर,

परमात्मा अथवा आत्मा जो कुछ है, वह "तू" ही है। जो "तू" एक शरीर में है, वही "तू" सब शरीरो में है—"तेरे" सिवाय और कुछ नहीं है (छान्दोग्य-उप० प्रपा० ६)। यह जगत् सब "तेरा" ही खेल है। "तू" अपने वास्तविक आपको छोड़ कर और किस की तलाश करता है ? यदि सुख की तलाश करता है तो सुख-स्वरूप "तू" है। यदि ज्ञान की तलाश करता है तो ज्ञान-स्वरूप "तू" है। यदि धन चाहता है तो अखूट सम्पत्ति-रूप "तू" है और यदि बल-वैभव की तलाश करता है तो बल-वैभव-रूप स्वयं "तू" है। "अपने-आप, अपनी असलियत, अपने वास्तविक स्वरूप को समझ, और निर्भय, स्वतंत्र अथवा मुक्त हो"। यही विज्ञान-सहित ज्ञान अथवा ब्रह्म-विद्या अथवा समत्व-योग भगवान् ने गीता में सबके लिए समान भाव से कहा है। अन्य किसी भी धर्म, मजहब अथवा सम्प्रदाय वालो को इस प्रकार के सर्व-श्रेष्ठ एवं अटल सुख-शान्तिदायक साम्य-भाव का राज-ढिंढोरा पीटने की हिम्मत नहीं।

॥ नवाँ अध्याय समाप्त ॥

दसवाँ अध्याय

इस दसवें अध्याय में भगवान् अपनी पूर्वकथित सर्वरूपता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सिलसिला चालू रखते हुए अर्जुन के प्रार्थना करने पर अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियो, यानी आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से अभिव्यक्ति के स्थलो का संक्षिप्त वर्णन करके, आत्मा अथवा परमात्मा के प्रत्यक्ष अस्तित्व और उसकी सर्वव्यापकता की पुष्टि करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। २ ।।
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ३ ।।
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। ४ ।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। ५ ।।
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। ६ ।।
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।। ७ ।।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। ८ ।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९ ।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे महावाहो ! (मेरे उपदेशो में) तेरी प्रीति होने के कारण, मैं तेरे हित के लिए, फिर भी जो परम रहस्य की बात कहता हूँ, सो सुन । तात्पर्य यह कि जो किसी उपदेश में प्रेम रखता है, उसी को हितकारक उपदेश वार-वार दिया जा सकता है (१) । मेरे प्रभव अर्थात् उत्पत्ति, अथवा प्रभाव यानी महिमा को न तो देवता लोग जानते हैं और न महर्षि गण ही, क्योकि मैं देवताओ और महर्षियो का भी सव प्रकार से आदि (कारण) हूँ । तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से प्रत्येक शरीर में रहने वाली देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने, स्पर्श करने, संकल्प करने एव विचारने आदि की सूक्ष्म शक्तियाँ, और आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से इन सवके समष्टि-भाव—जिनकी क्रमश. देवता और महर्षि सज्ञा है, वे सव आदि वाले है, अर्थात् वे सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरे सकल्प से उत्पन्न होते है, अत. वे आत्मा अथवा

परमात्मा-स्वरूप मेरी उत्पत्ति और महिमा को नहीं जान सकते (२)। जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात् जन्म से रहित, अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित और सब लोको का महान् ईश्वर जानता है, वह ज्ञानी मनुष्य इस संसार में सब पापो से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से आत्मा को अजन्मा, अनादि और देह, इन्द्रियो, मन, बुद्धि आदि सारे संघात का स्वामी, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से परमात्मा को अजन्मा, अनादि और सब लोको का महान् ईश्वर जानने से अज्ञान-जन्य सब पापो से छुटकारा अवश्य हो जाता है (३)। बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति, ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, असंमोह अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के विषय में विमूढ न होना, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, सत्य अर्थात् सचाई, दम अर्थात् इन्द्रियो का निग्रह, शम अर्थात् मन का संयम, सुख अर्थात् अनुकूल वेदना, दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना, भव अर्थात् होना और अभव अर्थात् न होना, भय अर्थात् डर और अभय अर्थात् निडरता, अहिंसा अर्थात् किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना, समता अर्थात् अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में एक समान रहना, तुष्टि अर्थात् तृप्ति, तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित तीन प्रकार का शिष्टाचार, दान अर्थात् द्रव्य का देना, यश अर्थात् कीर्ति, अयश अर्थात् निन्दा इत्यादि, प्राणियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव मुझ आत्मा अथवा परमात्मा से ही होते है। तात्पर्य यह कि प्राणियो के अन्त.करण के जो वीस प्रकार के भाव इन दो श्लोको में गिनाये है, और इनके अतिरिक्त काम, क्रोध, हर्ष, शोक, राग, द्वेष, भूख, प्यास आदि और भी अनेक प्रकार के जो भाव होते है, वे सब आत्मा अथवा परमात्मा की चेतन-शक्ति से होते है—जहाँ आत्मा की विशेष चेतना यानी विशेष अभिव्यक्ति होती है वहीं ये भाव होते है (४-५)। पूर्व के सात महर्षि और चार मनु, मेरे संकल्प से उत्पन्न होने वाले भाव है, जिनसे जगत् में यह प्रजा हुई है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से व्यष्टि आत्मा के संकल्प से, पहले-पहल दो कान, दो आँख, दो नाक और एक जिह्वा—इन सात ज्ञानेन्द्रियो के सूक्ष्म भाव, और मन, बुद्धि, चित्त एवं अहकार के समूह अन्त करण-चतुष्टय उत्पन्न होते है, फिर इनसे शरीर के सब अवयव होते है; और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सवके आत्मा=परमात्मा के संकल्प से उपरोक्त सात ज्ञानेन्द्रियो के समष्टि-भाव =सप्त महर्षि (वृहदा० उ० अ० २ ब्रा० २ म० ३-४), और अन्त.करण-चतुष्टय के समष्टि-भाव चार मनु, सृष्टि के आदि में पहले-पहल उत्पन्न होते है; और फिर इनसे सारी सृष्टि होती है। व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था पिण्ड की है, समष्टि रूप से उसी तरह की व्यवस्था ब्रह्माण्ड की है (६)। मेरी इस विभूति और योग के रहस्य को, अर्थात् एक से अनेक भाव होने के अद्भुत कौशल को जो तत्त्व से जानता है, वह अविचल समत्व-योग से युक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। तात्पर्य यह कि सवका आत्मा=परमात्मा-स्वरूप "मै" जिस तरह एक से अनेक भावो में व्यक्त होता हूँ, उस "एक में अनेक और अनेको में एक" के रहस्य को जो तात्त्विक विचारपूर्वक अच्छी तरह समझ लेता है, वही पक्का समत्वयोगी

होता है (७)। बुद्धिमान् लोग यह मान कर कि "मै सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मेरे से ही सबकी प्रवृत्ति होती है" प्रेमभाव से मेरी उपासना करते है (८)। (सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप) मुझमें मन लगा कर (और) प्राणो को मुझमें जोड कर अर्थात् श्वासोच्छ्वास में मेरा स्मरण करते हुए, (तथा) परस्पर में बोध कराते हुए एव मेरे विषय में चर्चा करते हुए सदा उसी में तृप्त यानी मस्त रहते है, और उसी में रमण करते है अर्थात् आनन्दित होते है (९)। निरन्तर मुझमें मन लगाये हुए उन प्रीतिपूर्वक (मेरा) भजन करने वालो को मै वह (तत्त्वज्ञान-रूप) बुद्धि-योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझमें आ मिलते है (१०)। उन के अनुग्रह के लिए ही मै उनके अन्त.करण में स्थित हुआ, देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करता हूँ (११)। श्लोक ८ से ११ तक का तात्पर्य यह है कि जो लोग उपर्युक्त वर्णन के अनुसार सबके आत्मा=परमात्मा को सबका आधार एव सबका प्रवर्तक मान कर निरन्तर उसके स्मरण में लगे रहते है, और सदा इसी विषय की चर्चा और कथा-कीर्तन आदि के अभ्यास में प्रसन्नता और शान्ति पाते है, सबके आत्मा=परमात्मा के प्रसाद से उनके अन्तःकरण में आत्मज्ञान का प्रकाश होकर भेद-भाव रूप अज्ञान मिट जाता है, अर्थात् उनकी बुद्धि सबकी एकता के तत्त्वज्ञान अथवा समत्व-योग से परिपूर्ण हो जाती है; जिससे आत्मा और परमात्मा का अभेद-ज्ञान होकर उन्हें स्वयं यह अनुभव हो जाता है कि "मै" ही सबका आदि कारण, सबका आधार एवं सबका प्रवर्तक हूँ, यानी सब-कुछ "मै" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दो में वे स्वयं परमात्मा-स्वरूप हो जाते है (८ से ११)। अर्जुन ने प्रार्थना की कि आप परम ब्रह्म हो, परम धाम हो, परम पवित्र हो; सब ऋषि लोग, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको पुरुष अर्थात् परमात्मा, शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाला, दिव्य अर्थात् स्वत· प्रकाशमान्, आदिदेव अर्थात् सब देवो का आदि कारण, अज अर्थात् जन्म से रहित और विभु अर्थात् सर्वव्यापक कहते है, और आप स्वय भी मुझे ऐसा ही कहते हो। हे केशव! आप मुझे जो (कुछ) कहते हो, उस सबको मै सत्य मानता हूँ। हे भगवान्! आपकी व्यक्ति अर्थात् आपके व्यक्त होने के रहस्य को अथवा आपके निर्दिष्ट व्यक्तित्व को न देव जानते है और न दानव ही। हे पुरुषोत्तम! हे भूतो के उत्पन्न करने वाले! हे भूतो के स्वामी! हे देवो के देव! हे जगत्पते! आप स्वय ही अपने-आपको जानते हो। तात्पर्य यह कि दूसरे श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा था कि मेरे प्रभाव को देवता और महर्षि कोई भी नहीं जानते, अर्जुन उसी भाव को दुहरा कर कहता है कि जो आप कहते हो वह बिलकुल ठीक है; ब्रह्माण्ड की दृष्टि से देवता और दैत्य आदि कोई भी आपकी महिमा को नहीं जानते—आप परमात्मा ही अपने-आपको जानते हो; और पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियां, एवं कर्मेन्द्रियाँ, आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकतीं—आत्मा केवल अपने-आपके अनुभव ही का विषय है; "मै हूँ" यह अनुभव मन के संकल्प से, बुद्धि के विचार से तथा ज्ञानेन्द्रियो

एवं कर्मेन्द्रियो के व्यापारो से नहीं होता, किन्तु अपने-आप ही होता है। सुषुप्ति अवस्था में जव मन, वुद्धि और इन्द्रियो के सारे व्यापार वन्द होते है, तव भी "मैं हूँ" यह अनुभव वना रहता है। अतः आत्मा केवल अपने अनुभव का विषय है अर्थात् स्वयं संवेद्य है (१२-१५)। आप ही कृपा करके अपनी सारी दिव्य विभूतियों अर्थात् चमत्कारिक विशेष भावों का वर्णन करिए, जिन विभूतियो से आप इन लोको में व्याप्त होकर स्थित हो। हे योगिन्! मै सदा किस प्रकार से चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ? हे भगवान्! मै आपका किन-किन भावो (अथवा पदार्थो) में चिन्तन करूँ? हे जनार्दन! आप अपने योग और विभूति को, अर्थात् एक से अनेक चमत्कारिक भाव होने के अद्भुत कौशल को फिर से विस्तारपूर्वक कहिए, क्योकि इस अमृत (रूप भाषण) को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती (१६-१८)।

स्पष्टीकरण—उपासना के प्रकरण में भगवान् ने अपनी सर्वरूपता का वर्णन करते हुए अनेक स्थलों पर यह कहा कि "मै सूक्ष्म एवं अव्यक्त भाव से सर्वत्र व्याप रहा हूँ, पर मुझे तत्त्वतः जानना अत्यन्त कठिन है"; और इस अध्याय के आरंभ में भी कहा है कि "मेरे प्रभाव को महर्षि और देवता गण भी नहीं जानते"। इस पर अर्जुन ने भगवान् की स्तुति करके निवेदन किया कि आपके अव्यक्त भाव को और अव्यक्त से व्यक्त होने के रहस्य को जानना इतना कठिन है कि स्वयं आपके सिवाय दूसरा कोई जान ही नहीं सकता तो आप (सवके आत्मा = परमात्मा) के अस्तित्व का निश्चय ही कैसे हो? आप कहते हो कि मै सव इन्द्रियगोचर पदार्थों तथा मानसिक भावो में समान भाव से व्याप रहा हूँ, परन्तु उन व्यक्त पदार्थो और भावो में रहने वाले आपके अव्यक्त एवं सम भाव को पहिचान कर आप (आत्मा अथवा परमात्मा) के अस्तित्व का पता ही कैसे लगाया जाय? प्रत्येक व्यक्ति अथवा पदार्थ के अस्तित्व का निश्चय उसकी विशेषता से होता है, परन्तु आपने तो अपने उपर्युक्त वर्णन में सर्वत्र अपनी समता का ही पाठ पढ़ाया है, कोई विशेषता नहीं वताई। अतः "(सवके आत्मास्वरूप) आप अव्यक्त भाव से सारे विश्व में व्याप रहे हो, और यह जगत् आप ही का व्यक्त स्वरूप है"—इस उपदेश को मन पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सकता। आप वार-वार कहते हो कि जो श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह मुझे जान सकता है, सो श्रद्धा भी वहाँ होती है, जहाँ कोई विशेष चमत्कार अथवा असाधारण एवं अद्भुत वनाव देखने में आता है; जहाँ कोई विशेषता नहीं होती—सर्वत्र समानता होती है—वहाँ श्रद्धा भी नहीं होती। इसलिए आप कृपा करके अपनी विशेषताओ को वताइए, अर्थात् अपने उन अद्भुत एवं चित्त को चौंकाने वाले विशेष चमत्कारिक भावो और रूपो का वर्णन कीजिए, जिनमें सवके आत्मा-स्वरूप आपकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती हो, और जिनके चिन्तन से आप (आत्मा अथवा परमात्मा) का अस्तित्व चित्त पर विशेष रूप से अंकित हो सके। यद्यपि सातवें अध्याय के ८ से ११ तक के चार श्लोको में जल आदि स्थूल पदार्थों में उनके सूक्ष्म सार रूप से आप (आत्मा) का अस्तित्व आपने वताया है, और नवें

अध्याय के १६वें से १९वें तक के श्लोको में "मै क्रतु हूँ", "मै यज्ञ हूँ" आदि वर्णनो से आपने सब पदार्थों में अपना सर्वात्म-भाव कहा है, और इस अध्याय में "बुद्धि, ज्ञान आदि सूक्ष्म भाव मुझसे ही होते है" कह कर सूक्ष्म रूप से अपना (आत्मा अथवा परमात्मा का) अस्तित्व प्रतिपादन किया है; परन्तु यह सब, आपके अत्यन्त सूक्ष्म इन्द्रियातीत एवं सामान्य भाव का वर्णन होने के कारण आपकी सर्वत्र अवस्थिति अर्थात् सब जगह आपके अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान और दृढ निश्चय कराने के लिए पर्याप्त नही है। इसलिए आप अपने उन चमत्कारिक एवं आश्चर्यजनक विशेष भावो का वर्णन करने की कृपा कीजिए, जिनमें आपका अस्तित्व विशेष रूप से अभिव्यक्त अथवा विकसित हुआ प्रतीत होता हो, और जिनके अवलम्बन से आपका चिन्तन करके आपको जानना सुगम हो जाय। अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् विशेष आत्म-विकास वाली मुख्य-मुख्य विभूतियो का वर्णन आगे करते है। परन्तु उन विभूतियो के वर्णन के साथ ही यह बात स्पष्ट कर देते है कि आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप "मै" किसी विभूति में परिमित नहीं हूँ, किन्तु सर्वत्र एक समान हूँ, तथा सबसे परे भी हूँ; और इन विभूतियो में मेरे एक अश मात्र का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक समान होता है, परन्तु कांच आदि चमकदार पदार्थों में प्रतिविम्वित होकर उसकी विशेष चमक प्रतीत होती है; उसी तरह "मै" सबका आत्मा सर्वत्र एक समान हूँ, परन्तु विशेष विभूतियो में विशेष रूप से प्रदर्शित होता हूँ। विभूतियो का जो वर्णन आगे श्लोक १९ से ४२ तक में किया गया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय इन सबका प्रत्यक्ष भौतिक अस्तित्व था किन्तु ससार के जिस बनाव में किसी प्रकार की चमत्कारिक, आश्चर्यजनक विशेषता की लोगो में उस समय मान्यता थी, अथवा शास्त्रो, इतिहासो तथा काव्यो आदि में उनके रचने वालो ने कल्पना की थी, उनका समावेश इन विभूतियो में किया गया है। सृष्टि सारी कल्पनामय है। अत इसमें किसी प्रकार की चमत्कारिक आश्चर्यजनक विशेषता के बनावो की जो कल्पना की जावे, वह सबके आत्मा=परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति समझना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।। ३६ ।।
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।। ३७ ।।
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।। ३८ ।।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।। ३९ ।।
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।। ४० ।।
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ।। ४१ ।।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। ४२ ।।

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि बहुत अच्छा, हे कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुझे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य अर्थात् चमत्कारिक विभूतियाँ कहूँगा, क्योकि मेरी विभूतियो का कोई पार नहीं है। हे गुडाकेश ! मैं आत्मा सब भूत-प्राणियो के हृदय (अन्त करण) में रहता हूँ; मैं ही भूत-प्राणियो का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ। तात्पर्य यह कि यद्यपि भूत-प्राणियो की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि सब-कुछ "मुझ"=आत्मा ही में है, यानी "मैं" आत्मा ही सब कुछ हूँ, परन्तु आत्मा-स्वरूप "मेरी" विशेष रूप से अभिव्यक्ति सबके हृदय में होती है। हृदय ही सब प्राणियो की जीवन-शक्ति का केन्द्र होता है (१९-२०)। आदित्यो में विष्णु मैं हूँ, प्रकाशवानो में किरणो वाला सूर्य, मरुतो में मरीचि हूँ, (और) नक्षत्रो में चन्द्रमा मैं हूँ (२१)। वेदो में सामवेद हूँ, देवताओ में इन्द्र हूँ, इन्द्रियो में मन हूँ और भूत-प्राणियो में चेतना हूँ (२२)। रुद्रो में शकर हूँ, यक्ष-राक्षसो में कुबेर हूँ, वसुओ में अग्नि हूँ और शिखरवालो (पर्वतो) में सुमेरु मैं हूँ (२३)। हे पार्थ ! पुरोहितो में मुख्य बृहस्पति मुझे जान, सेनापतियो में स्कद (स्वामी कार्तिकेय) मैं हूँ, जलाशयो में समुद्र हूँ (२४)। महर्षियो में भृगु मैं हूँ, वाणी अर्थात् शब्दो में एक-अक्षर (ओंकार) हूँ, यज्ञो में जप यज्ञ हूँ, स्थावरो (स्थिर रहने वालो) में हिमालय हूँ (२५)। सब वृक्षो में पीपल, देवर्षियो में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धो में कपिल मुनि हूँ (२६)। घोडो में समुद्र से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा, गजेन्द्र—हाथियो में ऐरावत और मनुष्यो में राजा मुझे जान

(२७)। अस्त्र-शस्त्रों में वज्र मै हूँ, गौओ में कामधेनु हूँ, और प्रजा उत्पन्न करने वाला काम हूँ, एवं सर्पो में वासुकि हूँ (२८)। नागो में शेषनाग हूँ, जलचरो में वरुण मै हूँ, पितरों में अर्यमा हूँ और नियमन करने वालो में यम मै हूँ (२९)। दैत्यो में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालो में काल (समय) मै हूँ, पशुओ में सिंह मै हूँ और पक्षियो में गरुड़ हूँ (३०)। वेगवानो में वायु हूँ, शस्त्रधारियो में रामचन्द्र मै हूँ, मत्स्यो में मगर हूँ और नदी-नालो में गंगा हूँ (३१)। हे अर्जुन ! सृष्टियो का आदि, अन्त और मध्य भी मै ही हूँ, विद्याओ में अध्यात्म-विद्या, और वाद करने वालो का वाद मै हूँ (३२)। अक्षरो में अकार हूँ, और समास-समूह में द्वन्द्व (समास) हूँ; मै ही अक्षय काल हूँ, और सर्वतोमुख धाता अर्थात् सारे विश्व को धारण करने वाला मै हूँ (३३)। सबका संहार करने वाली मृत्यु भी मै हूँ, और भविष्य में होने वालो का उत्पत्ति-स्थान हूँ, स्त्रियो में कीर्ति (प्रख्याति), श्री (शोभा), वाक् (वाणी), स्मृति (स्मरण-शक्ति), मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा (सहनशीलता) हूँ (३४)। सामवेद के मन्त्रो में बृहत्साम, और छन्दो में गायत्री मै हूँ, महीनो में मगसिर, ऋतुओ में वसन्त मै हूँ, (३५)। छल करने वालो में जुआ हूँ, तेजस्वियो का तेज मै हूँ; जय हूँ, व्यवसाय हूँ (और) सत्त्ववानो का सत्त्व मै हूँ (३६)। वृष्णियो में वासुदेव (कृष्ण) हूँ, पाण्डवो में धनंजय (अर्जुन) हूँ, मुनियो में व्यास भी मै हूँ और कवियो में शुक्राचार्य कवि हूँ (३७)। दमन करने वालो का दण्ड हूँ, जय की इच्छा करने वालो की नीति हूँ, और गुप्त रखने वालो में मौन और ज्ञानियो का ज्ञान मै हूँ (३८)। और हे अर्जुन ! सव भूतो का जो वीज है, वह भी मै ही हूँ; ऐसा कोई चर-अचर भूत-प्राणी नही है, जो मेरे बिना हो, अर्थात् मै ही जगत्‌रूप होकर स्थित हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है (३९)। हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियो का (कोई) अन्त नहीं है; यह विभूतियो का वर्णन तो मैने नाम मात्र के लिए (नमूने के तौर पर) कहा है (४०)। जो-जो सत्त्व अर्थात् जो-जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा वस्तु विशेष विभूति-सम्पन्न अर्थात् विशेष गुण, अथवा विशेष कला, अथवा विशेष योग्यता से सम्पन्न हो अथवा सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कान्ति, सुन्दरता, शोभा एव शुभ लक्षणो से युक्त—विशेष रूप से चित्ताकर्षक हो; अथवा विशेष शक्ति, तेज, ओज, प्रतिभा, प्रभाव, साहस, महानता, उच्चता, उदारता, गभीरता आदि से युक्त—विशेष सम्माननीय एवं प्रख्याति-प्राप्त हो, उस-उसको तू मेरे ही तेज के अश से उत्पन्न हुआ समझ, अर्थात् उसमें आत्मा का विशेष रूप से विकास जान (४१)। और हे अर्जुन ! तुझे इस वहुत से (विस्तार) को जान कर क्या करना है ? (तू यही समझ कि) मै इस सपूर्ण जगत् को (अपने) एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ, अर्थात् मुझमें जो अनन्त ब्रह्माण्डो का दृश्य वनता और लय होता रहता है, उस सवमें से यह भी एक छोटा-सा जगत् है (४२) ३८वें श्लोक तक भगवान् ने थोड़ी-सी विभूतियो का वर्णन करके उसके उपसंहार में ३९ वें से ४२ वें श्लोक तक विशेष रूप से

यह स्पष्ट कर दिया है कि विभूतियो के अधिक वर्णन से कोई लाभ नहीं है, क्योकि समुद्र की लहरो की तरह कल्पित नाम-रूपात्मक इन विभूतियो का कोई अन्त नहीं आता। विभूतियाँ अनन्त संख्या में उपजती और मिटती रहती है। मनुष्य यदि इन्हीं को पूर्णतया जानने और इनका अन्त लेने का प्रयत्न करे, अथवा इनकी उपासना और इनके स्मरण में ही लगा रहे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—इनसे उसका कल्याण नहीं होता, अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति नहीं होती (छान्दोग्य-उप० प्रपा० ७)। वास्तव में जो इन विभूतियो का मूल कारण, इनका आधार एव इनकी सत्ता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्डो के बनाव हो-होकर लय होते रहते है, और जिसके किसी एक अंश में इस जगत् का अस्तित्व प्रतीत हो रहा है, उसी को जानना चाहिए—जिस एक को जानने से सब-कुछ जाना जाता है (छान्दोग्य-उपनि० प्रपा० ६ खण्ड १ मन्त्र ३ से ६)। यदि उसे नहीं जाना तो विभूतियो का जानना निष्फल है। अस्तु; यह समझना चाहिए कि जगत् के इस बनाव में जो-जो विशेष चमत्कारी एव प्रभावोत्पादक भाव दृष्टिगोचर होते रहते है, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है, अर्थात् वे भाव उसके अस्तित्व के विशेष रूप से द्योतक है—विभूति-वर्णन का असली तात्पर्य यही है (३९ से ४२)।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा=परमात्मा सकल जगत् में परिपूर्ण है, अथवा अखिल विश्व आत्मा अथवा परमात्मा-मय है, अथवा परमात्मा ही विश्वरूप होकर स्थित है, अथवा परमात्मा सर्वत्र एक समान व्याप्त है—इत्यादि सामान्य वाक्यो पर यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म और गंभीर विचार करने से आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का बोध हो सकता है, परन्तु साधारणतया इस तरह के सूक्ष्म विषयो में मन का ठहरना अत्यन्त ही कठिन होता है। नाना भावो, नाना रूपो एवं नाना नामो का साधारण प्रवाह-रूप जगत्, जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर हो रहा है, उसी को मन की वृत्ति विषय बनाती है। उस इन्द्रिय-गोचर साधारण प्रवाह के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा के सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने के रहस्य को मन की वृत्ति तब तक ग्रहण नहीं कर सकती, जब तक कि उस पर किसी ऐसी विशेषता का प्रभाव न पडे कि जिसका कोई दृष्ट कारण समझ में न आ सके। यदि श्रद्धा-विश्वास करके आत्मा अथवा परमात्मा को मानने का प्रयत्न किया जाय तो भी यह निश्चय चिरस्थायी नहीं रह सकता। श्रद्धापूर्वक प्राप्त की हुई यह भावना, कि "जगत् के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा सर्वत्र समान रूप से स्थित है," थोडी देर तक ठहर कर फिर लुप्त हो जाती है, और मन जगत् के इन्द्रिय-गोचर स्थूल प्रवाह ही में लगा रहता है—आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व का निरन्तर ध्यान नहीं रहता। जिन लोगो के अन्त करण में श्रद्धा नहीं होती, उनके मन पर तो आत्मा अथवा परमात्मा के समान रूप से सर्वव्यापक होने के व्याख्यानो का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। जब तक समानता के अन्दर

किसी प्रकार की विशेषता का प्रभाव मन पर अंकित नहीं हो जाता—जिस विशेषता का कोई दृष्ट कारण समझ में न आ सके, तब तक वह किसी अदृष्ट अथवा अचिन्त्य शक्ति के मानने को तैयार नहीं होता। जगत् का साधारण प्रवाह तो सदा स्वाभाविक रूप से चल ही रहा है, इसमें आत्मा अथवा परमात्मा के अदृष्ट अस्तित्व का प्रभाव मन पर जमने के लिए कोई विशेष कारण होना चाहिए। संसार में अगणित व्यक्ति और अगणित पदार्थ होते हैं; परन्तु जब तक किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की किसी प्रकार की विशेषता मन पर अंकित नहीं होती, तब तक उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपना प्रभाव जमाने के लिए किसी न किसी प्रकार की विशेषता प्रदर्शित करने की आवश्यकता सबको रहती है। मन का यह स्वभाव है कि वह विशेषता की ओर अधिक आकर्षित होता है और उसी से प्रभावित होता है; और किसी व्यक्ति या पदार्थ में कोई विशेष चमत्कार अथवा आश्चर्य देखने पर, अथवा कोई ऐसी चमत्कारी अथवा आश्चर्यजनक एवं अद्भुत घटना होने पर कि जिसके कारण का पता लगाने में वह असमर्थ होता है, उस विषय में उसकी श्रद्धा भी हो जाती है। सामान्यता से न श्रद्धा उत्पन्न होती है और न उसका कोई प्रभाव ही पड़ता है।

इसी आशय की अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने यहाँ पर अपनी यानी सबके आत्मा=परमात्मा की विशेष चमत्कारो युक्त आश्चर्यजनक विभूतियो का वर्णन करके यह बताया है कि जगत् के साधारण (सामान्य) प्रवाह में जो असाधारण विशेषताएँ है, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है; क्योकि चेतन आत्मा के विना जड़ जगत् के स्वाभाविक प्रवाह में ये विशेषताएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं, किन्तु जिस तरह टकसाल की मशीन में से एक-सा सिक्को का प्रवाह निकलता है, उसी तरह सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थो का प्रवाह एक-सा चलता रहता। अस्तु; ये विशेषताएँ आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व की पुष्टि करती है। इस वर्णन के आरंभ में सबसे पहले भगवान् ने यह कहा है कि "मैं सबका आत्मा, प्राणी मात्र के अन्तःकरण अथवा हृदय में स्थित हूँ।" यद्यपि आत्मा प्रत्येक देहधारी के अग-प्रत्यंग अथवा रोम-रोम में व्यापक है, परन्तु हृदय में उसका विशेष चमत्कार व्यक्त होता है। हृदय ही सब प्रेरणाओ, चेष्टाओ, वेदनाओ एवं शक्तियो अर्थात् जीवन का केन्द्र है। वर्तमान के बिजली-घरो की तरह यह हृदय सारे शरीर का बिजली-घर (Power-House) है। शरीर का चाहे कोई अंग चेतनाशून्य हो जाय, परन्तु जब तक हृदय में चेतना रहती है, तब तक शरीर का जीवन बना रहता है। इन विशेषताओ के कारण सबसे पहले प्राणी मात्र के हृदय से ही विभूतियो के वर्णन का आरम्भ किया गया है; और इस विभूति-वर्णन को केवल उत्तम, श्रेष्ठ अथवा पवित्र माने जाने वाले व्यक्तियो और पदार्थों तक ही परिमित नहीं रखा है, किन्तु जिस-जिस व्यक्ति अथवा पदार्थ में कोई विशेष गुण, विशेष चमत्कार अथवा अन्य किसी प्रकार की विशेषता हो, वह सब आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष विभूति बताई गई

है। देवताओ के साथ ही दैत्यो में, मनुष्यो के साथ ही पशुओ में, चेतन पदार्थो के साथ ही जड़ पदार्थों में, पुरुषों के साथ ही स्त्रियो में एवं सात्विक पदार्थों के साथ ही राजस-तामस पदार्थों में भी आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति-रूप विभूति गिनाई है। यहाँ तक कि जुए जैसे अत्यन्त निकृष्ट छल-कौशल को, सर्प, सिंह एवं मगर आदि क्रूर जन्तुओ को, पीड़ा देने वाले दण्ड को, और सबका संहार करने वाली मृत्यु को भी भगवान् ने अपनी विशेष विभूतियो में गिनाया है। अभिप्राय यह कि आत्मा अथवा परमात्मा तो सबमें एक समान व्यापक है, किन्तु जिस वस्तु में जिस विषय की प्रभावोत्पादक विशेषता हो, उसी में आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से अभिव्यक्ति बताई है। आत्मा अथवा परमात्मा सात्विक, राजस और तामस भेद वाले सब गुणो में, तथा सब पदार्थो में एक समान व्यापक है; वास्तव में उसमें उत्कृष्टता और निकृष्टता का भेद है नहीं। अत. जिस पदार्थ में जिस गुण का विशेष उत्कर्ष होता है, वही आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति का द्योतक होता है।

विभूति-वर्णन के पहले और उसके अन्त में भी भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "ये विभूतियाँ तो थोड़ी-सी नमूने के तौर पर कही है, वास्तव में मेरी विभूतियो का कोई अन्त नहीं आता।" विश्व में अनन्त विभूतियो की कल्पना भूतकाल में की गई है, अनन्त की वर्तमान में होती है और अनन्त की भविष्य में होती रहेगी। जिस-जिस व्यक्ति, जिस-जिस पदार्थ, जिस-जिस घटना अथवा जिस-जिस बनाव में जिस-जिस प्रकार की विशेषता अथवा चमत्कार प्रतीत हो, उस-उसमें आत्मा अथवा परमात्मा ही की विशेष अभिव्यक्ति अर्थात् विशेष विकास समझना चाहिए।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि विभूतियो का वर्णन इस समय किया जाता तो संभवत. वर्तमान में जो-जो व्यक्ति अथवा पदार्थ अथवा घटनाएँ संसार में विशेष प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारी मानी जाती है, उनकी गणना भी परमात्मा की विभूतियो में की जाती; अर्थात् जो-जो असाधारण प्रतिभाशाली बुद्धिमान्, विद्वान् एव तत्त्ववेत्ता महापुरुष, प्रतापी शासक, धुरन्धर राजनीतिज्ञ, महाबली शूरवीर, प्रसिद्ध वैज्ञानिक , मनोहर ललित कलाओ के प्रख्यात विशेषज्ञ, जगद्विख्यात कवि, अतुल सम्पत्तिशाली धन-कुबेर माने जाते है, इसी तरह अन्य गुणो एव कलाओ में असाधारण विशेषता रखने वाले व्यक्ति माने जाते है; तथा संसार को चकित करने वाले जो-जो वैज्ञानिक आविष्कार होते है, एवं अद्‌भुत घटनाएँ घटती है—वे सब परमात्मा की विभूतियो के वर्णन में सम्मिलित किये जाते। तात्पर्य यह कि पृथ्वी पर समय-समय पर विशेष गुण, कला, योग्यता, शक्ति, तेज, वैभव आदि से सम्पन्न अद्‌भत चमत्कारिक व्यक्ति और पदार्थ माने गये है और भस्विष्य में माने जावेंगे, जिनका कोई अन्त नहीं है, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व और प्रभाव विशेष रूप से प्रकट होता है, परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा इन विभूतियो में ही परिमित

नहीं होता, न इनमें रुका हुआ रहता है। इन अनन्त विभूतियो से भरा हुआ यह विश्व, आत्मा अथवा परमात्मा के किसी एक अंश में प्रकट हो-हो कर लय होता रहता है। जिस तरह आकाश के किसी विशेष भाग में वादल, बिजली आदि के बनाव हो-होकर मिटते रहते है, परन्तु सारा आकाश वादलो से घिरा हुआ नहीं रहता, न आकाश बादलो में रुका हुआ ही रहता है; उसी तरह आत्मा अथवा परमात्मा के किसी अंश में ये नाना प्रकार की विभूतियो के बनाव होते और फिर उसी में लय होते रहते है, परन्तु आत्मा उन सबसे स्वतन्त्र और अलिप्त रहता है।

जैसा कि ऊपर कह आये है, यह विभूतियों का वर्णन आत्मा अथवा परमात्मा के अस्तित्व एवं प्रभाव को विशेष रूप से चित्त पर अंकित करने के अभिप्राय से किया गया है, न कि इन विभूतियो की उपासना करने के विधान के उद्देश्य से; क्योकि ये विभूतियाँ ही आत्मा अथवा परमात्मा नहीं है, किन्तु ये सब आत्मा अथवा परमात्मा का परिवर्तन-शील एव उत्पत्ति-नाशवान् कल्पित बनाव मात्र है, आत्मा अथवा परमात्मा इन सबका सत्त्व एवं आधार है। अत. परिवर्तनशील एव उत्पत्ति-नाशवान् विभूतियो के कल्पित बनाव की उपासना करने से उत्पत्ति, नाश एवं परिवर्तन के चक्कर में ही घूमते रहना पड़ता है (जैसा कि अध्याय ७ श्लोक २३ में और अध्याय ९ श्लोक २० से २५ तक में कहा गया है); और सवके आत्मा=परमात्मा की उपासना से परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है। जिस तरह अग्नि की अगणित चिनगारियाँ होती है, यदि कोई मूर्ख अग्नि को छोड़ कर चिन-गारियो के पीछे दौड़ता है, तो उसे न उष्णता प्राप्त होती है न प्रकाश ही, और न चिन-गारियो से और कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है, किन्तु चिनगारी एक क्षण में बुझ जाती है, और पीछे दौडने वाला धोखा खाता है; उसी तरह आत्मा अथवा परमात्मा-रूपी अग्नि में विभूतियाँ-रूपी अनन्त चिनगारियो का दृश्य होता रहता है; जो मनुष्य आत्मा अथवा परमात्मा को भूल कर नाशवान् कल्पित विभूतियो की उपासना करता है, वह धोखा खाता है।

॥ दसवाँ अध्याय समाप्त ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान के सिलसिले में दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियो का वर्णन करके सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप अपने आपके अस्तित्व एवं अपनी सर्वव्यापकता का विशेष रूप से खुलासा किया। अब इस ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रार्थना करने पर, भगवान् अपने शरीर ही में अखिल विश्व को दिखा कर सबकी एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कराते हैं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्‌भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्थ—अर्जुन वोला कि मुझ पर अनुग्रह करके आपने जो परम गुह्य अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश दिया, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया, अर्थात् स्वजन-वान्धवों को मारने के पाप का भय तथा उनके मरने का शोक, और धर्म-अधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में किंकर्तव्य-विमूढ़ता निवृत्त हो गई है (१)। और हे कमलनयन ! भूत-प्राणियो की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य, तथा (आपका) अक्षय माहात्म्य भी मैंने आपसे विस्तारपूर्वक सुना। हे परमेश्वर ! हे पुरुषोत्तम ! आपने अपना जैसा यह वर्णन किया है, मैं आपके (उस) ईश्वरीय रूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। हे प्रभु ! यदि आप यह समझते हो कि मेरे से आपका वह रूप देखा जा सकता है, तो हे योगेश्वर ! आप अपना वह अव्यय रूप दिखलाइए। तात्पर्य यह कि अध्याय ७ से १० तक अर्जुन ने भगवान् से उनके सर्वरूप का जो वर्णन सुना, उस सर्वरूप को आँखो से प्रत्यक्ष देखने की उसकी इच्छा हुई। इसलिए उसने भगवान् से प्रार्थना की कि यदि आप मुझे इस योग्य समझें कि मैं आपका वह विश्वरूप प्रत्यक्ष देख सकता हूँ, तो कृपा करके उसे अवश्य दिखलाइए (२-४)। श्री भगवान् वोले कि हे पार्थ ! मेरे नाना भाँति के, नाना वर्णों तथा नाना आकृतियो वाले सैकडो और हजारो तरह के दिव्य, अर्थात् स्थूलता से रहित केवल मानसिक दिव्य-दृष्टि से देखने योग्य सूक्ष्म रूपो को देख (५)। आदित्यो, वसुओ, रुद्रो, दोनो अश्विनीकुमारो तथा मरुद्‌गणो को देख; और हे भारत ! वहुत से आश्चर्यो यानी अद्‌भुत वनावो को देख, जो पहले कभी न देखे होगे (६)। हे गुडाकेश ! आज यहीं पर मेरे शरीर में एकत्व-भाव

से स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् को, तथा और जो कुछ देखना चाहे वह (सब) देख ले (७)। परन्तु अपने इन्हीं नेत्रो (चर्म-चक्षुओ*) से तू मुझे (मेरे विश्वरूप को) नहीं देख सकेगा; इसलिए मैं तुझे दिव्य (मानसिक*) नेत्र देता हूँ, (जिससे तू) मेरे ईश्वरीय योग, अर्थात् "एक में अनेक और अनेको में एक" के अलौकिक कौशल को देख (८)। संजय बोला कि हे राजन्! ऐसा कह कर फिर महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (अपना) परम ईश्वरीय रूप, अर्थात् विश्वरूप दिखलाया (९)। अनेक मुखो†, (और अनेक) नेत्रो† वाले, अद्‌भुत दृश्यो सहित, अनेक दिव्य आभूषणो†, युक्त, अनेक दिव्य शस्त्रो† से सुसज्जित, दिव्य मालाओ† और वस्त्रो† को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध† (केसर-चन्दन आदि) का अनुलेपन किये हुए, सब आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विश्वतोमुख देव अर्थात् अपने विश्व रूप को (अर्जुन के प्रति) दिखाया (१०-११)। यदि आकाश में हजार सूर्यों की ज्योति एक साथ उदय हो तो वह शायद उस महात्मा के तेज के समान हो सके (१२)। अनेक प्रकार के भिन्नता के भावो में विभक्त सम्पूर्ण जगत् को उस समय अर्जुन ने वहाँ देवो के देव (भगवान् श्रीकृष्ण) के शरीर में एकत्र देखा (१३)। तब वह धनंजय आश्चर्यान्वित हुआ हर्ष से रोमांचित होकर, (उस) देव को, यानी विश्वरूप-धारी भगवान् श्रीकृष्ण को सिर झुका कर हाथ जोड़ कर प्रणाम करके बोला (१४)।

स्पष्टीकरण—दसवें अध्याय तक भगवान् ने सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का जो निरूपण किया, उससे अर्जुन को जो अपने कर्तव्य-कर्म के विषय में मोह हुआ

---

* दृष्टि तीन प्रकार की होती है —(१) भौतिक स्थूल पदार्थो को स्थूल नेत्र-इन्द्रिय से देखना, स्थूल-दृष्टि अथवा चर्म-दृष्टि है, (२) स्थूल नेत्रो अथवा चर्म-चक्षु से न दीख सकने वाले सूक्ष्म पदार्थो को मन के ध्यान से देखना, सूक्ष्म-दृष्टि अथवा दिव्य-दृष्टि है, और (३) बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार से निश्चय करके सबकी एकता का अनुभव करना, ज्ञान-दृष्टि अथवा सम-दृष्टि है (गी० अ० ५ श्लो० १८, अ० ६ श्लो० २९, अ० १३ श्लो० २७ से ३०, अ० १५ श्लो० १०)।

† ससार में अनन्त प्रकार की आकृतियो एव रूपो वाले देवता, दैत्य, असुर, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी एव जीव-जन्तु होते और माने जाते हैं, जिनके सम्मिलित रूप में अनन्त मुख, अनन्त नेत्र, अनन्त हाथ, अनन्त पैर, अनन्त पेट आदि अग होते है, और वे अनन्त प्रकार के शृंगारो से सजे हुए, अनन्त प्रकार के वस्त्राभूषणो से युक्त एव अनन्त प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो को लिये हुए होते है, वे सब भगवान् के विश्व-रूप के अन्तर्गत होने के कारण भगवान् ही के अनन्त अगो, अनन्त प्रकार के शृंगारो एव अनन्त प्रकार के बनावो के दृश्य अर्जुन को मानसिक दिव्य-दृष्टि से दीखने लगे।

था, वह तो दूर हो गया; परन्तु उक्त ज्ञान की दृढ़ता के लिए अर्जुन की यह इच्छा हुई कि भगवान् ने जिस सर्वभूतात्मैक्य-भाव का वर्णन किया है, अर्थात् अखिल विश्व को अपना ही व्यक्त स्वरूप बताया है, वह विश्वरूप भगवान् प्रत्यक्ष दिखा दें तो सबकी एकता का साक्षात् अनुभव हो जाने पर वह ज्ञान चिरस्थायी हो जाय, क्योकि कानो से सुनी हुई बातो का चित्त पर उतना गहरा प्रभाव नहीं जमता, जितना कि आँखों से देखी हुई घटनाओं का जमता है। अर्जुन की उक्त आशय की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की; परन्तु अखिल विश्व का विराट् दृश्य इन स्थूल आँखो की अत्यन्त परिमित एवं संकुचित दृष्टि से दीखना सम्भव नहीं—उसके लिए मनो-योग की दिव्य-दृष्टि होनी चाहिए। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को मनो-योग की दिव्य-दृष्टि देकर अपने शरीर में ही अखिल विश्व का दर्शन कराया।

"दिव्य-दृष्टि" क्या होती है ? इसका रहस्य एकबारगी समझने में कुछ कठिनता अवश्य प्रतीत होती है, क्योकि, यद्यपि स्वप्नावस्था में जब चर्म-चक्षु बन्द रहते है, तब मानसिक दृष्टि से भाँति-भाँति के विस्तृत दृश्य दीखने का अनुभव सबको है, परन्तु जाग्रत अवस्था में इस तरह की दिव्य-दृष्टि का अनुभव लोगो को आम तौर से नहीं होता। तो भी यदि पक्षपातरहित होकर अच्छी तरह विचार किया जाय तो दिव्य-दृष्टि का रहस्य समझने में कठिनाई न रहे। जिन लोगो ने योग की सिद्धियाँ प्राप्त की है, वे अपने योगबल से दूसरो के मन पर अपने सकल्पों और अनुभवो का प्रभाव डाल कर इच्छानुसार मानसिक दृश्य दिखा सकते है। भगवान् श्रीकृष्ण महा-योगेश्वर थे, उनका योग-सामर्थ्य अनन्त प्रतिभाशाली था; अत. उनके लिए अर्जुन के मन पर अपने योगबल का प्रभाव डाल कर, उसे अखिल विश्व का मानसिक दर्शन अपने शरीर में कराना एक साधारण बात थी। वर्तमान समय में जादू अथवा नजरबन्दी (Mesmerism) अथवा हथफेरी (Tricks) के जो अद्भुत दृश्य इन कलाओ के जानने वाले लोग दिखाते है, वह भी मनो-योग का एक छोटा-सा नमूना है।

उपर्युक्त योगबल अथवा नजरबन्दी के सिवाय यदि आधिभौतिक विचार से देखा जाय तो जिस तरह रेडियो-शक्ति से विस्तृत दृश्यो का अक्स बहुत छोटा-सा करके यन्त्रो में बन्द कर लिया जाता है, और फिर उसी अक्स को बृहदाकार-रूप में दिखाया जाता है, तथा अत्यन्त सूक्ष्म अणुओ एवं जन्तुओ को सूक्ष्मदर्शक यन्त्रो (Magnifying Glasses), यानी छोटी वस्तु को बड़ी दिखलाने वाले शीशो द्वारा बहुत बड़े रूप में दिखाया जाता है; उसी तरह शरीर में विश्व दिखाया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ दृश्य महान्—विस्तृत रूप से है, उसी प्रकार का दृश्य पिण्ड अथवा शरीर में छोटे—अणु रूप में है। अत. मनोयोग की दिव्य-दृष्टि के अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा इस शरीर ही में ब्रह्माण्ड का देख सकना असम्भव नहीं है।

अब अर्जुन ने जिस तरह भगवान् के शरीर में सूक्ष्म (आधिदैविक) और स्थूल (आधिभौतिक) सृष्टि का विस्तार देखा, उसका कुछ वर्णन आगे के श्लोको में किया गया है।

विश्व रूप के इस वर्णन में जो ब्रह्मा आदि देवताओ, असुरों, यक्षों, राक्षसो, गन्धर्वों, सिद्धों, अश्विनीकुमारों, रुद्रों, आदित्यो, वसुओ, मरुद्गणो, पितरो आदि सूक्ष्म आधिदैविक बनावो का उल्लेख है वह उस समय के लोगो की मान्यताओ और शास्त्रो तथा काव्यों के कल्पित वर्णनो को दृष्टिगोचर रख कर किया गया है; तात्पर्य यह है कि जगत् में जो कुछ भी बनाव प्रत्यक्ष देखने में आते हैं और जो कुछ भी अदृष्ट बनाव मन से कल्पित किये जा सकते हैं वे सब एक ही परमात्मा के कल्पित रूप हैं और वे सब भगवान् के विश्वरूप में मानसिक दृष्टि से अर्जुन ने देखे।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म ।
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो ।
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे देव ! आपके शरीर में सब देवताओं तथा (पंच महा भूतों के सम्मिश्रण के विशेष बनाव-रूप नाना प्रकार के स्थावर-जंगम) भूत-प्राणियो के विशेष समुदायों को, कमलासन पर स्थित प्रजापति ब्रह्मा को, और सब ऋषियो को, तथा सब दिव्य (सूक्ष्म) नागो को मैं देखता हूँ (१५) । अनेक भुजा, (अनेक) उदर, (अनेक) मुख और (अनेक) नेत्रों से युक्त सर्वत्र आपके अनन्त रूप* देखता हूँ; हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! आपका न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मैं देखता हूँ (१६) । मुकुट, गदा तथा चक्र धारण किये हुए, और सब प्रकार से देदीप्यमान तेजःपुंज-स्वरूप, प्रज्वलित अग्नि एवं सूर्य के समान कान्ति-युक्त एवं चकाचौंध करने वाले, सर्वत्र आपके अनुपम रूप को मैं देखता हूँ (१७) । आप परम अक्षर अर्थात् पूर्ण सत्य है, आप ही जानने योग्य है, आप ही इस विश्व के अन्तिम आश्रय है, आप अविनाशी है और आप ही सदा से धर्म के रक्षक है, एवं आप ही को मैं सनातन पुरुष मानता हूँ (१८) । मैं देखता हूँ कि आप आदि, मध्य एवं अन्त से रहित है, अनन्त शक्ति (और) अनन्त भुजाओ वाले है, चन्द्र-सूर्य (आपके) नेत्र है, प्रज्वलित अग्नि (आपका) मुख है, और अपने तेज से आप इस अखिल विश्व को तपा रहे है अर्थात् प्रकाशित कर रहे है (१९) । आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अन्तर में तथा सब दिशाओं में एक मात्र आप ही व्याप्त हो रहे है; हे महात्मन् ! आपके इस अद्भुत एवं उग्र रूप को देख कर तीनो लोक व्यथित हो रहे है, अर्थात् जगत् के अनन्त प्रकार के आश्चर्यजनक बनावो को देख कर लोगो की अकल चकराती है (२०) । यह देखो, देवताओ के समूह आप ही में प्रवेश कर रहे है, यानी समा रहे है; कई भयभीत हुए हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे है; महर्षि और सिद्धो के समूह "स्वस्ति"

*इस अध्याय के श्लोक १०-११ का फुटनोट देखिए ।

ऐसा कहते हुए बहुत सी स्तुतियो द्वारा आपकी स्तुति कर रहे है (२१)। रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य-गण, विश्वदेव, दोनो अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धो के समुदाय सब चकित हुए आपको देख रहे है। तात्पर्य यह कि सृष्टि की अनन्त प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म रचनाओ को देख-देख कर कोई भयानक बनावो से डरते है, तो कोई आश्चर्यजनक बनावो से विस्मित हुए, अपनी-अपनी भावना के अनुसार उन सब बनावो के आधार, सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप आपका चिन्तन करते है, और चकित हुए आपकी स्तुति करते हैं (२२)। हे महाबाहो ! आपके बहुत से मुखो, (बहुत से) नेत्रों, बहुत सी भुजाओ, (बहुत सी) जंघाओ, (बहुत से) पैरो, बहुत से उदरो एवं बहुत से बड़े-बड़े दाँतो वाले, विकराल और महान् रूप को देख कर सब लोगो को और मुझे भी घबड़ाहट हो रही है, अर्थात् सब व्याकुल हो रहे है (२३)। अनेक प्रकाशमान् वर्णों से युक्त, गगनस्पर्शी खुले हुए मुख वाले, एवं देदीप्यमान विशाल नेत्रो वाले आपको देख कर हे विष्णु ! मेरा अन्त.करण डावाँडोल हो रहा है और मुझे धैर्य एवं शान्ति नहीं होती है (२४)। आपके बड़े-बड़े विकराल दाँतो को और कालाग्नि के समान मुखो को देख कर मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं और न चैन ही पड़ता है। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइए (२५)। और यह देखो, समस्त राजाओं के समुदाय सहित धृतराष्ट्र के पुत्र, तथा भीष्म, द्रोण और यह कर्ण, और हमारी तरफ के मुख्य-मुख्य योद्धा भी आपके विकराल दाँतों वाले भयानक मुखो में धड़ाधड़ प्रविष्ट हो रहे है, और कइयो के मस्तक चकनाचूर होकर आपके दाँतो के बीच की सन्धियाँ में फँसे हुए दीख रहे है (२६-२७)। जिस प्रकार नदियो के बहुत से जल के प्रवाह समुद्र ही की तरफ वेग से बहते जाते है, उसी तरह मनुष्य समाज के ये शूरवीर लोग सब तरफ से आपके प्रज्वलित मुखो में प्रवेश कर रहे है (२८)। जिस तरह पतग (अपने) नाश के लिए जलती हुई अग्नि में बडे वेग से गिरते है, उसी तरह (ये) लोग भी (अपने) नाश के लिए आपके मुखो में बहुत वेग से जा रहे है (२९)। प्रज्वलित मुखो से सब लोगो को सब तरफ से ग्रसित करते हुए आप चाट-चाट कर स्वाद ले रहे हैं; हे विष्णु ! आपकी उग्र प्रभाएँ सारे जगत् को (अपने) तेज से व्याप्त करके प्रकाशित कर रही है (३०)। मुझे बतलाइए कि ऐसे उग्र रूप को धारण करने वाले आप कौन है ? हे देववर ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइए। आप आदि पुरुष को मै जानना चाहता हूँ, क्योकि आपकी चेष्टाओ को मै कुछ भी नहीं समझता, अर्थात् आप क्या करने को प्रस्तुत हुए है, यह मेरी समझ में नहीं आता (३१)। श्री भगवान् बोले कि मै लोगो का क्षयकारी (उनके दुष्कर्मो से) बढा हुआ काल हूँ, लोगो का नाश करने के लिए यहाँ पर प्रवृत्त हूँ। ये जो सामने योद्धा लोग उपस्थित है, वे सब तेरे (लडे) बिना भी (बचे) नहीं रहेगे (३२)। इसलिए तू उठ खडा हो, (और) यश प्राप्त कर; शत्रुओ को जीत कर सम्पन्न राज्य भोग। हे सव्यसाची ! ये मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए है, तू

निमित्तमात्र हो जा (३३)। मेरे द्वारा मारे हुए द्रोणाचार्य, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा दूसरे भी वीर योद्धाओ को तू मार, मत घबड़ा, युद्ध कर; तू युद्ध में शत्रुओ को जीतेगा। तात्पर्य यह कि अर्जुन इस चिन्ता से बहुत घबड़ा रहा था कि "लड़ाई में मुझे भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनो एवं स्वजन-बान्धवो को मारना पड़ेगा" और इसीलिए वह युद्ध करना नहीं चाहता था। अर्जुन की इस चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान् दिखाते है कि लोगो का मरना-जीना अपने-अपने कर्मों पर निर्भर रहता है। जिनके जैसे कर्म होते है, उनके लिए वैसे ही आयोजन (अपने-अपने कर्मो के परिणाम-स्वरूप) जगत् की समष्टि-शक्ति-स्वरूप मेरी प्रकृति द्वारा बन जाते है। इस कर्म-विपाक के अटल नियमानुसार ये भीष्म, द्रोण आदि शूरवीर लोग अपनी दुष्कृतियों से आप ही अपनी मृत्यु के निकट पहुँच चुके है, और उन दुष्कृत्यो के परिणाम-स्वरूप "मै" सबका आत्मा=परमात्मा काल-रूप होकर अर्थात् समष्टि-संहारक शक्ति से इनका संहार करने को स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ। यद्यपि उपरोक्त कर्म-विपाक के अटल नियम के अनुसार इन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है, और शरीरो का चोला* बदलने-रूप इनका मरना निश्चित है; परन्तु इन लोगो के अत्याचारो का मुख्य शिकार तू है, इसलिए उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इनको मारने का निमित्त मात्र बन कर इनके अत्याचारो से लोगो को मुक्त करके, नीति और धर्मपूर्वक राज्य-शासन करना, और साथ ही अपने अधिकारानुसार राज्य-लक्ष्मी भोगना तेरे लिए उचित है। यदि अज्ञान और मोहवश तू ऐसा नहीं करेगा तो भी ये लोग तो अपनी दुष्कृतियो के परिणाम-स्वरूप मरेंगे ही, यानी शरीरो का चोला बदलेंगे ही; परन्तु तू अपने कर्तव्य से विमुख होगा और धर्मानुसार प्राप्त होने वाले राज्य-सुख से भी वंचित रहेगा (३४)।

स्पष्टीकरण—सबकी एकता का निश्चय दृढ़ होने के लिए अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने उसे मनो-योग की दिव्य-दृष्टि द्वारा अपना विश्वरूप दिखाया; और त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न सूक्ष्म और स्थूल, स्थावर और जंगम अथवा जड़ और चेतन के भेद से जगत् के अनन्त प्रकार के बनाव—जो कुछ स्थूल दृष्टि से पहले देखे हुए अथवा सुने हुए थे, अथवा कल्पना में आ सकते थे—वे सब, अर्जुन ने भगवान् के शरीर में ही देखे। दूसरे शब्दो में अखिल विश्व को भगवान् का ही रूप देखा। श्रीकृष्ण के शरीर में भाँति-भाँति के दिव्य शृंगारो से सजे हुए विलासी देवताओ और गन्धर्वो को, शान्त और सौम्य-भावो युक्त सिद्धो और महर्षियो को, क्रूर स्वभाव वाले असुरो और राक्षसो को, सुन्दर आकृति वाले नर-नारियो को, भय उत्पन्न करने वाले सर्प आदि विषैले जन्तुओ को, विकराल दाँतो एवं भयानक मुखो वाले सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जानवरो को, तरह-तरह के मनोहर रंगो और मधुर स्वर आलापने वाले सुन्दर पक्षियो को, नाना प्रकार की अद्भुत

---

*दूसरे अध्याय के श्लोक २२ का स्पष्टीकरण देखिए।

आकृतियों वाले मगर-मच्छ आदि जलचर प्राणियो को, तथा कृमि-कीड़े आदि मैले-कुचैले जन्तुओ को भी एकत्र देखा। इस प्रकार विविध भाँति की सृष्टि को देख कर उसके मन में हर्ष, आश्चर्य एवं भय आदि भावो का संघर्ष होने के कारण वह एकदम घवड़ा गया। विशेष करके जब उसने उस समय के महायुद्ध के अत्यन्त घोर जन-संहार का दृश्य देखा, जिसमें दोनो पक्षो के वीर योद्धा लोग भगवान् के काल-रूप मुख के ग्रास होकर चवाये जा रहे थे, तब तो वह बहुत ही व्याकुल हो उठा, और इस बात को भूल गया कि "मेरी ही प्रार्थना पर भगवान् कृपा करके मुझे अपना मानसिक विश्वरूप दिखा रहे हैं"; अतः वह घवराया हुआ भगवान् से कहने लगा कि आप यह अत्यन्त घोर और वीभत्स काण्ड क्या कर रहे हैं? मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता। इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि तुझे जो यह चिन्ता हो रही है कि "यदि मैं युद्ध करूँगा तो ये मेरे स्वजन-बांधव मारे जायेंगे, जिनकी हत्या का पाप मुझे लगेगा और मैं कुल-क्षय का अपराधी होऊँगा, फिर इनके बिना मैं अकेला जीकर क्या करूँगा; और यदि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो ये सब जीते रहेंगे और मैं पाप से बच जाऊँगा"—यह सब तेरा भ्रम है। जीना-मरना अपने-अपने कर्मों के अधीन है। इन लोगो के दुष्कर्म इतने बढ गये हैं कि इनका मारा जाना समाज की सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य है तू तो केवल निमित्त मात्र होता है। जिस तरह किसी व्यक्ति के सड़े हुए अथवा दुःखदायक अंग को काट देना आवश्यक होने पर डॉक्टर उसे काट देता है, तो डॉक्टर को कोई दोष नहीं लगता; वास्तव में वह अग तो काटे जाने वाला ही था, डॉक्टर उसके काटने में निमित्त मात्र होता है, उसे काटना डॉक्टर का कर्तव्य होता है, और अपना कर्तव्य करने में उसे कुछ लाभ भी होता है; परन्तु यदि वह मोह से या मानसिक दुर्बलता के वश होकर उसे नहीं काटता है, तो अपने कर्तव्य से विमुख होता है, लाभ से वंचित रहता है और फिर डॉक्टरी करने के योग्य नहीं रहता, जिससे उसका जीवन बिगड़ जाता है; और साथ ही उक्त अग के न काटने से जो हानि होती है, उसके दोष का भागी भी वह होता है। इसी तरह इन अत्याचारियो को मारने में निमित्त होना कोई पाप नहीं है, किन्तु वीर क्षत्रिय के लिए, इनको मार कर राज्य-शासन करना अवश्य-कर्तव्य है। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए निर्दोष प्राणियो को मारने से जितना पाप होता है, उतना ही सार्वजनिक हित की उपेक्षा करके अत्याचारियो पर मोहवश अथवा व्यक्तिगत पुण्य-संचय की कामना से दया अथवा क्षमा करना पाप है। मैं सब लोगो का आत्मा, सबका एकत्व-भाव इन लोगो के दुष्कर्मों के परिणाम-स्वरूप कालरूप होकर तेरे निमित्त से इनका सहार करने को उद्यत हूँ, यह प्रत्यक्ष निश्चयकर, और इन लोगो को मारने में निमित्त होकर धर्मपूर्वक राज्य का सुख भोग। यदि तू ऐसा नहीं करेगा, तो भी ये तो किसी न किसी प्रकार से मारे ही जायेंगे, किन्तु तू अपने कर्तव्य-रूप धर्म से विमुख होगा, जिससे तेरा भारी पतन होकर विनाश होगा।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि-वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

अर्थ—संजय बोला कि श्रीकृष्ण के यह वचन सुन कर अर्जुन भयभीत होकर एवं कांपता हुआ हाथ जोड़ कर नमस्कार करके अत्यन्त विनीत भाव-युक्त गद्‌गद वाणी से फिर कृष्ण को इस तरह कहने लगा (३५)। अर्जुन बोला कि हे हृषीकेश ! यह उचित ही है कि सांसारिक लोग आपकी महिमा का कीर्तन करके हर्षित होते हैं और उसमें अनुराग रखते हैं, तथा राक्षस लोग भयभीत होकर दशों दिशाओं में भागते फिरते हैं, और सब

सिद्धो के समुदाय (आपको) नमस्कार करते है। तात्पर्य यह कि जो सदाचारी लोग है वे प्रसन्नता एव प्रेमपूर्वक सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप आपकी अद्भुत महिमा का कीर्तन किया करते है, तथा आपको नमस्कार करते है; और दुराचारी लोग अपने दुष्कर्मो के फल-स्वरूप डर के मारे इधर-उधर भागते फिरते है, यह बिल्कुल ठीक है (३६)। हे महात्मन्! आपको वे नमस्कार क्यो नहीं करेंगे ? आप ब्रह्मा से भी महान् और उसके आदि कारण हो। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत् और असत्, एव उन दोनो से परे अक्षर आप ही हो; अर्थात् जो कुछ व्यक्त (इन्द्रियगोचर) और अव्यक्त (इन्द्रियातीत) है, अथवा प्रकृति और पुरुष, अथवा सगुण और निर्गुण आदि द्वन्द्व है वे और उन द्वन्द्वो का समावेश एवं उनका एकत्व-भाव परम अक्षर—पर-ब्रह्म आप ही हो (३७)। आप आदि-देव अर्थात् देवताओ के आदि कारण हो, आप पुरातन पुरुष हो, आप ही इस विश्व के अन्तिम लय-स्थान हो; जानने वाले—ज्ञाता आप हो, जानने योग्य—ज्ञेय आप हो और परमपद आप हो; हे अनन्त रूप! आपसे विश्व व्याप्त हो रहा है (३८)। वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा, तथा प्रपितामह अर्थात् ब्रह्मा के भी कारण, आप ही हो; आपको नमस्कार है, हजार बार नमस्कार करके फिर भी आपको वारवार नमस्कार है (३९)। हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सब ओर से नमस्कार है; हे अनन्तवीर्य! आपका विक्रम अपार है, आप सबमें परिपूर्ण है, इसलिए आप सर्व है (४०)। आपकी इस महिमा को न जानते हुए (आपको) मित्र मान कर स्नेह अथवा प्रमादवश मेरे से आपके लिए हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा—इस तरह के बराबरी के सबोधनो का जो उपयोग हुआ, और घूमते-फिरते, सोते, बैठते और भोजन करते समय, एकान्त में अथवा दूसरो के सामने हास्य-विनोद के निमित्त जो आपका अपमान हुआ हो, उसके लिए, हे अच्युत! हे अप्रमेय! मै आप से क्षमा चाहता हूँ (४१-४२)। आप इस चराचर विश्व के पिता हो, पूज्य हो और बड़े-से-बड़े गुरु हो; हे अप्रतिम-प्रभाव! तीनो लोको में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कोई कैसे होवे (४३)? इसलिए सबके स्वामी और पूज्य आपको मै साष्टांग नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न होइए। जिस तरह पिता पुत्र का, मित्र मित्र का, पति पत्नी का (अपराध क्षमा कर देता है), उसी तरह आप मेरे अपराध क्षमा करें। तात्पर्य यह कि जिस तरह कहीं पर किसी साधारण व्यक्ति का और किसी राजा-महाराजा का साथ हो जाय, और वह साधारण व्यक्ति उस राजा-महाराजा के राज-ऐश्वर्य का पूरा प्रभाव देखे बिना उसको अपना एक मित्र समझ कर उसके साथ बातचीत में तथा खाने-पीने, सोने-बैठने, घूमने-फिरने, हँसने-खेलने आदि में बराबरी का बर्ताव करता रहा हो, फिर वह जब उस राजा-महाराजा के राज-ऐश्वर्य को आँखो से देख लेता है, तब वह चकित एव भयभीत होता है, और पश्चात्ताप करता है कि "मैने बड़ा अनर्थ किया कि इतने बड़े आदमी का यथोचित सम्मान न करके उसके साथ

वरावरी का वर्ताव किया", तव वह डरता हुआ गिड़गिड़ा कर उस राजा-महाराजा से क्षमा-याचना करता है; उसी तरह यद्यपि अर्जुन श्रीकृष्ण को परमात्मा मानता था, परन्तु जब तक उसने उनके सर्वात्म-भाव अथवा विश्व-रूप को प्रत्यक्ष न देखा था, तब तक उनके अलौकिक ऐश्वर्य का उतना प्रभाव उसके चित्त पर नहीं पड़ा था, जितना कि विश्वरूप देखने के वाद पडा। इस कारण विश्वरूप देखने पर वह चौंक कर घबराया कि अनुपम प्रतिभा वाले भगवान् श्रीकृष्ण को व्यक्ति-भाव से अपना मित्र समझ कर बराबरी का वर्ताव करके मैंने वड़ा अनर्थ किया। इसलिए वह भगवान् की स्तुति द्वारा, उन्हे प्रसन्न करके अपने अपराध क्षमा कराने के लिए उन की प्रार्थना करने लगा (४४)। पहले कभी न देखे हुए (आपके रूप) को देख कर मुझे हर्ष हुआ है, और भय से मेरा मन व्यथित भी हुआ है; इसलिए हे देव ! मुझे (अपना) वह रूप दिखाइए; हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइए। मै आपको मुकुट धारण किये हुए एवं हाथो में गदा और चक्र आदि लिये हुए उसी तरह देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ति ! उसी चतुर्भुज-रूप से प्रकट होइए। तात्पर्य यह कि भगवान् का विश्व रूप देख कर यद्यपि अर्जुन को इस बात का हर्ष हुआ था कि जो पहले कभी नहीं देखा था, उस दुर्लभ रूप को देखने का आज मुझे सौभाग्य प्राप्त हो गया। परन्तु साथ ही साथ जगत् के अनेक करुणाजनक अद्भुत, भीषण, रौद्र एवं वीभत्स काण्ड एक साथ देख कर वह अत्यन्त ही भयभीत एवं व्याकुल हो उठा; अत. भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि अपनी इस अद्भुत माया को समेट कर मुकुट, शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण किये हुए अपने चतुर्भुज रूप को दिखाइए; क्योकि जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के विषम भावो वाले वनावो में उलझने से घवराहट के सिवाय शान्ति कहीं भी नहीं मिलती। सवकी एकता के अनुभव-रूप मुकुट धारण किये हुए तथा विद्या-रूप शख, कौशल-रूप चक्र, वल-रूप गदा और अनासक्ति-रूप पद्म से युक्त आप (परमात्मा) के चतुर्भुज-रूप की उपासना ही से सव प्रकार की शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है (४५-४६)। श्री भगवान् बोले कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपने योगवल से तुझे यह तेजोमय अनन्त और अनादि परम विश्वरूप दिखलाया, जिसको तेरे से पहले किसी ने नहीं देखा। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने भगवान् से प्रसन्न होने की जो प्रार्थना की, उस पर भगवान् कहते हैं कि "मैंने तेरे प्रेमभाव रूप श्रेष्ठ आचरण से प्रसन्न होकर ही यह विश्वरूप दिखाया है, जो रूप दूसरों को दीखना अत्यन्त दुर्लभ है। मेरे (कृष्ण के) इस शरीर के साथ तेरे सखा-भाव के वर्ताव से मेरे अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है, क्योकि मेरे लिए छोटे-वड़े, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं है—मै सवमें एक समान हूँ, जो मुझे जैसा भजते है, उन्हें मै वैसा ही प्रतीत होता हूँ, यह पहले कह आया हूँ" (४७)। हे कुरुओ में श्रेष्ठ वीर ! न वेदो और यज्ञो से, न पठन-पाठन से, न दान से, न कर्मकाण्डो से और न उग्र तपो से मनुष्य-लोक में तेरे सिवाय कोई और मुझे इस रूप में देख सकता है। तात्पर्य यह कि कर्मकाण्ड-

त्मक वेदो के अध्ययन तथा यज्ञादिक अन्य क्रियाओ में पृथक्‌ता का भाव वना रहने के कारण मनो-योग नहीं होता, और पूर्ण मनो-योग के विना विश्वरूप देखने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती (४८)। मेरे इस घोर-रूप को देख कर व्यथित मत हो और मूढ भी मत हो। भय छोड़ कर प्रसन्न चित्त से फिर तू मेरे उसी रूप को यह देख (४९)। संजय बोला कि उस समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार कह कर अपना (चतुर्भुज) रूप दिखाया, और उसके वाद उस महात्मा ने फिर से सौम्य (मनुष्य-रूप) होकर, उस भय-भीत (अर्जुन) को आश्वासन यानी दिलासा दी (५०)। अर्जुन वोला कि हे जनार्दन ! आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देख कर अब मेरा चित्त ठिकाने आया है, और पहले की तरह मैं स्वस्थ हो गया हूँ (५१)। श्री भगवान् वोले कि मेरे जिस रूप को तूने देखा है उसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है, देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा करते रहते हैं (५२)। न वेदो से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जैसा कि मुझे तूने देखा है (५३)। हे अर्जुन ! हे परन्तप ! केवल अनन्य-भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वत. जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ। तात्पर्य यह कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, यह प्रत्यक्ष वोध होना अत्यन्त ही कठिन है; न तो व्यष्टि और न समष्टि ज्ञानेन्द्रिय रूप देवताओ को यह प्रत्यक्ष वोध होता है, न वेदो के पाठ करते रहने से, अथवा तप करने से, अथवा दान देने से, अथवा यज्ञानुष्ठान से ही यह प्रत्यक्ष वोध हो सकता है। जो परमात्मा को सवमें एक समान व्यापक होने के दृढ-निश्चयपूर्वक सवके साथ प्रेम* करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करता है, उसे ही इस विषय का प्रत्यक्ष वोध होता है, और वही सवके आत्मा=परमात्मा में तन्मय हो जाता है (५४)।

स्पष्टीकरण—सवके एकत्व-भाव, सवके आत्मा=परमात्मा को भूल कर जगत् के नाना भाँति के बनावो ही के पीछे पडे रहने से, अथवा केवल उन्हीं की खोज में लगे रहने से विक्षेप ही होता है, क्योकि जगत् के वनाव एक-से-एक अधिक एवं एक-से-एक विलक्षण निकलते चले आते है, उनका कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। उनको देखते-देखते अकल चकरा जाती है। जहाँ अनुकूल वनाव दृष्टिगोचर होते है, वहीं प्रतिकूलता प्रतीत होने लगती है। प्रकृति की त्रिगुणात्मक रचना में सात्त्विक वनावो के साथ ही साथ राजस और तामस वनाव भी दृष्टिगोचर होते रहते है। जहाँ सज्जन पुरुष अपने सत्कर्मो में संलग्न दीखते है, तो साथ ही वहाँ दुष्ट लोग भी अपने दुराचारो में प्रवृत्त दिखाई देते है। एक तरफ हर्ष एव मंगल के उत्सव मनाये जा रहे है, तो दूसरी तरफ शोक का करुण-क्रन्दन हो रहा है। एक तरफ सुख-सम्पत्ति के ठाट लगे हुए है, तो दूसरी तरफ दरिद्रता

* प्रेम का खुलासा १२वे अध्याय के १३वें श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए।

नंगा नृत्य कर रही है। एक तरफ जन्म और विवाह के बाजे बज रहे है, तो दूसरी तरफ मृत्यु का हाहाकार हो रहा है। एक तरफ ऐशो-आराम के साधनो के नित नये आविष्कार हो रहे है, तो दूसरी तरफ दैवी दुर्घटनाओं का तॉता बँध रहा है। एक तरफ शक्ति-सम्पन्न लोग अपनी शक्ति के मद से मतवाले हो रहे है, तो दूसरी तरफ उनके अत्याचारो से पीड़ित निर्वल जनता अपने भाग्य को कोस रही है। एक तरफ पर्वतो, वनो, महलो और बाग-वगीचो की छटाएँ मन को मोहित कर रही है, तो दूसरी तरफ कूड़े-कर्कट, गटर-नालियो, श्मशान और कवरिस्तानो के गन्दे एवं वीभत्स दृश्यो से अन्त.करण ग्लानि से व्याकुल हो उठता है। परन्तु मनुष्य के मन पर अनुकूल अथवा सुखदायक बनावो का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि प्रतिकूल अथवा दुःखदायक बनावो का पड़ता है, क्योकि अनुकूलता की प्राप्ति मनुष्य अपने ही प्रयत्न का फल समझता है, इसलिए अनुकूलता अथवा सुख में उसे अपने शरीर और शरीर से सवंध रखने वाले व्यक्तियो अथवा पदार्थों के सिवाय अन्य किसी अदृश्य विषय पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; परन्तु प्रतिकूलता की प्राप्ति का कारण वह अपने को नहीं मानता। इसलिए जव कोई दुःख अथवा विपत्ति आती है—विशेषकर अपने तथा अपने आत्मीय जनो पर भयानक रोगादिक अथवा युद्धादिक के संकट आते है, जो अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं मिटते और मृत्यु निकट दीखने लगती है, तव घवराहट वहुत वढ़ जाती है, और उस समय किसी अदृश्य शक्ति का ध्यान आता है। उस अदृश्य शक्ति को लोग प्रकृति (Nature), दैव (Providence), भाग्य (Luck) अथवा ईश्वर (God) आदि नाम, अपनी-अपनी भावना के अनुसार दे देते है, और अपने अज्ञान तथा प्रमादवश देहाभिमान से किये हुए पापो का पश्चात्ताप करके उनके लिए उस अदृश्य शक्ति से क्षमा-याचना करते है। परन्तु ऐसा करने पर भी मन की व्याकुलता नहीं मिटती, क्योकि उस अदृश्य शक्ति को मान लेने पर भी प्रतिकूलता-रूप संकट की निवृत्ति नहीं हो जाती। चित्त की विक्षिप्तता तभी मिटती है, जव कि जगत् के अनन्त प्रकार के वनावो को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा यानी सबके अपने-आपके अनेक रूप होने का दृढ निश्चय हो जाता है, और अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि द्वन्द्वो से परिपूर्ण जगत् का, आत्मा अथवा परमात्मा यानी सवके अपने आपमें समावेश हो जाता है।

यही भाव इस ग्यारहवें अध्याय में दिखाया गया है। अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने जव अपना विश्व-रूप दिखाया तो उसमें अनन्त प्रकार के वनावो, खास करके विकराल एवं अत्यन्त भयानक रूपो को देखकर उसके होश उड़ गये, और उसे इस बात का स्मरण ही न रहा कि "मैं भगवान् का विश्व-रूप देख रहा हूँ"; और जव उसने अपने स्वजन-बांधवो को काल-रूपी भगवान् के मुख में चवाये जाते हुए देखा, तव तो वह अत्यन्त ही घवड़ा उठा, और कहने लगा कि "मैं यह क्या भयानक दृश्य देख रहा हूँ?"

तब भगवान् ने उसे समझाया कि "तूने अज्ञान-वश जो यह अभिमान किया था कि 'मैं नहीं लड़ूँगा तो ये लोग जीते बच जायेंगे', उसको दूर करने के लिए तुझे यह दृश्य दिखाया गया है, कि ये लोग अपनी-अपनी करनी के फल-स्वरूप मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं, तेरा अभिमान मिथ्या है। समष्टि-हित के लिए इन लोगो का मारा जाना अनिवार्य है। समष्टि-हित की उपेक्षा करके व्यष्टि स्वार्थों की रक्षा हो नहीं सकती, और समष्टि के विरुद्ध कोई व्यक्ति अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए विश्व की एकता का समष्टि-भाव जो तू मेरे शरीर में देख रहा है, उसको स्मरण रखता हुआ अपने व्यक्तित्व को मेरे विश्व-रूप के समर्पित करके खेद रहित होकर सवके हित की दृष्टि से अपने कर्तव्य पर आरूढ़ हो जा।"

भगवान् के इस तरह समझाने पर अर्जुन को कुछ होश हुआ, और दीन होकर अज्ञान-जन्य अपने मोह पर पश्चात्ताप करता हुआ वह भगवान् की महिमा की स्तुति करने लगा और अपने अपराध क्षमा करवाने लगा। साथ ही भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि आपके विश्व-रूप के नाना प्रकार के आश्चर्यजनक और विकराल बनावो को देखकर मेरा मन डावाँडोल हो गया है, अव आप कृपा करके अपनी इस माया को समेट कर मुझे अपना मुकुट-धारी चतुर्भुज स्वरूप दिखाइए, अर्थात् मस्तक पर मुकुट तथा चारों हाथो में शंख, चक्र, गदा, और पद्म धारण किये हुए हो—ऐसा रूप दिखाइए। मस्तक पर मुकुट और हाथो में शंख, चक्र,गदा एवं पद्म धारण किये हुए भगवान् के मनुष्या-कृति रूप में अर्जुन की विशेष भक्ति होने का अभिप्राय यह था कि, यद्यपि विश्व में जितने रूप है, वे सब परमात्मा ही के है, परन्तु उन सबमें मनुष्य-देह की योग्यता विशेष है, अतः वह सर्व-श्रेष्ठ है; और जिस मनुष्य-देह में सब की एकता का अनुभव-स्वरूप मुकुट धारण किया हुआ मस्तक हो, सव प्रकार की विद्याओ के संग्रह-रूप शंख, सव प्रकार की कलाओ में कुशलता एवं कर्मशीलता-रूप चक्र, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति की प्रचुरता-रूप गदा, एवं सब सांसारिक पदार्थों एवं व्यवहारो में अनासक्ति-रूप कमल, इन चार भावो रूप चार भुजाएँ हो—वही परमात्मा अथवा ईश्वर का सर्वोत्तम रूप है। इन्हीं गुणो से जगत् अथवा समाज का धारण होता है। इसलिए जिस व्यक्ति अथवा जिम समाज में इन गुणों की जितनी अधिकता होती है, उतना ही अधिक वह व्यक्ति अथवा समाज सब प्रकार की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति में बढ़ा हुआ होता है, और उस व्यक्ति अथवा समाज को उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है; और जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज में इन गुणो की जितनी ही कमी होती है, उतना ही वह व्यक्ति या समाज सब प्रकार से पिछड़ा हुआ होता है, और उस व्यक्ति या समाज को उतनी ही कम शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है; और जो महा-पुरुष इन गुणो से पूर्ण होता है, वह ही जगत् का स्वामी, जगत् का नियन्त्रण करने वाला

ईश्वर रूप होता है। जो सबके आत्मा=परमात्मा के इस रूप की, यानी इन भावों की उपासना करता है, उसमें उत्तरोत्तर इन गुणो की वृद्धि होती जाती है, और वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ अन्त में परमात्म-पद को पहुँच जाता है; क्योंकि मनुष्य, मन की एकाग्रता एवं दृढता से जैसी उपासना करता है, वैसा ही वह स्वयं हो जाता है, उपासना का यही फल है। इस रूप में मस्तक पर मुकुट सबकी एकता के अनुभव का चिन्ह है, क्योकि मुकुट उन्हीं राजा-महाराजाओ अथवा महान् पुरुषो के सिर पर शोभा देता है, जो बहुत से लोगों की एकता के केन्द्र होते है। और जिन पर बहुत से लोगो के हित की एकत्रित जिम्मेवारी होती है। शंख सब प्रकार की विद्याओ का चिन्ह है, क्योकि शंख शब्दात्मक है और सब विद्याएँ भी शब्द-रूप है। गदा शारीरिक और मानसिक बल का चिह्न है, क्योकि जिस व्यक्ति में शारीरिक और मानसिक बल की विशेषता होती है वही गदा जैसे प्रचण्ड शस्त्र को धारण कर सकता है। चक्र कार्य-कौशल अथवा कर्म-शीलता का चिह्न है, क्योकि जगत् का प्रवाह गोलाकार चक्र-रूप है, और इसकी गति अथवा चाल भी गोलाकार चक्र-रूप है, तथा यह सब लोगो की भिन्न-भिन्न योग्यता के कर्मों के चक्र पर निर्भर है; अर्थात् जिस तरह किसी कारखाने की मशीनो के चक्के एक दूसरे से शृंखलाबद्ध—जुड़े हुए चक्कर काटते रहते है, तभी वह कारखाना चलता है, उसी तरह सब लोग अपनी-अपनी योग्यता के कर्म अच्छी तरह कुशलता से करते हुए आपस में शृंखलाबद्ध एव एक दूसरे के सहायक होते है, तभी संसार-चक्र* चलता है। इसके अतिरिक्त जगत् के नाना प्रकार के छोटे और बड़े उद्यम, किसी न किसी प्रकार के चक्र की सहायता से ही सिद्ध होते है चाहे वह चक्र काल-चक्र के रूप में अथवा घटना-चक्र के रूप में हो, अथवा पहियो, चक्को, चरखो आदि के भ्रमण-चक्र के रूप में हो। पद्म अथवा कमल अनासक्ति का चिह्न है, क्योकि कमल सदा पानी में रहता हुआ भी उससे भीगता नहीं; इसी तरह महान् पुरुष संसार के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए और भोग भोगते हुए भी सदा अनासक्त रहते है, अर्थात् किसी भी व्यक्ति, किसी भी पदार्थ अथवा किसी भी कार्य में मोहित नहीं होते किन्तु अलिप्त रहते है।

इसलिए अर्जुन को भगवान् का यही भावनामय रूप विशेष प्रिय था, और भगवान् ने उसकी प्रार्थना पर उसी दिव्य-दृष्टि से उसे उस रूप का दर्शन कराया। फिर जब उस दिव्य-दृष्टि का संवरण कर लिया तब, जिस तरह कोई मनुष्य स्वप्न से जागता है, और जागने पर स्वप्न के सब दृश्य मिट कर पहले की तरह जाग्रत संसार सामने आ जाता है, उसी तरह अर्जुन के मनोयोग की दिव्य-दृष्टि हट जाने पर चर्म-चक्षुओ की भौतिक दृष्टि से पहले की तरह, श्रीकृष्ण रथ के सारथी की स्थिति में दिखाई देने लगे, और वह अपनी

* तीसरे अध्याय में इसको यज्ञ-चक्र के रूप से कहा है। उस अध्याय के श्लोक १०वें से १६वें तक का स्पष्टीकरण देखिए।

पूर्व की स्थिति यानी प्राकृत अवस्था में आ गया। भगवान् ने उसे आश्वासन देकर समझाया कि मेरे इस घोर रूप को देखकर घबड़ाने का कोई कारण नहीं है, प्रत्युत इससे तो प्रसन्नता होनी चाहिए, क्योकि यह रूप देखना बडा ही दुर्लभ है। यह तेरा परम सौभाग्य है कि इस समय अखिल विश्व तुझे एक साथ दीख पड़ा है। यह "एक में अनेक और अनेको में एक" का प्रत्यक्ष अनुभव न तो विशेष विभूति-सम्पन्न मनोमय देवताओ को ही होता है, न भेद-प्रतिपादक वेदादि-शास्त्रो के पठन-पाठन करने से, न हवन-यज्ञ आदि कर्मकाण्डो से, न दान-पुण्य तथा अन्य धार्मिक कृत्यो से, न शरीर को कृश करने वाली तपस्या से ही होता है; क्योकि इन सब कृत्यो में पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार और कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटियो के भेद का दृढ निश्चय बना रहता है, जो एकता के बोध का बाधक है। यह सबकी एकता का दृश्य उसी को दीखता है, जो अनन्य-भाव से सबके आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरी उपासना करता है, अर्थात् जो मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम का बर्ताव करता है; और उसे ही यह बोध होता है कि यह अखिल विश्व एक ही परमात्मा के अनेक रूप है। उस बोध की दृढता से उसे सर्वत्र परमात्मा-ही दृष्टिगोचर होता है, जिससे वह समय पाकर अपने-आप को भी परमात्म-स्वरूप अनुभव करने लगता है।

+ + +

उक्त अनन्य-भाव की उपासना की व्याख्या आगे की जाती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषुः यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे पाण्डव! जो मेरे लिए कर्म करता है, अर्थात् सारे जगत् में मुझ सर्वात्मा=परमात्मा को व्यापक समझ कर जो सबके हित के लिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य कर्म करता है, जो मेरे परायण है, अर्थात् जिसने सारे जगत् को मेरा ही रूप समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ दिया है; जो मेरा भक्त है, अर्थात् आगे बारहवें अध्याय के विधानानुसार जो मेरी भक्ति करता है; जो सग रहित है, अर्थात् जो पृथक्ता के भावो में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, और जो सव भूत-प्राणियो से वैर नहीं रखता, अर्थात् सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर किसी से द्वेष नहीं करता, वह मुझे प्राप्त होता है (५५)।

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

बारहवाँ अध्याय

ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाकर सबकी एकता का प्रत्यक्ष वोध कराया, और अन्त में यह कहा कि मेरी अनन्य भाव की भक्ति करने से ही इस प्रकार मेरे सर्वभूतात्मैक्य-भाव का प्रत्यक्ष वोध हो सकता है; और उस अध्याय के अन्तिम श्लोक में उस अनन्य भक्ति का स्वरूप सूत्र-रूप से कहा। अब अर्जुन की प्रार्थना पर उसी की व्याख्या इस वारहवें अध्याय में करते है।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समवुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि वुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।। ९ ।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १० ।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। ११ ।।
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२ ।।

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि जो भक्त इस प्रकार सदा युक्त होकर अर्थात् आपके उक्त सर्वरूप में मन लगाकर आपकी उपासना करते है, और जो अक्षर और अव्यक्त भाव की उपासना करते है, उनमें समत्व-योग के श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ? तात्पर्य यह कि जो ग्यारहवें अध्याय के वर्णनानुसार अखिल विश्व को आप ही का विराट् रूप समझ कर सबके साथ प्रेम करने रूपी आपकी उपासना करने में निरन्तर लगे रहते है, और जो लोग नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपंच को मिथ्या समझ कर इन्द्रियो के अगोचर, अविनाशी, निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करते रहते हैं, उनमें समत्वयोग के उत्तम साधक कौन हैं (१) ? श्री भगवान् बोले कि जो मुझ (विश्वरूपधारी परमात्मा) में मन लगाकर सदा (सबके साथ प्रेम-भाव में) जुड़े हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते है, उन्हे मैं समत्व-योग के उत्तम साधक मानता हूँ (२) । और जो सब इन्द्रियो के समूह का निग्रह करके, अक्षर अर्थात् अविनाशी, अनिर्देश्य अर्थात् वर्णनातीत, सर्वत्रग अर्थात् सर्वव्यापक, अचिन्त्य अर्थात् मन की पहुँच से परे, कूटस्थ अर्थात् सबके आधार, अचल अर्थात् सदा एक-सा रहने वाले, ध्रुव अर्थात् अटल और अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियो से प्रतीत न होने वाले— निर्गुण भाव की उपासना करते है, वे, सर्वत्र समत्व-बुद्धि से सब भूतो के हित में लगे रहने वाले (लोग) मुझको ही प्राप्त होते है (३-४) । उन अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को बहुत क्लेश होता है, क्योकि देहाभिमानियो के लिए अव्यक्त में गति होना बहुत ही दुःख-साध्य है (५) । श्लोक २ से ५ तक का तात्पर्य यह है कि परमात्म-भाव अथवा परमानन्द की प्राप्ति—जो कि सबका परम ध्येय है, वह तो सब भूत-प्राणियो में एकता एवं समता के ज्ञानपूर्वक सबके हित में लगे रहने रूपी समत्व-योग से होती है—चाहे अखिल विश्व को परमात्मा के अनेक परिवर्तनशील रूप समझ कर, अर्थात् "सब-कुछ परमात्मा ही है" ऐसा निश्चय करके, सबकी एकता एवं समता के चिन्तन-रूप, परमात्मा की विधि-मुख

यानी सगुण उपासना द्वारा मन को साम्य-भाव में स्थित करके ऐसा किया जाय; या "नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपंच मिथ्या है, अतः वह परमात्मा नहीं है", इस तरह "नेति-नेति" के सिद्धान्त से सबका निषेध करके, मन और इन्द्रियों के अगोचर, इन सबके परे, सबके आधार, सर्वव्यापक, सबकी सत्ता-स्वरूप, एक, सत्य, नित्य आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने-रूपी निर्गुण उपासना द्वारा ऐसा किया जाय। परन्तु उपासना अथवा चिन्तन मन से होता है, और मन के टिकने के लिए कोई-न-कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। "अस्ति" अर्थात् किसी भी पदार्थ के अस्तित्व में, यानी "वह ऐसा है", इस भाव में तो मन लग सकता है; परन्तु "नेति-नेति", अर्थात् "ऐसा नहीं है—ऐसा नहीं है", इस भाव में मन नहीं ठहर सकता। दूसरे शब्दो में इन्द्रिय-गोचर पदार्थो में तो मन सहज ही लग सकता है। परन्तु इन्द्रियातीत निर्गुण वस्तु में मन की स्थिति होना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए आत्मा अथवा परमात्मा के अव्यक्त अथवा निर्गुण भाव में मन को ठहराने के प्रयत्न में प्रायः असफलता होती है; परन्तु परमात्मा के व्यक्त अथवा इन्द्रिय-गोचर सगुण-स्वरूप—अखिल विश्व को परमात्मा ही का परिवर्तनशील स्वरूप समझ कर एक में अनेक और अनेको में एक होने की अटल श्रद्धा से उसमें परमात्मा का चिन्तन करना बहुत ही सुगम है, अतः उसमें मन सहज ही टिक सकता है। इसलिए परमात्मा के विश्व-रूप की उपर्युक्त उपासना से समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति होनी सहज है (२ से ५)। परन्तु जो सब कर्मों का (सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप) मुझमें संन्यास करके, मेरे परायण हुए, (सर्वत्र एकता के) अनन्य-भाव में मन लगाकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते है, हे पार्थ! मुझ में पूर्णतया चित्त लगा देने वाले उन (भक्तो) को मै मृत्यु-रूप संसार-समुद्र से तुरन्त पार करता हूँ। तात्पर्य यह कि जो सबमें मुझ परमात्मा को एक समान व्यापक जानते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थो को सबके स्वार्थो में जोड़कर, सबके हित के लिए कर्म करने-रूपी मेरी उपासना करते है, उन सर्वत्र मेरा ही चिन्तन करने वाले भक्तो का मै सबका आत्मा=परमात्मा फौरन उद्धार करता हूँ, यानी दसवें अध्याय के श्लोक १०वें तथा ११वें के अनुसार उनके अन्तःकरण में आत्म-ज्ञान का प्रकाश करके मै उनके अज्ञानान्धकार का नाश कर देता हूँ (६-७)। (अतएव) मुझमें ही मन लगा, एव मुझ में बुद्धि स्थित कर; इस तरह करने से तू उन्नत होकर निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा। तात्पर्य यह कि मन से सर्वत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन कर, और बुद्धि से सर्वत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही के व्यापक होने का विचार कर; ऐसा करने से तू सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शरीर-भाव अथवा जीव-भाव से ऊपर उठ कर मेरे परमात्म-भाव को प्राप्त हो जायगा; क्योंकि मनुष्य जैसा चिन्तन और विचार करता है, वैसा ही वह हो जाता है (८)। अब यदि तू मुझमें भली-भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो तो हे धनंजय! अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त होने की

इच्छा कर, यानी बार-बार मेरी प्राप्ति के चिन्तन का अभ्यास कर (९)। यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर रह; मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा। तात्पर्य यह कि यदि मेरी प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास में मन न लगे, तो नवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक के अनुसार सर्वव्यापक परमात्मा के लिए, यानी लोक-सेवा के कर्म करने में लगा रह। लोक-सेवा के कर्म करते रहने से भी शनैः-शनैः व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थो की आसक्ति मिट कर सबके आत्मा=परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है (१०)। और यदि तू मेरे लिए उपर्युक्त कर्म करने में भी असमर्थ हो तो प्रयत्नपूर्वक सब कर्मो के फल का त्याग कर। तात्पर्य यह कि यदि लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य भी न बन सके, तो नवें अध्याय के सत्ताइसवें श्लोक में कहे अनुसार खाने-पीने आदि के सभी शारीरिक व्यवहार करने में सबके एकत्व-भाव=परमात्मा के चिन्तनपूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थ के व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड देने का प्रयत्न कर (११)। **अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान की विशेषता है, ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है।** तात्पर्य यह कि कोरे अभ्यास की अपेक्षा परमात्मा की सर्वव्यापकता का परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योकि परमात्मा के ज्ञान के बिना केवल अभ्यास करते रहने से कुछ भी सिद्धि नहीं होती; ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, क्योकि "परमात्मा सर्वव्यापक है", यह जान लेने पर भी यदि उस पर सदा ध्यान न रखा जाय तो वह जानना निरर्थक होता है; और ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है, क्योकि परमात्मा के सर्वव्यापक होने का ध्यान रखते हुए उसी के अनुसार आचरण होता है, अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार, अपने पृथक व्यक्तित्व के अहंकार और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव में आसक्ति न रख कर सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से होते है, तभी ध्यान सार्थक होता है। यदि परमात्मा की सर्वव्यापकता का ध्यान होते हुए भी व्यवहार उसके अनुसार न हो, अर्थात् आचरणो में व्यक्तित्व का अहकार एवं व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति बनी रहे तो ज्ञान और ध्यान, दोनो निरर्थक होते है। **अभ्यास, ज्ञान एवं ध्यान आदि सब सांसारिक व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने के साधन मात्र हैं;** अर्थात् समत्व-योग की सिद्धि के सहायक है। शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तो सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त आचरण करने से अर्थात् समत्व-योग से ही प्राप्त होती है, और उस समत्व-योग की स्थिति के लिए अभ्यास, ज्ञान और ध्यान उत्तरोत्तर सहायक है (१२)।

स्पष्टीकरण—गीता के प्रतिपाद्य विषय—सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने-रूप समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को

सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित करने का उपाय, छठे अध्याय में राज-योग का अभ्यास बताया; फिर उक्त अभ्यास की कठिनता की शंका होने पर सातवें अध्याय से आरंभ करके परमात्मा की उपासना-रूप सुगम उपाय का निरूपण किया, जिसमें सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप भगवान् ने अपने-आपको सबमें और सबको अपने में बता कर, ग्यारहवें अध्याय में अपनी उक्त सर्वरूपता का प्रत्यक्ष बोध कराया, और उस सर्वरूप की उपासना करने, अर्थात् अखिल विश्व को परमात्मा का व्यक्त रूप समझ कर सबके साथ प्रेम का व्यवहार करने-रूप परमात्मा की उपासना करने का उपदेश अर्जुन को निमित्त बनाकर सबको दिया। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करवाने के लिए अर्जुन ने पूछा कि जो इस तरह सबके साथ प्रेम करने-रूप आपके व्यक्त स्वरूप की सगुण उपासना करते हैं, और जो आपके अव्यक्त भाव की निर्गुण उपासना करते है उनमें से समत्व-योग के उत्तम साधक कौन होते है, अर्थात् इन दो प्रकार की उपासनाओ में से समत्व-योग में स्थित होने के लिए श्रेष्ठ साधन कौन सा है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि **समत्व योग के उत्तम साधक वह होते हैं, जो कि व्यक्त और अव्यक्त, अथवा क्षर और अक्षर, जो कुछ भी है, उस सबको मेरे अर्थात् परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकत्व-भाव के प्रेम का आचरण करते हुए सबके हित में लगे रहते है।** जो लोग मेरे व्यक्त स्वरूप—इस जगत् के बनाव से परे मेरे अव्यक्त भाव की उपासना करते है, वे भी यदि समत्व-बुद्धि से सबके हित में लगे रहते है तो मुझे ही प्राप्त होते है, क्योकि परमात्म-भाव की प्राप्ति तो मन और बुद्धि को सबकी एकता के साम्यभाव में स्थित करने से होती है—चाहे वह स्थिति व्यक्त उपासना द्वारा प्राप्त की जाय अथवा अव्यक्त उपासना द्वारा; परन्तु अव्यक्त भाव की उपासना में मन नहीं लग सकता, क्योकि मन को ठहराने के लिए कोई न कोई व्यक्त अवलम्बन अवश्य चाहिए। उपासना मन और इन्द्रियो द्वारा होती है और सब व्यक्त वस्तुओ का निषेध हो जाने पर मन और इन्द्रियाँ आदि कुछ भी शेष नहीं रहते, फिर किसके द्वारा, कौन किसकी उपासना करे?

अव्यक्त भाव केवल बुद्धि के विचार का विषय है, मन से उपासना करने का विषय नहीं; और वह विचार अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगो की पहुँच से परे है; इसलिए सर्व-साधारण के हित के लिए उपासना के सरल साधन का विधान किया गया है। अत· अखिल विश्व को परमात्मा ही का व्यक्त रूप समझ कर अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर, अपने-अपने शरीरो की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार सबके हित अर्थात् लोक-संग्रह की दृष्टि से करना चाहिए। इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमपद=परमात्म-भाव को प्राप्त होता है। सबके

एकत्व-भाव=परमात्मा में मन को स्थिर करने के लिए जिसकी जैसी योग्यता और जैसी रुचि हो, उसी के अनुसार साधनो का आश्रय लिया जा सकता है। यदि परमात्मा की प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास की योग्यता हो तो वैसा करे; यदि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक परमात्मा को सर्वव्यापक मानकर लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि अपने सभी व्यष्टि व्यवहारो को समष्टि व्यवहारो के साथ जोड़ देने की योग्यता हो तो वैसा करे। अन्तिम साध्य अथवा परम गति, अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़कर पूर्ण एकता एवं समता के अनुभव में दृढ स्थिति हो जाना है। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदि सभी इसी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति के साधन हैं।

× × ×

अब आगे तेरहवें से बीसवें श्लोक तक आठ श्लोको में भगवान् सच्चे भक्त अथवा उपासक के लक्षण कहते हैं। **यहाँ पर पाठकों का ध्यान इस बात पर विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन आठ श्लोको में भगवान् उसी को अपना प्यारा भक्त बताते है जो पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों के व्यष्टि भावों को समष्टि में जोड़ कर सबके साथ एकता के प्रेम का व्यवहार करता है, और जिसका अन्तःकरण अनुकूलता-प्रतिकूलता के नाना भाँति के द्वन्द्वों में एक समान रहता है—विचलित नही होता।** अपने प्यारे और सच्चे भक्त के लक्षण आगे के आठ श्लोको में निरूपण करने में तथा श्लोक २ से १२ तक उपासना का जो यथार्थ स्वरूप कह आये है, उनमें भी भगवान् ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि मेरे अमुक नामों का इतना जप करने वाले, या इतनी मालाएँ फेरने वाले, या अमुक स्तोत्रो का पाठ करने वाले, या मेरे किन्हीं विशेष रूपो के ध्यान में लगे रहने वाले, अथवा प्रतिदिन इतनी बार मन्दिरो या उपासना-स्थानो में पहुँच कर आराधना करने वाले, अथवा पंचोपचार या षोडशोपचार आदि विधि से अर्चन-पूजन करने वाले, अथवा इतना भोग-प्रसाद चढाने वाले, अथवा इतनी बार संध्या-वन्दन, पूजा-पाठ आदि करने वाले, एव स्वयं दीन और दास बन कर सर्वथा मुझ पर निर्भर रहन वाले परावलम्बी भक्त मुझे प्यारे होते हैं; न यह कहा है कि अमुक प्रकार से यज्ञानुष्ठान करने वाले, अथवा आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि हठ-योग के साधनो में लगे रहने वाले, अथवा व्रत-उपवास करके भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि से शरीर को कष्ट देकर तप करने वाले, अथवा तीर्थ-यात्रा के निमित्त भ्रमण करने वाले, और नदी, नालो, तालाबो और समुद्रो आदि में नहाने वाले, अथवा देव-कर्म, पितृ-कर्म आदि कर्म-काण्डो में लगे रहने वाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं; न यही कहा है कि शरीरो पर अमुक प्रकार

के चिन्ह लगाने वाले, या अमुक प्रकार की वेष-भूषा रखने वाले, अथवा अमुक स्थान में निवास करने वाले, अथवा अमुक शास्त्रों के मानने और उनके अध्ययन में लगे रहने वाले, अथवा शरीरों की बाहरी पवित्रता के आचार-विचार को प्रधानता देने वाले, अथवा अमुक जाति, अमुक वर्ण, अमुक आश्रम के लोग, अथवा अमुक धर्म, पन्थ, मजहब अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी ही मेरे प्यारे भक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि गीता में परमात्मा के किसी नाम-विशेष, रूप-विशेष अथवा उपाधि-विशेष की किसी विशेष विधि से आराधना अथवा पूजन-अर्चन का विधान नहीं है; न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड अथवा साम्प्रदायिक रीति-रिवाज का प्रतिपादन ही है। दूसरे शब्दो में गीता में धार्मिक कट्टरता, अथवा मजहबी दीवानापन, अथवा साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता में तो सबकी एकता की समत्व-बुद्धियुक्त-प्रेम-भाव से सबके साथ यथायोग्य समता का आचरण करने का विधान है, जिसमें सभी धर्मों, सभी मजहबों एवं सभी सम्प्रदायो का समावेश हो सकता है, क्योकि सच्चा धर्म तो वही हो सकता है, कि जिसका मूल उद्देश्य पारस्परिक प्रेम का आचरण करना हो—चाहे उस उद्देश्य का प्रचार किसी भी भाषा अथवा किसी भी भाव में, किसी भी व्यक्ति द्वारा, किसी भी समय और किसी भी देश में किया गया हो।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

अर्थ—जो निर्मम अर्थात् किसी व्यक्ति, पदार्थ, विषय अथवा व्यवहार में ममत्व की आसक्ति न रख कर, निरहकार अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार के बिना, मैत्री, करुणा आदि से युक्त हुआ, सब भूत-प्राणियो के प्रति अद्वेष अर्थात् प्रेम रखता है; सुख और दुःख में समान रहता है; क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट, सयम से रहने वाला एवं दृढ़ निश्चय युक्त है; तथा मन और बुद्धि को जिसने मुझ (सर्वात्मा=परमात्मा) में लगा दिया है; वह मेरा समत्वयोगी भक्त मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि जो किसी भी व्यक्ति-विशेष, पदार्थ-विशेष, व्यवहार-विशेष अथवा विषय-विशेष आदि में ममत्व की आसक्ति से तथा अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर सब भूत-प्राणियो के साथ मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि प्रेम* के नाना भावो युक्त यथायोग्य बर्ताव करता है और इस तरह सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करने में जो सुख और दु.ख प्राप्त हो, उनको एक समान आगमापायी यानी अनित्य समझ कर जो उनसे विक्षिप्त नहीं होता; किसी से भूल से अथवा अज्ञान से अर्थात् मूर्खता से कोई अपराध अथवा हानि हो जाय तो उसे सहन करके क्षमा करता है; तथा इस तरह सबके साथ प्रेम के बर्ताव-पूर्वक अपने कर्तव्य-कर्म करने से जो धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त हो, उन्हीं में सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जिसके अन्त करण में लोभ से विकार उत्पन्न नहीं होते; इन्द्रियो के विषयो में जो संयम रखता है; और जिसके मन और बुद्धि में आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व-भाव का दृढ़ निश्चय है, वह समत्वयोगी सबके आत्मा=परमात्मा का सच्चा एव प्यारा भक्त होता है (१३-१४)। जिससे लोगो को उद्वेग अर्थात् त्रास नहीं होता, और जिसको लोगो से उद्वेग अर्थात् त्रास नहीं होता, (और) जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगो से मुक्त है, वह मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि जो ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, पीड़ा, अत्याचार आदि के आचरणो से लोगो में अशान्ति उत्पन्न करता है, वह स्वय अपने चित्त की शान्ति भंग होने के कारण उत्पन्न करता है; क्योकि जो दूसरो की सुख-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि को सहन न करके उनसे ईर्षा करता है, वह दूसरो को जलाने के साथ स्वयं भी जलता रहता है; जो दूसरो से द्वेष करता है, वह दूसरो को उद्विग्न करने के साथ-साथ स्वयं भी उद्विग्न होता है; जो अपने को कुलीन एव उच्च-वशीय मान कर दूसरो से घृणा करता है, उसके अन्तःकरण में सदा ग्लानि बनी रहती है; जो अपने को बडा मान कर दूसरो का तिरस्कार करता है, उसे सदा अपने बड़प्पन में त्रुटि आने तथा उनके नाश होने की आशंका बनी रहती है; जो दूसरो को पीडा देता है, उसका अन्त करण सदा सशकित

*प्रेम के बर्ताव की व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

रहता है; और जो दूसरो पर अत्याचार करता है, वह सदा भयभीत रहता है; इस तरह अपने तथा दूसरो के अन्त.करण में उद्वेग उत्पन्न करने वाले लोगो से सबका आत्मा=परमात्मा कभी प्रसन्न नहीं होता। परन्तु जो दूसरो को उद्विग्न करने वाले कोई व्यवहार नहीं करता, और जो स्वयं दूसरो के ऐसे आचरणों से उद्विग्न नहीं होता; इसी तरह जो धन, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलता की प्राप्ति के हर्षोत्पादक अवसरो पर स्वयं हर्ष से उन्मत्त नहीं हो जाता, और उस हर्ष के मद में ऐसे आचरण नहीं करता कि जिससे दूसरो को विक्षेप हो; तथा किसी अनिष्ट अथवा प्रतिकूलता की प्राप्ति के अवसर पर ऐसा क्रोध नहीं करता कि जिससे अपने अन्त.करण में जलन उत्पन्न होने के साथ-साथ दूसरों को भी क्षोभ हो; और जो ऐसे कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता कि जिनसे स्वयं भयभीत हो और दूसरे भी भयत्रस्त होवें—वह समत्वयोगी सबके आत्मा=परमात्मा का प्यारा होता है (१५)। अनपेक्ष अर्थात् स्वावलम्बी, शुचि अर्थात् पवित्र, दक्ष अर्थात् कुशल, उदासीन अर्थात् अनासक्त, गतव्यय अर्थात् चिन्ता, भय, पीड़ा आदि व्यथाओं से न घबराने वाला, तथा सब समारंभो से अलग रहने वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा होता है। जो न हर्षित होता है और न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकांक्षा अर्थात् चाह रखता है, और जो शुभ एवं अशुभ भावो का सर्वथा त्याग करने वाला भक्तिमान् (व्यक्ति) है, वह मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा=परमात्मा का सच्चा भक्त वह समत्वयोगी है, जो कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति तथा सब प्रकार की उन्नति के लिए, तथा अपने कर्तव्यो को पूरा करने के लिए सर्वदा दूसरो पर ही निर्भर न रह कर स्वयं उत्साह और धैर्यपूर्वक उद्यमशील रहता है और आत्म-विश्वासपूर्वक सात्त्विक भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करता रहता है; जो अपने अन्त.करण को द्वैतभाव-जन्य मोह, अहंकार, लोभ, ईर्षा, द्वेष, छल-छिद्र, झूठ आदि राजस-तामस मलिन विकारो से शुद्ध रखता है, और शरीर को साफ एवं सुथरा रखता है; जो अपने कार्यो में अच्छी तरह कुशल यानी प्रवीण होता है; जो किसी विशेष कार्य अथवा विशेष उद्योग ही में इतना लवलीन नहीं हो जाता तथा कर्मो के परिणाम के विषय में इतनी आसक्ति नहीं रखता कि दिन-रात उसी की चिन्ता में निमग्न रहे, किन्तु समय और आवश्यकता के अनुसार अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, एवं उनकी सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहता है, तथा अपने-आप (आत्मा) को निर-पेक्ष अर्थात् अकर्ता ही समझता है; जिसका अन्त करण शोक, भय आदि मानसिक विकारों से इतना सन्तप्त नहीं होता और शारीरिक पीडा आदि से जो इतना व्याकुल नहीं होता कि जिनसे अपने कर्तव्य-कर्मो में त्रुटि आवे; और जो ऐसे राजसी एवं तामसी आडम्बरो और व्यक्तित्व का अहंकार बढाने वाले समारम्भो से सर्वया अलग रहता है, जिनके सम्पादन करने की अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य न हो, अथवा जिनमें विशेष शक्ति एव

समय का अपव्यय होता हो—जिससे अपने वास्तविक कर्तव्य कर्मों में बाधा आवे अथवा दूसरो को क्लेश हो (गी० अ० १८ श्लो० २४-२५) ; उपर्युक्त रीति से अपने कर्तव्य कर्म करने से यदि धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि अनुकूलता की प्राप्ति हो तो उससे जो विशेष हर्षित नहीं होता, और हानि, अपमान, अकीर्ति आदि प्रतिकूलता की प्राप्ति हो तो उसके लिए किसी से द्वेष नहीं करता; प्राप्त पदार्थों का वियोग होने पर जो शोक नहीं करता, और अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा नहीं रखता; और जिसने शुभ और अशुभ के भेदो का प्रभाव चित्त से हटा दिया है, अर्थात् जो यह समझता है कि कोई भी कर्म अथवा व्यक्ति अथवा पदार्थ वस्तुत· न शुभ है न अशुभ, न श्रेष्ठ है न निकृष्ट, किन्तु अपने-अपने स्थान में सभी सार्थक एवं उपयोगी है, संसार में निरर्थक कुछ भी नहीं है, शुभ और अशुभ का भेद अपनी-अपनी भावना पर निर्भर रहता है, जो जिसको जैसा मानता है, उसे वह वैसा ही प्रतीत होता है, वास्तव में सब-कुछ एक ही परमात्मा के अनेक रूप है—इस प्रकार जो राजस-तामस भावो से ऊपर उठ कर सात्विक भाव से सबके साथ प्रेम का आचरण करता है, वही परमात्मा का प्यारा भक्त होता है (१६-१७)। जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दु.ख में सम रहता है; संग अर्थात् आसक्ति से रहित है; निन्दा और स्तुति जिसे बराबर है; जो मननशील है, तथा जैसी परिस्थिति हो उसमें सन्तुष्ट रहता है; जिसकी किसी स्थान-विशेष में आसक्ति नहीं होती, और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि शत्रुता और मित्रता के भाव मन के माने हुए होते है—शरीरो के साथ स्वाभाविक नहीं होते, न ये सदा एक-से रहते है। जो व्यक्ति किसी विशेष समय अथवा विशेष परिस्थिति में शत्रु होता है, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में मित्र हो सकता है, और जो व्यक्ति किसी विशेष समय अथवा विशेष परिस्थिति में मित्र होता है, वही दूसरे समय अथवा दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो सकता है। वास्तव में शत्रु और मित्र, सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है, शत्रुता और मित्रता के भाव विशेष कारणो से मन में उत्पन्न होते और मिटते रहते है, इस निश्चय से जो मित्रता के भाव से किसी के साथ ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, और शत्रुता के भाव से द्वेष के वशीभूत नहीं होता, किन्तु जिसकी जैसी भावना होती है, उसके साथ उसी के अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्त करण में समता बनी रहती है; लोक-संग्रह के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो उससे जो प्रफुल्लित नहीं होता, और अपमान हो तो उससे जिसका चित्त व्यथित नहीं होता; अपने कर्तव्य-कर्म करने में सर्दी और गर्मी आदि की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता से होने वाले सुख-दु ख से जो व्यथित नहीं होता, किन्तु उनको सहन करता हुआ सम बना रहता है, निन्दा और स्तुति को एक समान झूठी समझ कर जो उनसे विचलित नहीं होता, जो मननशील है

अथवा जो बहुत वाचाल नहीं होता, अर्थात् निरर्थक बकवाद नहीं करता; उन्नति के लिए सुचारु रूप से उद्यम करते रहने से जैसी स्थिति प्राप्त होवे, उसी में जो मस्त रहता है; जो किसी देश-विशेष अथवा किसी स्थान-विशेष में अथवा घर में अथवा जंगल में—कहीं भी ममत्व की आसक्ति नहीं रखता, किन्तु अपने कर्तव्य और व्यवसाय के लिए किसी भी देश या स्थान में जाकर रह सकता है; और जिसकी बुद्धि में सबके आत्मा=परमात्मा की एकता एवं समता का अटल निश्चय होता है, वह समत्वयोगी सबके आत्मा=परमात्मा का प्यारा भक्त होता है (१८-१९)। जो श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हुए इस अमृत-तुल्य धर्म का, जैसे (ऊपर) कहा है, उसी के अनुसार आचरण करते है, वे भक्त मुझे अत्यन्त ही प्यारे हैं। तात्पर्य यह है कि सबके आत्मा=परमात्मा में अन्तःकरण जोड़ कर ऊपर कहे हुए धर्म में पूर्ण विश्वास रखते हुए जो उसका आचरण—जैसा ऊपर कहा है, उसी तरह करते है, वे सबके आत्मा=परमात्मा के अत्यन्त ही प्यारे होते है (२०)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १३वें से १९वें तक भगवान् ने जो अपने प्यारे भक्तो के लक्षण कहे है, वे उन परमोत्तम भक्तो के स्वाभाविक आचरण है, जो उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँच चुके है। भक्ति अथवा उपासना के अभ्यास की पूर्णता होने पर फिर उपास्य-उपासक का भी भेद नहीं रहता, अर्थात् उनको अपने सहित सारा जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने, यानी सबकी एकता का अटल एवं अचल अनुभव हो जाता है; और उनसे जो आचरण होते है, वे सबकी एकता के प्रेम-भाव से सबके हित के लिए होते है; अतः उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँचे हुए उपरोक्त भक्त पूरे समत्वयोगी होते है, और इन श्लोको में वर्णित सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव के आचरण उनसे अनायास ही होते रहते है। परन्तु जो भक्त परमात्मा की उपरोक्त उपासना की पूर्णता को नहीं पहुँचे है, किन्तु इसके अभ्यास में लगे हुए है, अर्थात् जो साधक अवस्था में है, उनके लिए प्रयत्नपूर्वक इन आचरणो के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर इनका अभ्यास करना आवश्यक है।

सच्चे भक्त के स्वाभाविक आचरणो के विवरण के अन्त में—१९वें श्लोक में "स्थिरमतिः" कह कर भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन आचरणो का मूल आधार, सबकी एकता के अटल निश्चय की साम्य-बुद्धि है।

यहाँ उपासना का प्रकरण है, इसलिए भक्ति-प्रधान भाषा में यो कहना चाहिए कि "परमात्मा सबमें एक समान व्यापक है" यह एकता का विश्वास अन्तःकरण में रखने से ही ये आचरण ठीक-ठीक हो सकते है। यदि दूसरो को परमात्मा से अलग समझ कर उनके हिताहित की उपेक्षा करके, केवल अपने व्यक्तित्व के अहंकार से एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियो की स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य

से ये आचरण किये जायें तो इनका विपर्यास होकर ये दुराचार में परिणत हो जाते है, जिससे उलटा अनर्थ होता है। इसलिए इन आचरणो के वर्णन के आरंभ ही में भगवान् ने इन सबके मूल-मन्त्र "अद्वेष्टा सर्वभूताना" के साथ "निर्ममो निरहंकारः समदु.खसुखः क्षमी" आदि विशेषणो का प्रयोग किया है, और साथ ही "मय्यर्पितमनोवुद्धि." कह कर स्पष्ट कर दिया है कि विशेष व्यक्तियो में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर, तथा सुख-दुःख आदि को समान समझ कर, मन और बुद्धि को सबके एकत्व-भाव—मुझ (परमात्मा) में लगाये हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया का अच्छापन अथवा बुरापन कर्ता के भाव और उसके उपयोग पर निर्भर रहता है। कोई भी आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया, सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से, सबके हित के उद्देश्य से किये जाने पर श्रेष्ठ अथवा शुभ होती है, अतः यह उनका सदुपयोग होता है; और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से, दूसरो के स्वार्थो की उपेक्षा करके, केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्तियो ही की स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाने पर अशुभ अथवा बुरी होती है, अतः यह उनका दुरुपयोग होता है। इसलिए इन श्लोको में वर्णित प्रत्येक आचरण के सदुपयोग अर्थात् सच्चे स्वरूप का, तथा उसके दुरुपयोग अर्थात् विकृत स्वरूप (विपर्यास) का खुलासा आगे विस्तार-पूर्वक किया जाता है।

प्रेम (अद्वेष)

सब भूत-प्राणी एक ही सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक नाम और अनेक रूप है, इस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से सबके साथ साधारण प्रेम का वर्ताव करना, अपनी तरफ से किसी से भी द्वेष नहीं रखना, सभी सुखी हो, सभी सन्मार्ग पर चलें, सभी उन्नति करें—इस तरह सबके प्रति सद्भावना रखना, और यथाशक्य सबका हित करने का प्रयत्न करना, अपनी तरफ से अहित किसी का भी नहीं करना—यह प्रेम का सदुपयोग अथवा सच्चा स्वरूप है। परन्तु किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेष अथवा समूह-विशेष अथवा समाज-विशेष अथवा देश-विशेष ही में प्रेम को सीमावद्ध करके, उनके प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनके साथ यथायोग्य व्यवहार भी न करना अथवा अपने कर्तव्यो में त्रुटि करना, अथवा उन व्यक्तियो से यथायोग्य काम न लेना, अर्थात् उनसे काम लेने से उन्हे शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—इस विचार से उनसे अपने-अपने कर्तव्य पालन करवाने की उपेक्षा करना, अथवा उनको पहले थोडा-सा कष्ट होने से उसके परिणाम में उनका अथवा दूसरो का हित होता हो तो भी प्रेम-वश उनका वह थोड़ा-सा कष्ट सहन न कर सकना, अथवा

उनके सुखो के लिए दूसरों पर अत्याचार करना या दूसरो के कष्टो की परवाह न करना—यह सच्चा प्रेम नहीं किन्तु प्रेम का विपर्यास अर्थात् मोह है। विशेष व्यक्तियो तथा पदार्थों में प्रेम की आसक्ति मोह में परिणत होकर उनके साथ राग और दूसरो के साथ द्वेष उत्पन्न कर देती है, जिससे वड़े अनर्थ होते हैं। अर्जुन को भी विशेष व्यक्तियो के साथ प्रेम की आसक्ति होकर मोह उत्पन्न हो गया था, जिससे वह वहुत ही व्याकुल एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया था, और उसी के लिए भगवान् ने उसे यह उपदेश देकर उसका मोह दूर किया था। सच्चे प्रेम का खुलासा करने ही के लिए १३वें श्लोक में भगवान् ने "निर्मम, निरहंकार" आदि विशेषणों का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि विशेष व्यक्तियो में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर तथा सुख-दुःख को समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करना चाहिए।

× × ×

आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के जगत्-रूपी इस खेल में नाना प्रकार के लोग होते हैं, और उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता और भिन्न-भिन्न प्रकार के परस्पर के संवंध होते हैं; अत. प्रेम का वर्ताव भी पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार और परस्पर के संवध के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिस तरह विशेष विभूति-सम्पन्न सुखी लोगो से मित्रता, दुखियो के प्रति दया, सज्जनो के साथ मुदिता, दुष्टो के साथ उपेक्षा, वड़ो के प्रति भक्ति, स्त्री का पुरुष के प्रति पातिव्रत, पुरुष का स्त्री के प्रति पत्नीव्रत, छोटो के प्रति वात्सल्य, वरावरी वालो से स्नेह और अपने से हीन स्थिति वालो के साथ अनुग्रह के रूप में प्रेम का वर्ताव होता है। उन सबका अलग-अलग स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

मित्रता

जो लोग सुखी हो, धनवान्, वुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान्, सामर्थ्य-वान्—इत्यादि विशेष योग्यता-सम्पन्न हो, उनके प्रति मित्रता का भाव रखना, अर्थात् उनको अपना मित्र समझ कर प्रसन्न होना, उनसे ईर्षा, द्वेष आदि न करना; उनके साथ मधुरता और शिष्टाचार का वर्ताव करना, और आवश्यकता होने पर उनको सहयोग देना—यह सच्ची मैत्री है। परन्तु यदि उक्त सुखी, धनी, वुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान् अथवा सामर्थ्यवान् लोग दुष्ट और दुराचारी हो, जिनसे दूसरो का अहित होता हो या दूसरो को कष्ट पहुँचता हो, तो उनसे मित्रता रखना अथवा उनको सहयोग देना सच्ची मैत्री नहीं, किन्तु मैत्री का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है; क्योंकि विशेष योग्यता-सम्पन्न लोग यदि साधारण लोगो पर अन्याय अथवा अत्याचार करते हैं, तो उससे सारे

समाज में बडी विशृंखलता उत्पन्न होती है, और उनसे सबको कष्ट होता है, तथा वे स्वयं सबके एकत्व-भाव=परमात्मा से विमुख होते है, अतः उनसे सहयोग करना स्वयं उनसे तथा दूसरो से शत्रुता करना है।

करुणा—दया

जो प्राणी दु.खी हों, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार की विपत्ति से ग्रस्त हो, अत्याचार-पीड़ित हो, अनाथ हो, असहाय हों, दीन हो अथवा असमर्थ हो, उनके प्रति दया का भाव रखना; यदि अपने में सामर्थ्य हो तो यथाशक्य उनके दुःखो में सहायक होना और उनकी दुःख-निवृत्ति का यत्न—तन, मन, वचन एवं धन से—करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो मन में दया का भाव रखके उनकी दु ख-निवृत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा अथवा दया है। परन्तु करुणा के वश होकर पात्रापात्र के विचार विना, धूर्तों, पाखण्डियो, दुराचारियो, आलसियो, खुशामदियो, मुफ्तखोरो एवं ठगो आदि कुपात्रो पर दया करके उनको सहायता देकर उनके दुर्गुणो को बढाना; भले आदमियों तथा गरीबो पर अत्याचार करने वाले दुष्टों और दुराचारियो पर दया करके उनके अपराधो तथा कुकर्मो का उन्हे दण्ड न देना; जीव-दया के भाव से इतना प्रभावित हो जाना कि अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् लोक-सग्रह के व्यवहार करने में, किसी प्राणी के कष्ट होने की संभावना से त्रुटि करना; हीन कोटि के प्राणियो पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियो को कष्ट अथवा हानि होने की अवहेलना करना; किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समाज-विशेष के दु खो से आर्द्र होकर निरन्तर उसी की चिन्ता करते रहना, और उसके मोह में उलझ कर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भूल जाना, और लोक-हित के व्यवहारो की अवहेलना करना—यह दया नहीं है, किन्तु दया का दुरुपयोग एव मानसिक दुर्वलता है।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हो, श्रेष्ठ आचरण वाले हो, ज्ञानी, दानी, भक्त अथवा परोपकारी हो, जिनसे उनकी कीर्ति होती हो और जिनसे लोगो में वे माननीय एवं प्रतिष्ठित समझे जाते हो, ऐसे सज्जनो की उक्त कीर्ति, मान और प्रतिष्ठा से मन में मोद करना, अर्थात् जिस तरह अपने तथा अपने आत्मीय जनो के सत्कार्यो की प्रशसा सुन कर मन में मोद होता है, उसी तरह प्रसन्न होना; अन्य लोगो के सत्कर्मों की प्रशसा सुनकर मन में न कुढना और उनकी कीर्ति अथवा प्रशंसा को क्षति पहुँचाने की चेष्टा न करना—यह मुदिता है। परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी एव कीर्ति-लोलुप धनाढ्यो के धर्म के नाम से किये जाने वाले राजसी-तामसी आडम्बरो और कपट से किये हुए ऊपरी दिखावे-

मात्र की भक्ति और सत्कार्यों से प्रसन्न होकर उनकी तारीफ के ढोल पीटना—यह मुदिता नहीं किन्तु चापलूसी है ।

उपेक्षा

मूर्ख, दुराचारी, आततायी, धूर्त, ठग, दंभी, पाखंडी आदि दुष्ट प्रकृति के लोग, जिनकी करतूतो से जनता में एकता के विरुद्ध अनेकता और फूट के भाव बढ़ते हो, और जिनसे लोगो को पीडा होती हो एवं समाज का अहित होता हो, उनसे सहयोग और सहानुभूति न रखना; यदि अपनी योग्यता और सामर्थ्य हो तो उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ, पाखण्ड आदि छुड़ाने का यत्न करना; यदि समझाने और शिक्षा देने से उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाजी, दम्भ, पाखण्ड आदि न छूटें तो उनको डराना, धमकाना एव यथायोग्य दण्ड देना; और ऐसा करने से भी यदि उनके अत्याचार कम न हो तो अत्यन्त आवश्यकता होने पर स्वयं उनके तथा सबके हित के लिए उनको प्राण-दण्ड तक दे देना—इस तरह करने में उनके शारीरिक और मानसिक कष्ट अथवा शरीर-नाश की परवाह न करना यानी उपेक्षा करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात् उनका संग न करना—यह सच्ची उपेक्षा है । ऐसे दुष्ट लोगो की दुष्टता छुड़ाने के लिए द्वेष-भाव के बिना उन्हें दण्ड देना अथवा दिलाना, वास्तव में उनके साथ तथा सबके साथ प्रेम करना ही होता है, क्योकि दुष्टो की दुष्टता छुडाने से स्वयं उनका तथा सबका हित होता है । परन्तु दुष्टो की दुष्टता छुड़ाने की योग्यता और सामर्थ्य होते हुए भी इस विचार से उदासीन रह कर उपेक्षा करना कि "इनकी दुष्टता से हमें क्या प्रयोजन ? अपनी करनी का फल ये आप ही भोगेंगे; यदि हम इनको दण्ड देंगे या दिलावेंगे तो हमको पाप लगेगा, अथवा हमारा अन्त.करण कलुषित होगा"—यह उपेक्षा का दुरुपयोग है, तथा दुष्टो के कुकर्मों और कुचेष्टाओ में सहायक होना ही नहीं, किन्तु उन्हें सहयोग देकर उनकी दुष्टता बढ़ाना है, और साधारण जनता के साथ अन्याय करना है ।

मातृ-पितृ-भक्ति

समाज को सुव्यवस्थित रखने और दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तित्व के अहंकार की आसक्ति कम करने के लिए, माता-पिता की भक्ति आवश्यक है; क्योकि जिस तरह माता-पिता अपनी सन्तानों का गर्भ से लेकर बडे होने तक पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा नि स्वार्थ-भाव से—करते हैं, तभी सन्तान संसार के व्यवहार करने योग्य होते हैं; उसी तरह वृद्धावस्था में माता-पिता के शरीरो के शिथिल हो जाने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा, पालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निस्स्वार्थ-भाव से सन्तान करे, तभी वे लोग शान्तिपूर्वक अपना जीवन-यापन कर सकते हैं, और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और

दूसरो के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है। अतः माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा एवं आदर-सत्कार तथा वृद्धावस्था में उनका पालन-पोषण निस्स्वार्थ-भाव से अपना कर्तव्य समझ कर करना; अपने सात्त्विक व्यवहारो से उनको सुख देना; राजसी-तामसी व्यवहार करके तथा विषय-भोगो के लिए उन्हे कभी कष्ट न देना, तथा कभी उनका अपमान न करना; उनकी उचित आज्ञाओ का पालन करना एवं उनकी आत्मिक उन्नति के व्यवहारो में सहायक होना—यह सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति है। परन्तु माता-पिता की जिन आज्ञाओ से सात्त्विक आचरणो और लोकहित के कामो में वाधा पहुँचती हो, अथवा जिनसे आत्मिक पतन होता हो, तथा जो आत्मिक उन्नति के विरुद्ध हो, उनको अन्ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता-पिता की आज्ञा पालन करना प्रत्येक दशा में उचित ही है; माता-पिता के अप्रसन्न होने के भय से उन्हे उचित सम्मति न देना; उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियो को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन और समाज का अहित करने वाले व्यवहार करना; उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फँसे रह क़र उनके सच्चे आत्मिक सुख के विषय में उपेक्षा करना; अथवा उनके जीवन-काल में उनकी उपेक्षा एवं अपमान करते रह कर मरने के वाद रोना-चिल्लाना, शोक करना तथा क्रिया-कर्म, मृत-भोज की जीमणवारें, श्राद्ध आदि लोक-दिखावे के राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वयं क्लेश उठाना और दूसरो को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ-पितृ-भक्ति का दुरुपयोग अथवा मातृ-पितृ-द्रोह है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

सद्विद्या पढ़ा कर संसार-यात्रा के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले तथा अध्यात्मज्ञान का सच्चा उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ आचरणो युक्त सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण-पोषण आदि, भक्ति और आदर सहित करना; उससे प्राप्त की हुई विद्या तथा ज्ञान को वढ़ाना और अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति करने में तत्पर रहना, तथा उससे दूसरो को भी लाभ पहुँचाने के लिए प्रयत्न-शील रहना—यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु के उपदेशानुसार आचरण न करके उसके शरीर ही को ईश्वर-स्वरूप मान कर उसका अर्चन-पूजन और चरण-स्पर्शादि करने तथा भेंट चढाने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य समझना; मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एवं धूर्त—वंशपरम्परागत अथवा साम्प्रदायिक—गुरुओ से, केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बँधवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अन्धविश्वास से उनकी आज्ञाओ का पालन करना; अपनी वुद्धि से कुछ भी काम न लेकर उनके मुख से निकले हुए वचन ही प्रमाण मानना और उनके घेरे के पशु बन जाना; ऐसे कुपात्र गुरुओ का आदर-सत्कार तथा भेंट-पूजा करके उनका गौरव वढ़ाना; तथा तन, मन, धन, आदि सव-कुछ उनको देकर उनके दुराचारो में सहायक होना—यह गुरु-भक्ति का दुरुपयोग है।

सद्गुरु अपने शिष्यों को निस्स्वार्थ प्रेम-भाव से उनकी सब प्रकार की उन्नति के लिए सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अतः वे शरीर के अर्चन-पूजन आदि से तथा आर्थिक भेंट-पूजा और भोग्य-सामग्रियो से संतुष्ट नहीं होते; किन्तु उनके उपदेशो को धारण करने द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के साथ-साथ दूसरो का हित करने और उनसे प्राप्त की हुई विद्या और ज्ञान को आगे बढ़ाने से ही वे संतुष्ट रहते हैं।

पति-भक्ति अथवा पातिव्रत

इस संसार की रचना नर और मादा के जोड़े के रूप में है। जगत् का आधा अंग नर और आधा मादा है, अतः नर-मादा का जोड़ा प्राकृतिक है। नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर है, जिसके कारण नर में कई प्रकार की विशेषताएँ और कई प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं, और मादा में दूसरे प्रकार की विशेषताएँ और दूसरे प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं; अतः दोनों का परस्पर मेल अथवा योग होने से दोनो पूर्ण होते हैं। इसलिए नर और मादा का सहयोग एवं सहवास प्राकृतिक एवं साधारणतया आवश्यक है। जिन प्राणियों में बुद्धि का विकास नहीं होता अथवा बहुत कम होता है, उनमें नर-मादा के सहयोग और सहवास की कोई नियमित व्यवस्था नहीं होती—चाहे जो नर, चाहे जिस मादा के साथ सहवास करता है। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण, उसने अपने जीवन को इस प्रकार सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है, कि जिससे वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति-रूप परमपद को पहुँच जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने समाज-व्यवस्था बनाई, और उस समाज-व्यवस्था की प्रधान भित्ति, एक नर (पुरुष) का एक मादा (स्त्री) के साथ सहवास करने के नियम हैं, जिनके अवलम्बन से दोनो अपने-अपने प्राकृतिक वेगो को मर्यादित-रूप से शान्त करते हुए तथा एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने द्वारा एक-दूसरे की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए संसार-चक्र को चलाने में सहायक हो, और साथ ही अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहे। इसलिए प्रत्येक समाज में अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल, एक पुरुष का एक स्त्री के साथ सहवास के नियम बनाये जाते हैं, और उन नियमो के अनुसार स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—जिनको विवाह कहते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर होता है, और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताएँ और न्यूनताएँ होती हैं। स्त्री का स्वभाव साधारणतया पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल, चचल, भावुक, भीरु तथा लज्जाशील होता है, और अपने जोड़े के पुरुष की अपेक्षा उसमें बल और साहस कम होता

है, सेवा-भाव की अधिकता होती है, और शरीर कुछ छोटा, सुकुमार (नाजुक) एवं सुन्दर होता है; गर्भ धारण करने और सन्तानो का पालन-पोषण करने की उसकी स्वाभाविक योग्यता होती है। स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक बलवान्, साहसी, दीर्घ और दृढ़-काय, कठोर-हृदय एवं विचारशील होता है। इसलिए पुरुष जगत् अथवा समाज का ज्यष्ठ अथवा दक्षिण अग माना गया है और स्त्री कनिष्ठ अथवा वाम अग मानी गई है। अतः स्त्री के लिए पुरुष के संरक्षण और शिक्षण में रहना, उसके अनुकूल होने वाले आचरण करना और उसे प्रसन्न रखना आवश्यक है; और पुरुष के लिए स्त्री के प्रति आदर और प्रेम रखते हुए उसे सदुपदेश तथा सत्परामर्श देकर सन्मार्ग पर चलाना, उसको सुरक्षित रखना, उसकी उचित आवश्यकताओ की यथाशक्य पूर्ति के लिए प्रयत्न करना और सद्-व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखना आवश्यक है। स्त्री का मुख्य कर्तव्य घर-गृहस्थी के सब कार्य सँभालना और करना, तथा बाल-बच्चो को पालना एवं उनकी रक्षा-शिक्षा का प्रबन्ध करना है; और पुरुष का मुख्य कर्तव्य द्रव्योपार्जन करके अपने स्त्री-बच्चों आदि कुटुम्ब का भरण-पोषण करना है। दोनो अपने-अपने कर्तव्यो का ठीक-ठीक पालन करके एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करें तथा परस्पर में सहायक होवें, तभी संसार के व्यवहार ठीक-ठीक चल सकते हैं। अस्तु, स्त्री के लिए पति-भक्ति अथवा पाति-व्रत का पालन करना आवश्यक है; अर्थात् माता-पिता द्वारा अथवा उनकी अनुपस्थिति में जो अन्य संरक्षक हों उनके द्वारा, केवल वर-कन्या के हित के उद्देश्य से तथा उनकी पूर्ण सम्मति लेकर सद्भावना से नियत किये हुए, एवं अपने समाज की पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पति के साथ अनन्य-प्रेम रखना, अर्थात् उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री-पुरुष के सहवास-सम्बन्धी प्रीति न रखना, अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ देना; तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना; उसके व्यवसाय में सहायक होना; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि को अपना ही समझना; घर-गृहस्थी के कामो से उसे निश्चिन्त रखना; शुद्ध एवं सात्त्विक भोजन तथा सेवा-शुश्रूषा आदि से उसके स्वास्थ्य की रक्षा करना; मीठे वचनो से तथा नम्र एवं सत्य व्यवहार से उसको प्रसन्न रखना; उससे कभी छल-कपट और असत्य का व्यवहार न करना; वस्त्राभूषण, विषय-भोग, आमोद-प्रमोद, धर्म-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि के लिए खर्च करने के लिए उसे तंग न करना, तथा उसकी प्रसन्नता के बिना इस तरह का कोई कार्य भी न करना; तथा उसके सात्त्विक व्यवहारो और आत्मोन्नति के साधनो में सहयोग देना—यह सच्ची पति-भक्ति अथवा पातिव्रत है। परन्तु मूर्ख, स्वार्थी, निर्दयी एव कर्तव्य-विमख माता-पिता अथवा अन्य संरक्षको आदि द्वारा नियत किये हुए, क्रूर प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी, गुणहीन, अयोग्य, प्रमादी, कर्तव्यच्युत अथवा बेजोड पति के अत्याचारो को चुपचाप सहते रहना; उसकी अनुचित आज्ञाओ का भी

अपने अन्त.करण के विरुद्ध पालन करते रहना; हृदय में प्रेम हुए बिना ही ऊपर से जबर्दस्ती प्रेम दिखाकर अपनी आत्मा का पतन करना; ऐसे दुष्ट पति को प्रसन्न करने के लिए दिन-रात परिश्रम करते रहना; इस अन्धविश्वास से कि "मेरे भाग्य में यही लिखा था" इस तरह के नृशंस पति के साथ जन्मभर बँधे रह कर, इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन का वास्तविक लाभ न उठाकर, इसे शारीरिक एवं मानसिक क्लेशो में ही बिता देना; पति के मरने पर सदा रोते-चिल्लाते एवं जन्मभर शोक करते रहना, तथा हठपूर्वक भूखे-प्यासे रहने, सर्दी-गर्मी सहने आदि शरीर को कृश करने वाले तप करके, शरीर को सुखाकर अपने अंतःकरण को क्लेश देना; और हठपूर्वक बलात् वैधव्य रख कर अस्वाभाविक पति-भक्ति को अन्ध-श्रद्धा से इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को शोक और दुःख ही में पूरा कर देना, तथा शरीर के प्राकृतिक वेगो को सहन न कर सकने पर दूसरा विवाह न करके व्यभिचार में प्रवृत होना और गर्भपात आदि के पाप करना—यह पति-भक्ति नहीं, किन्तु आत्म-हनन है।

पति-पत्नी-भाव का विशेष सम्बन्ध केवल शरीरो का होता है, और जैसा कि ऊपर कह आये है, वह सम्बन्ध समाज की सुव्यवस्था और स्त्री-पुरुष दोनो के सुख-शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने के लिए यहाँ ही अर्थात् इन शरीरो में ही जोड़ा जाता है। इस विवाह-सम्बन्ध का अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह भी है कि दोनो का व्यक्तित्व विवाह से एक हो जाता है, और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थो अथवा अधिकारो की खींचातानी नहीं रहती; अतः अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर सबसे एकता का अनुभव करने, अर्थात् सर्वात्म-भाव के अभ्यास में यह सम्बन्ध सबसे बडा सहायक है। परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता है, जब कि पति और पत्नी दोनो इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य पूर्ण रूप से पालते रहे, और विवाह के नियम इस उद्देश्य की सिद्धि के लक्ष्य से ही बनाये गये हो—इकतरफ़े स्वार्थ के न हो, जैसे कि वर्तमान में है।

पत्नी-व्रत

अपने-अपने समाज की विवाह पद्धति के अनुसार विवाहित सुयोग्य पत्नी के साथ अनन्य-भाव का प्रेम रखना, अर्थात् उसके सिवाय अन्य किसी स्त्री के साथ पति-पत्नी के सम्बन्ध का प्रेम न रखना; आदर और सम्मानपूर्वक उसके साथ सद्व्यवहार करना; सब प्रकार की आपत्तियो से यथाशक्य उसकी रक्षा करना; सुशिक्षा और सदुपदेशो द्वारा उसकी शारीरिक और आत्मिक उन्नति में सहायक होना; द्रव्योपार्जन करके उसके भरण-पोषण का पर्याप्त प्रबन्ध रखना; अपनी स्थिति के अनुसार उसके लिए वस्त्र-आभूषण आदि शृंगार तथा अन्य मनोविनोद एव चित्त की प्रसन्नता के साधनो द्वारा उने प्रसन्न

रखना; उसके सुख-दु.ख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि को अपनी ही समझना; अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ कर एकता कर देना; और इस वात का सदा ध्यान रखना कि अपनी तरफ से उसको किसी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न होने पावे—यह सच्चा पत्नी-प्रेम अथवा पत्नी-व्रत है। परन्तु पत्नी के रूप और यौवन में आसक्त होकर दिन-रात उसी की उपासना में लगे रहना और अपने कर्तव्य को भूल जाना; उसकी मूर्खतापूर्ण आज्ञाओ का पालन करके उसे निरकुश वना देना; उसके अप्रसन्न होने अथवा रूठने की आशंका से उसको सुशिक्षा अथवा सदुपदेश न देना; उसकी अनुचित एवं अनावश्यक माँगो की पूर्ति करने के लिए अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके तंग होना, कलहकारिणी और दुराचारिणी पत्नी के साथ प्रेम न होते हुए, तथा उससे दाम्पत्य-सुख न होते हुए भी, दूसरा विवाह न करके परस्त्री-गमन आदि दुराचारो में प्रवृत्त होना; और एक स्त्री के मरने पर उसके मोह और शोक में रोते रहना, एव एक-पत्नी-व्रत पालन करने के हठ अथवा अभिमान में दूसरा विवाह न करना, और काम का वेग सहन न हो सकने पर वेश्या-गमन आदि पापाचार में प्रवृत्त होना—यह पत्नीव्रत का दुरुपयोग है।

स्वामी-भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पिता का भाव, और मालिक का नौकर के प्रति पुत्र का भाव रहना आवश्यक है; और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरो के साथ जोड कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस संबंध से भी वढता है। अतः शरीर और उसके संबंधियो के पालन-पोषण आदि के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, तव तक उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेमपूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना; जो सेवा स्वीकार की हो उसको दत्तचित्त होकर सचाई, प्रसन्नता, उत्साह और तत्परता के साथ अच्छी तरह पूरी करना; जो काम अपने जिम्मे हो उसमें त्रुटि न आने देना, तथा जो वस्तु अपन सुपुर्द हो उसकी हानि न होने देना; स्वामी का कभी अहित-चिन्तन न करना; उसके सुख-दु ख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति आदि अपनी ही समझना; उससे कभी छल-कपट आदि का मिथ्या व्यवहार न करना; उसको हानि या कष्ट पहुँचे ऐसा कोई काम न करना, सदा उसे उचित सम्मति देना, एव हानिकारक अथवा अनुचित कामो में प्रवृत्त होने से रोकना—यह सच्ची स्वामी-भक्ति है। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आततायी एव मूर्ख स्वामी की अनुचित आज्ञाओ का अन्धविश्वास से पालन करते रहना; उसके अनुचित व्यवहारो में "हाँ-में-हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना, अथवा उसे उचित सम्मति न देना; और उसकी भक्ति के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से दूसरो पर अन्याय और अत्याचार

करने में उसको सहायता देना, तथा आत्मिक पतन करने वाले कार्य करना—यह स्वामी-भक्ति नहीं अपितु स्वामी-द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी सन्तान, प्रजा, सेवक, शिष्य एवं अपने संरक्षण में आये हुए लोगों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ-भाव से प्रेमपूर्वक उनके पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि की सुव्यवस्था करना; उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी सर्वांगीण उन्नति करने के लिए सद्भावना-युक्त प्रयत्न करते रहना; उनके सुख-दुःखो को अपने ही समान समझना; सदुपदेशो द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना; उनसे अपने-अपने कर्तव्य पालन करवाना, और उनको बुरी संगति, खोटे व्यवहारो, कुव्यसनो तथा विलासिता से बचाना—यह सच्चा वात्सल्य है। परन्तु छोटे संबंधियो के शरीरो के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन आदि सद्गुणो में प्रवृत्त न करना एव सुशिक्षा न दिलाना; उनको कुमार्गी होने तथा अनर्थ करने से न रोकना; राजस-तामस आहार-विहार की उनकी आदत डालना; प्रत्यक्ष में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम में प्राप्त होने वाले बहुत सुख की उपेक्षा करना; उनसे उनके कर्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना; और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबर के स्नेहियो के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ-भाव से प्रेमपूर्वक उनके साथ सद्व्यवहार करना; उनकी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति तथा कष्ट-निवारण में सहायक होना; अनिष्ट से बचाकर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना; और उनके सुख-दुःख, मान-अपमान, कीर्ति आदि को अपने समान ही समझना—यह सच्चा स्नेह है। परन्तु स्नेहियो के व्यक्तित्व के स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उन्हें उचित सम्मति आदि भी न देना; उनके अनुचित एवं हानिकर व्यवहारो में साथ देना; अथवा उनके स्नेहवश स्वय अनुचित कार्य करना—यह स्नेह का दुरुपयोग है।

निर्ममत्व अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता

सबके साथ प्रेम का उपर्युक्त यथायोग्य वर्ताव करते हुए भी किसी विशेष व्यक्ति, विशेष शरीर, विशेष समाज, विशेष देश, विशेष कार्य, विशेष व्यवहार अथवा विशेष पदार्थ ही में इतना आसक्त न हो जाना कि जिसमे दूसरो के साथ यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करने में बाधा लगे, अथवा अपना कर्तव्य पालन करने में त्रुटि आवे; अपनी योग्यता

के सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए और इन्द्रियो के विषयो को नियमित-रूप से भोगते हुए तथा धन-संपत्ति, घर-गृहस्थी आदि रखते हुए एव स्त्री-बच्चो में रहते हुए भी उनमें इतनी प्रीति नहीं रखना कि उनके न होने पर मन व्याकुल हो जाय—यह सच्ची निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता है। समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निर्मम, अनासक्त अथवा उदासीन रहता है। परन्तु निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता का यह तात्पर्य नहीं है कि घर-गृहस्थी, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति तथा सब काम-धन्धो एवं जिम्मेवारियो को छोड दिया जाय, अथवा वेपरवाही करके इनको रुला दिया जाय; तथा अपने कर्तव्य-कर्मों में मन न लगाकर असावधानी से उन्हें विगड़ने दिया जाय, अथवा उनके सुधरने-विगडने की परवाह न की जाय; और इन्द्रियो के विषयो तथा व्यापारो को तरफ़ से इतना उदासीन हो जाय कि उनके अच्छेपन-वुरेपन अथवा औचित्य-अनौचित्य का ध्यान ही न रहे—अथवा उन्हें सर्वथा छोड़ दिया जाय—यह निर्ममता, अनासक्ति अथवा उदासीनता का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है।

निरहंकार

अमुक कार्य "मैं करता हूँ, मेरे ही किये से होता है, यदि मैं न करूँ तो नहीं हो सकता", अथवा "मैंने कर्मों का त्याग कर दिया अथवा कर दूंगा", इस तरह कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार न करना; तथा "मेरा वर्ण अथवा आश्रम ऊँचा है, मैं वड़ा हूँ, मैं कुलीन हूँ, मैं पवित्र हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं वुद्धिमान् हूँ, मैं कुटुम्बवान् हूँ" इत्यादि शारीरिक उपाधियो के झूठे अभिमान से मतवाला न होना; सदा इस बात का ध्यान रखना कि "शरीर और उसकी उपाधियाँ अनित्य अर्थात् आने-जाने वाली तथा सदा बदलते रहने वाली हैं, और जगत् सब, एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप है, इसलिए इनके सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते हैं, दूसरे व्यक्तियो अथवा शक्तियो के बिना मैं अकेला कुछ भी नहीं कर सकता", इस तरह अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार का सबके एकत्व-भाव में समावेश कर देना—यह सच्चा निरहंकार है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निरहकारी होता है। परन्तु अपने वास्तविक आप—आत्मा के अस्तित्व की और प्रकृति के स्वामित्व की सुध न रखना; अपने कर्तव्य-कर्म करने में अपने अस्तित्व तथा दायित्व को सर्वथा भूल जाना; अपने को एक अत्यन्त क्षुद्र, दीन, हीन, नगण्य व्यक्ति मान कर, दूसरे किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति, अथवा प्रकृति पर ही निर्भर हो जाना, एवं स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी वन जाना—यह निरहंकार नहीं, किन्तु प्रकृति के स्वामी—चेतन आत्मा को जड़ वना देना है।

क्षमा

किसी से भूल अथवा मूर्खता से अथवा अज्ञानवश, अथवा जान कर भी कोई अपराध अथवा हानि हो जाय, और उसके लिए उसके मन में पश्चात्ताप अथवा ग्लानि हो तो उस अपराध को सहन कर लेना, उस अपराधी से बदला लेने का भाव न रखना तथा उसे दण्ड न देना; और यदि उसके मन में पश्चाताप या ग्लानि न हो तो भी एक-दो वार उसके अपराधो को क्षमा करके उसे सँभलने का अवसर देना—यह क्षमा है; समत्वयोगी भक्त इस तरह पूर्ण क्षमाशील होता है। परन्तु यदि कोई दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति मना करने पर भी अपराध करता ही रहे, जिससे अपने को तथा दूसरे लोगों को पीड़ा अथवा हानि होती हो, और उस दुष्ट को दण्ड देने की शक्ति एव योग्यता अपने में हो, फिर भी उसके अत्याचारो को वार-बार सहन करते रहना—उसे दण्ड देकर अत्याचारो से निवृत्त न करना—यह क्षमा का दुरुपयोग अथवा विपर्यास है; इससे दुष्टो का साहस बढता है, और वे लोगों पर अधिक अत्याचार करते हैं।

सन्तोष

अपने कर्तव्य-कर्म पूर्णतया शक्ति और युक्ति के साथ, उत्साह और धैर्यपूर्वक अच्छी तरह करते रहने से जो सुख-दु.ख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान आदि प्राप्त हो जायँ, उनमें सन्तुष्ट रहना अर्थात् चित्त को शान्त रखना; उद्यम करने पर भी इच्छित फल की प्राप्ति न हो तो उसके लिये धैर्य न त्यागना; और भौतिक सुखो के साधनो की कामनाएँ उत्तरोत्तर बढाकर व्याकुल न होना—यह सच्चा सन्तोष है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार सन्तोषी होता है। परन्तु प्रारब्ध, दैव, ईश्वर अथवा भवितव्यता के भरोसे पर बैठे रह कर कुछ उद्यम ही न करना; अपनी तथा दूसरो की आवश्यकताओ की पूर्ति, तथा इहलौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक कल्याण के लिए प्रयत्न न करना, दूसरे शब्दो में प्रगतिहीन होकर जैसी स्थिति हो, उसी में चुपचाप पड़े रहना—यह सतोप नहीं, किन्तु आलस्य एव प्रमाद है।

शम अर्थात् मन का संयम

मन को बुद्धि के अधीन रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने में उसे लगाये रखना, उसके द्वारा इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुए भी उसे इन्द्रियों के अधीन न होने देना; जगत् की भिन्नता के बनावो में भटकने से रोक कर उसे सबकी एकता-स्वरूप आत्मा में जोड़ना—यह सच्चा शम है, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार मन को अपने अधीन रखता है। परन्तु मन को अपने स्वाभाविक धर्म—सकल्प करने—से रहित कर देने अथवा सासारिक व्यवहारो से

सर्वथा हटाकर चेष्टा-शून्य बना देने का अप्राकृतिक प्रयत्न करना—यह सच्चा शम नहीं किन्तु मिथ्याचार है; क्योकि यह शरीर और संसार मन का खेल है, अतः जब तक शरीर और संसार है, तब तक मन का नाश नहीं हो सकता; इसलिए उसे सात्त्विक बुद्धि के अधीन रख कर सासारिक व्यवहार यथायोग्य विधिपूर्वक करने में लगाये रखना ही उसका वास्तविक संयम है।

दृढ-निश्चय

यह विश्व एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है, इस निश्चय से कभी न डिगना; इस एकता के निश्चयपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्म करने से विचलित न होना; जिस बात का अच्छी तरह विचार एव अनुसंधानपूर्वक निश्चय कर लिया हो, उसे जब तक उसके विपरीत पर्याप्त प्रमाण न मिलें तब तक न बदलना तथा उसमें संशय न रखना—यह दृढ-निश्चय है; समत्वयोगी भक्त इस तरह दृढनिश्चयी होता है। परन्तु सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा से विमुख करने वाले व्यवहारो में अन्ध-विश्वास रख कर उसमें ही लगे रहना; किसी विषय पर दुराग्रह या जिद्द रखना; किसी कार्य में हानि या दुःख हो तो भी उसे न छोड़ना, देश, काल आदि की परिस्थिति की आवश्यकतानुसार अपने विचारो तथा व्यवहारो में परिवर्तन न करना; विना विचार किसी निश्चय को पकड़ कर बैठ जाना—उसे छोड़ना ही नहीं; किसी अदृष्ट शक्ति या व्यक्ति के भरोसे रह कर, निरुद्यमी होकर आलस्य में पड़े रहना; राग, द्वेष, भय, शोक, विषाद और मद के भावो में आसक्त होकर उन्हे न छोड़ना—यह दृढ-निश्चय नहीं, किन्तु दुराग्रह है।

अनुद्वेग

जनता को क्षुब्ध करने के उद्देश्य से शरीर, मन और वाणी से ऐसी चेष्टाएँ न करना कि जिनसे लोगो के मन में चिन्ता, भय, क्रोध, शोक अथवा ग्लानि आदि विक्षेप के भाव उत्पन्न हो; और इसी तरह मूर्ख लोगो की इस प्रकार की चेष्टाओ से अपने मन में उपरोक्त भाव उत्पन्न करके उद्विग्न यानी खेद-युक्त न होना, किन्तु शान्त बने रहना—यह अनुद्वेग का सदुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार न दूसरो को उद्विग्न करता है और न स्वयं उद्विग्न होता है। परन्तु अनुद्वेग का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करने से, अथवा लोक-हित के लिए जनता में उत्क्रान्ति अथवा प्रगति के विचारो का प्रचार करने से, बेसमझ लोगो के उद्विग्न होने की सभावना के कारण, अपने उपरोक्त कर्तव्य-कर्म और लोक-हित के व्यवहार छोड़ दिये जायें। इसी तरह अनुद्वेग का यह भी तात्पर्य नहीं है कि समझदार लोगो द्वारा तिरस्कृत एव लाछित होने की कुछ भी चिन्ता न रख कर, दुराचार एवं कुकर्म करने में निस्संकोच अर्थात् ढीठ हो जाय,

अथवा ऐसा संज्ञाहीन हो जाय कि श्रेष्ठ लोगो के लाँछन अथवा तिरस्कार का मन पर कुछ असर ही न हो—यह अनुद्वेग का दुरुपयोग है।

हर्ष

अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा अनुकूलता की प्राप्ति होने पर हर्ष होना मन का स्वाभाविक धर्म है; अतः "संसार सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है;" इस विचार से सर्वत्र अनुकूलता का अनुभव करते हुए शोक, चिन्ता एवं उदासी से रहित, सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहना—यह हर्ष का सदुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हर्ष से सदा प्रसन्न-चित्त रहता है। परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा की सर्व-व्यापकता को भूल कर, इच्छित सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति होने पर अथवा अपने मनोरथो की सफलता होने पर, हर्ष से इतना मतवाला हो जाना कि कर्तव्याकर्तव्य अथवा उचित-अनुचित का कुछ ध्यान ही न रहे; अथवा उस हर्ष के आवेश में ऐसी चेष्टाएँ करना कि जिनसे दूसरो को कष्ट अथवा विक्षेप हो; तथा इस बात को भूल कर कि "जिसका सयोग होता है उसका वियोग होना अवश्यंभावी है"—हर्ष में अत्यन्त आसक्त हो जाना, एवं अपने आमोद-प्रमोद के लिए दूसरो को हानि पहुँचाकर अथवा कष्ट देकर अथवा दूसरो की हानि अथवा कष्ट की परवाह न करके अथवा दूसरों की हानि एवं कष्ट देख कर हर्षित होना—इस प्रकार का हर्ष सर्वथा त्याज्य है। वास्तव में यह हर्ष नहीं किन्तु निष्ठुरता है और हर्ष का दुरुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हर्ष के आवेश में आकर निष्ठुर नहीं हो जाता।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दुःख पहुँचने से, या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने से, या किसी से अपना अपमान या तिरस्कार आदि होने के अनुमान से, अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोधित होकर चित्त को क्षुब्ध करना, और उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले से बदला लेने के लिए, उसको दुःख देने या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध अनर्थ का हेतु है, अतः सर्वथा त्याज्य है; सच्चा समत्व-योगी भक्त ऐसा क्रोध नहीं करता। परन्तु क्रोध भी मन का एक विकार है, और जब तक शरीर एव मन है, तब तक वह सर्वथा मिट नहीं सकता, तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में उसकी भी कभी-कभी आवश्यकता रहती है; इसलिए आवश्यकता होने पर सात्त्विक बुद्धि से निर्णय करके उससे काम लेना, अर्थात् मूर्ख, अज्ञानियों तथा दुराचारियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियों को कर्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका प्रयोग करना; अज्ञानी तथा बालक, किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करें, तो उनको क्रोध दिखाकर डांट देना; और किसी अत्याचारी का अत्याचार छुड़ाने

के लिए क्रोध करके उसको धमकी देना, और अधिक आवश्यकता होने पर क्रोधपूर्वक उसे दण्ड देना—यह क्रोध का सदुपयोग होता है। ऐसे अवसरो पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक और लोक-हितकर होता है—उसके न करने से उलटा अनर्थ और लोगो का अहित होता है; क्योकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते है; अत. उनके तथा दूसरो के हित के लिए परिस्थिति के उपयुक्त उन पर क्रोध करना आवश्यक होता है। वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु आन्तरिक प्रेम-मूलक होता है। जिस तरह अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से जो क्रोध किया जाता है, वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु प्रेम-मूलक होता है। उसी तरह दूसरो को सुधारने के लिए प्रेम-भाव से उनको क्रोध दिखाकर ताडना देना उचित होता है; परन्तु इस प्रकार का क्रोध भी विशेष अवसरो पर एव विशेष आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए, और पानी पर लकीर खींचने की तरह इस ढंग से करना चाहिए कि अपने अन्त.करण में उसकी कोई ताप अथवा जलन न रहे और क्रोध करने की आदत न पड़े।

भय

अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप, धन, सत्ता अथवा सामर्थ्य का भय दिखाकर लोगो को दबाना तथा दु:ख देना; मिथ्या बातो का भय बताकर लोगो को भ्रम में डालना, डराना, ठगना तथा अपने अधीन रखना; अपने कर्तव्य पालन करने में, लोक-सेवा में तथा सात्त्विक व्यवहारो और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के पुरुषो की निन्दा आदि का भय करना; तथा देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि की कल्पना करके उनसे स्वयं डरना या दूसरो को डराना—यह भय अनर्थकारी एव त्याज्य है; समत्व-योगी भक्त ऐसे भय से सर्वथा मुक्त रहता है। जो दूसरो को भयभीत करते है वे स्वयं भी भयभीत होते है, क्योकि आत्मा तो सबमें एक है। परन्तु बुरे कर्मो के करने में सबके आत्मा=परमात्मा का अथवा परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् का भय करना, तथा दूसरो को भी बुरे कर्मों से रोकने के लिए भय दिखाना, अपने से अधिक विद्वान्, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष योग्यता-संपन्न लोगो से सशकित रह कर उनकी प्रतिद्वद्विता न करना; तथा क्रूर-प्रकृति के मनुष्य, जानवर अथवा हिंसक जन्तु, जिनका सामना करने से शरीर और मन को क्लेश अथवा हानि होने की संभावना हो, उनका भय करके उनसे बचे रहना—यह भय का सदुपयोग है; ऐसी अवस्थाओ में भय भी आवश्यक एवं उचित होता है।

अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन

अपने कर्तव्य-कर्म तथा लोक-सेवा के व्यवहार करन में और सब प्रकार की उन्नति

के प्रयत्न में आत्म-विश्वास रख कर उद्यमशील रहना; अपने-आपको सर्वथा नालायक मान कर तथा दूसरो पर निर्भर रह कर निरुद्यमी और निराशावादी न हो जाना, किन्तु सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपनी सामर्थ्य पर भरोसा रख कर दूसरो की सहायता और सहयोग प्राप्त करने के निश्चयपूर्वक साहस के साथ आगे बढ़ते जाना—यह सच्ची अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनपेक्ष अर्थात् स्वावलम्बी होता है। जिस मनुष्य में आत्म-विश्वास होता है, अर्थात् जिसको सबके साथ अपनी एकता का भरोसा होता है, उसे सभी सहयोग देते है एवं उसके सहायक होते हैं, और जिसमें आत्म-विश्वास नहीं होता, वह दूसरों की सहायता और सहयोग भी प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु स्वावलम्बन का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने व्यक्तित्व के घमण्ड में दूसरो को तुच्छ समझा जाय और दूसरों का तिरस्कार किया जाय, अथवा दूसरो के सहयोग की सर्वथा अवहेलना की जाय—यह अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन का दुरुपयोग है। संसार के सभी व्यवहार एक-दूसरे की सहायता और सहयोग से ही सिद्ध होते है; इसलिए आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास रखते हुए दूसरो के सहयोग का भी यथोचित आदर करना चाहिए।

शौच—पवित्रता

अन्त करण को राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, कपट, घृणा आदि भिन्नता के मलिन भावों से रहित अर्थात् शुद्ध रखना, इन्द्रियो के व्यवहार शुद्ध रखना, अर्थात् आँखो से ऐसे दृश्य न देखना, कानो से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ नहीं चखना, नाक से ऐसे पदार्थ नहीं सूंघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओ का स्पर्श नहीं करना, जिनसे चित्त की चचलता बढ़े, और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारो में प्रवृत्ति हो; इसी तरह कर्मेन्द्रियो के व्यवहार भी शुद्ध रखना, और शरीर को स्नान, मज्जन एवं स्वच्छ वस्त्र आदि से साफ-शुद्ध रखना—यह सच्चा शौच अथवा पवित्रता है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार पवित्र रहता है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारो की शुद्धि पर यथोचित ध्यान न देकर, केवल स्थूल शरीर की छूआछूत आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना, और स्पर्शास्पर्श के संकुचित भावो से दूसरो का तिरस्कार तथा दूसरो से घृणा करके लोगो को उद्विग्न करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं, किन्तु मिथ्या घमण्ड एव अति मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का खजाना ही है, केवल ऊपरी छुआछूत से यह शुद्ध नहीं हो सकता; चेतन जीवात्मा के संयोग से ही यह पवित्र रहता है; जिस क्षण इससे उसका विछोह होता है, उसी क्षण मे यह छूने योग्य भी नहीं रहता। अत सबकी एकता के आत्मज्ञान से और उस ज्ञान-युक्त सबके साथ प्रेम के आचरणों से ही यह पवित्र होता है। छुआछूत अथवा

स्पर्शास्पर्श के मिथ्या अभिमान से भिन्नता के भावो की आसक्ति बढ़ती है, जिससे अन्तः-करण की मलिनता दृढ होती है और चित्त सदा विक्षिप्त रहता है; फलतः सुख-शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती।

दक्षता अर्थात् कार्य-कुशलता

जो अपने कर्तव्य-कर्म अथवा पेशे हों, उनके ज्ञान-विज्ञान एवं क्रिया की पूरी जानकारी रखना, अर्थात् उनमें पूर्ण रूप से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या कार्य-कुशलता है; समत्वयोगी भक्त अपने कर्तव्य-कर्मों में इस प्रकार कुशल होता है। परन्तु प्रमाद के विषयो एव निरर्थक चेष्टाओ में—जिनसे अपने कर्तव्यो में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना, तथा अपने कर्तव्यो पर ध्यान न देकर, जिन कामो की अपने में योग्यता न हो, उनमें कौशल प्राप्त करने के असफल प्रयत्न में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप

गये हुए तथा अप्राप्त धनादि पदार्थों, सम्बन्धियो, मित्रो तथा विषय-सुखो का चिन्तन करके उनके लिए रोना अथवा शोक करना; उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनके विषय में चिन्ता ही करते रहना, तथा उनके बिछुडने पर या उनकी हानि होने पर अपनी मूर्खता, असावधानी आदि कारणो के लिए पश्चात्ताप करते रहना, और उस शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि में डूब कर अपने कर्तव्य-कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—इस तरह के शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि सर्वथा त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इनसे विमुक्त रहता है। परन्तु अपने कर्तव्य-कर्मों से विमुख रहने से तथा कुकर्म करने से, शोक और चिन्ता अवश्य उत्पन्न होती है, इस प्रकार, शोक और चिन्ता का स्मरण करते हुए, अपने कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर उनको पूरा करने का प्रयत्न करते रहना, और कुकर्मो से बचे रहना; अपने भीतर, आत्म-विमुख करने वाले रजोगुणी-तमोगुणी भावो से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके, उन रजोगुणी-तमोगुणी भावो के सुधारने में यत्नशील रहना; तथा अपने किये हुए अनर्थों, असावधानियो एव त्रुटियो का पश्चात्ताप करके, पुनः उनको न करने के लिए सावधान रहना—इस तरह शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप करना हितकर एव आवश्यक है, और यह उनका सदुपयोग है।

त्याग

ऐसे राजसी-तामसी आडम्बरो एवं समारम्भो से अलग रहना, कि जिनसे व्यक्तित्व का अहकार बढे, और जिनसे अपने वास्तविक कर्तव्य-कर्म करने में बाधा

लगे; अपने कर्तव्य-कर्म करने में केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के ही भाव न रखना, किन्तु सबके हित के साथ अपना हित साधन करने के उद्देश्य से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना; तथा ऐसा करने में "मैं करता हूँ, मेरे काम है, मेरे ही करने से ये काम होते हैं; यदि मैं न करूँ तो नहीं हो सकते, इस कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा" इस तरह के अहंकार और संग से रहित होना; गृहस्थी में रहते हुए, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि रखते हुए, शारीरिक एवं कौटुम्बिक सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात् उनमें उलझे न रहना, किन्तु उन सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक परिवर्तनशील रूप समझ कर उनमें अपने पृथक् व्यक्तित्व की प्रीति नहीं रखना; धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि के प्राप्त होने एवं रहने में हर्ष नहीं करना और उनके जाने में शोक नहीं करना, किन्तु निर्विकार रहना; तथा लोक-संग्रह के लिए ही धनादि पदार्थों का सग्रह और लोक-संग्रह के लिए ही उनका त्याग करना, अपने व्यष्टि भाव को समष्टि में जोड़ देना—यह समत्वयोगी भक्तो का त्याग या वैराग्य है। परन्तु सांसारिक व्यवहार करने में मन को विक्षेप और शरीर को कष्ट होने के भय से उन्हे छोड़ देना; अथवा आलस्य और प्रमाद से अपने कर्तव्य-कर्म न करना; अथवा इस तामसी अहंकार से अपने कर्तव्य-कर्म घर-गृहस्थी कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि त्याग देना कि "मैं त्यागी हूँ, वैरागी हूँ, मैंने घर-गृहस्थी आदि सब त्याग दिये, मेरी किसी में प्रीति नहीं है, मै बड़ा विरक्त हूँ", इत्यादि; और त्यागी अथवा संन्यासी का स्वाँग धारण करके जगह-जगह घूमते-फिरते रहना अथवा जंगलो में निवास करना; तथा हठपूर्वक पदार्थों का त्याग करके मन से उनका चिन्तन करते रहना—यह त्याग नहीं किन्तु राग एवं पाखण्ड है। जब तक ग्रहण और त्याग की पृथक्ता का भाव और व्यक्तित्व का अहंकार बना रहता है, तब तक सच्चा त्याग नहीं होता।

राग-प्रीति-आसक्ति

जगत् के भिन्नता के बनावो अर्थात् सांसारिक पदार्थों और विषयो में इतनी प्रीति रखना कि मन निरन्तर उन्हीं में उलझा रहे और उनके वियोग होने पर विक्षेप हो, और घर-गृहस्थी, धन-सम्पत्ति, वेष-भूषा आदि के मोह में इतना आसक्त हो जाना कि जिससे अपने कर्तव्य-कर्म करने में बाधा पड़े अथवा उनमें त्रुटि आवे, तथा जिसके कारण अपने असली कर्तव्य—सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अवकाश ही न मिले——इस प्रकार का राग, प्रीति अथवा आसक्ति त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के राग में नहीं उलझते, क्योंकि भेद-बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे पदार्थों मे द्वेष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, और राग तथा द्वेष

ही बन्धन के हेतु होते हैं। परन्तु सबकी एकता के आत्मज्ञान में तथा उसके साधन-रूप सात्त्विक व्यवहारो में राग, और सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति में प्रीति अथवा आसक्ति रखना वांछनीय और हितकर होता है; यह राग, प्रीति अथवा आसक्ति का सदुपयोग है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले पदार्थो से, तथा अपने प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियो के साथ, अथवा बिना कारण ही किन्हीं को अपने विरोधी मान कर, उनसे द्वेष करना, और उनके प्रतिकूल आचरण करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व उनको गिराने के भाव रखना—यह द्वेष निन्दनीय एवं त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार का द्वेष नहीं करता। परन्तु जिन कारणो से दूसरो के साथ द्वेष होता हो, अथवा भेद बढता हो, तथा जो लोग दूसरो से भेद कराने या द्वेष बढ़ाने वाले हो, उन द्वेष कराने और भेद बढ़ाने वाले लोगो और ऐसे कारणो से द्वेष करना अर्थात् द्वेष का द्वेष करना—वस्तुतः द्वेष करना नहीं, किन्तु द्वेष मिटाना है, अत. यह द्वेष का सदुपयोग होता है।

काम (इच्छा)

दूसरो के हित अथवा स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें वाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि ही की इच्छा रखना, अर्थात् केवल अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखो की अभिलाषाओ ही में दिन-रात निमग्न रह कर दूसरो के हिताहित की कुछ भी चिन्ता न रखना; अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियो के लिए ही आधिभौतिक और आधिदैविक सुखो तथा मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि की निरन्तर कामनाएँ करते रहना, और विषय-सुखो के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना; एवं कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही लगे रहना—इस तरह का काम त्याज्य है। इस तरह दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से भिन्नता के द्वैत-भाव की दृढता होती है, और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की प्राप्ति होने में यह राजस काम ही सवसे अधिक वाधक है। सब सुखो का भण्डार तो स्वयं अपना-आप अर्थात् आत्मा है, इसी के प्रतिविम्ब से विषयो में सुखो का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अत. सुख को आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र मान कर, उसकी कामना करते रहने से पतन होता है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के काम के अधीन नहीं रहता। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थो और विषय-भोगो की अभिलाषाओ से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना; सर्वात्म-साम्य भाव में स्थित होने की कामना रखना; समष्टि-आत्मा=परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त

करने की लालसा रखना; तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाये विना, किसी का वास्तविक अधिकार छीने विना तथा किसी का अहित किये विना, जो कामोपभोग सहज ही प्राप्त हो, लोक-संग्रह के लिए मर्यादानुसार चित्त की शान्ति भंग किये विना भोगना—यह सात्त्विक काम है, अर्थात् यह काम का सदुपयोग है। जगत् का व्यवहार यथावत् चलाने के लिए इस प्रकार के काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

समता

अपने कर्तव्य-कर्म करने में सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणो से कभी सुख और कभी दु ख की प्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रखें, और प्रेम रखने वाले लोग मान करें, तथा द्वेष रखने वाले अपमान करें, एवं कोई निन्दा करें, और कोई स्तुति करें, तो इन द्वन्द्वो अथवा जोडो को परिवर्तनशील एवं अस्थायी समझ कर इनसे अविचलित रहना; इन जोडो को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी, अन्योन्याश्रित एवं परिवर्तनशील भाव समझना; सुख के साथ दु ख, शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व वना रहता है, अर्थात् जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी होता है, जहाँ शत्रु है वहाँ मित्र भी होते है, जहाँ मान है वहाँ अपमान भी होता है और जहाँ निन्दा है वहाँ स्तुति भी होती है—प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोडे के विरोधी भाव का होना अनिवार्य है, ये परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते है, इसलिए वास्तव में एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप है—इस तथ्य को अच्छी तरह समझ कर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की समता अथवा शान्ति भग न करना; जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता है, वही दूसरी परिस्थिति में दु ख का कारण हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में दु ख का कारण होता है वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता है; जो एक परिस्थिति में शत्रु होता है वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में मित्र होता है वही दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो जाता है; जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते है, वही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते है, और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते है, वही दूसरी परिस्थिति में अपमान और निन्दा करने लग जाते है; इसलिए इन विरोधी भावो को तथ्यहीन समझ कर, अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्वक साम्य-भाव से करने में इन द्वन्द्वो से विचलित न होकर अन्त - करण की समता बनाये रखना—यह वास्तविक समता है; और परमात्मा का सच्चा भक्त—समत्वयोगी इस प्रकार इन द्वन्द्वो में सम बना रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा के भक्त अर्थात् समत्वयोगी को सुख-दुःख, मान-अपमान

आदि की वेदनाएँ प्रतीत ही नहीं होतीं, अथवा उसे सुख की अनुकूलता और दुःख की प्रतिकूलता का कुछ अनुभव ही नहीं होता, अथवा वह सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए कोई यत्न ही नहीं करता—शरीर को सदा कष्ट ही में रखता है; तथा वह शत्रु और मित्र के साथ एक-सा बर्ताव करता है, और मान एवं स्तुति तथा अपमान एव निन्दा को एक-सा समझ कर ऐसे आचरण करता है कि जिनसे अपमान और निन्दा भले ही होवे—वह उनकी परवाह नहीं करता; ऐसा करना समता का भाव नहीं है, किन्तु बड़ी भारी विषमता का भाव है। सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व शरीर के साथ सम्बन्ध रखते है, अतः इनकी वेदना जितनी साधारण लोगो के शरीरों को होती है, उतनी ही परमात्मा के भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी के शरीर को भी होती है, क्योकि शरीर सबका उन्हीं पंच तत्त्वो का बना हुआ होता है; परन्तु परमात्मा का भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी तात्त्विक विचार से इन द्वन्द्वो अथवा विरोधी भावो के जोडो की असलियत का ज्ञान रखता है इसलिए वह इनसे प्रभावित होकर अपने कर्तव्यो से विचलित नहीं होता, और न उसके अन्तःकरण में अशान्ति ही उत्पन्न होती है; उसे सदा यह ध्यान रहता है कि यह सब संसार द्वन्द्वो अर्थात् परस्पर विरोधी भावो के जोड़ो का बनाव है, इसलिए जिस समय जो भाव उपस्थित हो, उसी के अनुरूप शारीरिक व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी उसके अन्तःकरण में सबकी एकता का साम्य-भाव बना रहता है। सुख की प्राप्ति होने पर उसका यथायोग्य उपभोग करते हुए भी वह उसमें तल्लीन नहीं होता; दुःख की प्राप्ति होने पर उसे सहन करते हुए भी उसके अन्त.करण में व्याकुलता नहीं होती, शत्रु के साथ उसके आचरणों के अनुसार शासन अथवा उपेक्षा का बर्ताव करते हुए भी वह अन्त'करण से उसके साथ कोई द्वेष नहीं रखता; मित्र के साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए भी वह उसके साथ व्यक्तिगत प्रेम के मोह में आसक्त नहीं होता; मान और स्तुति का आदर करते हुए भी उनसे फूल कर कुप्पा नहीं हो जाता, अपमान और निन्दा को हेय समझते हुए भी उनसे उसके अन्तःकरण में उद्वेग नहीं होता—यही सच्ची समता है।

मौन

थोड़ा बोलना, अर्थात् जिस अवसर और जिस परिस्थिति में जितना बोलने की आवश्यकता हो उतना ही बोलना, निरर्थक बकवास न करना; यथाशक्य थोडे शब्दो ही में अधिक भाव प्रकट कर देना; मूर्ख, दुराग्रही और अधिक वाचाल व्यक्तियो का सामना हो जाय तो चुप रहना—यह सच्चा मौन है; समत्वयोगी भक्त इसी प्रकार का मौन रखता है। परन्तु वाणी को सर्वथा बन्द करके चुपचाप बैठे रहना; हठ से मौन-व्रत रख कर मन के भाव लिख कर अथवा सैनो और संकेतो द्वारा दूसरो पर प्रकट करना—

यह मौन नहीं किन्तु दम्भ है; और कपटभरी मिथ्या बातो एवं आक्षेपो का, तथा अन्याय-पूर्ण एवं अनुचित वचनो का प्रतिवाद न करके, उन्हें चुपचाप सहते रहना भीरुता है।

अनिकेत

किसी स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष ही में ममत्व की आसक्ति न रखना, किन्तु अपनी उन्नति और कर्तव्य-कर्म करने तथा लोक-सेवा के लिए जहाँ रहने की आवश्यकता हो वहीं प्रसन्न-चित्त से रहना; विद्या, ज्ञान और धन की प्राप्ति के लिए देशाटन करना; किसी विशेष देश या विशेष स्थान ही में रहने के लिए लालायित न होना—यह सच्चा अनिकेत है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनिकेत रहते हैं। परन्तु समुचित कारण के बिना ही किसी एक स्थान में न टिक कर जगह-जगह भटकते रहना, यह अनिकेत नहीं किन्तु भटकना है।

॥बारहवाँ अध्याय समाप्त॥

तेरहवाँ अध्याय

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबकी एकता के निश्चय-युक्त साम्य-भाव से करने रूप समत्व-योग की सिद्धि के लिए, सबसे प्रथम सबकी एकता का (सर्वभूतात्मैक्य) ज्ञान प्राप्त करके उसमें मन को ठहराने की आवश्यकता होती है; और उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भगवान् ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक सबके आत्मा=परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सुगम साधन का विधान किया, जिसमें अखिल विश्व को सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप अपना ही व्यक्त भाव बताकर (परमात्मा-स्वरूप) अपने में सबकी एकता दिखाई, और परमात्मा की एकता में श्रद्धा अथवा विश्वास करके उसकी उपासना करने द्वारा सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान में मन को स्थित करने का उपदेश दिया। परन्तु जैसा कि पहले कह आये हैं गीता में विवेक-शून्य अन्ध-श्रद्धा को स्थान नहीं है, किन्तु इसमें उन्हीं विषयो पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया है जो कि तात्त्विक विचार द्वारा सिद्ध हो सकते हो। इसलिए अब आगे के तीन अध्यायों में भगवान्, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और जीवात्मा, प्रकृति और पुरुष एवं जगत् और जगदीश्वर-सबधी दार्शनिक विवेचन करके फिर सबका समावेश सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा में करने द्वारा सबकी एकता के सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान का निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, और इसको जो जानता है, अर्थात् जिसे यह अनुभव होता है कि "यह शरीर अथवा क्षेत्र

है" उसे, इस विषय के जानकार अर्थात् तत्ववेत्ता लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं (१)। और हे भारत ! **सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया है।** तात्पर्य यह कि यह शरीर, और सब शरीरो में रहने वाला जीवात्मा तथा परमात्मा सब-कुछ "मैं (सबका आत्मा)" ही हूँ (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६); अत. शरीर और जीवात्मा के विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वही परमात्मा-स्वरूप मेरा ज्ञान है (२)। वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जिन विकारो वाला है और जिससे जो होता है; तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो कुछ है एवं जिस प्रभाव वाला है, सो सक्षेप में मुझसे सुन। तात्पर्य यह कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा के विषय का अलग-अलग विवेचन आगे के श्लोको में किया जाता है (३)। ऋषियो द्वारा वेदो और उपनिषदो के विविध मन्त्रो में (यह विषय) बहुत प्रकार से अलग-अलग रूप से कथन किया गया है; और ब्रह्म-सूत्र-पदों के द्वारा सुनिश्चित-रूप से इसका युक्ति-युक्त वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा-सम्बन्धी विज्ञान-सहित ज्ञान का निरूपण अनेक ऋषियो ने वेदो के मंत्र भाग में तथा उपनिषदो में नाना प्रकार से किया है; और वेदान्त-सूत्रो में कार्य-कारण-रूप हेतु दिखाकर युक्ति-युक्त प्रमाणो से उन पृथक्-पृथक् निरूपणो की एक-वाक्यता करके पूर्णतया निश्चित सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया है (४)। महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश; अहकार अर्थात् "मैं हूँ" यह व्यक्तित्व का भाव; बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति; अव्यक्त अर्थात् कारण प्रकृति; ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा के भेद से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ के भेद से पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं ग्यारहवाँ मन; तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियो के पाँच विषय, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, (इन चौबीस तत्त्वो का समूह); और इच्छा अर्थात् अनुकूलता की प्राप्ति की चाहना; द्वेष अर्थात् प्रतिकूलता के तिरस्कार का भाव; सुख अर्थात् अनुकूल वेदना; दु.ख अर्थात् प्रतिकूल वेदना; सघात अर्थात् इन सबका योग; चेतना अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियो एवं प्राण आदि के व्यापारो से प्रतीत होने वाली शरीर की चेतन अथवा जीवित अवस्था; धृति अर्थात् धारणा-शक्ति—इन विकारो सहित, सक्षिप्त रूप से क्षेत्र कहा गया है (५-६)। अमानित्व अर्थात् शरीर के बडप्पन, उच्चता, कुलीनता, पवित्रता, विद्या, बुद्धि, रूप, यौवन, बल, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना (बारहवें अध्याय में "निरहकार" का स्पष्टीकरण देखिए); अदम्भित्व अर्थात् दूसरो पर अपना प्रभाव जमाने के लिए, अपने मिथ्या बड़प्पन आदि के ऊपरी दिखाव न करना, तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा आमोद-प्रमोद आदि के लिए दूसरो को ठगने, धोखा देने अथवा भुलावा देने की नीयत से किसी से छल-कपट न करना (आगे सोलहवें

अध्याय में "दंभ" का स्पष्टीकरण देखिए); अहिंसा अर्थात् अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी को तन से, मन से अथवा वचन से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना और किसी की हानि न करना तथा किसी की न्याय-युक्त आजीविका में बाधा न देना (आगे सोलहवें अध्याय में "अहिंसा" का स्पष्टीकरण देखिए); क्षमा अर्थात् दूसरो के अपराध सहन करना (बारहवें अध्याय में "क्षमा" का स्पष्टीकरण देखिए); आर्जव अर्थात् अपनी तरफ से सबसे सरलता यानी सीधाई का बर्ताव करना—समुचित कारण के बिना किसी को दुःख देने अथवा उद्विग्न करने की नीयत से कुटिलता अथवा टेढ़ेपन का बर्ताव न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "सरलता" का स्पष्टीकरण देखिए); आचार्योपासना अर्थात् गुरु-भक्ति (बारहवें अध्याय में "गुरु-भक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); शौच अर्थात् पवित्रता (बारहवें अध्याय में "पवित्रता" का स्पष्टीकरण देखिए); स्थैर्य अर्थात् दृढ़-निश्चय (बारहवें अध्याय में "दृढ-निश्चय" का स्पष्टीकरण देखिए); आत्म-निग्रह अर्थात् मन का संयम (बारहवें अध्याय में "शम" का स्पष्टीकरण देखिए); इन्द्रियो के विषयो में वैराग्य (अ० २ श्लो० ५५ से ५८, तथा अ० ५ श्लो० ८-९ का स्पष्टीकरण देखिए); अनहंकार अर्थात् दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का अहंकार न रखना (बारहवें अध्याय में "निरहंकार" का स्पष्टीकरण देखिए); जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, और रोग आदि व्याधियो के दु.खो और दोषो को सदा याद रखना, अर्थात् इस बात का सदा ध्यान रखना कि जन्मना, मरना, बुढापा और रोग शरीर के साथ लगे हुए है और वे बहुत ही दुःखदायक होते हैं, उनकी प्राप्ति और स्थिति का कोई ठिकाना नहीं है—न मालूम कब आ जायें और कब तक रहे, गर्भ से लेकर बाल्य अवस्था तक तथा शरीर जीर्ण हो जाने पर तथा रोगादि व्याधियो से ग्रस्त होने से, और मर जाने पर कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती, इसलिए अपने कर्तव्य-कर्म अथवा सब प्रकार की उन्नति के साधन सम्पादन करने में आलस्य अथवा प्रमाद न करना, जो कुछ करना हो, युवावस्था में और शरीर की स्वस्थ दशा में ही कर लेना—इस अमूल्य समय को व्यर्थ न गँवाना; पुत्र, स्त्री और घर आदि में आसक्ति और सग न रखना, अर्थात् स्त्री, बाल-बच्चों, कुटुम्ब-परिवार आदि गृहस्थी में रहते हुए और उनके प्रति अपना कर्तव्य यथायोग्य पालन करते हुए, तथा घर, सम्पत्ति आदि को रखते हुए भी उन सबको इस अनित्य एवं परिवर्तनशील शरीर ही के सबंधी समझ कर, उनमें इतना उलझे न रहना कि उनके सिवाय और किसी विषय का ध्यान ही न रहे, और उनके ममत्व यानी मोह का इतना प्रभाव मन पर न रखना कि उनके सुख-दु ख तथा संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वो से अन्त करण व्याकुल होता रहे (बारहवें अध्याय में "अनासक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); इष्ट अर्थात् अनुकूल और अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर, दोनों दशाओ में चित्त की समता बनाये रखना (बारहवें अध्याय में "समता" का स्पष्टीकरण देखिए); मुझमें अनन्य-योग से अटल भक्ति रखना, अर्थात् सब-कुछ परमात्मा ही

है, इस एकत्व-भाव के दृढ-निश्चयपूर्वक पहले के अध्यायो में वर्णित परमात्मा की भक्ति में सदा लगे रहना; निरुपाधिक एवं शुद्ध देश में रहना (बारहवें अध्याय में "अनिकेत" का स्पष्टीकरण देखिए); किसी विशेष जन-समुदाय में अथवा अज्ञानी लोगो के समाज में प्रीति अथवा मोह न रखना; अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता के निश्चयपूर्वक उसके विचार में लगे रहना, अर्थात् अपने सहित सबको वस्तुतः आत्म-स्वरूप समझना; और तत्त्वज्ञान के अर्थ को देखते रहना, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की असलियत के तात्त्विक विवेचन पर सदा दृष्टि रखना—यह ज्ञान कहा गया है, अर्थात् इस प्रकार आचरण करने वाला व्यक्ति सच्चा ज्ञानी होता है, और ये आचरण ज्ञान-प्राप्ति के साधन भी हैं; इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है, अर्थात् इसके विरुद्ध आचरण करने वाले अज्ञानी है, उनको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ७वें से ११वें श्लोक तक का तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के दूसरे श्लोक में क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के जिस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा है, उसी ज्ञान का व्यवहारिक स्वरूप इन श्लोकों में बतलाया गया है। **यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि ज्ञान के उपर्युक्त वर्णन में सबके अपने-आप= आत्मा में सबकी एकता जान लेने मात्र ही को ज्ञान नहीं कहा है, किन्तु उस ज्ञान के साथ-साथ, सबके साथ अपनी एकता के प्रेम-भाव से समता के आचरण करने को ज्ञान कहा है।** जिस पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अथवा शरीर और आत्मा, अथवा जगत् और जगदीश्वर की एकता का यथार्थ एवं दृढ ज्ञान हो जाता है, उसके ये स्वाभाविक आचरण होते हैं; और जिसको सबकी एकता के उपरोक्त ज्ञान प्राप्त करने और उसमें स्थित होने की सच्ची जिज्ञासा अथवा चाह हो, उसके लिए ज्ञान के उक्त आचरण साधन रूप से प्रयत्नपूर्वक करना आवश्यक है; क्योंकि जब तक ज्ञान का उपरोक्त आचरण न किया जाय, तब तक केवल आत्मज्ञान की बातें बनाते रहने अथवा पुस्तक देखते रहने अथवा पद-पदार्थ याद करके शास्त्रार्थ करते रहने मात्र से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति नहीं होती; इसलिए इन आचरणो ही को भगवान् ने वास्तविक ज्ञान कहा है। यहाँ साध्य और साधन की भी वस्तुतः एकता दिखाई है। इन आचरणो में दृढ स्थिति होना ही यथार्थ ज्ञान की स्थिति है—जब तक इनके विपरीत अभिमान, पाखण्ड, छल-कपट एव दूसरो को पीडा देने आदि अनेकता और विषमता के आचरण किये जाते हैं, तब तक ज्ञान की स्थिति नहीं होती, किन्तु अज्ञान-अवस्था ही बनी रहती है (७-११)। (अब) जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है वह कहता हूँ, जिसे जान कर अमृत की प्राप्ति होती है, अर्थात् सब प्रकार के कल्पित बधनो से छुटकारा होकर अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है; (वह जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय-वस्तु=आत्मा) **अनादि पर-ब्रह्म है, न वह सत् कहा जाता है, न असत् (१२)।** उस (ज्ञेय तत्त्व अर्थात्

आत्मा) के सर्वत्र हाथ-पैर, सर्वत्र आँखें, सिर (और) मुख, (एवं) सर्वत्र कान है, और जगत् में वह सबको व्याप्त करके स्थित है (१३)। सब इन्द्रियो के गुणो का आभास (वही) है, अर्थात् सब इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा व्यापार उसी से भासते हैं; (और वह) सब इन्द्रियो से रहित है, अर्थात् इन्द्रियो के बिना भी वह रहता है; असक्त होता हुआ अर्थात् वस्तुतः सब संबंधो से रहित होकर भी (वही) सबका धारण-पोषण करता है, और निर्गुण होकर भी गुणो का भोक्ता है; अर्थात् सब-कुछ वही होने के कारण वही सबका धारण-पोषण करने वाला है, और वही निर्गुण तथा वही सगुण है (१४)। वह सब भूतों के बाहर और भीतर भी है; चर और अचर अर्थात् जंगम और स्थावर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह (मन और इन्द्रियो से) जाना नहीं जा सकता; और वह दूर भी है तथा पास भी है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है (१५)। वह विभाग-रहित होता हुआ भी भूतो में विभाजित हुआ-सा स्थित है, अर्थात् एक ही अनेक रूपो में प्रतीत होता है; और वह ज्ञेय (आत्मा) भूतो का धारण, पोषण, संहार और उत्पत्ति करने वाला है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सब उसी में होते हैं (१६)। वह ज्योति वालो की ज्योति अर्थात् तेजो का तेज, अज्ञानान्धकार से परे कहा जाता है; तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनुभव होने वाला, सबके हृदय में रहता है (१७)। इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप में कहे हैं; मेरा भक्त इन्हें जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है (१८)। श्लोक १२ वें से १८वें तक का तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के पहले और दूसरे श्लोको में, सब शरीरो में "मैं" रूप से रहने वाले सबके अपने आप—आत्मा का क्षेत्रज्ञ शब्द से जो कथन किया गया है, उसी क्षेत्रज्ञ आत्मा का विस्तृत वर्णन भगवान् इन श्लोको में ज्ञेय रूप से करते हैं। वह सबका आत्मा=क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञेय अनादि है, अर्थात् वह सदा रहने वाला है, इसलिए उसकी उत्पत्ति का कोई काल अथवा कारण नहीं है; भूत, भविष्य और वर्तमान सभी काल और सभी वस्तुएँ उसी से सिद्ध होती है, अतः वह किसी काल अथवा किसी वस्तु में परिमित नहीं है; "मैं हूँ" यह भाव अर्थात् अपने होने का अनुभव सबको सब काल में बना रहता है—शरीरो के उत्पन्न होने के साथ वह उत्पन्न नहीं होता। वह सबका अपना-आप=आत्मा पर-ब्रह्म है, अर्थात् वह कारण प्रकृति से भी परे है और सब देश, सब काल और सब वस्तुओ में सर्वत्र परिपूर्ण है; ऐसा देश, ऐसा काल और ऐसी वस्तु कोई नहीं है, जो अपने-आप बिना हो—अपने-आप ही से सब देश, सब काल और सब वस्तुओ की सिद्धि होती है। सबका अपना-आप=आत्मा ही सब-कुछ है, अतः वह किसी विशेष भाव अथवा किसी विशेष गुण में परिमित अथवा सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता; इसलिए न वह सत् कहा जा सकता है और न असत्; क्योकि सत् कहने मे असत् अलग रह जाता है और असत् कहने मे सत् अलग रह जाता है, वास्तव में उससे अलग कुछ है नही—भेद के लिए कोई अवकाश नहीं है; यदि इन्द्रियों, मन और बुद्धि से ज्ञात

होने वाला भाव सत् कहा जाय और उनसे ज्ञात न होने वाला असत् भाव कहा जाय, तो दोनों भाव अपने-आप=आत्मा ही में कल्पित है, अपना-आप=आत्मा इन दोनो भावो का आधार, दोनो का प्रकाशक, दोनो का दृष्टा एवं दोनो की सत्ता है; दोनो भावो की सिद्धि अपने-आप=आत्मा से होती है, और दोनो का समावेश भी आत्मा ही में होता है; इसलिए आत्मा दोनो भावो में से किसी एक भाव वाला नहीं कहा जा सकता। विश्व में जितने शरीर है, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित रूप है, इस कारण प्राणीमात्र के शरीरो की ज्ञानेन्द्रियाँ एव हाथ, पैर आदि सभी अंग-प्रत्यंग, उसी सबके अपने-आप= आत्मा अथवा परमात्मा के है; परन्तु यद्यपि सब इन्द्रियाँ एवं अग-प्रत्यंग उसी के है, तथा सब इन्द्रियाँ एवं अग-प्रत्यग उसी से चेतना-युक्त होकर, उसी से अपने-अपने विषयो तथा व्यापारो में बर्तने की शक्ति प्राप्त करते है, फिर भी वह आत्मा उन इन्द्रियो एव अग-प्रत्यगो में ही परिमित अथवा रुका हुआ नहीं है, किन्तु उनके बिना भी वह रहता है और उनके न होने पर भी वह ज्यो का त्यो बना रहता है; और सब इन्द्रियो के भोग भोगते हुए भी वास्तव में वह कुछ भी नहीं भोगता, क्योकि भोक्ता और भोग्य सब वही है—एक तरफ इन्द्रिय रूप से वही भोगने वाला है और दूसरी तरफ पदार्थ रूप से वही भोगा जाता है, इसलिए वास्तव में न कोई भोक्ता है और न कुछ भोगा जाता है। स्थावर और जगम अथवा जड़ और चेतन सृष्टि सब कुछ आत्मा अथवा परमात्मा रूप ही है, इस कारण भूत-प्राणियो के अन्दर, बाहर और बीच में वही ओत-प्रोत भरा हुआ है, जब तक सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तव तक वह (स्थूल इन्द्रियो से) नहीं जाना जाता, क्योकि स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल बनावो की कल्पित भिन्नता ही को विषय करती है, इन बनावो में जो सच्चा एकत्व-भाव है, उसको वे विषय नहीं करतीं, इसलिए उनको वह सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा सदा दूर ही प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में दूर भी वही है, और नज़-दीक, पास अथवा समीप भी वही है—दूरी और समीपता का प्रकाश अथवा ज्ञान अपने-आप ही से होता है। भूत-प्राणियो के जो अलग-अलग शरीर और अलग-अलग बनाव प्रतीत होते है, वे वस्तुत. अलग-अलग नहीं है, किन्तु समुद्र की तरगो की तरह एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने-आपके अनेक रूप और अनेक नाम है, जिस तरह समुद्र में तरंगें उठने से उसके टुकडे नहीं हो जाते, उसी तरह जगत् के नाना प्रकार के बनावो से सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा के टुकडे नहीं होते, किन्तु वह सदा अखण्ड बना रहता है। वही कभी जगत् के नाना बनाव-रूप बनता है और कभी उन बनावो को अपने में समेट लेता है; परन्तु नाना बनावो के बनने से वस्तुत वह टूट कर अनेक नहीं हो जाता और बनावो के समेट लेने पर वह पीछा जुड़ नहीं जाता, किन्तु वह अपने अखण्ड भाव में ज्यो का त्यो बना रहता है—अपने-आप का भाव सबमें सदा एक समान बना रहता है। "मै" रूप से सबके अन्त करण में रहने वाला सबका अपना-आप=आत्मा अथवा

क्षेत्रज्ञ परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है; वही सब-कुछ है, इसलिए ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु भी वही है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह उसी आत्मा का ज्ञान है; और सबका प्रकाशक अथवा बोध कराने वाला भी वही है, क्योंकि अपने-आपके प्रकाश से ही सबका प्रकाश होता है; सूर्य, चन्द्र, अग्नि, आदि जितने भी प्रकाशवान् पदार्थ हैं, वे सब जड हैं, वे चेतन आत्मा की सत्ता ही से प्रकाशित होते हैं; परन्तु आत्मा स्वयं प्रकाश है; स्वप्न-अवस्था की सूक्ष्म-सृष्टि में जाग्रत के स्थूल प्रकाशवान् पदार्थ नहीं होते, वहाँ भी अपना-आप=आत्मा स्वयं स्वप्न-सृष्टि को प्रकाशित करता है; इससे स्पष्ट है कि सबका प्रकाशक आत्मा ही है; और वह आत्मा सबके अपने अन्दर, सबके अपने पास है। उस अपने-आप=आत्मा को इस प्रकार जानना अथवा अनुभव करना चाहिए; और वह अनुभव श्लोक ७ से ११ तक के वर्णनानुसार ज्ञान के आचरण करते रहने से होता है। जो अनन्य भाव की भक्ति और इस प्रकार ज्ञान के आचरण से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के इस रहस्य को समझ कर अपने वास्तविक आपका यथार्थ अनुभव कर लेता है, वह परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाता है (१२ से १८)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय में भक्ति अथवा उपासना के प्रकरण में विज्ञान-सहित ज्ञान की व्याख्या करते हुए भगवान् ने अपनी परा और अपरा प्रकृति का वर्णन उपासना की शैली में किया था, अब उसी विषय को यहाँ अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर दार्शनिक शैली में कहते है। शरीर और जगत्, तथा आत्मा और परमात्मा (सब) की एकता का अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त—जिसका अनेक ऋषियो ने वेदो और उपनिषदो में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है, और उन सब वर्णनो की एकवाक्यता महर्षि बादरायण व्यास जी ने पूर्णतया निश्चित रूप से अकाट्य युक्तियो एवं प्रमाणो द्वारा वेदान्त-सूत्रो में अच्छी तरह कर दी है, वही अद्वैत-सिद्धान्त—भगवान् को मान्य है, और उसी के अनुसार यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप से शरीर अथवा पिण्ड तथा जगत् अथवा ब्रह्माण्ड और आत्मा अथवा परमात्मा के संबध का अलग-अलग विवेचन करने के साथ ही साथ इन सबकी एकता का संक्षिप्त प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि सब शरीरो में "मैं" रूप से विद्यमान सबका अपना-आप, सबका आत्मा ही परमात्मा है, और वह आत्मा अथवा परमात्मा ही चौबीस तत्त्वो के समूह तथा नाना विकारो से युक्त क्षेत्र सज्ञा वाला शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) रूप मे कल्पित दृश्य बनता है, तथा वही उक्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप क्षेत्र अथवा कल्पित दृश्य को जानने वाला अथवा उसका अनुभव करने वाला क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। जिस तरह मनुष्य को जब स्वप्न आता है, तब वह आप ही स्वप्न के सब प्रपच अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही स्वप्न का देखने वाला अर्थात् स्वप्न का ज्ञाता होता है; उसी तरह "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला, सबका अपना-आप= आत्मा ही जाग्रत जगत् का दृश्य अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही द्रष्टा होता है—

जो व्यवस्था स्वप्न-सृष्टि की है, वही जाग्रत सृष्टि की है। जगत् के नानात्व का वनाव यद्यपि प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने के कारण सत् प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं नाशवान् होने के कारण सत् नहीं है; और जीवात्मा इन्द्रियगोचर न होने के कारण असत् प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह सबकी सत्ता-स्वरूप होने के कारण असत् नहीं है; और सबका अपना-आप=आत्मा दोनो भावो का सच्चा आघार एव दोनो का एकत्व-भाव है, इसलिए उसे न सत् कह सकते है, न असत्; क्योकि सत् कहने से असत् उससे भिन्न रह जाता है, और असत् कहने से सत् उससे भिन्न रह जाता है; और भिन्नता वस्तुतः है नहीं; सत् और असत् सब कुछ अपने-आप=आत्मा ही से सिद्ध होते है। आत्मा ही सेन्द्रिय (चेतन-सृष्टिरूप) और आत्मा ही निरिन्द्रिय (जड-सृष्टिरूप) होता है, और आत्मा सब दृश्य-प्रपच रूप रचनाओ से अलग अयवा परे भी रहता है। सेन्द्रिय सृष्टि-रूप होने के कारण इन्द्रियवान् प्राणियो के जितने हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, सिर, मुख आदि अग है, वे सब आत्मा ही के है, और सब अंग तथा इन्द्रियो से रहित जड़ अर्थात् निरिन्द्रिय सृष्टि भी वही है।

इन्द्रियगोचर सब पदार्थों की प्रतीति अपने-आप=आत्मा ही से होती है; आत्मा ही मन रूप से इन्द्रियो के सब विषयो का अनुभव करता है; मन ही आँखो के द्वारा रूप देखता है, मन ही कानो के द्वारा शब्द सुनता है, मन ही नाक के द्वारा गन्ध लेता है, मन ही जीभ के द्वारा स्वाद लेता है और मन ही त्वचा के द्वारा स्पर्श करता है। यदि मन का इन्द्रियो से संयोग न हो अर्थात् मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो की कुछ भी प्रतीति नहीं होती; परन्तु इस तरह मन रूप से इन्द्रियो के विषयो का प्रकाश करके भी अपना वास्तविक आप=आत्मा इन्द्रियो में ही रुका हुआ अयवा परिमित नहीं है; क्योकि निरिन्द्रिय अर्थात् जड़ सृष्टि भी वही है, और स्वप्न अवस्था में जिस समय स्यूल इन्द्रियाँ चेष्टा-शून्य होती है, उस समय भी आत्मा स्यूल इन्द्रियो के विना ही सव प्रकार के विषयो का अनुभव करता है, और सुषुप्ति अवस्था में सव विपयो का अभाव होते हुए भी अपना-आप=आत्मा ज्यो का त्यो रहता है; जाग्रत और स्वप्न अवस्था में सव गुणो और विषयो में बर्तता हुआ भी आत्मा, किसी भी गुण और किसी भी विषय में वन्घा हुआ नहीं रहता; सुषुप्ति अवस्था और मन की एकाग्रता एवं वुद्धि की साम्यावस्या में वह सब गुणो और सब विषयो से रहित होता है, उन अवस्थाओ में जाग्रत और स्वप्न में किये हुए अनुभवो का कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि सवका अपना-आप=आत्मा जाग्रत और स्वप्न में, गुणो और विषयो में वर्तता हुआ भी वास्तव में उन सवसे अलिप्त रहता है। जिस तरह आकाश सब स्यानो में रहता हुआ भी, और उसमें सव प्रकार के व्यवहार होते हुए भी वह निर्विकार रहता है, उसी तरह आत्मा सव गुणो में वर्तता हुआ और सव-कुछ करता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है।

आत्मा ही सब-कुछ होने के कारण जगत् के अन्दर और बाहर वही ओत-प्रोत भरा हुआ है; वही चेतन-रूप से चलता-फिरता है, और वही अचेतन-रूप से अचल—ठहरा हुआ है; सूक्ष्म विचार के बिना वह दूर से भी दूर प्रतीत होता है, यानी अखिल विश्व को ढूंढ़ डालने पर भी उसका पता नहीं लगता, और सूक्ष्म विचार करने पर वह सबके पास ही है, क्योंकि वह सबका अपना-आप है। वह एक ही अनेकों की तरह प्रतीत होता है। जिस तरह समुद्र की लहरों की उत्पत्ति, स्थिति और लय समुद्र में ही होते हैं, उसी तरह अखिल विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय भी आत्मा ही में होते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान् पदार्थ हैं, वे सब अपने-आप —आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं; अपने-आपका प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है, तभी दूसरे पदार्थों के प्रकाश का ज्ञान होता है; स्वप्न अवस्था में जब बाहरी प्रकाश कोई भी नहीं होते, तब भी वहाँ उजेला रहता है, अतः आत्मा स्वयं ही प्रकाश-स्वरूप है। आप ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है और आप ही सबके हृदय में स्थित जानने वाला अथवा ज्ञाता है। उस "मैं" रूप से सबके शरीर में रहने वाले सबके अपने आप—आत्मा अथवा परमात्मा को इसी तरह जानना अथवा अनुभव करना चाहिए। वह अनुभव, श्लोक ७ से ११ तक "अमानित्व" से लेकर "तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शन" तक जो ज्ञान के आचरणों का वर्णन किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण उक्त श्लोकों में अर्थ और उनके तात्पर्य में अच्छी तरह कर दिया गया है, उसके अनुसार आचरण करने से होता है, न कि कोरे आत्मज्ञान की बातें बना लेने मात्र ही से। गीता में अव्यावहारिक ज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया गया है, क्योंकि अव्यावहारिक ज्ञान न तो वास्तविक ज्ञान है, और न उससे आत्मानुभव में स्थिति ही होती है। सच्चे ज्ञान अथवा आत्मानुभव का यही लक्षण है कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त यथायोग्य आचरण उपर्युक्त श्लोकों के वर्णनानुसार स्वाभाविक रूप से होते रहें। साधन अवस्था में ये ही आचरण प्रयत्नपूर्वक करते रहने से शनैः-शनैः उन्नति होते-होते अन्त में यथार्थ आत्मानुभव की स्थिति प्राप्त हो जाती है। परन्तु इस तथ्य पर ध्यान न देकर, केवल आत्म-ज्ञान की चर्चा करने में तथा अव्यावहारिक ज्ञान के अभ्यास में लगे रहने और आचरण, अनेकता एवं विषमता के करने से उलटी दुर्दशा होती है। ऐसा करने से यथार्थ ज्ञान कभी नहीं होता। इसीलिए भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि इसके विरुद्ध आचरण करना अज्ञान है।

जो लोग परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनके लिए भी भगवान् ने १८वें श्लोक में साफ कह दिया है कि ज्ञान के इन आचरणों द्वारा मेरे भक्त, जो सबके एकत्व-भाव ज्ञेय-स्वरूप आत्मा का ज्ञान, अर्थात् अनुभव प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। यद्यपि बारहवें अध्याय में श्लोक १३वें से १९वें तक, भक्तों के लिए रूपान्तर से यही आचरण करने का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, फिर भी यहाँ पर ज्ञान के प्रकरण में उसे दुहरा-

कर इस बात की पुष्टि की है कि सच्चा ज्ञानी अथवा भक्त वही होता है, जिसके आचरण सबकी एकता के साम्य-भाव-युक्त हों। न तो अव्यावहारिक ज्ञान से और न अव्यावहारिक भक्ति से ही सच्चे आत्मानुभव की प्राप्ति और उसमें स्थिति होती है।

× × ×

यहाँ तक भगवान् ने अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्तानुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विवेचन द्वारा सबकी एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अब सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तानुसार, उसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार साख्य की परिभाषा में, प्रकृति और पुरुष रूप से करते हैं। सांख्य वाले प्रकृति और पुरुष दोनो को वस्तुतः स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न मानते है, तथा दोनो के एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं मानते; परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनो एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव है :—एक परिवर्तनशील असत् जड़-भाव है, और दूसरा अपरिवर्तनशील सत् चेतन-भाव है। इस अन्तर को छोड़ कर इन दोनो भावो, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संबंध के, तथा प्रकृति के विस्तार के विषय के जो विचार सांख्य-दर्शन के है, वे वेदान्त को भी ग्राह्य है। इसलिए सांख्य की परिभाषा में प्रकृति-पुरुष सबंधी विचारो का आगे के श्लोको में वर्णन किया गया है, और साथ ही वेदान्त के अद्वैत-सिद्धान्त को भी ज्यो का त्यो कायम रखा है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष दोनो ही को अनादि जान, और विकार एव गुणो को प्रकृति से उत्पन्न हुए जान। तात्पर्य यह कि साख्य-मतानुसार प्रकृति और पुरुष दोनो स्व-तन्त्र रूप से अनादि है; और वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनो सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव है, इसलिए इनका कोई आदि नहीं कहा जा सकता;

इस प्रकार ये दोनो ही अनादि हैं; और राग-द्वेष, सुख-दुःख, उपजना-मिटना, घटना-चढ़ना एवं पलटना आदि विकार तथा तीन गुणो का फैलाव प्रकृति से होता है (१९)। कार्य और कारण के कर्तापन में हेतु प्रकृति कही जाती है, और पुरुष सुख-दुःख के भोक्ता-पन का हेतु कहा जाता है। तात्पर्य यह कि कार्य-कारण की परम्परा प्रकृति से होती है, और प्रकृति तक ही वह रहती है; अथवा कार्य-रूप शरीर और कारण-रूप पंच महाभूत तथा तीन गुण (सब) प्रकृति के बनाव हैं; और सुख-दुःख की वेदनाओ की प्रतीति का कारण पुरुष की चेतनता है (२०)। प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणो को भोगता है, इसलिए गुणसंग अर्थात् प्रकृति के गुणो का यह संबंध ही पुरुष के अच्छी और बुरी योनियो में जन्म लेने का कारण है। तात्पर्य यह कि पाँच तत्त्व और तीन गुणो वाली प्रकृति के बनाव-रूप शरीरो में अहंभाव करके, यानी अपने को शरीर मान कर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है, और जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसी के अनुसार शरीर धारण करता है (२१)। उपद्रष्टा अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओ का अनुभव करने वाला—ज्ञाता अथवा साक्षी; अनुमन्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि को उनके व्यवहारो में अनुमति देने वाला—उनका प्रेरक अथवा सहायक; भर्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के संघात-रूप शरीर को सत्ता एवं चेतना युक्त करने वाला; भोक्ता अर्थात् मन-रूप होकर इन्द्रियादिकों के द्वारा विषयो को भोगने वाला; महेश्वर अर्थात् व्यष्टि-भाव से शरीर का और समष्टि-भाव से सारे विश्व का स्वामी एवं शासक—इस शरीर में रहने वाला, पुरुष (प्रकृति से) परे और परमात्मा भी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस शरीर में जो चेतन पुरुष अर्थात् व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा रहता है, वह जड़ प्रकृति से परे है; क्योकि प्रकृति निरन्तर बदलती रहती है, इसलिए वह असत् है, परन्तु पुरुष सदा एक-सा बना रहने के कारण सत् है, इसलिए उसे पर-पुरुष कहते हैं। वह पर-पुरुष व्यष्टि-भाव से शरीर के अन्दर रहता हुआ, शरीर की पृथक्-पृथक् चेष्टाओ का ज्ञान अर्थात् अनुभव रखता हुआ, तथा सब चेष्टाएँ करवाता हुआ और सब प्रकार के भोग भोगता हुआ, एवं इन्द्रियो पर शासन करता हुआ भी वास्तव में समष्टि-आत्मा=परमात्मा-स्वरूप ही है, अर्थात् प्रत्येक देह में स्थित पुरुष अथवा जीवात्मा, और सबके आत्मा=परमात्मा में कोई भेद नहीं है—वस्तुत वे एक ही हैं (२२)। जो इस तरह पुरुष को और गुणो सहित प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ अर्थात् जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार प्रकृति और पुरुष के संबंध का, और जीवात्मा-परमात्मा की यानी सबकी एकता का यथार्थ ज्ञान रखता हुआ सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता है, वह पूर्ण रूप से मुक्त होता है, और उसको विवशतापूर्वक आवागमन के चक्कर में आना नहीं पड़ता (२३)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणः ॥२५॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

अर्थ—कई लोग ध्यान से अर्थात् राज-योग के द्वारा, दूसरे साख्य-योग से अर्थात् तत्त्व-विचार के द्वारा, और दूसरे लोग कर्म-योग से अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए करने द्वारा, आत्मा को आप ही अपने में देखते हैं अर्थात् अनुभव करते है। परन्तु दूसरे लोग, जो इस प्रकार से (अपने-आप ही में) आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते, वे औरो से सुन कर उपासना करते हैं; वे श्रुति परायण लोग, अर्थात् सबकी एकता के आत्मज्ञान के उपदेशो को श्रद्धापूर्वक सुनने वाले लोग भी अवश्य ही मृत्यु को जीत लेते है। तात्पर्य यह कि सबकी एकता का आत्मानुभव प्राप्त करने के मार्ग, भिन्न-भिन्न

व्यक्तियो की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न है। कई लोग पातंजल राज-योग के अवलम्बन से ध्यान में स्थित होकर अपने-आप ही में आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करते है; कई लोग सूक्ष्म विचार से सत्यासत्य का अन्वेषण करके तत्त्वज्ञान द्वारा सबके एकत्व-भाव= आत्मा का अनुभव प्राप्त करते है; और कई लोग सबके साथ प्रेम रखते हुए अपने-अपने शरीरो की योग्यता के सांसारिक-व्यवहार निःस्वार्थभाव से लोक-संग्रह के लिए करने द्वारा सबकी एकता के आत्मानुभव में स्थित हो जाते है; परन्तु जिनकी उपर्युक्त प्रकार से आत्मानुभव प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती, वे लोग आत्मानुभवी महापुरुषो के वचनो में श्रद्धा-विश्वास करके, बारहवें अध्याय में किये हुए विधान के अनुसार सबके आत्मा-परमात्मा की उपासना करने द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते है (२४-२५)। हे भरत-श्रेष्ठ! जो कुछ स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होते है, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से होते है, ऐसा जान। तात्पर्य यह कि स्थावर-जंगम अथवा जड़-चेतन-रूप जगत् के जितने बनाव बनते है, वे सब क्षेत्र अर्थात् प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष के संयोग से बनते है (२६)। **जो सब नाशवान् भूतों में यानी जगत् में, (सदा एक समान रहने वाले) सम (Same) अविनाशी परमेश्वर अर्थात् आत्मा को स्थित देखता है, वही देखता है।** तात्पर्य यह कि जिसको जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तनशील और विषम बनावो में एक ही अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव है, दूसरे शब्दो में जो इस नानाभावापन्न जगत् को एक, सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के परिवर्तन-शील मायिक भावो का बनाव समझता है, वही सच्चा ज्ञानी है (२७)।

सम अर्थात् एक समान स्थित, ईश्वर अर्थात् आत्मा को सर्वत्र (उसी) समभाव ही में देखने वाला (पुरुष) अपने-आप (आत्मा) की हत्या नहीं करता, (और) इससे (वह) परम गति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जो एक (One) और सम (Same) आत्मा अथवा परमात्मा की सबमें एक समान स्थिति होने के निश्चयपूर्वक सर्वत्र एकता (Oneness) और समता (Sameness) का अनुभव रखता है, वह समदर्शी महापुरुष अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमात्म-भाव में स्थित होता है; परन्तु जो इसके विपरीत भिन्नता और विपमता के भावो को सच्चा मान कर एक, अखण्ड, निर्विकार एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा को अनेक विभागो वाला, तथा विकारवान् एवं विपम भावो वाला मानता है, वह सबमें रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप अपने वास्तविक आपका तिरस्कार करने की आत्म-

हत्या करके अधोगति को प्राप्त होता है (२८)। कर्म सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए होते हैं, और आत्मा अकर्ता है; जो इस प्रकार देखता है वही देखता है। तात्पर्य यह कि आत्मा के एक एवं सम होने के कारण उसमें कार्य-कारण का कोई भेद नहीं होता—ये भेद सब प्रकृति के कल्पित बनाव मात्र हैं; इसलिए कर्मों का कर्तापन अर्थात् कार्य-कारण-भाव प्रकृति तक ही रहता है, आत्मा सदा अकर्ता ही रहता है; जो इस रहस्य को ठीक-ठीक जान लेता है, वही यथार्थदर्शी अर्थात् सच्चा ज्ञानी होता है (२९)। जब भूतों के पृथक्ता के भावों को एकत्व-भाव में स्थिर देखता है, और उस एकत्व-भाव ही से (जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता का) विस्तार देखता है, तब ब्रह्म-स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य को जगत् की कल्पित पृथक्ता के भावों में सच्ची एकता, और उस सच्ची एकता ही से कल्पित पृथक्ता के भावों का फैलाव होने का निश्चय हो जाता है, दूसरे शब्दों में "अनेकों में एक और एक से अनेक" होने का जब यथार्थ अनुभव हो जाता है, तभी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है (३०)। हे कौन्तेय ! अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण, यह अव्यय अर्थात् निर्विकार परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी, न (कुछ) करता है और न लिपायमान होता है (३१)। जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सबमें रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता, उसी तरह देह में आत्मा (सूक्ष्म-रूप से) सर्वत्र रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता (३२)। हे भारत ! जिस तरह एक सूर्य इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक) क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र (शरीर एवं जगत्) को प्रकाशित करता है (३३)। श्लोक ३१ से ३३ तक का तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक ही आत्मा अनेक रूपो में व्यक्त होता है, और उस एक ही आत्मा से अखिल विश्व का फैलाव होता है, परन्तु उस आत्मा का कोई आदि अथवा कारण नहीं है; और वह आत्मा सब-कुछ है, इसलिए गुण और गुणी का भेद न होने के कारण वह निर्गुण और निर्विकार है; और नाना शरीरो के रूप धारण करता हुआ भी कार्य-कारण का भेद न होने के कारण वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता; और उससे पृथक् कुछ भी न होने के कारण वह किसी से लिपायमान अथवा बन्धायमान नहीं होता, किन्तु आकाश की तरह सदा निर्लिप्त रहता है; और सूर्य की तरह सारे ब्रह्माण्ड को अपने सच्चिदानन्द-भाव से प्रकाशित करता है (३१ से ३३)। जो इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को, और भूतों के समुदाय-रूप जगत् के कारण—प्रकृति की असत्यता-रूप मोक्ष को, ज्ञान-रूपी चक्षु से याथातथ्य जान लेते हैं, वे परमात्मा को पाते है। तात्पर्य

यह कि जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा अथवा प्रकृति और पुरुष के ऊपर कहे अनुसार कल्पित भेद और वास्तविक अभेद के रहस्य को तत्त्वतः जान लेते हैं, वे प्रकृति और उसके सब विस्तार को अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक अतः मिथ्या बनाव मात्र समझते हैं; और मिथ्या बनाव में प्रतीत होने वाले बन्धन भी मिथ्या ही होते हैं, इसलिए जिनको यह निश्चित ज्ञान हो जाता है, वे अपने को सदा मुक्त ही अनुभव करते हैं; अतः वे परमपद=परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं (३४)।

स्पष्टीकरण—यह बात पहले कह आये हैं कि गीता किसी भी दार्शनिक मत का तिरस्कार नहीं करती, किन्तु जिस मत की जहाँ तक पहुँच होती है, उसको वहाँ तक स्वीकार करती हुई उसमें जो त्रुटि होती है, उसे पूरा कर देती है। जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और जगत्, अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के विषय के तात्त्विक विवेचन में सांख्य-दर्शन—वेदान्त-दर्शन के सिवाय—अन्य सब दर्शनो से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसने भिन्नता के सब भावों का एकीकरण करके जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष, इन दो मूल तत्त्वो में सबका समावेश कर दिया। परन्तु इससे आगे बढ़कर इन दो तत्त्वो का एकीकरण उसने नहीं किया। इस कमी को वेदान्त-दर्शन ने पूरी की, अर्थात् उसने जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का समावेश, सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया।

सांख्य-दर्शन जड़ प्रकृति को सत्त्व, रज और तम भेद से तीन गुणों की जननी, तथा नाना प्रकार के विचारों एवं कार्य-कारण भाव का प्रसार करने वाली मानता है; और पुरुष को चेतन, निर्गुण, निर्विकार, कार्य-कारण भावों से रहित और साथ ही प्रकृति के गुणों का भोक्ता मानता है; क्योंकि प्रकृति जड़ है, इस कारण उसमें स्वयं भोक्तापन बन नहीं सकता। सांख्य के मतानुसार पुरुष स्वयं निर्गुण और निर्विकार होता हुआ भी प्रकृति के गुणो का संग करके उनमें उलझ कर अपने को सुखी-दुखी मानता है, तथा जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसी के अनुसार ऊँची-नीची योनियों के शरीर धारण करता है। यहाँ तक सांख्य-दर्शन का मत वेदान्त-दर्शन को भी ग्राह्य है। परन्तु सांख्य-दर्शन का यह भी सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष दोनों वस्तुतः अलग-अलग, स्वतन्त्र, दोनों एक समान सत्, और दोनो स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं; तथा जड़ प्रकृति में चेतन पुरुष की समीपता से क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे वह क्रियाशील होकर अपने गुणो के द्वारा जगत् का पसारा करती है, और उन पसारे से पुरुष को मोहित करके फँसाती है; परन्तु पुरुष जब प्रकृति के इस जाल से अलग होकर अपना छुटकारा कर लेता है, तब कैवल्य-पद-रूप मोक्ष पा लेता है। सांख्य का यह द्वैत-सिद्धान्त वेदान्त को मान्य नहीं है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म, अपनी इच्छा अथवा

कल्पना से एक तरफ निरन्तर बदलती रहने वाली जड़ प्रकृति-रूप होकर, उसके द्वारा जगत् के नाना प्रकार के मायिक बनाव करता हैं, और दूसरी तरफ अपने सत्-चित्-भाव से पुरुष अर्थात् जीव-रूप होकर उस मायिक बनाव को धारण करता है तथा उसे चेतना युक्त करता है। जड़ प्रकृति परिवर्तनशील, उपजने-मिटने तथा घटने-बढ़ने आदि विकारों वाली होने के कारण मिथ्या अर्थात् असत् है, और चेतन पुरुष अथवा जीवात्मा, परमात्मा का सत्-चित्-भाव है, इसलिए वह सदा एक समान बना रहने वाला नित्य एव निर्विकार सत् है। व्यष्टि-भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा जब तक अपने समष्टि भाव की कल्पना रूप प्रकृति के मायिक बनाव को सच्चा मान कर उसमें तादात्म्य-संबंध रखता है, अर्थात् अपने को प्रकृति के गुणो से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर मानता हैं, तब तक अपने को सुखी-दुखी आदि विकारों युक्त मानता है, तथा गुणो के संबंध के अनुसार नाना योनियो के शरीर धारण करता है, परन्तु जब उक्त प्रकृति को अपनी ही कल्पना का खेल समझ कर अपने को उस खेल का आधार, उसको सत्ता देने वाला तथा उसे चेतना युक्त करने वाला अनुभव कर लेता है, तब उसे कोई सुख-दुःख नहीं होता, न उसके लिए विवशता से किसी योनि में शरीर धारण करना ही शेष रहता है। वह अपने यथार्थ-स्वरूप का अनुभव करके सबकी एकता-स्वरूप परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। अपने यथार्थ स्वरूप के अनुभव के लिए उसको किसी से अलग होने या किसी को छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, क्योकि छोड़ने के लिए उससे वस्तुतः भिन्न दूसरा कुछ होता ही नहीं।

अस्तु, इस विषय में सांख्य का मत जहाँ तक अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है, उसे ग्रहण करके उसमें जो त्रुटि है, उसे अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्तानुसार पूरा करते हुए भगवान् इन दोनो सर्वोच्च दर्शनो का इस प्रकार सामंजस्य करते है कि सबका अपना-आप एक, नित्य एवं सत्य आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा कल्पना-शक्ति से दो भावो में व्यक्त होता है :—एक सत्-चित्त-आनन्द भाव—जिसको सातवें अध्याय में जीव-भाव वाली परा प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्रज्ञ, साख्य की परि-भाषा में पुरुष और आगे पन्द्रहवें अध्याय में अक्षर कहा है; और दूसरा असत्-जड विकार-वान् भाव—जिसको सातवें अध्याय में अपरा प्रकृति, इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्र, सांख्य की परिभाषा में प्रकृति और आगे पन्द्रहवें अध्याय में क्षर कहा है; ये दोनो भाव अनादि है, अर्थात् इनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक समय में उत्पन्न हुए। कारण यह है कि अनादि आत्मा की इच्छा का यह खेल, काल में सीमाबद्ध नहीं हो सकता, क्योकि काल स्वयं उसकी (अपरा) प्रकृति से उत्पन्न होता है। परमात्मा की परा-प्रकृति-रूप पुरुष की सत्ता से (अपरा) प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्त्व, रज और तम भेद से तीनों गुणो की कमी-बेशी के तारतम्य-रूप गुण-वैचित्र्य से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते है; और प्रकृति के उक्त गुण-वैचित्र्य ही से कार्य-कारण-भाव, अर्थात् अमुक कारण से

अमुक कार्य हुआ—यह भाव होता है; तथा उसी से जगत् के अनन्त प्रकार के भेद एवं विकार उत्पन्न होते हैं। परा प्रकृति-रूप चेतन पुरुष, अपरा जड़ प्रकृति के गुणो का संग करके, अर्थात् उसके साथ तद्रूप होकर, अपने को गुणो से युक्त मान कर, नाना प्रकार के शरीर धारण करके उक्त गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न नाना प्रकार के भोग भोगता है। सत्त्वगुण में विशेष आसक्त होकर वह सात्विक शरीर धारण करता है, रजोगुण में विशेष आसक्त होकर राजस शरीर और तमोगुण में विशेष आसक्त होकर तामस शरीर धारण करता है; तथा अपने-आपको सुखी-दुखी, विकारवान् एवं बन्धनयुक्त अनुभव करता है। प्रकृति में जो कुछ क्रियाएँ होती है, वे चेतन पुरुष की सत्ता से होती है, क्योकि चेतन के बिना जड़ प्रकृति अकेली कुछ भी नहीं कर सकती। अतः जगत् का सारा बनाव प्रकृति और पुरुष के संयोग से बनता है। क्षेत्रज्ञ-रूप पुरुष, क्षेत्र-रूप सब शरीरो में रहता हुआ, बुद्धि-रूप से शरीरो का ज्ञाता अथवा द्रष्टा होता है; अपनी चेतनता से शरीर के अगो को चेतना युक्त रखता है; अपनी एकता से भिन्न-भिन्न अंगो को एकता के सूत्र में पिरोये हुए रखता है; मन-रूप से सब इन्द्रियो को अपने-अपने विषय भोगने की शक्ति से युक्त करता है; और स्वामी-भाव से सबको प्रेरणा देता है और सब पर शासन करता है। जिस प्रकार बिजली के प्रवाह (Current) से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं—लैम्पो से रोशनी होती है, पंखो से हवा चलती है, मोटरो से अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते है, इत्यादि; यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न औजारो अथवा उपकरणो द्वारा होते है, परन्तु उन सबमें शक्ति बिजली के प्रवाह (Current) की होती है; उसी तरह चेतन पुरुष की सत्ता से जड़ प्रकृति के बनावो द्वारा जगत् के सब कार्य होते है। सब शरीरो में रहने वाला वह चेतन पुरुष सबका अपना-आप वस्तुतः परमात्मा ही है, और वह एक ही अनेक रूपों में विस्तृत होता है, तथा वह सदा सबमें और सर्वत्र, एक समान रहता है। किसी बड़े शरीर में वह बड़ा नहीं होता और छोटे शरीर में वह छोटा नहीं होता; उच्च कोटि के शरीर में वह उच्च नहीं होता और हीन कोटि के शरीर में हीन नहीं होता; पवित्र शरीर में वह पवित्र नहीं होता और मलिन में मलिन नहीं होता; शरीरो के विकारो से उसमें कोई विकार नहीं होता; शरीरों के सुखी-दुखी होने से वह सुखी-दुखी नहीं होता; शरीरो की उत्पत्ति से वह उत्पन्न नहीं होता और शरीरो के नाश से वह नष्ट नहीं होता; तथा शरीरो के घटने-बढने से उसमें कोई घटा-बढी नहीं होती—वह सदा सम और निर्विकार रहता है। वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहारो को सूर्य की तरह समान रूप से प्रकाशित करता है, यानी जगत् की प्रतीति उसी से होती है; और जगत् के अनन्त प्रकार के बनावो के बनते एव बिगड़ते रहने पर भी वह आकाश की तरह अलिप्त और एक-सा—सम बना रहता है।

सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा की एकता, नित्यता, सत्यता एवं पूर्ण समता का इस प्रकार का अनुभव, कई लोगो को ध्यान-योग अर्थात् पातंजल राज-

योग के अभ्यास द्वारा चित्त को एकाग्र करने से होता है; कई लोगो को बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार करने से होता है; और कई लोगो को निस्स्वार्थ-भाव से लोक-सेवा के कर्म करने से होता है। इस तरह अपनी-अपनी योग्यता के अभ्यास करने से अन्त.करण की द्वैत-भाव-रूपी मलिनता दूर हो जाने पर अपने-आप में सबकी एकता एवं समता का अनुभव शेष रह जाता है। इन तीन साधनो से आत्मानुभव प्राप्त करने की जिनकी योग्यता नहीं होती, वे श्रद्धापूर्वक सबके आत्मा=परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता एव समता के उपदेशादि सुन कर परमात्मा की उपासना द्वारा आत्मा-परमात्मा तथा अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

जिनको ऊपर कहे अनुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा प्रकृति-पुरुष, जगत्-जगदीश्वर और जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होकर सबकी एकता के साम्य-भाव का अनुभव हो जाता है, अर्थात् जिनको यह निश्चय हो जाता है कि जगत् में पृथ-कता और विषमता के जितने भाव हैं, वे सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा की कल्पना-रूप प्रकृति के मायिक बनाव मात्र हैं, अतः वे असत् हैं; और उन नाना असत् मायिक बनावो में जो एक, सत् एवं सम भाव है, वह सबका आधार, सबका प्रेरक एवं सबका स्वामी है और वह सबका अपना-आप=आत्मा है—वे समत्वयोगी ससार के सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमसहित साम्य-भाव से स्वतन्त्रता-पूर्वक करते हुए सब प्रकार की उन्नति करते हैं, और वे ही अपने-आपके उद्धारकर्ता अर्थात् स्वयं परब्रह्म-परमात्म-स्वरूप होते हैं (ईशोपनिषद् मं० १-२ और ६-७); और जो लोग इसके विपरीत अपने-आपको दूसरो से पृथक्, एक तुच्छ एवं दीन-हीन जीव अथवा व्यक्ति मानते हैं, और पृथक्ता के विपरीत ज्ञान-युक्त दूसरो के साथ राग-द्वेष, घृणा-तिरस्कार आदि विषमता के आचरण करते हैं, वे किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते, किन्तु सदा अज्ञान-अन्धकार में पडे हुए उत्तरोत्तर अपना पतन करते हैं, अतः वे आत्म-हत्यारे होते हैं (ईशोपनिषद् मं० ३), और नाना प्रकार के क्लेशो से परिपूर्ण दीनता के भावो के दलदल में फँसे रहते हैं। मनुष्य आप ही अपना उद्धार करने वाला और आप ही अपना पतन करने वाला है। अतः जिनको उक्त आत्म-घात से बच कर अपना उद्धार करना हो, उनको उक्त "एक में अनेक और अनेको में एक" के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करके, उसके आधार पर अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से करने-रूपी समत्व-योग में स्थित होना चाहिए।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

चौदहवाँ अध्याय

तेरहवें अध्याय में प्रकृति-पुरुष के वर्णन में भगवान् ने कहा था कि गुण, विकार और कार्य-कारण भावो की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, और पुरुष प्रकृति के गुणो के संग से सुख-दु.ख आदि भोगता है और ऊँच-नीच शरीर धारण करता है। अब इस चौदहवें अध्याय में पहले इस बात की पुष्टि करके कि प्रकृति और पुरुष मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) से भिन्न नहीं है, फिर प्रकृति के फैलाव और उसके गुणो के संग से पुरुष अपने को किस तरह सुखी-दुखी, बद्ध-मुक्त तथा उन्नत-अवनत मानता है, और किस तरह उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट शरीर धारण करता है, उसका विस्तारपूर्वक खुलासा करके, अन्त में गुणो की उलझन से ऊपर रहने वाले गुणातीत जीवनमुक्त समत्वयोगी की स्थिति का वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलयेन व्यथन्ति च ॥२॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवतिप्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि (सब) ज्ञानो में परम उत्तम ज्ञान फिर से कहता हूँ, जिसे जान कर सब मुनि लोग यहाँ से परम सिद्धि पा गये। तात्पर्य यह कि भगवान् कहते हैं कि इससे पहले के अध्यायो में जिस परम उत्तम ज्ञान का वर्णन किया था, उसका फिर से विस्तारपूर्वक खुलासा करता हूँ; इसी ज्ञान को प्राप्त करके विचारशील लोग मुक्त हुए हैं (१)। इस ज्ञान के अवलम्बन से मेरे साथ एकत्व-भाव को प्राप्त होकर (मनुष्य) ससार में न तो जन्मते हैं और न मरण की व्यथा से पीड़ित होते हैं। तात्पर्य यह कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य—परमात्म-स्वरूप हो जाता है, फिर उसे विवशतापूर्वक जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता (२)। हे भारत ! महद्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, जिसमें मैं गर्भ रखता हूँ, उससे सब भूतो की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि मैं अपने क्षेत्रज्ञ अथवा चेतन पुरुष भाव से क्षेत्र-रूप अपनी जड़ प्रकृति में चेतना अथवा स्फुरणा-रूप बीज डालता हूँ, जिससे, अर्थात् उस जड़-चेतन के सयोग से जगत् के नाना प्रकार के मायिक बनाव बनते हैं (३)। हे कौन्तेय ! सब योनियो में जो-जो नाना रूपो वाले बनाव अथवा शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी प्रकृति माता है और मैं बीज देने वाला पिता हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के जो अनन्त प्रकार के बनाव बनते हैं, उन सबको, मेरे सत्-चित्-भाव की सत्ता, चेतना एवं स्फुरणा-रूप बीज को धारण करके, मेरी जड़ प्रकृति प्रसव करती है (४)। हे महाबाहो ! प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम ये गुण देह में अविकारी देही अर्थात् जीवात्मा को बाँधते हैं। तात्पर्य यह कि प्रकृति

और पुरुष के उपर्युक्त संयोग से जो-जो बनाव बनते है, उनमें जो प्रकृति का जड़-भाव है, वह विकार वाला है, और जो पुरुष का चेतन-भाव है, वह वस्तुत. अविकारी है, परन्तु प्रकृति के सत्त्व, रज और तम भेद वाले तीन गुण, उस अविकारी चेतन पुरुष को नाना रूपो वाले शरीरो में उलझाते है (५)। हे अनघ ! उनमें से निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण प्रकाशवान् और सुख-रूप सत्त्वगुण, सुख के संग से तथा ज्ञान के संग से (जीवात्मा को) बांधता है। तात्पर्य यह कि उक्त तीनो गुणों में से सत्त्वगुण का स्वभाव निर्मल यानी दिव्य अथवा उज्ज्वल होने के कारण वह प्रकाश अथवा बोध एवं सुख का हेतु होता है; इसलिए वह चेतन जीवात्मा को ज्ञान और सुख में आसक्ति कराकर उलझाता है (६)। हे कौन्तेय ! तृष्णा और संग को उत्पन्न करने वाले रजोगुण को रागात्मक अर्थात् आकर्षण रूप जान; वह देहधारी जीवात्मा को कर्मों के संग से बाँधता है। तात्पर्य यह कि रजोगुण आकर्षण अथवा खिचाव-रूप राग-धर्मी है, अतः उससे सांसारिक पदार्थों और विषयो में प्रीति और उनकी प्राप्ति की तृष्णा उत्पन्न होती है, जिनके लिए प्राणी कर्म करने में उलझा रहता है (७)। और हे भारत ! सब देहधारियों को मोह में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान उत्पन्न करने वाला समझ, वह (जीवात्मा को) प्रमाद अर्थात् विवेकशून्यता अथवा मूढ़ता, आलस्य और नींद से बाँधता है। तात्पर्य यह कि तमोगुण अज्ञान-रूप होने के कारण मोह उत्पन्न करने वाला है, अतः वह प्राणियो को अविचार, भूल, मूढ़ता अथवा जड़ता, आलस्य और नींद में उलझाये रखता है (८)। हे भारत ! सत्त्वगुण सुख में जोड़ता है, रजोगुण कर्म में (प्रवृत्ति कराता है), और तमोगुण ज्ञान को ढांक कर प्रमाद अर्थात् मूढ़ता में जोडता है। तात्पर्य यह कि देहधारियो को सत्त्वगुण सुख का उपभोग कराने वाला, रजोगुण क्रियाशील रखने वाला और तमोगुण विचारशून्य एवं मूढ़ बनाये रखने वाला है (९)। हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्रधानता होती है; रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण की; एव तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह कि शरीर में जब कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब रजोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते है, जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए रहते है, और जब तमोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्त्वगुण और रजोगुण दबे हुए रहते है (१०)। इस देह के सब द्वारो में जब ज्ञान-रूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढा हुआ है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में सत्त्वगुण बढ़ा हुआ होता है तब बुद्धि, मन एवं ज्ञानेन्द्रियो को अपने-अपने विषयो का यथार्थ ज्ञान होता है (११)। हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ, कर्मों में प्रवृत्ति अर्थात् निरन्तर क्रियाशील रहना, आरम्भ अर्थात् नित-नये आडम्बर रचने के मनसूबे बाँधना, कर्म करने में सन्तोष न होना और विषयो तथा पदार्थों की चाह बनी रहना— ये रजोगुण की वृद्धि में होते हैं। तात्पर्य यह कि जब शरीर में रजोगुण बढा हुआ होता है,

तव सांसारिक विषयो और पदार्थों की प्राप्ति का लोभ उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है, निरन्तर कर्म करते रहने की प्रवृत्ति होती है, नित-नये अड़ंगे खड़े करने के संकल्प उठते रहते है, काम करने में कभी तृप्ति नहीं होती और चाहनाएँ लगातार एक दूसरे के बाद उत्पन्न होती रहती है (१२)। हे कुरुनन्दन! अप्रकाश अर्थात् अज्ञान, अकर्मण्यता, मूढ़ता और मोह—ये तमोगुण के वढ़ने से उत्पन्न होते है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में तमोगुण वढ़ा हुआ होता है, तव अन्त करण और इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आलस्य से निकम्मे रहने, विवेकशून्यता अर्थात् कुछ भी विचार न करने अथवा असावधानी और मोह की दशा रहती है (१३)। जव सत्त्वगुण वढा हुआ होता है, उस समय देहधारी (जीवात्मा) शरीर छोड़ता है तो उसे उत्तम विचारवानो के निर्मल लोक प्राप्त होते है। तात्पर्य यह कि जिस समय शरीर में सत्त्वगुण की प्रवलता होती है, उस समय जिसका शरीर छूटता है वह पुण्यात्मा ज्ञानी लोगो के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म लेता है (१४)। रजोगुण (की प्रवलता) में शरीर छोड़ने वाला कर्मों में आसक्त रहने वाले लोगो में जन्म लेता है; और तमोगुण (की प्रवलता) में शरीर छोडने वाला मूढ योनियो में जन्म लेता है। तात्पर्य यह कि जव शरीर में रजोगुण वढा हुआ होता है, उस समय शरीर छूटने पर, जो लोग रात-दिन कर्मो में लगे रहते है, उनके घर में दूसरा जन्म होता है; और जिस समय तमोगुण वढ़ा हुआ होता है, उस समय मरने से पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि ज्ञान-शून्य मूढ योनियो में जन्म होता है (१५)। सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्म का फल सात्त्विक, निर्मल (सुख-रूप) कहा गया है, और राजस कर्म का फल दु ख, (तथा) तामस कर्म का फल अज्ञान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जो लोग सात्त्विक कर्म करते है, वे सुखी होते है; राजस कर्म करने वालो को दु.ख होता है और तामस कर्म करने वाले अज्ञान में ही पड़े रहते है (१६)। सत्त्वगुण से ज्ञान होता है, रजोगुण से लोभ आदि होते है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते है (१७)। सत्त्वगुण-प्रधान लोग ऊपर को जाते है, रजोगुणी वीच में ठहरते है, (और) निकृष्ट गुण की वृत्ति वाले तामसी लोग नीचे को जाते है। तात्पर्य यह कि जिनमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है वे उन्नत होते है और तमोगुण की प्रधानतावालो का अध पतन होता है, तथा रजोगुण की प्रधानता वालो की स्थिति इन दोनों के वीच में रहती है (१८)। जव द्रष्टा पुरुष गुणो के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता, और (अपने-आप=आत्मा को) गुणो से परे जानता है, तव वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि विवेकी पुरुष जव यह अनुभव कर लेता है कि जगत् का सारा खेल तीन गुणो के परस्पर में वर्तने से ही होता है, और अपने-आप=आत्मा को गुणो से ऊपर, गुणों का द्रष्टा, उनका आधार एवं उनका स्वामी समझता है, तव वह परमात्म-स्वरूप हो जाता है (१९)। देह की उत्पत्ति कराने वाले इन तीन गुणों से अतीत होने पर देही अर्थात् पुरुष, जन्म,

मृत्यु और बुढापे (आदि) के दुःखो से मुक्त होकर, अमृत अर्थात् अक्षय-आनन्द को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि शरीरो की उत्पत्ति के कारण प्रकृति के तीन गुण ही है, अर्थात् तीन गुणो के परस्पर गुणन की विचित्रता से नाना प्रकार के शरीर होते है, अतः जो पुरुष इन तीन गुणो का अतिक्रमण कर जाता है, उस पर शरीर के जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोगादि से ग्रस्त होने के दुःखो का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता— वह इन दुःखो से अलिप्त एवं अविचलित रहता है, और वह परमानन्द-परमात्म-स्वरूप हो जाता है (२०)।

अर्जुन बोला कि हे प्रभो! इन तीन गुणो से अतीत पुरुष के क्या-क्या लक्षण होते है? उसके आचरण कैसे होते है? और वह इन तीन गुणो से परे कैसे रहता है? तात्पर्य यह कि भगवान् ने जब यह कहा कि सब कर्म प्रकृति के तीन गुणो से ही होते है, और शरीर के कारण भी उक्त तीन गुण ही है—गुणो के बिना कुछ भी नहीं होता; और जो पुरुष इन गुणो से परे होता है, वही मुक्त होता है; तब यह शंका अवश्य उठती है कि, जब कि गुणो के बिना न तो शरीर रहता है और न कुछ व्यवहार ही होते है, तो गुणातीत अर्थात् गुणो से रहित हो जाने वाले पुरुष का शरीर कैसे रहता है और वह आचरण किस तरह करता है? दूसरे शब्दो में शरीर के रहते मनुष्य गुणातीत अर्थात् गुणो से रहित कैसे हो सकता है? तथा उस गुणातीत पुरुष की पहचान कैसे हो? क्योकि पहचानने के लिए चिन्ह भी गुणों से ही होते है। अर्जुन के प्रश्न का यही आशय है, जिसके उत्तर में भगवान् इस विषय का आगे खुलासा करते है (२१)। श्री भगवान् बोले कि हे पाण्डव! प्रकाशरूप सत्त्वगुण, प्रवृत्तिरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण के प्राप्त होने पर जो उनसे द्वेष नहीं करता, और निवृत्त होने पर उनकी इच्छा नहीं रखता, उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों से विचलित नहीं होता; "गुण ही गुणों में बर्तते है" यह समझ कर जो अविचल रूप से स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख में सम अर्थात् एक समान अविचलित रहने वाला; अपने-आप में मस्त; मिट्टी, पत्थर, सोने तथा प्रिय और अप्रिय को समान जानने वाला, धैर्य से युक्त, और अपनी निन्दा-स्तुति में सम, मान-अपमान में सम तथा शत्रु-मित्र के विषय में एक समान रहने वाला; एवं सब आडम्बरो का परित्याग करने वाला है—वह गुणातीत कहलाता है। तात्पर्य यह कि अर्जुन की उपरोक्त शंका का समाधान करने के लिए भगवान् कहते है कि गुणातीत होने का अभिप्राय गुणो से सर्वथा अलग होकर निर्गुण होने का नहीं है, किन्तु गुणो से ऊपर उठ कर उनमें उलझे बिना, उनके स्वामी-भाव से उनको अपने

अधीन रखते हुए उनके द्वारा जगत् के व्यवहार करने का है। जो इस प्रकार गुणों से परे अथवा गुणातीत होता है, वह न तो किसी गुण से और न किसी गुण के कार्य अथवा विस्तार से द्वेष करता है, और न उसके निवृत्त होने पर उसे उस की इच्छा रहती है, क्योंकि वह गुणों और उनके विस्तार को अपनी ही कल्पना का खेल समझता है, इसलिए उसे उनसे कोई बाधा नहीं होती; अतः वह तीनों गुणों में यथायोग्य बर्तता हुआ भी निःशंक एवं अविचलित रहता है। गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न होने वाले जितने भी द्वन्द्व-भाव—सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, उत्कृष्ट-निकृष्ट, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र आदि होते हैं, उनके विषय में उसका अन्तःकरण सम* बना रहता है। किसी भी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता में उसका धैर्य नहीं टूटता; क्योंकि उसको यह अनुभव रहता है कि यह सब गुणो की विचित्रता के खेल के सिवाय और कुछ नहीं है। इस गुण-वैचित्र्य के दिखावटी आडम्बरो में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती (२२-२५)। और जो अनन्य-भाव के भक्ति-योग से मेरी उपासना करता है, वह इन गुणो से अतीत होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है; क्योंकि अविनाशी एवं अविकारी ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का और ऐकान्तिक सुख का आश्रय मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व-भाव की उपासना करने से मनुष्य स्वय परमात्मा-स्वरूप हो जाता है, फिर उसके लिए गुणो का कोई विकार शेष नहीं रहता; क्योंकि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा=परमात्मा सब प्रकार के विकारो से रहित ब्रह्म है; वही सबका आधार होने के कारण सबको धारण करने वाला धर्म है; और वही सदा आनन्द-रूप होने के कारण दुःखरहित पराकाष्ठा का सुख है। इन सबकी सिद्धि सबके अपने-आप=आत्मा से होती है (२६-२७)।

स्पष्टीकरण—तीन गुणो के पृथक्-पृथक् स्वभाव तथा उनके पृथक्-पृथक् कार्यों का वर्णन करने के पहले, भगवान् यह स्पष्ट कर देते है कि "मैं" सबका आत्मा ही अपनी इच्छा अथवा कल्पना से जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष-रूप होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना-रूप खेल करता हूँ। "मैं" सबका आत्मा अपने पुरुष-रूप पिता-भाव से प्रकृति-रूप माता-भाव में सृष्टि-रचना का स्फुरण-रूप बीज डाल कर जगत् का प्रसव करता हूँ, अर्थात् मेरे सत्-चित्-भाव-रूप पुरुष की सत्ता पाकर मेरी जड प्रकृति सत्त्व, रज और तम भेद से तीन गुणो को प्रसव करती है, जिनके परस्पर के गुणन से अनन्त प्रकार के जगत् के

---

*द्वन्द्वो में सम रहन का खुलासा छठे अध्याय के श्लोक ७ से ९ तक तथा बारहवें अध्याय में "समता" के स्पष्टीकरण में देखिए।

बनाव बनते है, और पुरुष इन तीन गुणो के परस्पर के गुणन से उत्पन्न होने वाले बनावों में उलझ कर अपने को सुखी-दुखी आदि विकारो से युक्त मानता है। यद्यपि पुरुष मेरा सत्-चित्-भाव होने के कारण उसकी सत्ता ही से सब बनाव बनते है, इसलिए वस्तुतः वह इन गुणों का स्वामी होता है, परन्तु वह अपने स्वामी-भाव को भूल कर प्रकृति के गुणो के इन बनावो में ही तादात्म्य कर लेता है, अर्थात् अपने-आपको तीन गुणो का कोई विशेष बनाव यानी शरीर ही मान लेता है, अतः शरीर के साथ लगी हुई नाना प्रकार की उपाधियो के कारण अपने को सुखी, दुखी, छोटा, बडा, धनी, गरीब, ऊँचा, नीचा आदि अनेक प्रकार के विकारों वाला तथा भाँति-भाँति के बन्धनो से बँधा हुआ अनुभव करता है। जिस तरह कोई राजा स्वप्न में अपने को एक अत्यन्त ही निर्बल, निर्धन, विपदग्रस्त एवं भिखारी अनुभव करके दुखी होता है; उसी तरह पुरुष, अपने ही संकल्प से अपने को सुखी, दुखी आदि विकारो युक्त मान कर व्याकुल होता है। सत्त्वगुण प्रकाश अथवा ज्ञान-रूप है, अतः प्रत्येक वस्तु एव विषय के ज्ञान, प्रकाश अथवा बोध होने का कारण सत्त्वगुण ही है—चाहे वह ज्ञान इन्द्रियो द्वारा हो अथवा अन्त.करण द्वारा; और वह ज्ञान ही सुख का जनक होता है, इसलिए सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख होता है, और वह पुरुष को ज्ञान और सुख में उलझाता है। रजोगुण आकर्षण, क्रिया अथवा हलचल-रूप है, इसलिए सब भूत-प्राणियो एवं जगत् के पदार्थों का पारस्परिक खिचाव अथवा प्रीति, तथा हलचल अर्थात् क्रियाशीलता रजोगुण से ही होती है; अतः रजोगुण पुरुष को जगत् के बनावो की प्रीति में और नाना प्रकार की क्रियाओ में उलझाता है। तमोगुण जडता, स्थिरता एवं अन्धकाररूप है, इसलिए उससे आलस्य, मूढता, मोह, भूल, नींद, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता एवं विचार-शून्यता आदि होती है, अतः तमोगुण पुरुष को उपरोक्त मूढ़ता, आलस्य आदि में उलझाता है। यद्यपि पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण, इन तीनो में से किसी भी गुण का अभाव किसी भी दशा में नहीं होता—तीनो ही निरन्तर बने रहते है, परन्तु उनकी कमी-बेशी बनी रहती है; कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की। जब एक गुण की प्रधानता होती है, तब दूसरे गुण उससे दबे हुए रहते है। जब शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब सब इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो का यथार्थ ज्ञान होता है, अन्त करण में दूसरो के साथ एकता का प्रेम-भाव होता है, बुद्धि में विवेक होता है, मन में शुभ सकल्प उठते है, चित्त में अच्छे संस्कारो की स्मृति होती है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब अन्त करण में दूसरो से पृथक्ता-जन्य राग-द्वेष के भावो की प्रबलता, कर्मों में प्रवृत्ति, पदार्थों के संग्रह का लोभ, तृष्णा और असंतोष उत्पन्न होते रहते है। और तमोगुण की प्रधानता में मूढता, आलस्य, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता, निद्रा आदि दबाते रहते है। सत्त्वगुण की प्रधानता में यदि शरीर छूटता है तो दूसरा जन्म

पुण्यवान् उन्नत विचारो वाले ज्ञानी पुरुषो के समाज में होता है। रजोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर निरन्तर क्रियाशील रहने वाले अथवा कर्मो में आसक्ति रखने वाले लोगो के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म होता है; और तमोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर जड़ पदार्थो के रूप में स्थिति होती है, अथवा पशु-पक्षी आदि विवेक-शून्य योनियो में जन्म होता है। सात्त्विक कर्मो (गी० अ० १८ श्लो० २३) से सुख, राजस कर्मो (गी० अ० १८ श्लो० २४) से दुःख और तामस कर्मो (गी० अ० १८ श्लो० २५) से जडता अथवा मूर्खता उत्पन्न होती है। साराश यह कि सत्त्वगुण ऊँचा उठाने वाला है, अतः वह सब प्रकार की उन्नति का कारण है; तथा तमोगुण नीचे गिरानेवाला है,अतः वह अधोगति का कारण है; और रजोगुण दोनो के बीच में रहता है, अतः वह सत्त्वगुण की समीपता से उन्नति में सहायक होता है, और तमोगुण की समीपता से अधोगति में सहायक होता है।

जो पुरुष इस प्रकार गुणो की विचित्रता के रहस्य को समझ कर, इस गुण-वैचित्र्य को ही जगत् की भिन्नता के अनन्त प्रकार के बनावो का कारण जानता है, तथा अपने-आपको इन गुणो से परे एव इनका आधार अनुभव करता है, वह इन तीन गुणो की उलझन से रहित एवं शारीरिक विकारों एव बन्धनो से मुक्त होकर परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

परन्तु गुणो से परे होने अथवा उनसे ऊपर उठने या उनसे मुक्त होने का यह तात्पर्य नहीं है कि तीन गुणो से सर्वथा रहित होकर पूर्ण निर्गुण होने से ही मनुष्य मुक्त होता है; क्योकि शरीर और जगत् तीन गुणों के गुणन से ही होते है, अत शरीर और जगत् के रहते तीन गुणो से सर्वथा रहित होना बन नहीं सकता; और जब तक शरीर है, तब तक ही गुण-वैचित्र्य के रहस्य को समझने और अपने-आपको उससे परे अनुभव करने की योग्यता होती है। इस विषय का अच्छी तरह स्पष्टीकरण करने के लिए अर्जुन की शका के उत्तर में भगवान् कहते है कि, गुणो से परे अथवा गुणातीत होने का यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य गुणो से सर्वथा रहित होकर शरीर ही छोड़ दे। वास्तव में गुणातीत पुरुष वह है, जो तीनो गुणों को अपना कल्पित खेल समझ कर गुणो के स्वामीभाव से उनका यथायोग्य उपयोग करता हुआ भी उनमें नहीं उलझता, तथा उनका उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पडता। सत्त्वगुण के द्वारा वह ज्ञान और सुख का स्वयं अनुभव करता है तथा दूसरों को कराता है; रजोगुण के द्वारा वह नाना प्रकार के लोक-सग्रह के व्यवहार करता है; और तमोगुण के द्वारा वह विश्राम और नींद भी लेता है; परन्तु सब कुछ करता हुआ भी वह निर्विकार और अविचल रहता है; इसलिए उसे किसी भी गुण से द्वेष करने या उससे निवृत्त होने की इच्छा ही नहीं होती, किन्तु सबका समावेश उसके अपने-आपमें ही हो जाता है। गुणों से उत्पन्न सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता

आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वो को अपनी कल्पना समझ कर वह इनमें एक समान अविचलित रहता है। दूसरो से पृथक् उसका व्यक्तित्व नहीं रहता, इसलिए अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसे किसी भी गुण का आश्रय करके किसी प्रकार के आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु सर्वत्र अपने-आपका अनुभव करते हुए वह अपने-आपमें स्थित एवं मस्त रहता है।

उपर्युक्त गुणातीत अवस्था, सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य-भाव से उपासना करने से सहज ही प्राप्त होती है; क्योकि मनुष्य जैसी उपासना करता है वैसा ही हो जाता है; अतः बारहवें अध्याय में विधान की हुई उपासना के अवलम्बन से, जब सारे भेद मिट कर सर्वत्र एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, तब गुणो की पृथक्ता का समावेश "मै" रूप से सबमें रहने वाले, सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा में हो जाता है। वह सबका अपना-आप सबका आत्मा=परमात्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, अत. वह सदा एक-सा बना रहता है; और वह सबका आधार है, अर्थात् सबकी सिद्धि अपने-आपसे होती है—अपने-आपके बिना किसी की सिद्धि नहीं होती। इसलिए सबकी एकता एवं सबके आधार, परमात्मा-स्वरूप अपने-आप=आत्मा के यथार्थ अनुभव की ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर फिर गुणो का कोई बन्धन नहीं रहता।

॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

अखिल विश्व की एकता के आत्मज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् ने तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति-पुरुष के विवेचन के रूप में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का ज्ञान-विज्ञान कहा, और फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष अथवा जड़-चेतन, सबका समावेश सबके अपने-आप, एक एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया; और चौदहवें अध्याय में अपने जड और चेतन-भाव के संयोग से उत्पन्न तीन गुणो के विस्तार का वर्णन करके, तीन गुणो से ऊपर सबके एकत्व-भाव ब्रह्म-स्वरूप अपने-आप में स्थित होने वाले गुणातीत पुरुष के लक्षण कहे। अब इस पन्द्रहवें अध्याय में जगत् की भिन्नता के कल्पित अथवा मायिक बनावो की असत्यता को कल्पित अश्वत्थ वृक्ष की उपमा द्वारा समझा कर उसमें ममत्व की आसक्ति से रहित होने, और सबके एकत्व-भाव, सत्य एवं नित्य आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति करने का उपदेश देते हैं; और साथ ही जीव-भाव और परमात्म-भाव की अलग-अलग व्याख्या करके, फिर दोनो की पूर्ण एकता सिद्ध करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि ऊपर जड़ (और) नीचे शाखा वाले (संसार-वृक्ष) को अश्वत्थ (और) अव्यय कहते है; (और) वेदो के मन्त्र जिस (संसार-वृक्ष) के पत्ते है, उसको जो (इस प्रकार) जानता है, वह वेद का जानने वाला है। तात्पर्य यह कि संसार की उत्पत्ति सबके आत्मा=परमात्मा के संकल्प से होती है, और आत्मा अथवा परमात्मा सबके (परे) ऊपर है, इसलिए उस संसार-वृक्ष का मूल ऊपर को और उसकी शाखाओ का फैलाव नीचे को कहा गया है; और उसके रूप निरन्तर बदलते रहते है, इसलिए उसे अश्वत्थ कहते है; तथा एकत्व-भाव में वह सदा बना ही रहता है, अर्थात् उसका प्रवाह कभी टूटता नहीं, इसलिए उसको अव्यय भी कहते है। कर्मकाण्डात्मक वेदादि-शास्त्रो में संसार के अनेक प्रकार के सुहावने वर्णन करके उसे बहुत ही शोभायमान बना रखा है, इसलिए वे उस संसार-वृक्ष के पत्ते कहे गये है, क्योंकि वृक्ष की शोभा पत्तो ही से होती है; जो इस प्रकार उस संसार-वृक्ष के रहस्य को जानता है वही सच्चा ज्ञानी है (१)। उस (संसार-वृक्ष) की शाखाएँ (सत्त्वादि) गुणो से बढती हुई ऊपर और नीचे को फैल रही है; जिनमें (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-रूपी) विषयो के अंकुर निकल रहे है; और (उसकी) जड़ें नीचे को भी गहरी चली गई है, (वे) मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धनो से बाँधने वाली है। तात्पर्य यह कि सात्त्विक, राजस और तामस भेद से ऊँची-नीची योनियो अथवा ऊँचे-नीचे के लोको के रूप में उस संसार-वृक्ष की शाखाएँ सब ओर फैली हुई है, और वे ऊँची-नीची योनियाँ अथवा ऊँचे और नीचे के लोक-रूपी शाखाएँ तीन गुणो के गुणन से पुष्ट हो रही है; और पाँच विषयो के संयोग से नये-नये शरीर-रूपी अकुर निकाल कर बढ रही है; तथा नाना प्रकर की वासना-रूपी उस संसार-वृक्ष की जड़ें नीचे की तरफ भी मजबूती के साथ जम रही है, जिन (वासनाओ) के कारण मनुष्य कर्मों के बन्धनो से बँधे रहते है (२)। यहाँ न तो इसके रूप का, न इसके अन्त का, न इसकी आदि का और न इसकी स्थिति का ही कुछ पता लगता है; अत्यन्त मजबूती से जमी हुई जडो वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को दृढ असग शस्त्र से काट कर, फिर उस पद की खोज करना चाहिए, जिसमें गये हुए फिर नहीं लौटते; और (ऐसी भावना करनी चाहिए कि) जिस आदि पुरुष से (इस संसार-वृक्ष की) सदा से प्रवृत्ति चली आ रही है, उस ही को मै प्राप्त हो रहा हूँ। तात्पर्य यह कि संसार-रूपी वृक्ष के नाना भाँति के कल्पित बनाव निरन्तर बदलते रहते है—एक क्षण के लिए भी एक-से नहीं रहते, तथा जिसकी जैसी कल्पना होती है, उसको वे उसी तरह प्रतीत होते है, इसलिए लौकिक ज्ञान के साधनो अर्थात् मन और इन्द्रियो द्वारा इसके यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग सकता; और यह भी नहीं जाना जा सकता कि इसका आरम्भ कब, किस प्रकार, किसके द्वारा और क्यो हुआ ? तथा इसका अन्त कब, किस प्रकार और किससे होगा ? और यह किसके आधार पर कैसे स्थित है ? क्योकि ये सब प्रश्न देश, काल, वस्तु और क्रिया

को लेकर होते हैं, और देश, काल, वस्तु एवं क्रिया भी कल्पित जगत् के अन्तर्गत ही हैं, इसलिए न तो ये प्रश्न ही ठीक बन सकते हैं और न इनका ठीक-ठीक उत्तर ही हो सकता है। यद्यपि यह कल्पित संसार-वृक्ष इस प्रकार अद्भुत रहस्यमय है, तथा इसके बनाव सर्वथा अस्थिर होने के कारण असत्य हैं; परन्तु जिस आत्मा अथवा परमात्मा के संकल्प के आधार पर यह अवलम्बित है, वह इसका मूल सत्य है, इसलिए इसका मूलोच्छेद नहीं हो सकता; इस कल्पित प्रपंच की उलझन से छूटने का एक मात्र यही उपाय है कि इसको सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक खेल समझ कर, मनुष्य इसके नाना प्रकार के बनावों में आसक्ति न रखे; और जिससे इस खेल का पसारा हुआ है, उस सबके आत्मा=परमात्मा का अनुभव प्राप्त करे, अर्थात् यह अनुभव करे कि यह संसार सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का खेल-मात्र है, अपने-आपसे भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; ऐसा करने से फिर इस संसार-प्रपंच की कोई उलझन शेष नहीं रहती (३-४)। जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने संग-दोष को जीत लिया है, जो निरन्तर अध्यात्म-विचार में लगे रहते हैं, जिनकी कामनाएँ सर्वथा निवृत्त हो गई हैं, और सुख-दुःख संज्ञा वाले द्वन्द्वों से जो मुक्त हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय पद को पहुँचते हैं। तात्पर्य यह कि जगत् के कल्पित बनाव से आसक्ति हटाकर आत्म-स्वरूप में वे ही पुरुष स्थित हो सकते हैं, जो अध्यात्म-विचार से युक्त होकर शरीर के संग से उत्पन्न होने वाले मान और मोह के विकारों तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पा लेते हैं तथा जिनको किसी प्रकार की कामनाएँ नहीं रहतीं (५)। उस पद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता, वह मेरा परम धाम है। तात्पर्य यह कि जगत् की कल्पित भिन्नताओं का सच्चा एकत्व-भाव, सबका अपना-आप=आत्मा अथवा परमात्मा स्वतः प्रकाश-स्वरूप है; वह सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु उसके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं; अथवा वह सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा आँखों* से देखा नहीं जा सकता, मन* से उसकी कल्पना नहीं हो सकती और वाणी* से उसका वर्णन नहीं हो सकता—यह केवल अपने अनुभव का विषय है। वह अपने-आपका यथार्थ अनुभव ही परम धाम है, जिसकी प्राप्ति होने पर फिर जगत् की भिन्नताओं के बनावों की उलझन नहीं होती (६)।

स्पष्टीकरण—सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा कल्पना के मायिक बनाव-रूप इस संसार का रहस्य भगवान् कल्पितवृक्ष का

* आँख, मन और वाणी के अधिदेव अर्थात् समष्टि-भाव क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि हैं, इसलिए यह अर्थ भी बन सकता है।

रूपक बाँध कर समझाते हैं। लौकिक (इन्द्रियगोचर) वृक्ष का बीज अथवा मूल नीचे होता है, और उसका धड़ तथा शाखाएँ ऊपर को होती हैं, परन्तु इस कल्पित अथवा मायिक संसार वृक्ष का मूल ऊपर, और धड़ तथा शाखाएँ नीचे की तरफ कही गई हैं; जिसका भावार्थ यह है कि ससार का मूल कारण सबके आत्मा=परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना है, और आत्मा=परमात्मा सबसे परे सबसे उच्च है, इसलिए संसार-रूपी वृक्ष का मूल ऊपर को कहा है; परमात्मा से ऊँचा कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है सो सब उससे नीचे ही होता है; इसलिए इस कल्पित वृक्ष का फैलाव नीचे की ओर कहा है। यदि इस कल्पित वृक्ष के रूपक को शरीर पर घटाया जाय तो प्रत्येक शरीर का आरम्भ चेतना-शक्ति के केन्द्र—सिर से होता है, और उसका पोषण भी सिर में स्थित मुख आदि ऊपर की इन्द्रियो द्वारा ही होता है ; दूसरे सारे अंग प्रत्यंग उसके नीचे होते हैं; इसलिए मस्तक ही इसका मूल स्थान है दूसरा सारा फैलाव नीचे कहा है। शरीर अथवा पिण्ड, ब्रह्माण्ड के एक छोटे-से मान का नमूना है, इसलिए जो व्यवस्था पिण्ड की है, वही ब्रह्माण्ड की है। संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है—वर्तमान क्षण से पीछे क्या होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ रखा गया है; और इस कल्पित संसार के नाना भाँति के बनावो का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है, कभी बंद नहीं होता, इसलिए एकत्व-भाव में इस वृक्ष को अव्यय अर्थात् अखूट कहा है। वृक्ष के पत्ते होते है, जिनसे वह सुशोभित होता है, और पत्तो से ही वह सुरक्षित रहता है; अतः इस संसार-वृक्ष के कर्मकाण्डात्मक वेदादि-शास्त्र पत्ते हैं, जो कि इसके विषय के नाना प्रकार के चित्ताकर्षक साहित्य से इसे शोभायमान बनाते हैं (गी० अ० २ श्लो० ४२) तथा इसमें जीवो को मोहित रख कर इसकी रक्षा करते हैं। जगत् में ऊँची-नीची नाना प्रकार की योनियाँ होती हैं, तथा स्वर्गादि लोक ऊपर की तरफ और पाताल आदि लोक नीचे की तरफ फैले हुए माने गए हैं; वे ही इस कल्पित संसार वृक्ष की, ऊपर और नीचे फैली हुई डालियाँ कही गई है। जिस प्रकार जल के सींचने से वृक्ष पुष्ट होता है, उसी प्रकार तीन गुणो के विस्तार से सींचा जाकर यह संसार पुष्ट होता है। जिस प्रकार वृक्ष के नये-नये अंकुर निकलने से वह बढता है, उसी प्रकार भूत-प्राणियो के नाना प्रकार के विषय-भोगो से शरीर उत्पन्न होते रहते है, जिनसे इस संसार की वृद्धि होती है। जिस तरह वृक्ष अपनी शाखाएँ नीचे की तरफ पसारता है और उनसे पृथ्वी में दूसरी जड़ें जमाकर मजबूत होता है, उसी तरह कल्पित संसार की जड़ें मनुष्यो की नाना प्रकार की वासनाओ से तथा उन वासनाओ युक्त कर्म करते रहने से अधोगति की तरफ दृढता से गहरी जमी हुई हैं। आत्मा से भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण आत्म-ज्ञान के विना केवल लौकिक ज्ञान से इसका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जाता—इसके जिस रूप की लौकिक दृष्टि से जाँच की जाय, वही कल्पित अत· मिथ्या सिद्ध होता है;

इसलिए इसका कोई आदि, अन्त और मध्य भी नहीं जाना जा सकता। इस संसार वृक्ष को इस प्रकार कल्पित समझ कर इसके नाना प्रकार के भिन्नता के बनावो से प्रीति हटाकर, तथा अध्यात्म-विचार से व्यक्तित्व के अहंकार और ममत्व की आसक्ति तथा सांसारिक पदार्थों एवं विषयो की कामना से रहित होकर, जिसके संकल्प अथवा इच्छा से यह पसारा हुआ है, उस सबकी एकता-स्वरूप सबके आत्मा=परमात्मा के अनुभव-रूप परमपद में स्थित होना चाहिए। वह परमपद अपने-आपका अनुभव-रूप होने के कारण स्वतः प्रकाशित है—उसको प्रकाशित करने अथवा अनुभव कराने वाला दूसरा कोई नहीं है; और वह आँखो मे देखने का, मन से कल्पना करने का तथा वाणी से कहने का विषय नहीं है। उस स्वप्रकाश अपने-आपके यथार्थ अनुभव-रूप परमपद में स्थित होने पर फिर इस जगत् के नाना प्रकार के कल्पित बनावो का बन्धन नहीं रहता।

\+ \+ \+

अब भगवान् इस कल्पित जगत् के मोह में उलझने वाले जीवात्मा के तथा परमात्मा के अलग-अलग भावों का और दोनो की एकता का निरूपण करके फिर जीव जगत् और ईश्वर—सबका समावेश अर्थात् सबकी एकता, सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम में करके आत्मज्ञान के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
यदादित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। १४ ।।
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।। १५ ।।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। १६ ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। १७ ।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। १८ ।।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।। १९ ।।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।। २० ।।

अर्थ—मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव-भाव होकर, प्रकृति में रहने वाली, मन को आदि लेकर छः इन्द्रियों को खीच लेता है। ईश्वर, अर्थात् प्रकृति का स्वामी व्यष्टि-भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जिस शरीर को धारण करता है और जिसको छोड़ कर निकलता है, (उस समय) जिस तरह वायु गन्ध वाले पदार्थो से गन्ध को ले जाता है, उसी तरह (यह) इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन में रहकर इनके द्वारा विषयो को भोगता है। तात्पर्य यह कि सबका अपना आप, सवका आत्मा—परमात्मा एक से अनेक होने की इच्छा करता है तव अपने एक अश में व्यष्टि भाव से जीव रूप होकर अपनी अपरा प्रकृति में रहने वाले मन और पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियो के मनोमय लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर से युक्त होता है। फिर जव स्थूल शरीर धारण करता है तव उस मनोमय सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर रूप होकर, उसके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध मानकर, स्थूल शरीर के विकारो का अनुभव करता है; तथा जब स्थूल शरीर से रहित होने की इच्छा करता है तब उस मनोमय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य संबध विच्छेद कर लेता है। यहाँ जो "शरीर छोड कर जाता है" कहा है; इसका अभिप्राय किसी एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान में जाने का नहीं है किन्तु मनोमय सूक्ष्म

शरीर का स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध छोड़ने का है। आत्मा तो देश, काल, वस्तु आदि परिच्छेद से रहित सदा सर्वदा सर्वत्र एक समान विद्यमान रहता है, इसलिए उसमें कहीं आने-जाने का प्रश्न नहीं उठता; और मन किसी स्थूल देश विशेष या काल विशेष या वस्तु विशेष में सीमावद्ध नहीं रहता किन्तु देश, काल और वस्तु सब मन के सकल्प में होते है। इसलिए मनोमय सूक्ष्म शरीर का किसी स्थूल (भौतिक) काल में, किसी स्थूल भौतिक देश में आना-जाना नहीं होता किन्तु उसके संकल्प में ही आना-जाना प्रतीत होता है। जिस तरह स्वप्न अवस्था में अथवा कभी-कभी जाग्रत अवस्था में भी वहुत थोडे समय में ही मन का अनेक स्थानों में आना-जाना प्रतीत होता है परन्तु वहाँ न तो स्थूल काल है और न स्थूल देश, केवल सकल्प के ही देश और काल का अनुभव होता है, उसी तरह शरीर छोड़ कर जाने की मानसिक प्रतीति होती है। वास्तव में शरीर में रहने और छोड़ने का अभिप्राय मनोमय सूक्ष्म शरीर भाव का स्थूल शरीर भाव के साथ तादात्म्य करने और छोड़ने का है। यहाँ जो हवा का गंध को ले जाने का स्थूल दृष्टान्त दिया गया है वह सूक्ष्म विषय को स्थूल रूपक देकर समझाने मात्र के लिए दिया गया है (७-९)। शरीर से निकलते हुए अथवा शरीर में रहते हुए अथवा भोग भोगते हुए अथवा गुणो से युक्त हुए को भी मूर्ख लोग नहीं देखते, (केवल) ज्ञान-रूपी नेत्र वाले ही देखते है। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी लोगो को शरीर छोड़ते हुए, शरीर में रहते हुए, तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त होकर विषयो को भोगते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप—आत्मा का ज्ञान रहता है, अर्थात् वे अनुभव करते है कि "मै मन, इन्द्रियो एवं शरीर का स्वामी, अज, अविनाशी एवं अविकारी आत्मा हूँ, और मन आदि के सूक्ष्म शरीर को लेकर स्थूल शरीर धारण करता हूँ और छोड़ता हूँ, तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता हूँ"; परन्तु अज्ञानी लोगो को इस प्रकार आत्मा का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु वे अपने आपको स्थूल शरीर का पुतला ही समझ कर शरीर के साथ अपना जन्मना और शरीर के साथ ही मरना, तथा शरीर के विकारो से विकारवान् होना एव अपने को परवशता ने इनमें बँधा हुआ मानते है (१०)। यत्न करने वाले समत्वयोगी लोग इस (आत्मा अथवा परमात्मा) को अपने आपमें स्थित देखते है, परन्तु (भौतिकता में आसक्त) मलिन अन्त करण वाले मूर्ख लोग प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं देखते। तात्पर्य यह कि जो लोग सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से सबके साथ एकत्व-भाव का आचरण करते है, वे अपने-आपको मन, इन्द्रियो एवं शरीर आदि का स्वामी अथवा ईश्वर अनुभव करते है; परन्तु जिनकी बुद्धि पृथक्ता के मिथ्या ज्ञान से मलिन होती है, वे अज्ञानी लोग भेद-भाव से विषमता के आचरण करते हुए, चाहे कितना ही प्रयत्न करें, परन्तु उनको उपर्युक्त आत्मानुभव नहीं हो सकता (११)। सूर्य में रहने वाला जो तेज अखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा में है, और

जो तेज अग्नि में है, वह तेज मेरा ही समझ (१२)। मैं पृथ्वी में व्याप्त होकर अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ, रस-रूप सोम होकर सब वनस्पतियो का पोषण करता हूँ (१३)। मै प्राणियो के शरीरो में रहता हुआ वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि होकर प्राण-अपान वायु से युक्त हुआ चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ (१४)। और मैं सबके हृदय में रहता हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा उनका अभाव होता है; और सब वेदो द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ; एवं वेदान्त का कर्ता और वेदो के जानने वाला भी मै ही हूँ (१५)। श्लोक १२वें से १५वें तक का तात्पर्य यह है कि ७वें से ११वें श्लोक तक व्यष्टि-जीव-भाव का स्वरूप कह कर इन श्लोको में भगवान् अपने समष्टि—ईश्वर अथवा परमात्म-भाव का वर्णन करते है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप मे जो भी कुछ संसार है, वह "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले समष्टि आत्मा=परमात्मा का ही बनाव है; "मैं" ही तेज-रूप होकर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि द्वारा सारे विश्व को प्रकाशित करता हूँ, "मैं" ही पृथ्वी-रूप होकर स्थावर-जंगम सब भूतो को धारण करता हूँ; "मैं" ही रस-रूप होकर सब खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करता और बढाता हूँ; और "मै" ही सब प्राणियों के शरीरो में जठराग्नि-रूप होकर, पृथ्वी से उत्पन्न, जल से उत्पन्न, तेज से उत्पन्न तथा वायु से उत्पन्न, अथवा खाने, पीने, चूसने एवं चाटने योग्य—चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ। दूसरे शब्दो में "मै" ही खाद्य पदार्थ हूँ और "मैं" ही खाने वाला हूँ। सब प्राणियो के हृदय में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ "मै" ही करवाता हूँ; प्रतिक्षण परिवर्तनशील, अनित्य एव जड़ शरीरो के अन्दर भी "मैं" सत्-चेतन आत्मा सदा एक समान रहता हूँ, इसलिए पहले के अनुभवो की स्मृति अर्थात् याददाश्त का कारण "मैं" ही हूँ; और "मैं" सत्-चेतन आत्मा ही वर्तमान के अनुभवो के ज्ञान का कारण हूँ; एवं भूल तथा अज्ञान का कारण भी "मैं" सत्-चेतन आत्मा ही हूँ, क्योकि भूल और अज्ञान भी अचेतन में नहीं हो सकते। वेदादि सब शास्त्रो के अवलंबन से जिस अन्तिम लक्ष्य अर्थात् सत्य वस्तु को जानना चाहिए, वह "मै" ही हूँ, अर्थात् शास्त्रो में जो भी कुछ वर्णन है वह सब "मेरा" ही है। वेदान्त अर्थात् जिसमें जानने का अन्त अथवा ज्ञान की परिसमाप्ति होती है, वह सबका अपना-आप "मै" ही हूँ; और वेद का जानने वाला अर्थात् ज्ञाता भी "मैं" ही हूँ (१२ से १५)। इस जगत् में क्षर अर्थात् निरन्तर बदलने वाला नाशवान्, और अक्षर अर्थात् सदा एक-सा रहने वाला अविनाशी—ये दो पुरुष अर्थात् शक्तियाँ हैं; सब भूत, क्षर (नाशवान्) और कूटस्थ अर्थात् उन सब भूतो का आधार, अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है। परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है; वह परमात्मा कहा जाता है, जो सदा एक-सा रहने वाला ईश्वर, तीनो लोको में व्याप्त होकर सबको धारण करता है। तात्पर्य यह कि यह जगत् परमात्मा की जड़ (अपरा) और चेतन (परा) प्रकृति का खेल है। इसमें जो अपरा प्रकृति का अनन्त भेदो वाला भौतिक बनाव है, वह प्रतिक्षण परिवर्तन-

शील एवं नाशवान है; और इस भौतिक बनाव के अन्दर रहने वाला इसका आधार परा प्रकृति-रूप सत्-चेतन जीव-भाव है वह अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी है। ये दोनों प्रकृतियाँ सबके आत्मा=परमात्मा ही की दो शक्तियाँ हैं, इसलिए वह परमात्मा इनसे उत्तम कहा जाता है; और वह परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर सबको धारण करता हुआ भी निर्विकार रहता है (१६-१७)। क्योंकि "मैं" समष्टि आत्मा क्षर अर्थात् निरन्तर बदलने वाली अपरा प्रकृति-रूप जड़-भाव से परे, और अक्षर अर्थात् सदा एक समान रहने वाली परा प्रकृति-रूप चेतन अथवा व्यष्टि जीव-भाव से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोको और वेदो में "मैं" पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। तात्पर्य यह कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले सबके आत्मा=परमात्मा में क्षर और अक्षर, जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, दोनों का समावेश हो जाता है; क्षर-भाव वाली अपरा प्रकृति सबके आत्मा=परमात्मा का मायिक खेल मात्र है, इसलिए वह परमात्मा इस दिखाव से परे, इसका आधार कहा जाता है; और अक्षर अर्थात् जीव-भाव वाली परा प्रकृति वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु उसका व्यष्टि-भाव ही है, अतः उस (व्यष्टि) जीव-भाव अथवा पुरुष-भाव की अपेक्षा (समष्टि) परमात्म-भाव उत्तम कहा जाता है; इसलिए भगवान् कहते है कि सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मुझे लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम कहते है (१८)। जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सब-कुछ जानने वाला सब प्रकार से मुझे ही भजता है। तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार क्षर और अक्षर, जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष को, सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले पुरुषोत्तम-स्वरूप "मेरी" ही इच्छा अथवा संकल्प के दो भाव समझ कर, मुझ पुरुषोत्तम में सबकी एकता का अनुभव करता है, उसे सर्वत्र सबके अपने-आप, सबके आत्मा-स्वरूप "मेरा" ही अनुभव हो जाता है, इसलिए वह सब-कुछ जानने वाला सर्वज्ञ होता है (१९)। इस प्रकार हे अनघ! मैंने यह गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय शास्त्र कहा है; हे भारत! इसे समझ कर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य होता है। तात्पर्य यह कि सबकी एकता का प्रतिपादन करने वाला यह सत्य शास्त्र अत्यत ही गहन और सूक्ष्म है; इस सत्य शास्त्र के रहस्य को जो अच्छी तरह समझ लेता है, वह पूर्ण हो जाता है, और फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता (२०)।

स्पष्टीकरण—जीवात्मा और परमात्मा की एकता के विषय में पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में जीवात्मा का स्वरूप परमात्मा की तरह एक, अज, अविनाशी, नित्य, शाश्वत, सर्वव्यापक, अचल, सनातन, अनादि और अनन्त कहा। सातवें अध्याय में जीवात्मा को भगवान् ने अपनी परा प्रकृति कहा। तेरहवें अध्याय में अपने ही को क्षेत्रज्ञ कह कर फिर प्रकृति-पुरुष के वर्णन में गुण-विकार और कार्य-कारण-

भाव जड प्रकृति के धर्म बताये, और पुरुष अर्थात् जीवात्मा को प्रकृति के गुणो का भोक्ता एवं परम-पुरुष परमात्मा कहा (गी० अ० १३ श्लो० २२)। अब उसी विषय का फिर से खुलासा करते हुए भगवान् कहते है कि जीव मेरा ही अंश है; वह प्रकृति में स्थित मन और सूक्ष्म इन्द्रियो के लिंग शरीर से युक्त होकर स्थूल शरीर में रहता हुआ विषयो को भोगता है। यहाँ "मेरा अश" कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि जीवात्मा-परमात्मा से निकला हुआ—अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह—कोई टुकड़ा है। यहाँ अश से मतलब व्यष्टि-भाव से है, जो अपने समष्टि-भाव से वस्तुतः अलग नहीं होता। जिस तरह समुद्र में छोटी-बडी अनन्त लहरें होती है, वे समुद्र से भिन्न नहीं होतीं—लहरो से समुद्र के टुकड़े नहीं हो जाते, क्योकि लहरें वस्तुत' समुद्र ही है; अथवा जिस तरह वर्तनो और मकानो के अन्दर जो पोल-रूप आकाश होता है, वह बाहर के महा-आकाश से भिन्न नहीं होता—बर्तनो और मकानो में जो आकाश का अश आ जाता है, उससे आकाश के टुकडे नहीं हो जाते, किन्तु आकाश सब दशाओ में एक ही रहता है; अथवा जिस तरह राष्ट्र अथवा जाति का व्यक्ति उस राष्ट्र अथवा जाति का अंश होता है, परन्तु उस राष्ट्र अथवा जाति से भिन्न नहीं होता, प्रत्युत राष्ट्र अथवा जाति-रूप ही होता है; उसी तरह सबके आत्मा=परमात्मा में व्यष्टि जीव-भाव और समष्टि ईश्वर अथवा ब्रह्म-भाव होते हुए भी सब एक ही है, भिन्नता कुछ नहीं है। अजन्ता आदि गुफा-मन्दिरो में पर्वतों को काटकर जो बहुत-सी मूर्तियाँ बनाई गई है, वे पर्वत से पृथक् नहीं है, किन्तु पर्वत ही है, उसी तरह यह सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनन्त नामो और रूपो का बनाव है। सबका आत्मा=परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि-रूप होकर प्रकाश करता है; वही पृथ्वी-रूप होकर सब भूत-प्राणियो को धारण करता है; वही नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थ-रूप होता है; वही उनको खाता और पचाता है; वही शरीर-रूप होता है; वही शरीर के अन्दर निवास करता है; वही बुद्धि होकर विचार करता है; वही मन होकर मनन करता है; वही चित्त होकर चिन्तन करता है; वही अहकार होकर अहकार करता है; और वही इन सब भावो को अपने में लय कर लेता है; वही ज्ञाता अर्थात् जानने वाला है; वही ज्ञान अर्थात् जानने की क्रिया है; और वही ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु है; ज्ञान के जितने साधन है, उनसे यही रहस्य जानने योग्य है। जो सबकी एकता के निश्चय से समत्व-योग का आचरण करता है, उसको जीवात्मा=परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है; परन्तु जिनकी बुद्धि भेद-ज्ञान से दूषित रहती है, जिससे वे विषमता के आचरण करते है, उनको जीवात्मा-परमात्मा की उपरोक्त एकता का अनुभव नहीं हो सकता।

जिन जड़ और चेतन भावो से जगत् के अनन्त प्रकार के बनाव होते है, वे दोनो भाव सबके आत्मा=परमात्मा ही के है; उनमें नामो और रूपो वाला जड-भाव परि-

वर्तनशील एवं नाशवान् है; और चेतन-भाव सदा एक-सा बना रहने वाला है। जो मनुष्य व्यष्टि-भाव के अहंकार से ऊपर उठ कर उन दोनों भावों की एकता का अनुभव अपने-आपमें कर लेता है, अर्थात् नाम-रूपात्मक जड़-भाव को परिवर्तनशील एवं अनित्य दिखाव मात्र समझ कर उसमें मोहित नहीं होता; और चेतन-भाव को अपना अंश समझ कर अपने-आपमें उसका समावेश समझता है, उसकी पुरुषोत्तम संज्ञा होती है। अतः जो ज्ञानवान् पुरुष अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त के सत् शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर अपने-आपको इस प्रकार सबकी एकता-स्वरूप पुरुषोत्तम अनुभव करता है, उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता—यही पुरुषार्थ की परमावधि अथवा चरम सीमा है, और यही ज्ञान की पराकाष्ठा एवं अन्तिम गति है।

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सोलहवाँ अध्याय

सबकी एकता के ज्ञान-विज्ञान का निरूपण, सातवें अध्याय से आरम्भ करके, पहले भक्ति अथवा उपासना के विधान में श्रद्धा को प्रधानता देकर किया गया, और फिर तेरहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक दार्शनिक विवेचन करके उसकी समाप्ति की गई। उस निरूपण के बीच-बीच में उक्त ज्ञान-विज्ञान के आधार पर, अर्थात् सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से, संसार के व्यवहार करने का वर्णन भी प्रसगानुसार यथा-स्थान विविध प्रकार से किया गया है। अब भगवान् उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव-युक्त किये जाने वाले आचरणो का, तथा उसके विरुद्ध सबकी पृथक्ता के मिथ्या ज्ञान-युक्त विषमता के आचरणो का तुलनात्मक विवेचन आगे के तीन अध्यायो में करते है, ताकि लोग भेद-भावजन्य विषमता के आचरणो को छोडकर सबकी एकता के साम्य-भाव के आचरणो में प्रवृत्त हो; क्योकि जब तक सबकी एकता के ज्ञान का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, अर्थात् उक्त ज्ञान के अनुसार सबके साथ एकता के साम्य-भाव के आचरण करने में जब तक प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक उससे कोई लाभ नहीं होता। इस सोलहवें अध्याय से उस तुलनात्मक विवेचन का आरम्भ करते हैं; जिसमें, जिन लोगो के पूर्वजन्म में किये हुए समत्व-योग के अभ्यास के शुभ संस्कारो के कारण यहाँ दैवी प्रकृति के शरीर होते हैं, तथा जिनके पूर्वजन्म के अशुभ संस्कारो के कारण यहाँ आसुरी प्रकृति के शरीर होते हैं, उन दोनो के आचरणो का विवेचनात्मक वर्णन विस्तारपूर्वक करते हैं। यहाँ पर इस विषय का खुलासा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारो के अनुसार यहाँ जिस प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, वही प्रकृति जन्मभर वैसी ही बनी रहे, यह आवश्यक नहीं है। शिक्षा, संगति और पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी प्रकृति में बहुत-कुछ परिवर्तन कर सकता है। अच्छी शिक्षा, सत्संग और सत्पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी आसुरी प्रकृति को शनैः-शनैः बदल कर दैवी बना सकता है, और कुशिक्षा, कुसगति और विपरीत पुरुषार्थ से मनुष्य दैवी प्रकृति को बदल कर आसुरी बना सकता है। इसलिए अपनी उन्नति के इच्छुक व्यक्तियो को प्रयत्नपूर्वक सुशिक्षा एवं सत्सग प्राप्त करना, तथा शुभ पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए।

जिन लोगो की बुद्धि सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार को सहज ही ग्रहण नहीं कर सकती, उन साधारण लोगो के लिए भी आगे के तीन अध्याय अत्यन्त उपयोगी एव लाभ-दायक हैं; क्योकि इनमें सर्वसाधारण के रात-दिन के व्यवहारो की विस्तृत व्याख्या करके

यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार के व्यवहारों से मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है, और किस प्रकार के व्यवहारो से अपना पतन कर लेता है। इन तीन अध्यायो में दार्शनिक तत्त्वज्ञान के विचारों की इतनी गहराई नहीं है कि जिनके समझने में कठिनाई का सामना करना पड़े। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति—चाहे स्त्री हो या पुरुष—को चाहिए कि यदि पहले के अध्यायो के निरूपण हृदयंगम न हो सके तो इन अध्यायों में विशेष रूप से मन लगाकर इनका अध्ययन करे, और अवनति करने वाले आचरणो का त्याग कर उन्नति करने वाले व्यवहारो में लगे।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अर्थ—अभय अर्थात् निडर होना; सत्त्व-संशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण को राग, द्वेष, झूठ, कपट, ईर्षा आदि मलिनताओ से दूषित न रखना; ज्ञान-योग-व्यवस्थिति अर्थात् बुद्धि को सबकी एकता के ज्ञान*युक्त साम्य-भाव में स्थित रखना; दान अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक दान देने की प्रवृत्ति; दम† अर्थात् इन्द्रियो को अपने वश में रखना; यज्ञ अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक यज्ञ करना; स्वाध्याय* अर्थात् विद्याध्ययन करना; तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन के द्वारा सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार की प्रवृत्ति; आर्जव अर्थात् सरलता*; अहिंसा* अर्थात् शरीर, मन और वाणी से किसी को शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा न देना, और किसी की आजीविका में आघात न पहुँचाना; सत्य* अर्थात् सच बोलना तथा सचाई का व्यवहार करना; अक्रोध अर्थात् क्रोध† के वश में न होना ; त्याग अर्थात्

*दूसर अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विवरण का स्पष्टीकरण देखिए।

†बारहवे अध्याय में दम का स्पष्टीकरण देखिए।

आगे अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक त्याग†; शान्ति† अर्थात् मन की शीतलता; अपैशून्य* अर्थात् किसी की निन्दा अथवा चुगली न करना; प्राणियो पर दया† अर्थात् दुखी प्राणियो पर दया करना; अलोलुपत्व अर्थात् लोभ* न करना; मार्दव* अर्थात् मधुरता; ह्री अर्थात् बुरे कामों में लज्जा* रखना; अचपलता* अर्थात् निकम्मी चेष्टाएँ न करना; तेज* अर्थात् प्रभावशालीपन; क्षमा† अर्थात् दूसरो के अपराधो का बदला लेने का भाव न रखना; धृति अर्थात् धैर्य* अथवा अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विकी धृति; शौच† अर्थात् शरीर की शुद्धता; अद्रोह अर्थात् किसी से द्वेष† न करना; और अतिमानी न होना अर्थात् अपने बड़प्पन का अनुचित अभिमान† न करना—(ये लक्षण), हे भारत ! दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगो के होते है, अर्थात् दैवी प्रकृति के लोगो में ये गुण होते है (१-३)। दंभ* अर्थात् मन में कुछ हो और बाहर कुछ और ही दिखाकर लोगो को भुलावा अथवा धोखा देना, अथवा वास्तविकता के विरुद्ध आडम्बर करके लोगो पर अपना मिथ्या प्रभाव या रोब जमाना, अथवा भीतर कुछ भी न होते हुए भी ऊपर से थोथे दिखाव का ढोग करना; दर्प* अर्थात् अपने धन, मान, बल, यौवन, कुलीनता, पवित्रता, विद्वता आदि के घमण्ड में दूसरो को दबाना अथवा लोगो का तिरस्कार करना; अभिमान† अर्थात् अपने बड़प्पन, उच्चता, श्रेष्ठता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, धन, पद, प्रतिष्ठा, धार्मिकता आदि का अहंकार रखना; क्रोध† अर्थात् अपने मन के अनुकूल कोई बात न होने पर क्रोध के वश होकर आप तपना तथा दूसरो को तपाना; पारुष्य* अर्थात् सूखे लक्कड़ की तरह कठोर, रूखा एवं ऐंठा हुआ रहना; और अज्ञान अर्थात् सत्यासत्य के विवेक से रहित होना—(ये लक्षण), आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगो के होते है, अर्थात् आसुरी प्रकृति के लोगो में ये दुर्गुण होते है (४)। दैवी सम्पत्ति मोक्ष का कारण और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। हे पाण्डव ! तू तो दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है, (इसलिए) चिन्ता मत कर। तात्पर्य यह कि जो लोग दैवी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते है, अर्थात् उपर्युक्त दैवी सम्पत्ति के आचरण करते है, वे मुक्त अथवा स्वतन्त्र हो जाते हैं; और जो आसुरी सम्पत्ति के आचरण करते है, वे अनेक बन्धनो से बँधे हुए पराधीन रहते है; तू तो दैवी सम्पत्ति से युक्त है, इस कारण तेरे लिए कोई बन्धन नहीं है; तू चिन्ता मत कर (५)।

स्पष्टीकरण—दैवी और आसुरी प्रकृतियो के तुलनात्मक वर्णन का सूत्रपात नवें अध्याय के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोको में कर दिया गया था। वहाँ भगवान् ने कहा था कि दैवी प्रकृति के महात्मा लोग अनन्य-भाव से मेरा भजन करते है, अर्थात् मुझ परमात्मा को सारे विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता का

*आगे स्पष्टीकरण मे इन भावो का खुलासा देखिए।

†बारहवे अध्याय मे इन भावो का स्पष्टीकरण देखिए।

प्रेम करते हैं; और राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति के लोग अपने व्यक्तित्व के अहंकार में आसक्त होकर सबकी एकता-स्वरूप मेरा तिरस्कार करते हैं* । यहाँ पर उस विषय की विस्तृत व्याख्या की गई है । छठे अध्याय के ४१ वें श्लोक से ४४ वें श्लोक तक के वर्णनानुसार पूर्वजन्म में समत्व योग के अभ्यास में लगे रहने वाले लोगों को इस जन्म में सात्त्विकी प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, और साधारणतया उनके आचरण सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त होते हैं, जिससे उनके कर्मों के बन्धन कम होते जाते हैं, और उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अन्त में वे सब बन्धनों से मुक्त होकर परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं । एक तरफ सबकी एकता के ज्ञान के अभ्यास से सात्त्विक आचरण बनते हैं, और दूसरी तरफ इन सात्त्विक आचरणो से सबकी एकता का ज्ञान बढ़ता और दृढ़ होता है—इस प्रकार यह दोनो ही परस्पर में सहायक अथवा उपकारी-उपकार्य होते हैं । "अभय" से लेकर "नातिमानिता" तक दैवी प्रकृति के जो २६ गुण कहे हैं, उनके आचरण ज्ञान-योग की व्यवस्था से, अर्थात् सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से किये जायँ, तभी वे सात्त्विक अर्थात् सुखदायक होते हैं; परन्तु यदि ये ही आचरण पृथक्ता के राग-द्वेष आदि भावो से किये जायँ तो वे राजस-तामस अर्थात् दु खदायक एवं बन्धन के हेतु हो जाते हैं । इसी अभिप्राय को भगवान् ने प्रथम श्लोक में "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" के बाद "ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः" कह कर स्पष्ट कर दिया है । इस विषय का खुलासा बारहवें अध्याय के श्लोक १३ वें से २० वें तक के स्पष्टीकरण में कर आये हैं । जिन आचरणों का स्पष्टीकरण वहाँ नहीं हुआ है, उनका यहाँ किया जाता है ।

अभय

अपने कर्तव्य-कर्म करने में किसी प्रकार का इहलौकिक अथवा पारलौकिक, दृष्ट अथवा अदृष्ट भय न रखना; यदि अपने कर्तव्य पालन में शरीर के छूटने, अर्थात् मृत्यु हो जाने तक की भी आशंका हो तो भी नहीं डरना, क्योकि शरीर तो नाशवान् ही है और आत्मा अमर है, इसलिए वास्तव में डर का कोई कारण नहीं है; लोक-हित के कार्यो में और आत्मिक उन्नति के उद्योग में किसी से भी न डरना, तथा ऐसा करने में शरीर पर आपत्ति आने की संभावना हो तो भी न घबराना; तथा दूसरों को भी इस प्रकार के कामो में सहायता देकर और इस तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय का सच्चा स्वरूप है; और इस प्रकार निर्भय होना दैवी प्रकृति के पुरुषो का सबसे पहला लक्षण है । परन्तु राक्षसी-आसुरी आचरण करने में तथा दूसरो पर अत्याचार करने में निर्भय हो जाना, और दुष्ट-दुराचारियो को कुकर्म करने में निर्भय कर देना—यह अभय का दुरुपयोग है; दैवी प्रकृति के बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार अभय का विरुद्धाचरण नहीं करते ।

*नवे अध्याय मे उक्त श्लोको का स्पष्टीकरण देखिए ।

अभय का यह तात्पर्य नहीं है कि अनर्थ करने में किसी का डर न रख कर मनुष्य उद्दण्ड एवं ढीठ हो जाय, तथा दूसरो को भी अनर्थ करने में स्वच्छन्द कर दे। इसी तरह निर्भय होने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि निडर होने के घमण्ड में सबकी अवहेलना और तिरस्कार करके लड़ाइयाँ खरीदी जायँ, अथवा समुचित कारण के बिना अपने को खतरे (जोखम) में डाला जाय।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति

स्वयं अपने में तथा दूसरो में, अर्थात् संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में एक ही आत्मा-परमात्मा एक समान व्यापक है, जो अपने में है वही दूसरो में है, एक आत्मा अथवा परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह जगत्-प्रपंच उस एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूपो का बनाव है—यह निश्चय बुद्धि में निरन्तर रखना, और सबकी एकता के इस निश्चयपूर्वक अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार साम्य-भाव से करना तथा अपने वास्तविक आप=आत्मा अथवा परमात्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ अथवा विषय में ममत्व की आसक्ति न रखना और न उनसे सुख की प्राप्ति की ही आशा करना—यह सच्चा ज्ञान-योग है; दैवी प्रकृति के मनुष्य इस प्रकार के ज्ञान-योग में अवस्थित रहते है। परन्तु मुंह से तो आत्मज्ञान और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की बातें बनाना तथा शास्त्रार्थ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना, अर्थात् मुंह से अपने को "आत्मा" अथवा "ब्रह्म" कहना, और साथ ही शरीर तथा शरीर की नाना प्रकार की उपाधियो का अभिमान रखना, तथा शरीर से संबंध रखने वाले व्यक्तियो एवं पदार्थों में अत्यन्त आसक्त रहना; और दूसरो को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद-भाव के आचरण करके, तथा सांसारिक पदार्थों एवं विपयो में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थ और कुकर्म करना—यह ज्ञान-योग का दुरुपयोग एवं पाखण्ड है।

स्वाध्याय

ज्ञान की वृद्धि एव बुद्धि को सूक्ष्म करने के लिए, तथा लोक-सेवा के निमित्त अपनी योग्यता बढाने के लिए, एवं अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के लिए सत्-शास्त्रो तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन विद्याओ एवं भाषाओ का अध्ययन करना और लोक-हित के लिए उनका उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है; दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुप इस प्रकार स्वाध्याय में लगे रहते है। परन्तु केवल ग्रन्थो को रटकर कण्ठ कर लेना, अथवा अनेक ग्रन्थ पढते ही जाना, और वुद्धि से कुछ भी काम न लेना, अर्थात् वुद्धि को ग्रन्थो के गिरवी रख कर केवल शास्त्रो के कीड़े बन जाना, अपनी वुद्धि से उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके उनसे वास्तविक लाभ न उठाना; शास्त्रो की प्रक्रियाओ को याद करके वाद-

विवाद ही में लगे रहना; पढी हुई विद्याओ के वास्तविक अर्थ की तरफ विचार न करके उनके सूखे कलेवर का अध्ययन करते रहना, तथा बहुत शास्त्रो के ज्ञाता अर्थात् पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय का दुरुपयोग अथवा उसका विपर्यास है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात् सीधा रखना, अपनी तरफ से किसी के साथ छल, कपट, टेढेपन, ऐंठन, रुखाई अथवा कूट-नीति के भाव चित्त में न रखना, तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—यह सच्ची सरलता है; दैवी प्रकृति के महापुरुष इस प्रकार सरल स्वभाव के होते हैं। परन्तु मूर्खो, दंभियो, ठगो, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनसे प्रभावित हो जाना एवं उनके फंदे में फँस जाना, और उनके कुकर्मो को न पहचान कर उन पर विश्वास करके अपने कर्तव्य बिगाड़ देना—यह सरलता का दुरुपयोग एवं भोदूपन है।

अहिंसा

प्राणिमात्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप है, इस निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को विना कारण अपनी तरफ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना; अपने भोग-विलास अथवा विनोद के लिए, अथवा प्रमादवश किसी के शरीर की हत्या न करना, न करवाना; तथा किसी की आजीविका में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार अहिंसा-व्रत के व्रती होते हैं। परन्तु किसी को किसी बड़े कष्ट से बचाने के लिए थोड़ा कष्ट भी न देना; किसी बड़ी हिंसा को रोकने के लिए थोड़ी हिंसा न करना; किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिए दुष्ट को दण्ड न देना; यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरो पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक शक्ति न छीनना; उच्च कोटि के प्राणियों की रक्षा के लिए हीन कोटि के जीवो को न मारना; कोई किसी दुःखदायक प्राणी को लोक-हित के लिए दण्ड देता हो तो मिथ्या दया के वश होकर उसको सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—अथवा हिंसा के पाप के भय से अपने कर्तव्य-कर्मों की अवहेलना करना—यह अहिंसा का दुरुपयोग एव वस्तुतः हिंसा है।

अहिंसा-धर्म के विषय में केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण, कई भावुक लोगो में बड़ा भ्रम फैला हुआ है, और अहिंसा एवं दया के दुरुपयोग से बहुत-से अनर्थ हो रहे हैं। समाज की सुव्यवस्था के लिए, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार अपने कर्तव्य-कर्म करने में यदि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राणियो की हिंसा का संबंध आ जाय तो कर्तव्य-कर्म त्याग दिये जाते हैं; विषैले जन्तु और क्रूर जानवर मनुष्य-समाज तथा उपयोगी पशुओं की हानि करते रहे तो भी उन्हें मारना हिंसा समझी जाती है; डाकुओं, दुष्टो,

दुराचारियो, समाजद्रोहियो तथा खूनियों को प्राणदण्ड देकर उनको कुकर्म करने से रोकना तथा उनसे समाज की रक्षा करना, और चोरो, ठगो, पाखण्डियो एवं कुकर्मियो की आर्थिक शक्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिंसा-धर्म से विमुख होना माना जाता है; इसी तरह दुष्ट-दुराचारियो से भले मनुष्यो की तथा असहाय गरीबों की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिंसा-धर्म के विरुद्ध समझा जाता है—यह अहिंसा-धर्म का विपर्यास है।

यह जगत् सबके आत्मा=परमात्मा की त्रिगुणात्मक माया का खेल है, और इस मायिक खेल की सुव्यवस्था के लिए जिस शरीर की जैसी योग्यता हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। संसार में सभी प्राणी एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं, इसलिए हिंसा से सर्वथा रहित कोई भी नहीं हो सकता। अतः जिस हिंसा से जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था बनी रहे वह वास्तव में हिंसा नहीं होती; और जिस अहिंसा से जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था बिगड़ती हो वह वास्तव में अहिंसा नहीं होती। अस्तु, विना कसूर तथा बिना उचित कारण के किसी निरपराध प्राणी की हत्या करना, या उसको कष्ट देना, या उसकी वृत्ति छीनना अवश्य ही हिंसा है; परन्तु परिणाम के बड़े सुख या बड़े लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से एक बार थोडी देर के लिए किसी को कष्ट दिया जाय—जिस तरह फोड़ा मिटाने के लिए उसे काट देना, भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना, अजीर्ण के बीमार को भोजन न देना, इत्यादि; अथवा बड़ी हिंसा रोकने के लिए थोडी हिंसा करना, अथवा उच्च कोटि के जीवो की रक्षा के लिए हीन कोटि के जीवों को मारना—जिस तरह मनुष्यो के प्राण बचाने के लिए हिंसक एवं हानिकर जन्तुओ को मारना; भले आदमियो की प्राण-रक्षा के लिए किसी हत्यारे अथवा डाकू को मार देना—इस प्रकार की हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं होती, प्रत्युत वह अहिंसा ही होती है।

सत्य

सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना; किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी का अनिष्ट करने अथवा किसी को ठगने के उद्देश्य से, अथवा समुचित कारण के विना झूठ कभी न बोलना; सबके साथ सचाई का व्यवहार करना; झूठे व्यवहार से किसी को धोखा, भुलावा एव मानसिक कष्ट न देना—यह वास्तविक सत्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार सत्य का आचरण करते हैं। परन्तु जिन सत्य वचनो से दूसरो को विना कारण ही उद्वेग उत्पन्न होता हो, अथवा वाणी की कठोरता से दूसरो के चित्त पर आघात पहुँचता हो, अथवा जिन सत्य वचनो से लोगो का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहंकार और हठ से बोलना; तथा जिस सचाई के व्यवहार से झूठो, ठगो, दुष्टों, धूर्तों तथा अत्याचारियो को उनके दुष्ट आचरणो और अत्याचारो में प्रोत्साहन मिलता हो—यह सत्य नहीं किन्तु सत्य का विपर्यास—असत्य है।

जो सत्य हित का विरोधी हो वह वस्तुतः सत्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि हित की बात एवं हित का व्यवहार किसी समय सत्य या प्रिय न हो तो उससे किसी की हानि नहीं होती; परन्तु अहित की बात एवं अहित का व्यवहार यदि सत्य और प्रिय भी प्रतीत हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता। अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाणी और हितकर आचरण वास्तव में सत्य ही होते हैं। केवल मुख से उच्चारण कर देने मात्र से कोई बात सत्य या झूठ नहीं होती, किन्तु सत्यता या असत्यता, बोलने एवं व्यवहार करने वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निर्भर होती है।

अपैशून्य (दूसरों की निन्दा अथवा चुगली न करना)

किसी की मान-प्रतिष्ठा, धन अथवा साख (मातबरी) को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से, अथवा अन्य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उसकी पीठ पीछे निन्दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना—यह पैशून्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसा नहीं करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषों अथवा चालबाजियो अथवा छल, कपट, पाखण्ड आदि से दूसरो को हानि पहुँचती हो तो उस हानि से लोगो को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुँचती हो, उन्हें सावधान करना, तथा उन दोषो और चालबाजियो अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पैशून्य का सदुपयोग है; और दैवी प्रकृति के लोग, लोक-हित के लिए इसका यथावसर उपयोग करते है।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थो में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक येन-केन-प्रकारेण धनादि पदार्थो का संग्रह करने में ही लगे रहना, और संग्रह किये हुए पदार्थो को अपने तथा दूसरो के हित के लिए तथा आवश्यक कामो के निमित्त न लगाना—यह लोभ है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना; लोगो से प्रेम करने, सबका हित करने और अपने कर्तव्य-कर्म करने में सन्तोष न रखना; लोक-हित के कामो में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का संग्रह करना, तथा अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग है। इस प्रकार का लोभ दैवी प्रकृति के पुरुष भी करते है।

मृदुता

साधारणतया लोगो के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का बर्ताव करना, जिससे उनके अन्तःकरण में प्रसन्नता हो; मीठी बोली बोलना; बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुजरे, ऐसी चेष्टा न करना—यह मृदुता

का बर्ताव है; दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का बर्ताव किया करते हैं। परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एवं दुष्ट लोगो से उपर्युक्त मधुरता का बर्ताव करने से उनकी क्रूरता तथा दुष्टता बढ़ती है, अतः ऐसे लोगो के साथ दैवी प्रकृति के पुरुष मृदुता का बर्ताव नहीं करते।

लज्जा

अपने कर्तव्य के विरुद्ध, अनुचित और बुरे काम करने में ग्लानि रखना सच्ची लज्जा है; दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार की लज्जा से शोभित होते हैं। परन्तु अपने कर्तव्यो के पालन करने में, तथा लोक-हित के सात्त्विक व्यवहारो में मूर्ख लोगो की टीका से लज्जित होकर उनमें त्रुटि करना; अथवा अपने कर्तव्य-कर्मों को नीचे दर्जे का अथवा हीन कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उनकी उपेक्षा करना—यह लज्जा का दुरुपयोग एवं कर्तव्य-विमुखता है।

अचपलता

अपने कर्तव्य-कर्मों में मन न लगाकर दूसरी निरर्थक चेष्टाएँ करते रहना; किसी एक निश्चय पर स्थिर न रह कर क्षण-क्षण में बदलते रहना; और किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक स्थिति में थोड़ी देर के लिए भी न टिकना—यह चपलता है; दैवी प्रकृति के लोग इस तरह चपल नहीं होते। परन्तु अपने कर्तव्य-कर्म करने में फुर्ती और तत्परता रखना, आलस्य व प्रमाद न करना, और आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार उनमें फेरफार करते रहना—यह चपलता का सदुपयोग है। इस प्रकार की चपलता बुद्धिमान् कार्यकर्ताओ के लिए आवश्यक है।

तेज

किसी से दब कर अन्तःकरण के विरुद्ध कोई अनुचित काम न करना तथा अपने कर्तव्य को न छोड़ना; जो अपने मातहत हो, उनसे उनके कर्तव्य-कर्म समुचित रूप से करवाने, तथा अपनी सन्तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने संरक्षण में हो, उनको विपरीत आचरणो से रोकने के लिए उन पर उचित प्रभाव रखना—यह सच्चा तेज है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसे तेज से दीप्त रहते हैं। परन्तु अपने तेजस्वीपन के अभिमान में बिना कारण ही दूसरो पर रोब जमाना, तथा दूसरो को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज का दुरुपयोग एवं अत्याचार है।

धैर्य

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि अनुकूल-प्रतिकूल द्वन्द्वो, एवं शारीरिक कष्टो तथा आपत्तियो से व्याकुल होकर धीरज न छोड़ना, और अपने कर्तव्य-कर्मो में दृढ़ता और उत्साह के साथ आरूढ़ रहना—यह धैर्य है; दैवी

प्रकृति के सज्जन इस प्रकार धैर्यवान् होते हैं। परन्तु कष्ट और विपत्तियों को टालने की सामर्थ्य होते हुए भी उत्साहहीन होकर चुपचाप बैठे रहना; तथा जिस काम में सफलता तथा लाभ होने की कोई संभावना न दीखे, उसे भी करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में अनावश्यक विलम्ब करना—यह धैर्य नहीं, किन्तु प्रमाद है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस तरह प्रमादी नहीं होते।

× × ×

जो लोग पूर्वजन्म की बुरी वासनाओ को लेकर यहाँ जन्मते हैं, उनके शरीर आसुरी प्रकृति के होते हैं। उनमें साधारणतया व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ा हुआ और अत्यन्त दृढ होता है, जिसके कारण वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों ही में आसक्त रहते हैं। वे लोग दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए, दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता एवं क्रोध आदि से दूसरो को ठगते, दबाते और कष्ट देते रहते है। यद्यपि साधारणतया यह दम्भ, दर्प आदि के दुष्ट भाव आसुरी प्रकृति के लोगो में ही होते हैं, परन्तु कभी-कभी लोक-हित के निमित्त, ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगो को दबाने के लिए, इन्हीं भावों का उपयोग करना श्रेष्ठाचार होता है, और दैवी प्रकृति के लोगो को भी इनका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए इस विषय का भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

दम्भ

छल-कपट करके अथवा लोगो को ठगने के लिए मिथ्या बड़प्पन की वेष-भूषा का स्वाँग करके धोखा देना; मन में कुछ हो और ऊपर से कुछ और ही बताकर किसी को ठगना; जो गुण और योग्यता अपने में न हो, उनके होने की डींगें हाँक कर, तथा भीतर से रागी, मलिन, पापाचारी अथवा वस्तुतः धनहीन होते हुए भी ऊपर से त्यागी, पवित्र, धर्मात्मा अथवा धनवान् होने का ढोंग करके लोगों को भुलावा देना और अपना कलुषित स्वार्थ साधना—यह दम्भ है; और यह आसुरी प्रकृति के पुरुषो का प्रधान लक्षण है। ऐसे दम्भ अथवा पाखण्ड से दूसरों का तथा स्वयं दम्भ करने वाले का भी अनिष्ट होता है। परन्तु दुष्ट, दंभी, दुराचारी, आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोगो के अत्याचारो से जनता को बचाने के लिए, और विशेष करके छल-कपट करने वाले दंभियो और दुराचारियो से अपनी तथा अपने सरक्षण में आये हुओ की रक्षा करने के लिए उन दुष्टो से छल-कपट का व्यवहार करना, तथा दम्भ से उनको भुलावा देना आवश्यक एवं न्याय-संगत होता है। भगवान् ने स्वयं १०वें अध्याय में "द्यूतं छलयतामस्मि" कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि छल करने वालो को छल से ही जीतने के लिए सबसे बड़ा छल जुआ भी "मैं" परमेश्वर ही हूँ। इस प्रकार छल का उपयोग दैवी प्रकृति के सज्जन भी किया करते हैं; परन्तु यह छल जन साधारण को अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति को ठगने या हानि पहुँचाने की नीयत से

अथवा द्वेष-भाव से नहीं किया जाता; किन्तु लोगो के तथा स्वयं छल करने वालो के हित को लक्ष्य में रखते हुए जगत् की सुव्यवस्था के लिए किया जाता है। कभी-कभी मूर्खों और वालको को हानि से बचाने के लिए छल करना आवश्यक होता है—जैसे कि मूर्खों को कुमार्ग से बचाने तथा बुरी आदते छुड़ाने के लिए उनको लालच देकर भुलावा देना, तथा वालक को औषधि देने के लिए मिठाई दिखाना, आदि—यह छल का सदुपयोग एवं श्रेष्ठाचार है।

दर्प

अपनी जाति, कुल, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, धन, परिवार, सत्ता, ऐश्वर्य, वल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धर्म, तप, रूप, यौवन आदि शरीर की उपाधियो का मिथ्या घमण्ड करके दूसरो का अपमान एवं तिरस्कार करना, तथा दूसरो को तुच्छ अथवा नीच समझ कर दवाना, और सबकी अवहेलना करना—यह दर्प अथवा घमण्ड है। आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोग इस प्रकार घमण्डी होते है। इस तरह दूसरो को तुच्छ समझने वाले घमण्डी लोग स्वयं तुच्छ होते हैं। परन्तु आसुरी-राक्षसी प्रकृति के घमण्डी लोगो के साथ व्यवहार करने में उनसे भी अधिक घमण्ड का दिखाव करके उनके घमण्ड को चूर करना; तुच्छ सांसारिक सुखो के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषो के सामने दीनता न करने का आत्म-गौरव रखना; स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मस्त रहना; किसी से दवकर या डरकर अपने कर्तव्य-कर्म से न हटना—यह घमण्ड का सदुपयोग है। दैवी प्रकृति के श्रेष्ठाचारी पुरुष समाज की सुव्यवस्था के लिए यथावसर इसका उपयोग करते है। परन्तु उनका वह घमण्ड का बर्ताव केवल दिखाव मात्र होता है; साधारण लोगो से वे कभी घमण्ड का वर्ताव नहीं करते, और उनके अन्तःकरण वस्तुतः घमण्ड से दूषित नहीं होते।

पारुष्य (रूखापन, कठोरता)

लोगो के साथ वर्ताव करने में रुखाई, कठोरता अथवा अकडन का भाव रखना तथा ऐंठे हुए रहना; मुँह से रूखे, कठोर एवं कर्कश वचन वोलना—यह पारुष्य है, और आसुरी प्रकृति के लोगो का एक लक्षण है। परन्तु उन्हीं आसुरी प्रकृति के लोगो की रुखाई और अकड़न मिटाने के लिए उनके साथ इसी प्रकार का वर्ताव करना आवश्यक एवं उचित होता है; अतः उनके साथ वर्ताव करने में दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष भी उक्त पारुष्य का दिखाव यथावसर किया करते है।

× × ×

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा.।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अर्थ—इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक दैवी प्रकृति के; दूसरे आसुरी प्रकृति के; हे पार्थ ! (उनमें से) दैवी प्रकृति वालों

का वर्णन विस्तारपूर्वक पहले कर दिया, (अब) आसुरी प्रकृति वालों का (वर्णन) मुझ से सुन। तात्पर्य यह कि देवों और असुरो का कोई अलग लोक अथवा देश नहीं होता, न उनकी कोई विशेष जाति ही होती है, और न वे साधारण मनुष्यों से विलक्षण आकृतियों अथवा विलक्षण रूपों वाले होते हैं, जैसा कि बहुत से भोले लोग मानते है, किन्तु इसी मनुष्य समाज में जो उपर्युक्त (श्लोक १ से ३ तक कहे हुए) दैवी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते हैं वे देव है, और जो (चौथे श्लोक में कहे हुए) आसुरी सम्पत्ति के गुणो से युक्त होते हैं वे असुर है। दैवी प्रकृति के मनुष्यो के आचरणो का वर्णन दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विवरण में, बारहवें अध्याय में भक्त के विवरण में, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के विवरण में, तथा इस अध्याय के आरम्भ में दैवी सम्पत्ति के विवरण में विस्तारपूर्वक कर आये हैं। आसुरी प्रकृति के मनुष्यो के आचरणो का विस्तृत वर्णन अब आगे किया जाता है। राक्षसो का समावेश आसुरी प्रकृति के मनुष्यो में ही होता है, अर्थात् जो उग्र आसुरी प्रकृति के नास्तिक* लोग होते हैं वे ही राक्षस कहे जाते हैं (गी० अ० ९ श्लो० १०-११ का स्पष्टीकरण देखिए) (६)। आसुरी प्रकृति के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते, उनमें न पवित्रता होती है, न आचार, (और) न उनमें सत्य ही रहता है। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के लोग इस बात का कुछ भी विचार नहीं करते कि कौन सी चेष्टाएँ प्रवृत्ति* रूप और कौन-सी निवृत्ति* रूप होती हैं? किस तरह के आचरणों से बन्धन होता है और किस तरह के आचरणों से मोक्ष? और कौन-से कर्म अच्छे होते हैं और कौन-से बुरे? दूसरे शब्दो में लोगो की भलाई-बुराई की वे कुछ भी परवाह नहीं करते, किन्तु अपनी मनमानी करते हैं। समाज की सुव्यवस्था उनके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखती। अतः वे गुण-कर्म-विभागानुसार किसी भी वर्ण के कर्मो को यथावत् नहीं करते, किन्तु जिन चेष्टाओ से उनको अपने प्रत्यक्ष के भौतिक सुखो की प्राप्ति होने का निश्चय होता है, उन्हें ही करते हैं। उनका अन्तःकरण दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा,

---

* यहाँ नास्तिक शब्द का तात्पर्य उन दैवी प्रकृति के भौतिकवादी सज्जनो से नही है जो यद्यपि चार्वाक आदि भौतिक मतो को मानते है, और ईश्वर, मजहब एव परलोक आदि में विश्वास नही रखते, परन्तु लोक-हित के व्यवहारो मे लगे रहते है और अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह पालन करते है। वे वास्तव मे नास्तिक नही है, किन्तु जो लोग आस्तिक होने का झूठा दम भरते है परन्तु आचरण इन श्लोको मे वर्णित राक्षसो और असुरो जैसे करते है, वे वास्तव मे सबसे बडे नास्तिक है (आगे स्पष्टीकरण देखिए)।

* चौथे अध्याय के श्लोक १६वे मे १८वे तक का स्पष्टीकरण देखिए।

द्वेष आदि विकारो से सदा ग्रसित रहने के कारण मलिन रहता है, एवं उनका शरीर तथा रहन-सहन अत्यन्त मैला-कुचैला रहता है, एवं सभ्यता और शिष्टता के आचरणो से वे सर्वथा शून्य होते है, क्योकि देह-अभिमान, स्वार्थपरता, ऐंठन, कठोरता एवं उजड्डपन उनमें कूट-कूट कर भरे हुए रहते है, और झूठ बोलने तथा झूठे व्यवहार करने में वे कुशल होते है—सत्य के महत्त्व को वे कुछ समझते ही नहीं (७)। वे कहते है कि जगत् असत्य, आधार-रहित और बिना ईश्वर का है; काम-वासना के कारण नर और मादा के संयोग से उत्पन्न होता है इसके सिवाय दूसरा अदृष्ट हेतु इसका क्या हो सकता है ? तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्षवादी होते है; अदृष्ट आत्मा अथवा परमात्मा को वे नहीं मानते। उनके मत में न कोई आत्मा है, न कोई परमात्मा, न कोई पुण्य है, न पाप; आत्मा, परमात्मा, परलोक एवं पुण्य-पाप का अदृष्ट फल आदि सब कल्पनाएँ झूठी है; जो कुछ है वह (भौतिक) स्थूल जगत् ही है; शरीरो के जन्म से पहले कुछ भी नहीं होता और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता; काम-वासना से प्रेरित नर और मादा के सयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और मरने पर उसकी समाप्ति हो जाती है; इस तरह जगत् का प्रवाह आप ही चलता रहता है; इसके सिवाय इसका कोई अदृष्ट अथवा सूक्ष्म कारण नहीं है, और न कोई इसका अदृष्ट अथवा सूक्ष्म आधार ही है। इस-लिए स्थूल शरीरो के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखो के साधन जिस तरह भी बन सकें, उसी तरह करते रहना चाहिए; इसके सिवाय और कुछ भी कर्तव्य नहीं है। खाने-पीने, विषय भोगने एवं ऐशो-आराम करने के सिवाय किसी अदृष्ट अथवा सूक्ष्म विषय पर विचार करने की उनके नजदीक कोई आवश्यकता नहीं रहती (८)। इस दृष्टि का अवलम्बन किये हुए (वे) उग्र कर्म करने वाले तथा (सबका) अहित यानी बुरा करने वाले, विवेकहीन, मूर्ख लोग जगत् का क्षय करने के लिए ही होते है। तात्पर्य यह कि इस तरह स्थूल शरीर और इसके विषय-भोगो ही को सब-कुछ मानने, तथा स्थूल शरीर ही में आसक्ति रखने वाले प्रत्यक्षवादी लोगों को सत्यासत्य एवं अच्छे-बुरे का कुछ भी विवेक नहीं होता; अतः वे अपने शारीरिक सुखो और विषय-भोगों के लिए चोरी, डकैती, ठगी, लूट-खसोट, जबर्दस्ती, झूठ, कपट, पाखण्ड आदि अत्यन्त उग्र कर्म करके लोगो पर जुल्म करते है। वे लोग समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न करने और जनता को पीड़ा देने के ही कारण होते है, इसके सिवाय उन से किसी भी प्रकार की भलाई नहीं होती (९)।

आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोगो का वर्णन तीन श्लोको में करके अब आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोगो का वर्णन करते है, जो प्रत्यक्ष के दृष्टिगोचर विषयो के अति-रिक्त परोक्ष के सुखो तथा अदृष्ट विषयो में भी अन्धविश्वास रखते है।

कभी समाप्त न होने वाली कामनाओ के अधीन होकर दंभ, अभिमान और मद में ग्रस्त हुए (आसुरी प्रकृति के लोग) मूढ़ता से झूठी भावनाओ का आसरा लेकर (अन्ध-

विश्वास से) अपवित्र व्रतो में प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोग इहलौकिक दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष के तथा स्वर्गादि पारलौकिक अदृष्ट अथवा परोक्ष के सासारिक सुखों, एवं धन, मान, कुटुम्ब-परिवार आदि की अनन्त प्रकार की कामनाओ में दिन-रात उलझे रहते हैं; और कामनाएँ लगातार एक के बाद दूसरी नित-नयी उत्पन्न होती रहती हैं, इसलिए उनकी कभी पूर्ति नहीं होती। उन कामनाओ की सिद्धि के लिए वे लोग मिथ्या विश्वासो के आधार पर नाना प्रकार के मलिन कर्मकाण्डो में लगे रहते हैं; अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि के मैले मन्त्र साधने, देवी-देवताओ के नाम पर पशुओ की बलि देने, रात के समय श्मशान आदि अपवित्र स्थानो में जाकर भैरव, योगिनी एवं भूत-प्रेतादि को जगाने का ढोग करके मैले मन्त्रो को जपने, उनके नाम पर अपवित्र एवं मादक खान-पान करने, तथा अश्लील अगो की पूजा करके ग्लानि उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ करने में लगे रहते हैं; अथवा तामसी तप से शरीर को कृश करते हैं; और नख, केश, आदि बढाकर एव नहाना-धोना आदि बद करके मैले-कुचैले रहते हैं। इस प्रकार अत्यन्त मलिन एव पापकर्म करते हुए भी वे बड़े पवित्र एवं धर्मात्मा होने का ढोग करते हैं, और चौके-चूल्हे आदि की छूआछूत का बडा पाखण्ड करते ह; अपनी पवित्रता, धार्मिकता एव कुलीनता का बहुत अभिमान करते है, और उस मद म चूर हुए दूसरों का अपमान और तिरस्कार करते हैं (१०)। मरणपर्यन्त बनी रहने वाली अनन्त प्रकार की चिन्ताओ में ग्रसित हुए, "विषय-भोग ही सब-कुछ है" इस निश्चय से उन्ही में दिन-रात लगे रहने वाले, आशाओ के सैकडो बन्धनो में जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण (वे असुर लोग) विषय-भोगो की पूर्ति के निमित्त अन्याय से धन-संग्रह की चेष्टाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वे असुर लोग विषय-सुखो को ही सब-कुछ मानते है, इसलिए इस जन्म में विषय-भोगो की प्राप्ति और उनकी रक्षा के लिए, तथा परलोक में स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के लिए जन्म भर इतनी चिन्ताओ में डूबे रहते हैं कि जिनका कभी अन्त नही होता। विषय-भोगो की आशाएँ एक के बाद दूसरी लगातार बनी ही रहती है, उन आशाओ की फाँसियो से वे कभी निकल ही नहीं सकते; और उन विषय-भोगो की पूर्ति के लिए, समुचित परिश्रम किये बिना तथा किसी भी प्रकार की लोक-सेवा किये बिना, चोरी, ठगी, जोर-जुल्म एव मठमर्दी से अथवा धूर्तता, झूठ, कपट, छल, छिद्र आदि चालाकियो अथवा हथफेरियो से तथा नाना प्रकार के अन्यायपूर्ण उपायो से निर्बलो को सताकर अथवा उन्हें दबाकर, अथवा भोले-भाले लोगो को अपने चगुल में फँसाकर धोखे अथवा भुलावे से उनका धन ऐठ-ऐंठकर उसके सग्रह करने में लगे रहते हैं (११-१२)। आज मैंने यह (मनोरथ) प्राप्त कर लिया, यह मनोरथ अर्थात् इच्छित पदार्थ (मुझे) प्राप्त हो जायगा, यह धन मेरे पास है और यह भी फिर मेरा हो जायगा, इस शत्रु को मैंने मार लिया और दूसरो को भी मारूँगा, मै ईश्वर अर्थात सर्व-सामर्थ्यवान् हूँ, मै भोगी हूँ,

मैं सिद्ध हूँ, मैं वलवान् और सुखी हूँ, मैं वड़ा धनवान् (और) वड़ा कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है ? मैं यज्ञ करके दान दूंगा, आमोद-प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, मन की अनेक प्रकार की कल्पनाओ के भ्रम में पड़े हुए एवं मोह जाल में खूब ही फँसे हुए, विषय-भोगो में अत्यन्त आसक्त (वे आसुरी प्रकृति के मनुष्य) मलिन नरक में गिरते हैं। तात्पर्य यह कि वे आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में रात-दिन यही मनसूवे वाँधा करते हैं कि आज मैंने इतनी धन-सम्पत्ति प्राप्त कर ली, इतनी फिर आने वाली है, मेरे पास इस समय इतनी सम्पत्ति जमा हो चुकी है और भविष्य में इतनी अवश्य प्राप्त हो जायगी; अमुक शत्रु को मैंने मार लिया अथवा उस पर विजय पा ली, जो वाकी वचे हैं उनको फिर पछाड़ दूंगा; मैं सवसे अधिक शक्तिसंपन्न हूँ, दुनिया के सव भोग मेरे ही लिए हैं, सव सिद्धियाँ मेरे दरवाजे पर हाथ वाँधे खड़ी है, मेरे समान न कोई वलवान् है न कोई सुखी; मैं सवसे अधिक वलवान् हूँ, मेरा कुल सवसे ऊँचा और वहुत वड़ा है; संसार में मेरी वरावरी करने वाला कोई नहीं है; धन, मान एवं भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए मैं यज्ञ करके वड़ी-वड़ी दक्षिणाएँ दूंगा, जिनसे मेरी वहुत अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति होगी, तथा उनके फल-स्वरूप मुझे धन, मान एवं भोग्य पदार्थ प्राप्त होगे, फिर मैं खूब ऐशो-आराम, आमोद-प्रमोद करके इतनी मौज उड़ाऊँगा कि जिसकी कोई वरावरी नहीं कर सकता। इस प्रकार मूर्खता से भरे हुए खयाली किले वाँधते रहने वाले, शारीरिक विषयो में आसक्त आसुरी प्रकृति के लोग अन्त में महान् दुःखदायक भयानक नरको में गिरते हैं, अर्थात् उनकी वड़ी दुर्दशा होती है (१३-१६)। अपने वड़प्पन के मिथ्या घमण्ड में ऐंठे हुए, धन और मान में मतवाले (आसुरी प्रकृति के लोग) दंभ से, अर्थात् केवल लोक-दिखावे के निमित्त तथा लोगो में रोब जमाने के लिए, शास्त्र-विधि से रहित नाम मात्र के यज्ञ करते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के लोग अपने मन में अपने वड़प्पन, धर्मात्मा-पन, विद्वत्ता, कुलीनता, श्रेष्ठता, तपस्वीपन आदि के मिथ्या घमण्ड से ऐंठे रहते हैं और दूसरो का तिरस्कार करते हैं; तथा उनके पास थोड़ा या वहुत जो कुछ धन आदि होता है, और उस धन आदि के कारण लोगो में जो प्रतिष्ठा होती है—उसके नशे में मतवाले होकर दूसरे लोगो को तुच्छ समझते हैं। संसार में धर्मात्मा कहलाने के लिए वे लोग यज्ञो के आडम्बर करते हैं; परन्तु वे यज्ञ नाममात्र के होते हैं, न तो उनमें उनकी श्रद्धा होती है और न शास्त्र की विधि ही (१७)। अहंकार, वल, घमण्ड, काम और क्रोध से भरे हुए, दूसरो में दोष देखने वाले (वे) ईर्षालु लोग, अपने तथा दूसरो के शरीरों में रहने वाले मुझ (परमात्मा) से द्वेष करते हैं। तात्पर्य यह कि दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहं-कार, वड़प्पन, कुलीनता, धार्मिकता, विद्वत्ता, वुद्धिमत्ता एवं शारीरिक वल आदि के घमण्ड में चूर, तथा नाना प्रकार की कामनाओ से उत्पन्न होने वाले क्रोध से भरे हुए, वे आसुरी प्रकृति के लोग सदा अपनी वड़ाई करने तथा दूसरो के दोष निकालने में तत्पर रहते हैं,

तथा वे दूसरों से ईर्षा-द्वेष करते रहते हैं; और परमात्मा सब में व्यापक है, इसलिए वह द्वेष सबके आत्मा=परमात्मा के साथ ही होता है (१८)। उन द्वेष करने वाले दुष्ट, पातकी, अधम पुरुषो को "मैं" संसार में सदा आसुरी योनियो में ही पटकता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके साथ द्वेष करने वाले उन दुष्ट प्रकृति के नीच पापियो को "मैं" सबका आत्मा=परमात्मा उनके पापाचार के फलस्वरूप बिल्ली, कुत्ते, सिंह, व्याघ्र, सर्प, शूकर, गीध, बाज, चील आदि हिंसक पशु-पक्षियो की पाप योनियो में गिराता हूँ (१९)। हे कौन्तेय ! वे मूढ लोग जन्म-जन्म में उन आसुरी योनियो को प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर उत्तरोत्तर नीचे ही गिरते रहते हैं। तात्पर्य यह कि उन पाप योनियो को भुगतते हुए वे मूर्ख लोग उत्तरोत्तर अधोगति ही की तरफ लुढ़कते रहते हैं; उन्हें कभी अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्म-भाव के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (२०)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अर्थ—काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे बुद्धि का नाश करने वाले हैं; इसलिए इन तीनो को त्यागना चाहिए। हे कौन्तेय ! इन तीन अन्धकारमय दरवाजो से मुक्त होकर, (जो) मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, तो उससे (वह) परम गति को जाता है। तात्पर्य यह कि काम, क्रोध और लोभ मनुष्य को अधोगति-रूप नरक में ले जाने वाले हैं, इसलिए इनकी अधीनता से छूटना चाहिए; जो इनके अधीन नहीं होते, वे ही कल्याणकारक आचरण करके परम पद को पहुँच जाते हैं, अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं (२१-२२)। जो शास्त्र* की विधि को छोडकर मनमानी करता है उसको न सिद्धि अर्थात् किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त होती है, न सुख और न परम गति ही। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था के विषय में, अर्थात् कौन-सा कर्म करना चाहिए और कौन-सा नहीं करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्रो*

---

*यहाँ "शास्त्र" शब्द का अभिप्राय आत्मा अथवा परमात्मा की एकता एव सर्वव्यापकता के अभेद-प्रतिपादक सार्वजनिक शास्त्रो से ही है, क्योकि गीता

को प्रमाण मानना चाहिए; शास्त्रो* में जो विधान किया हुआ है, उसे समझ कर तुझे इस संसार में कर्म करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जो लोग पहले के दो श्लोको में कहे हुए काम, क्रोध और लोभ के वश होकर अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रो में वर्णित वर्ण-व्यवस्थानुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, किन्तु उसके विरुद्ध पृथक्ता के भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, लोगो को हानि पहुँचाने और दुःख देने वाली मनमानी चेष्टाएँ करते है, वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते; न उनको सच्ची सुख-शान्ति मिलती है और न उन्हें कल्याण की प्राप्ति ही होती है। इसलिए भगवान् अर्जुन को लक्ष्य कर के सबको उपदेश देते है कि परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता के सच्चे ज्ञान के आधार पर अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म की व्यवस्था बाँधने वाले जो अभेद-प्रतिपादक सार्वजनिक सत्-शास्त्र हैं—जैसे ज्ञानकाण्डात्मक वेद, उपनिषद् एवं गीता आदि—वे ही कर्तव्याकर्तव्य के विषय में यथार्थ प्रमाण है; अतः उन सत्-शास्त्रो के यथार्थ तात्पर्य को, और उनमें किये हुए विधान को अच्छी तरह समझ कर प्रत्येक मनुष्य को उनके अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करते रहना चाहिए।

स्पष्टीकरण—आसुरी प्रकृति के लोगो के आचरणों का जो वर्णन श्लोक ७ से २० तक किया गया है, उसका स्पष्टीकरण उक्त श्लोको के अर्थ और तात्पर्य में अच्छी तरह कर दिया गया है। पाँचवें अध्याय के श्लोक १८ के स्पष्टीकरण में साम्य-भाव के आचरणो के विवेचन में, और नवें अध्याय के श्लोक ११-१२ के स्पष्टीकरण में राक्षसी-आसुरी प्रकृति के लोगो के आचरणो के प्रकरण में भी इस विषय का काफी खुलासा हो चुका है; इसलिए यहाँ उसे दुहरा कर तूल बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से कहनी है कि गीता व्यावहारिक वेदान्त का कर्तव्य-शास्त्र है। इसमें भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य के लिए एवं मनुष्य-समाज के लिए जीवन-यात्रा का वह सच्चा और निश्चित मार्ग बताया है, कि जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य एवं मनुष्य-समाज अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति उसके आचरणो पर निर्भर है; इसलिए इस अध्याय में भगवान् ने दैवी

---

* में सर्वत्र सबकी एकता के आधार पर सासारिक व्यवहार करने ही का विधान है। पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में अभेद-प्रतिपादक उपदेश को ही शास्त्र कहा है, और तेरहवे अध्याय के चौथे श्लोक में भी इन्ही का उल्लेख किया है, भेद-वाद के साम्प्रदायिक शास्त्रो को तो अनेक स्थलो पर त्याज्य कहा है; इसलिए यहाँ पर भेद-वाद के शास्त्रो के विधान को ग्राह्य मानना, पूर्वापर के सामजस्य के विरुद्ध पड़ता है। साराश यह कि अभेद-प्रतिपादक शास्त्रो का विधान ही यहाँ अभिप्रेत है।

और आसुरी सम्पत्तियों का साथ-साथ वर्णन किया है, ताकि अपनी सर्वांगीण उन्नति चाहने वाले लोग इस विषय को अच्छी तरह समझ कर आसुरी सम्पत्ति के आचरणो को छोड़ें और दैवी सम्पत्ति के आचरणो में प्रवृत्त हो। भगवान् ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि दैवी सम्पत्ति के आचरणो से मनुष्य स्वतन्त्र होकर सब प्रकार की सुख-शान्ति को प्राप्त होता है, और आसुरी सम्पत्ति के आचरणो से मनुष्य पराधीन होता है और अपना पतन करता है। इसलिए यहाँ पर हमको यह देखना चाहिए कि इस समय हम लोग जो आचरण करते है, वे दैवी सम्पत्ति के है अथवा आसुरी सम्पत्ति के ? क्योकि मनुष्य जब तक अपनी कमजोरियो और अवगुणो की खोज न करके केवल दूसरो ही के दोषो को देखता है और उन पर टीका-टिप्पणी करता है, तब तक न तो उसकी कमजोरियाँ और अवगुण दूर होते हैं और न वह अपनी उन्नति ही कर सकता है। यदि हम इस वर्णन को केवल सर-सरी तौर पर पढ़ कर ही रह जायँ, और इस पर गहरे विचारपूर्वक आत्म-अन्वेषण न करें, तथा इसका यह अभिप्राय निकाले कि देव और असुर हमसे भिन्न किसी विशेष जाति के प्राणी होते है, जिनके ऐसे स्वभाव एवं ऐसे आचरण होते है, तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होगा; क्योकि देव अथवा असुर हमसे भिन्न किसी अन्य जाति के प्राणी नहीं है, न कोई उनका अलग लोक है और न उनका कोई अलग समाज ही, किन्तु हममें से ही कई लोग दैवी प्रकृति के होते है और कई आसुरी प्रकृति के—इस बात को भगवान् ने इस वर्णन के आरम्भ ही में स्पष्ट रूप से कह दिया है। इसलिए इस वर्णन पर हमको गभीरता से विचार करना चाहिए, और इसमें जो दैवी एवं आसुरी आचरण कहे हैं, और जो आचरण हम कर रहे हैं, उनका मिलान करके देखना चाहिए कि हमारे आचरण कैसे है ? क्या वे असुरो के-से तो नहीं है ?

यदि हम अपने पूर्वजो के बड़प्पन और उनकी उन्नत अवस्था के अभिमान को उन्हीं के लिए छोड़ कर अपनी वर्तमान दशा पर शुद्ध अन्तःकरण से गंभीरतापूर्वक विचार करे तो अत्यन्त खेद के साथ हमें स्वीकार करना पडेगा कि वर्तमान समय में हम लोगो के अधि-कांश आचरण उपरोक्त वर्णन के अनुसार राक्षसो एव असुरो के-से हो रहे है। राक्षस उनको कहते है जो कि दूसरो को रुला-रुलाकर खाते है। वर्तमान समय में हम लोगो में से जो गुरु, पुरोहित, आचार्य, साधु, महन्त, पण्डे, पुजारी आदि धर्म का व्यवसाय करने वाले लोग है अर्थात् जो धर्म के ठेकेदार है; और जो राज्य-शासन के अधिकारी—सरकारी अफ-सर, राजनैतिक नेता, ओहदेदार आदि सत्ताधारी अर्थात् जो राज्य-शासन के ठेकेदार है; तथा जो बडे-बडे लक्ष्याधीश एव कोटयाधीश श्रीमन्त लोग है यानी जो धन के ठेकेदार है; एव जो अलग-अलग जातियो के पंच है यानी जो समाज के ठेकेदार है, उनके आचरणो की तरफ दृष्टि डालें तो उनमें अधिकतर ये ही लक्षण पाये जाते है। उन लोगो में से अधि-काश को इस बात का ज्ञान भी नहीं रहा है कि हमारा सच्चा कर्तव्य क्या है ? हमारे अलग-

अलग कार्य-विभाग की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था किस उद्देश्य से वनाई गई थी, और हम उस व्यवस्था का यथावत् पालन करते है कि नहीं ? और उनमें यह विचारने की योग्यता भी नहीं रही कि जो आचरण हम इस समय कर रहे है वे उचित है या अनुचित ? समाज की सुव्यवस्था एवं सुख-शान्ति पर उन आचरणो का क्या प्रभाव पड़ता है ? तथा पारस्परिक सेवा करने का जो हमारा मुख्य कर्तव्य है, उसे हम पूरा करते है कि नहीं ?

उपरोक्त चारो प्रकार की ठेकेदारियाँ एक-दूसरे के अत्याचारो में सहायक होती है, और एक-दूसरे की मान्यता वढाती है। धर्म के ठेकेदार शासको, धनिको तथा पंचो के अत्याचारो पर धर्म की छाप लगा देते है, अर्थात् उनके कृत्यो को शास्त्रानुकूल वताकर उनको न मानने से धर्म के नाश होने, ईश्वर के क्रुद्ध होने, तथा नरक में पड़ने के भय का हौआ खड़ा कर देते है। राज्य के कानूनों में धर्म की व्यवस्थाओं, धन के अधिकारो और समाज के रीति-रिवाजो को प्रधानता दी जाती है, और शासक-वर्ग इन लोगो की वड़ी खातिर करता है। धनिक लोग धर्म-व्यवसायियो, शासको और पंचो को धन की सहायता देकर उनके अत्याचारो में सहायक होते है तथा उनको अपने अनुकूल वनाते है। और समाज के पंच लोग धर्म के ठेकेदारों, शासको और धनिको के अनुकूल रह कर अपनी सत्ता, प्रतिष्ठा एवं गौरव वनाये रखते है, और अपनी-अपनी जाति के लोगो पर उक्त तीनो प्रकार की ठेकेदारियो का आतंक जमाये रखने में सहायक होते है।

साधारण जनता प्राय. अपने नेताओ का ही अनुसरण करती हुई उनके बनाये हुए मार्ग पर चलती है। इसलिए समाज के नेता, जो उपरोक्त चार प्रकार के ठेकेदार लोग होते है, उन्हीं के आचरणो के अनुरूप साधारण जनता के आचरण होना स्वाभाविक है। साधारण जनता में अपने नेताओ जितनी सामर्थ्य न होने के कारण वह यदि अत्यन्त उग्र राक्षसी प्रकृति के आचरण न कर सके, तो भी आसुरी प्रकृति के आचरण करने में तो भरसक कसर नहीं रखती। हम लोगो के अत्याचारो का सबसे वड़ा शिकार तो हमारा ही आधा अंग अर्थात् स्त्री जाति है, जिसको हम लोग जन्म से लेकर मरणपर्यन्त पूर्ण रूप से पददलित रख कर मनुष्यता के अधिकारों से ही वंचित रखते है। यद्यपि स्त्री और पुरुष, दोनों के मेल से सृष्टि होती है, और दोनों ही गार्हस्थ्य एवं समाज के आधे-आधे अंग है, एवं दोनो की एक समान आवश्यकता है; परन्तु हमारे समाज में पुत्र-जन्म पर तो बड़े-वड़े हर्षोत्सव किये जाते है, और पुत्री के जन्म पर शोक मनाया जाता है; मानो स्त्री के विना ही पुरुष कहीं आकाश से टपक पड़ते है, अथवा वृक्षो में लग जाते है। हममें से कई लोग तो धन की एवज में कन्याओं को वेचते है, और दूसरे लोग धन के साथ उनको लेते है, अर्थात् धन लिये विना उनसे विवाह नहीं करते; दोनो ही सौदो में उन वेचारियो की वड़ी दुर्दशा होती है। धन के कारण ही उनकी कदर होती है—धन विना उनका कोई मूल्य नहीं होता।

पुरुषो के अधिकार और उनकी स्वेच्छाचारिता बेहद है; परन्तु स्त्री को सदा ही पददलित एवं मनुष्यता के सारे अधिकारो से वंचित रखना ही सनातन मर्यादा मानी जाती है। पुरुष एक स्त्री के मरने पर और उसके जीवित रहते भी अनेक स्त्रियाँ व्याह सकता है—इससे उसके धर्म और मर्यादा में कोई कमी नहीं आती; परन्तु स्त्री के शरीर में अठगुना काम होना माने जाने पर भी वह एक पति के मरने पर दूसरा विवाह नहीं कर सकती। यदि काम के वश होकर किसी पुरुष से सहवास कर ले, अथवा दुराचारी पुरुषों द्वारा फुसलाई जाकर या जबरदस्ती भ्रष्ट कर दी जाय, तो वह जन्मभर के लिए पतित हो जाती है, और कुल्टा एव व्यभिचारिणी आदि नाना प्रकार के लांछनो से लाछित एवं कलकित की जाती है; परन्तु उसे भ्रष्ट करने वाले दुराचारी पुरुषो की प्रतिष्ठा और धार्मिकता में रत्तीभर भी फर्क नहीं आता। इस समाज में पुरुष सब प्रकार से सम्पन्न होता हुआ भी स्त्री के बिना अकेला जीवन-यात्रा करने में असमर्थ समझा जाता है—उसकी सेवा करने वाली और मरने के बाद रोने वाली, एक अथवा एक से अधिक स्त्रियो का होना हर हालत में जरूरी है; उसके लिए पुत्र उत्पन्न करना भी लाजमी है, ताकि वह वुढ़ापे में काम आवे, और मरने के बाद भी परलोक में पिण्डोदक के रूप में खाना-पानी पहुँचाता रहे; और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने के लिए भी पत्नी को साथ रखना अनिवार्य रखा गया है। परन्तु स्त्री अबला एव अशिक्षिता होने के कारण उसके लिए सब अवस्थाओ में पुरुषो के संरक्षण में रहना आवश्यक होते हुए भी, पति-विहीना एव नि.सन्तान विधवा पुनर्विवाह करके सनाथ एवं सुरक्षित नहीं बन सकती; मानो विधवा होने पर वह पत्थर की पुतली हो जाती है, इसलिए न तो उसे प्राकृतिक वेगो को शान्त करने की आवश्यकता रहती है, न उसे अपने रक्षण एवं पालन करने वाले पुरुष (पति) की, और न उसे वुढापे में शुश्रूषा करने वाली संतान की ही आवश्यकता रहती है; और मरने के बाद (शायद पत्थर हो जाने से) उसे पिण्डोदक की भी आवश्यकता न रहती होगी? धार्मिक कृत्यो का तो स्त्री को कोई अधिकार ही नहीं रखा।

पुरुष चाहे कितने ही विवाह किये हुए हो, अथवा अविवाहित (कुआँरा) हो या विधुर (रँडवा) हो, कितना ही आचरणहीन व्यभिचारी अथवा दुराचारी हो—वह कभी अमांगलिक नहीं होता; परन्तु स्त्री का एक बार विवाह-संस्कार होने के वाद यदि तुरन्त ही पति मर जाय, तो भी वह दुर्भागिनी सदा के लिए अशुभ एवं तिरस्कृता हो जाती है—चाहे वह कितनी ही सदाचारिणी, सती, साध्वी तथा तपस्विनी क्यो न हो, परन्तु वह किसी भी मागलिक माने जाने वाले कार्य में सम्मिलित नहीं हो सकती। यदि ऐसे अवसरो पर अकस्मात् उसका मुंह दीख जाय तो यह महान् अनिष्टकारक (अपशकुन) माना जाता है। हां, रोने और पुरुषो की बीमारी आदि के कष्टो में उनकी सेवा करने के लिए वह अवश्य ही काम आती है। एक विधुर भाई किसी अडोस-पड़ोस की सुहागिन स्त्री से रक्षा-बन्धन

और तिलक करवाना अपने लिए मंगलदायक समझता है, परन्तु अपना सदा शुभ चाहने वाली, सहोदरा विधवा बहिन से वह तिलक एवं रक्षा-बन्धन नहीं करवाता। यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करके पुनः सौभाग्यवती हो जाय, तब तो उसका घर और समाज दोनों से काला मुंह हो जाता है—वह मंगल और अमंगल, सबसे गयी-गुजरी समझी जाती है। कितना अन्याय है कि यह सर्व-श्रेष्ठ मानव-देह पशु-पक्षियों आदि से भी हीन और अशुभ मानी जाती है। हिंसक पशु-पक्षी भी अपनी सन्तानो के साथ बड़ा प्रेम रखते है; परन्तु हम लोग अपनी ही सन्तानो अर्थात् कन्याओ पर इतनी नृशंसता करते हुए भी बड़े धर्मात्मा, बड़े कुलीन, बड़े शिष्ट एवं सभ्य होने का घमण्ड करते है।

नीच जाति के माने जाने वाले गरीब भाइयों के साथ हम इतना घृणित बर्ताव करते है और उन पर इतने अत्याचार करते है कि मानो वे मनुष्य ही नहीं है। उनके दर्शन करने से भी हम अपवित्र हो जाते है, और यदि उनका स्पर्श हो जाय तब तो हमारे क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहता। हमारी निर्दयता के कारण उनको सुखपूर्वक एक वक्त खाना और शान्ति से रहना भी नसीब नहीं होता। हम लोग, मूर्तियो अथवा चित्रो को ईश्वर अथवा देवता-स्वरूप समझ कर, उनके लिए बढिया से बढ़िया खाने, पीने, पहिनने, रहने आदि अनेक प्रकार के भौतिक सुखो की सामग्रियाँ तैयार करने में पदार्थो का बे-हिसाब अपव्यय करना; नदियो, समुद्रो तथा तालाबो आदि में दूध, दही आदि मनुष्योपयोगी पदार्थ बहा देना; और अग्नि में अन्न, घृत, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थ जला देना; तथा देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के निमित्त बेचारे अबोध एवं मूक पशुओ की बलि देकर (वध करके) खा जाना, बड़े ही धार्मिक कृत्य मानते है; परन्तु अपने शारीरिक परिश्रम से अत्यन्त कठिन एवं घृणोत्पादक लोक-सेवा करने वाले दीन-हीन एवं पददलित नर-नारी भूखे-प्यासे मरें, अथवा वस्त्रहीन एवं गृहहीन होने के कारण ऋतुओं की कठोरता-जन्य शारीरिक क्लेशो से पीड़ित रहे, तो कोई अधर्म नहीं मानते, और उनके लिए कुछ भी व्यवस्था करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। अपने मरे हुए संबंधियो के पीछे श्राद्ध आदि के बडे-बड़े भोज करना, तथा बहुत समय पहले के मरे हुए पितरों के निमित्त जल के नाले बहा देना, और पशु-पक्षियो के पीने के लिए जलादि के विशेष स्थान बनवा कर उनके लिए पानी पीने का प्रबन्ध कर देना तो अपने लिए बडा ही पुण्य-कार्य मानते है; परन्तु मुरदे जानवरो तथा कूडे-करकट साफ करने की अत्यावश्यकीय लोक-सेवा करने के कारण अन्त्यज अथवा चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्यो (स्त्री-पुरुषो) को स्वास्थ्य-कर एव सादा भोजन करने तथा स्वच्छ पानी पीने के अधिकारी भी नहीं मानते। सर्पों जैसे विषैले जन्तुओ, गधो और कुत्तो जैसे मलिन पशुओ, चीलो और कौओ जैसे हिंसक पक्षियो, तथा कीड़ो, चींटियो और मछलियो जैसे क्षुद्र जीवो की पूजा करके उनको अच्छे-अच्छे मनुष्योचित्त पदार्थ खिलाना सनातन धर्म समझा जाता है; परन्तु अछूत माने जाने

वाले स्त्री-पुरुषो को उनकी अतुलनीय सेवाओं के बदले थोडा-बहुत बचा-खुचा वासी-खूसी, सड़ा-गला, निकम्मा एवं उच्छिष्ट अन्न तिरस्कार-सहित फेंक दिया जाता है, जिससे उनका पेट नहीं भरने के कारण विवश होकर उन्हें अखाद्य वस्तुएँ खानी पड़ती है—जिसके लिए उलटे वे ही दोषी ठहराये जाते है। देवस्थानो और भोजनालयो आदि पवित्र माने जाने वाले स्थानो में विल्ली, चूहे, मक्खी, कीडे, चींटी आदि जन्तु प्रवेश करके मैला फैलाते रहें, उससे धर्म में कोई त्रुटि नहीं आती और न चौका ही विगडता है, परन्तु एक अछूत माने जाने वाले नर-नारायण की देह की कहीं छाया भी पड़ जाय तो चौका और धर्म दोनो ही बिगड जाते है।

अपनी कामनाओ की सिद्धि के लिए तथा अपनी मान-प्रतिष्ठा और बड़प्पन का थोथा ढोल पीटने के लिए हम लोग कई प्रकार के राजसी-तामसी ठाठ के धार्मिक और सामाजिक आडम्बरो के समारोह किया करते हैं, जिनमें अनाप-शनाप धन का अपव्यय करते है, जिसकी पूर्ति के लिए १२वें श्लोक में कहे हुए अन्यायपूर्ण साधनो से धन-सचय करते है। साराश यह कि १०वें श्लोक से १९वें श्लोक तक जो आसुरी प्रकृति के लक्षण कहे है वे अधिकांश में हम लोगो पर ही घटते है।

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

सत्रहवाँ अध्याय

सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने काम, क्रोध और लोभ को सब पापो का मूल बताकर फिर यह कहा कि जो लोग इनके वश होकर सत्-शास्त्रो के विधानानुसार अपने कर्तव्य-कर्म न करके मनमाने आचरण करते है, उनका यह लोक तथा परलोक दोनो विगड़ जाते है; इसलिए काम, क्रोध और लोभ को जीत कर सत्-शास्त्रो में वर्णित सवकी एकता के प्रेम सहित अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म सवको करना चाहिए। इस पर यह शंका होती है कि जो लोग काम, क्रोध और लोभ के वश होकर पापाचरण करें, उनकी दुर्दशा होना तो ठीक है; परन्तु जो लोग श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करने में सत्-शास्त्रो की विधि के पावन्द न रहे, उनकी क्या दशा होती है ? क्योकि श्रद्धा का महत्त्व तो गीता में अनेक स्थलो पर वर्णन किया गया है; अतः श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करने वालो की दुर्दशा नहीं होनी चाहिए यद्यपि ऐसा करना आध्यात्मिक सत्शास्त्रों के विरुद्ध भी हो। अर्जुन के उक्त आशय के प्रश्न के उत्तर में भगवान् इस अध्याय में श्रद्धा के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो का खुलासा करके वताते है, कि मनुष्य की श्रद्धा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होती है, और जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसी के अनुसार उसके जीवन की स्थिति होती है। इसी प्रसंग में फिर आगे भोजन के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो का वर्णन करते है, क्योकि मनुष्य के भोजन का प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है। फिर आगे यज्ञ, तप और दान के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेदो की व्याख्या करते है, क्योकि चौदहवें अध्याय में कह आये है कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख का कारण है, रजोगुण दु.ख का और तमोगुण अज्ञान एवं अवनति का कारण है; और मनुष्य-शरीर में यह योग्यता होती है कि वह विचार द्वारा मन को वश में करके सात्त्विक आहार और सात्त्विक यज्ञ, दान, तप आदि से अपने स्वभाव को सात्त्विक वना सके, जिससे सवकी एकता के साम्य-भाव में स्थिति होकर शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति हो सके।

यहाँ पर यह वात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप और दान का जो वर्णन आगे किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इसका उद्देश्य इन कृत्यो की परोक्ष फल देने वाली धार्मिकता का विवेचन करना नहीं है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था, अर्थात् लोक-संग्रह में इनकी उपयोगिता वताने का है। सारांश यह कि सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप और दान समत्व-योग के प्रधान साधन है।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! जो (पुरुष) शास्त्र-विधि को छोड़कर श्रद्धा से युक्त हुए, यजन अर्थात् धार्मिक कृत्य करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी है—सात्त्विकी, राजसी या तामसी ? तात्पर्य यह कि जो लोग सत्-शास्त्रो में वर्णित सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करने के विधान पर ध्यान न देकर केवल श्रद्धा के आधार पर हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, नित्य-कर्म आदि धार्मिक कृत्यो में लगे रहते है, उनके जीवन की स्थिति सात्त्विक, राजस और तामस में से कौनसी होती है (१) ? श्री भगवान् बोले, कि देहधारियो की वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी; उसको सुन । हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने-अपने स्वभावानुसार होती है; यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने पूछा था कि जो लोग श्रद्धापूर्वक धार्मिक कृत्य करते हैं, उनके जीवन की स्थिति किस प्रकार की होती है ? उसके उत्तर में भगवान् कहते है कि प्रत्येक मनुष्य की श्रद्धा अथवा भावना ही अपने-अपने पूर्व के संस्कारानुसार सात्त्विकी राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है, और जिसकी जैसी श्रद्धा अथवा भावना होती है, उसी के अनुसार उसका जीवन सात्त्विक, राजस और तामस होता है; क्योकि मनुष्य श्रद्धा अथवा भावनामय ही होता है (२-३) । सात्त्विक लोग देवो की उपासना करते है, राजसी लोग यक्षो एवं राक्षसो की, और तामसी लोग प्रेतो एव भूत-

गणो की पूजा करते है । तात्पर्य यह कि सात्त्विकी श्रद्धा वाले लोग सबकी भलाई अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त तीसरे अध्याय के श्लोक ११-१२ के वर्णनानुसार जगत् को धारण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियो की उपासना करते है, तथा दैवी सम्पत्ति के गुणो वाले प्रत्यक्ष देवों की निस्वार्थ-भाव से पूजा करते है । राजसी श्रद्धा के लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओ की सिद्धि के लिए धन्-सम्पत्ति के अधिकारी माने जाने वाले कुबेरादि अदृष्ट यक्षो की उपासना करते है, तथा प्रत्यक्ष में धनवान् मनुष्यो की खुशामद करते है; और अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए द्वेषपूर्वक हिंसा करने वाले अदृष्ट माने हुए राक्षसो की उपासना करते है, तथा सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी एवं राक्षसी प्रकृति के मनुष्यो का आश्रय लेकर उनके अनुयायी होते हैं । और तामसी श्रद्धा के लोग परलोक-गत अदृष्ट प्रेतो और भूतो को मान कर उनकी उपासना करते है, अर्थात् मरे हुए पितरो के निमित्त श्राद्ध-तर्पण आदि पितृ-कर्म करते है; और पांचभौतिक पदार्थों में ईश्वर, देवी-देवता, भैरव, भूत आदि की भावना करके उनका पूजन करते है, अथवा भौतिक जड़ पदार्थों ही को सब-कुछ मान कर भौतिकता (Materialism) के उपासक होते है । (४) जो लोग दम्भ और अहकार से युक्त होकर काम, राग और हठ-पूर्वक सत्-शास्त्रो के विरुद्ध घोर तप करते है, (वे) मूर्ख लोग शरीर में स्थित भूत-समुदाय को कृश करते है, और शरीर के अन्दर रहने वाले मुझको भी (कष्ट देते है), उनको आसुरी श्रद्धा के जानो । तात्पर्य यह कि जो अत्यन्त उग्र तामसी प्रकृति के मूर्ख लोग अपने तपस्वी होने के अहंकार से और लोगो में तपस्वी कहलाने के लिए, तथा दुष्ट मनोरथो की सिद्धि के लिए, हठ और दुराग्रहपूर्वक तप करने का ढोंग करके कठिन व्रत एवं उपवास आदि करने द्वारा भूख-प्यास आदि से शरीर को सुखाते है, तथा सरदी में नंगे रह कर शरीर पर ठंडी जलधारा डालने और गरमी में पंचधूनी तापने, सूलियो पर सोने अथवा औंधे लटकने आदि से शरीर और जीवात्मा को घोर कष्ट देने वाले उग्र तप करते है, उनकी श्रद्धा आसुरी* होती है (५-६) ।

स्पष्टीकरण—इन श्लोको में उन लोगो के जीवन की स्थिति का वर्णन किया गया है, जो केवल श्रद्धा-विश्वास के आधार पर धार्मिक कृत्य आदि किया करते है । चौदहवें अध्याय में कह आये है कि यह जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, इसलिए इसके सभी व्यवहार त्रिगुणात्मक होते है । उसी सिद्धात के अनुसार धार्मिक कृत्य करने वाले श्रद्धालु लोगो की श्रद्धा भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है । जिनकी सात्त्विकी श्रद्धा होती है वे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की किसी भी प्रकार की कामना के विना, निस्स्वार्थ-भाव से लोक-हित के लिए जगत् को धारण

*सोलहवें अध्याय के श्लोक १०वें का तात्पर्य देखिए ।

करने वाली अदृष्ट समष्टि दैवी शक्तियों का यजन-पूजन करते है, जिनसे उनको यह विश्वास होता है कि देवता लोग प्रसन्न होकर सबकी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे; तथा वे सात्त्विक-श्रद्धावान् लोग अपने माता-पिता, सद् गुरु, अतिथि, एवं जिनमें दैवी सम्पत्ति के गुण पूर्णतया विद्यमान् हो, ऐसे सज्जन —जो प्रत्यक्ष देव माने जाते है, उनकी भी निस्स्वार्थ-भाव से, श्रद्धा एवं आदर-सत्कारसहित सेवा-सुश्रूषा आदि करते है। जिनकी राजसी श्रद्धा होती है वे लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओ की पूर्ति के निमित्त, जो धन-सम्पत्ति देने वाले परोक्ष देवता माने जाते है और जिन्हे यक्ष कहते है—उनको प्रसन्न करने के लिए सकाम कर्मकाण्ड करते है, तथा अपने शत्रुओ का नाश करने और दूसरे लोगो को दबाने के लिए अदृष्ट राक्षसी शक्तियो की कल्पनाकर के मैले मन्त्रो आदि द्वारा उनकी उपासना करते है; और वे राजसी श्रद्धा के लोग प्रत्यक्ष में भी उपरोक्त प्रयोजनो की सिद्धि के लिए धनी लोगो की तथा दुष्ट अत्याचारी शक्ति-सम्पन्न लोगो की खुशामद करते है एवं उनके अनुयायी बनते है। जो तामसी श्रद्धा के लोग है वे अपने मरे हुए सम्बन्धियो को भयावनी प्रेत-योनि प्राप्त होने की कल्पना करके उनसे डरते हुए, उनको प्रसन्न करने के लिए उनका पूजन करते है, तथा परलोक-गत पितरो को इस लोक के पदार्थ पहुँचाने के अन्धविश्वास से नाना प्रकार के श्राद्ध आदि पितृ-कर्मो के समारोह करते है, एवं उन पितरो की संवत्सरी आदि के दिन उनको याद कर-करके रोने और शोक मनाने द्वारा उनकी उपासना करते है; और वे तामसी श्रद्धा के लोग भौतिक जड़ पदार्थों में ही ईश्वर, देवी-देवता, भूत, भैरव आदि की मान्यता करके उनसे अपने मनोरथो की सिद्धि होने की आशा से उनका पूजन करते है; अथवा पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश-रूप पच महाभूतो के समिश्रण के बनाव ही को सब-कुछ मान कर इन जड पदार्थो के ममत्व में निमग्न रहते है, अर्थात् भौतिकता के अनन्य भक्त होते है। और जो आसुरी प्रकृति के लोग होते है, उनकी श्रद्धा अत्यन्त उग्र तामसी होती है; वे लोग हठ और दुराग्रह से शरीर को पीड़ा देकर उसे कृश करने वाली नाना प्रकार की तपस्याएँ करते है, जिनसे स्वयं उनको तथा दूसरे लोगों को बहुत कष्ट होता है, और उनकी अन्तरात्मा में सदा अशान्ति बनी रहती है। इस तरह अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार वे लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के यजन-पूजन, उपासनाएँ अथवा तपस्याएँ करते रहते है, और जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसी ही उसके जीवन की स्थिति होती है; अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा वालो का जीवन ज्ञान और सुखमय होता है; राजसी श्रद्धा वालो का जीवन विक्षिप्त और दु:खयुक्त होता है; और तामसी श्रद्धा वाले लोगो का जीवन मूढता अथवा जडता-रूप अज्ञान-अन्धकारमय होता है। मनुष्य की जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि यह तीन प्रकार की श्रद्धा व्यष्टि शरीरो में अहभाव रखने वाले साधारण मनुष्यो की कही गई है, आत्मज्ञानी

समत्वयोगी तीनो प्रकार की श्रद्धाओ से परे होता है; क्योकि वह गुणो के अधीन नहीं होता, किन्तु गुणो का स्वामी होता है—यह बात चौदहवें अध्याय में कह आये है। उसके लिए अपने से भिन्न धार्मिक क्रियाएँ कुछ रहती ही नहीं; न उसके जीवन की स्थिति किसी प्रकार की श्रद्धा पर ही अवलम्बित रहती है।

× × ×

अब आगे के सोलह श्लोको में सात्त्विक, राजस और तामस-भेद से तीन प्रकार के आहार, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार के तप और तीन प्रकार के दान का वर्णन किया जाता है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियं ॥ १० ॥

अर्थ—और आहार भी सबको (अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार) तीन प्रकार का प्रिय होता है; (इसी प्रकार) यज्ञ, तप तथा दान भी (तीन प्रकार के) होते हैं; उनके अलग-अलग भेद के इस वर्णन को सुन (७)। आयु, बुद्धि, वल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले और हृदय को बल देने वाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्यारे होते है। तात्पर्य यह कि जिस खान-पान से शरीर की आयु, विवेक, बल और स्वास्थ्य बढ़ें, जिससे सुख की वृद्धि हो, और परस्पर में प्रेम-भाव वढे, जिसमें मधुर-रस तथा घृत-मक्खन आदि चिकने पदार्थों की प्रधानता हो, तथा जिससे वहुत काल तक तृप्ति बनी रहे, एवं जो हृदय को बलदायक हो—वह भोजन सात्त्विक होता है। सात्त्विकी प्रकृति के लोगो को ऐसा भोजन प्यारा लगता है, और जो लोग अपने में सत्त्वगुण की वृद्धि करना चाहे उनको ऐसा भोजन करना चाहिए (८)। कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाह उत्पन्न करने वाले आहार—जो दुःख, शोक तथा रोग के देनें वाले होते है, वे (राजस आहार) राजस स्वभाव के व्यक्ति को प्यारे लगते है। तात्पर्य यह कि वहुत कड़वे, वहुत खट्टे, वहुत खारे, वहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे तथा शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले खान-पान से उत्तेजना, दु.ख और शोक उत्पन्न होते है, तथा उस भोजन से अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती है, अत. वह राजस भोजन है। ऐसे

भोजन से रजोगुण की वृद्धि होती है, और रजोगुणी प्रकृति के लोगो को इस प्रकार के भोजन प्रिय एवं अच्छे लगते है (९)। ठडा-बासी, नीरस, दुर्गन्धियुक्त, बिगडा हुआ, जूठा और बुद्धिनाशक भोजन तामसी लोगो को प्यारा होता है। तात्पर्य यह कि जो भोजन बहुत पहले का पकाया हुआ हो, जिसका रस सूख गया हो, जिसमें दुर्गन्धि उत्पन्न हो गई हो, जिसका स्वाद बिगड़ गया हो, जो दूसरे किसी ने खाकर छोडा हो अथवा दूसरे किसी का चखा हुआ हो, जो अच्छी तरह साफ किया हुआ न हो किन्तु मैला-कुचैला हो, जिससे बुद्धि बिगड़ती हो—वह तामस भोजन है। ऐसे भोजन से तमोगुण की वृद्धि होती है, और तामसी प्रकृति के लोगो को यह भोजन अच्छा लगता है (१०)।

स्पष्टीकरण—जगत् के व्यवहार के लिए भोजन की व्यवस्था भी अत्यावश्यक है, क्योकि शरीर का अस्तित्व भोजन पर ही निर्भर है, भोजन करने से ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने व्यापार करने योग्य होते है, भोजन के विना सभी शिथिल और व्याकुल हो जाते है, फिर इनसे कुछ भी नहीं हो सकता। अच्छे अथवा बुरे भोजन का असर शरीर, इन्द्रियो, मन एवं बुद्धि पर इतना पडता है कि जैसा भोजन किया जाता है, उसी के अनुसार मनुष्य का स्वभाव बन जाता है। इसलिए खान-पान के विषय में मनुष्य को बहुत ही सावधानी और संयम रखने की आवश्यकता है। सात्त्विक भोजन से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, राजस भोजन से रजोगुण की और तामस भोजन से तमोगुण की वृद्धि होती है। सात्त्विकी प्रकृति के लोगो को सात्त्विक भोजन, राजसी प्रकृति के लोगो को राजस भोजन और तामसी प्रकृति के लोगो को तामस भोजन प्यारे लगते है। परन्तु अपनी सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालो को प्रयत्नपूर्वक राजस-तामस आहारो से यथाशक्य बचे रह कर सात्त्विक आहार करना चाहिए। क्योकि सत्त्वगुण ही ज्ञान और उन्नति का कारण है।

मधुर रस की प्रधानता वाला, स्वादिष्ट, ताजा और चिकना भोजन—जिसके खाने से बहुत देर तक तृप्ति और तरावट बनी रहे, तथा जो हृदय को बल देने वाला हो—सात्त्विक होता है। ऐसे भोजन से मनुष्य की आयु दीर्घ होती है, बुद्धि निर्मल अर्थात् सात्त्विकी होती है, शरीर बलवान् एवं स्वस्थ रहता है; और जिस मनुष्य का शरीर आरोग्य एवं बलवान् होता है, बुद्धि सात्त्विकी होती है और आयु दीर्घ होती है, वही संसार में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति कर सकता है, जिससे वह स्वयं सुखी हो सकता है और दूसरो को भी सुख दे सकता है, तथा वही दूसरो से प्रेम कर सकता है, एव स्वय दूसरो का प्रेम प्राप्त कर सकता है।

जो लोग कड़वे, खट्टे, खारे, तीखे, रूखे, जलते हुए और दाह उत्पन्न करने वाले राजस भोजन करते है, उनका स्वभाव उत्तेजनापूर्ण एव चिड़चिडा होता है, शरीर कई

प्रकार के रोगो से ग्रसित रहता है; अतः उनका जीवन दुःख और शोक से परिपूर्ण रहता है, और वे दूसरो को भी दुखी एवं शोकयुक्त करते है ।

जो ठंडा, वासी, सूखा, नीरस, सड़ा, गला, वदबू देने वाला, झूठा और अशुद्ध (मैला) तामस आहार करते है, वे आलस्य और प्रमाद में ही जीवन व्यतीत करते है— वे कुछ भी उन्नति करने योग्य नहीं रहते ।

यहाँ भोजन के त्रिगुणात्मक भेद की व्याख्या करने में खाद्य पदार्थो के विशेष नामो का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योकि भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियो के लोगो के भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थ होते है। संसार में अधिकांश लोग मांसाहारी है और कुछ लोग निरामिषभोजी—शाकाहारी है । गीता सार्वजनिक एवं सार्वदेशिक अर्थात् सार्वभौम शास्त्र है, इसलिए इसमें किसी विशेष देश अथवा विशेष जाति के लोगो के विशेष खाद्य पदार्थो का उल्लेख न करके साधारणतया भोजन के गुणो ही से उसके सात्त्विक, राजस और तामसपन की व्याख्या कर दी गई है । जिस पदार्थ में जिस तरह के गुण हो, उसी के अनुसार उसका उपरोक्त सात्त्विक, राजस और तामसपन समझ लेना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पदार्थों के संस्कार करने, अर्थात् उन्हें पकाने आदि की विधि, और उनके उपयोग के अनुसार उनके गुणो में कमी-बेशी अथवा फेरफार भी हो जाता है । उदाहरणार्थ—मिश्री, शहद, दूध, मलाई, मक्खन, घी आदि मधुर रस वाले एवं चिकने पदार्थ यद्यपि साधारणतया सात्त्विक होते है, परन्तु बहुत काल तक पड़े रहने से, अथवा अधिक पकाने से, अथवा कम पकाने से, अथवा मात्रा से अधिक खा लेने से वे ही राजस-तामस हो जाते है । इसी तरह अजीर्ण आदि बीमारियाँ हो जाने पर कड़वे, खट्टे, खारे, तीखे आदि राजस पदार्थ खाना भी हितकर होता है, और रूखा भोजन पथ्य होता है, तथा किसी अवसर पर ताजा भोजन न मिले तो बासी एव सूखे भोजन से भूख की ज्वाला शान्त करके शरीर की रक्षा करना श्रेयस्कर होता है । यदि किसी दूसरे के घर भोजन किया जाता है, तो उसके आचरणो का थोड़ा बहुत असर भी भोजन पर पड़ता है, तथा भोजन वनाने वाले की प्रकृति का भी थोडा-बहुत असर अप्रत्यक्ष रूप से भोजन में आये विना नहीं रहता। इसलिए भगवान् ने भोजन के किसी विशेष पदार्थ की कैद नहीं रखी है, किन्तु साधारणतया आयु, सत्त्व, वल, आरोग्य, सुख और प्रीति वढाने वाले भोजन को सात्त्विक कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि चाहे खाद्य पदार्थ कुछ भी हो, उनमें ये गुण होने से वे सात्त्विक होते है; दूसरी तरफ रोग, दुःख, शोक, आलस्य और प्रमाद के वढाने वाले खाद्य पदार्थ राजस और तामस होते है ।

मनुष्य के स्वभाव पर खान-पान का गहरा प्रभाव पड़ता है; इसलिए आर्य-संस्कृति में खाद्याखाद्य के विपय में वहुत वारीकी से विचार किया गया है और आहार की शुद्धि

पर बड़ा जोर दिया गया है। यहाँ तक विधान किया गया है कि नीति से उपार्जन किये हुए आहार से बुद्धि निर्मल रहती है, और अनीति से प्राप्त आहार से बुद्धि मलिन होती है; तथा दुराचारी मनुष्य के घर का एव दुराचारी मनुष्य के हाथ का भोजन करना मना है। परन्तु वर्तमान समय में आर्य-सस्कृति को मानने वाले लोग आहार-शुद्धि के रहस्य पर समुचित विचार नहीं करते, अतः खान-पान के विषय में बहुत ही विपर्यास हो गया है।

पुराने विचारो के अन्ध-परम्परावादी लोग खान-पान के विषय में केवल छुआछूत, जाति-पाँति और कच्ची-पक्की आदि के विचारो को ही विशेष महत्त्व देते है—खाने-पीने की सामग्री के गुण-अवगुण तथा उसकी शुद्धता पर बहुत कम ध्यान देते है। दूसरी तरफ नई रोशनी के लोग आहार-शुद्धि के विचार को ही ढकोसला मानते है, अतः जो कुछ स्वादिष्ट लगे और फैशन के अनुकूल हो, उस पदार्थ के खाने-पीने से कोई परहेज नहीं करते। इसलिए आहार की व्यवस्था बहुत बिगड़ रही है; जिसके परिणाम-स्वरूप जनता की आयु, बल और स्वास्थ्य क्षीण हो रहे है, नाना प्रकार के रोगो की भरमार है, बुद्धि राजसी-तामसी हो रही है, और देश में दु.ख एवं दरिद्रता का साम्राज्य है।

× × ×

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

अर्थ—"शास्त्र-विधि के अनुसार यज्ञ करना ही कर्तव्य है" इस प्रकार मन के दृढ-निश्चयपूर्वक, फल की इच्छा से रहित पुरुषो द्वारा जो यज्ञ किया जाता है—वह सात्त्विक यज्ञ है। तात्पर्य यह कि अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रो में यज्ञ का जो यह विधान है कि "दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के भाव की पशु-वृत्ति को समष्टि-भाव-रूपी ब्रह्माग्नि में होम कर, व्यक्तिगत स्वार्थो को सबके स्वार्थो में मिला देने का यज्ञ करना प्रत्येक मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है", उसको अच्छी तरह समझ कर और उस पर मन में दृढ़ निश्चय रखके, दूसरो से पृथक् अपनी किसी भी स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर, लोक-हित के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना—सात्त्विक यज्ञ है (११)। और फल के उद्देश्य से, तथा दभ अर्थात् लोक-दिखावे के मिथ्या आडम्बर करने के लिए भी, जो यज्ञ किया जाता है, हे भरतश्रेष्ठ! उस यज्ञ को राजस यज्ञ जान। तात्पर्य यह कि

भेद-वाद के शास्त्रो में मन लुभाने वाले रोचक वचनों द्वारा विधान किये हुए जो काम्य-कर्म, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाते हैं (गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४), अथवा लोगों में धर्मात्मा कहलाने के लिए व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने वाले हवन-अनुष्ठान आदि नाना प्रकार के धार्मिक कृत्यो का जो आडम्बर किया जाता है—वह राजस यज्ञ है (१२)। विधि से हीन, अन्न-दान से रहित, मन्त्रो के बिना, दक्षिणा न देकर, अश्रद्धा से किया जाने वाला यज्ञ तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रो में यज्ञ का जो विधान ऊपर कहा गया है, उसके अभिप्राय को कुछ भी न समझ कर, उसके विपरीत, मूल्यवान् खाद्य पदार्थो से भूखो के पेट की ज्वाला शान्त न करके, जो मूढता से हवन के नाम पर अग्नि में उन पदार्थो को जलाया जाता है, और अभेद-प्रतिपादक वेदो तथा उपनिषदो के वचनो की अवहेलना करके स्वार्थी लोगो की चिकनी-चुपड़ी बातो के जाल में फँस कर यज्ञ के नाम से जो पशुओ की हत्या और द्रव्य का अप-व्यय किया जाता है, जिससे किसी का भी लाभ अथवा उपकार नहीं होता—वह तामस यज्ञ है (१३)।

स्पष्टीकरण—इन तीनो श्लोकों में जो तीन प्रकार के यज्ञो की व्याख्या की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि सच्चा यज्ञ वह है, जो अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में विधान किया गया है। उन शास्त्रो का सिद्धान्त है कि यह सारा जगत् एक ही आत्मा अथवा पर-मात्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दूसरो के साथ अपनी एकता के प्रेम-पूर्वक सहयोग रखते हुए, जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ अवश्य करना चाहिए। परन्तु इस एकता के रहस्य के अज्ञान के कारण मनुष्य में जो दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव रहता है, वह मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है, क्योकि पशु-शरीर में बुद्धि का विशेष विकास नहीं होता, इसलिए उसको सबकी एकता का ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु मनुष्य-शरीर में बुद्धि का विकास होने पर भी, वह यदि अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव में डूबा रहे तो यह उसका मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव-रूपी पशुपन को सबकी एकता-रूपी अग्नि में होमने का यज्ञ करे, अर्थात् वह वेदो और उपनिषदो के अभेद-प्रतिपादक मन्त्रो में श्रद्धा करके सबकी एकता के विश्वासपूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर अपने स्वार्थो को दूसरो के स्वार्थो के अन्तर्गत समझे; तथा सबकी भलाई एवं सबके हित में अपनी भलाई एवं अपना हित समझ कर सबके हित की भावना से अपने-अपने शरीर की योग्यतानुसार चातुर्वर्ण्य-विहित अपने कर्तव्य-कर्म करे; और जो खाद्य-सामग्री अपने पास हो, उसे असमर्थ भूखे लोगो को उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए बाँट कर आप खाय; तथा जो धन-सम्पत्ति अपने पास हो, उसे दीन-दु:खी लोगों के कष्ट-निवारण

करने तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति में सहायता देने के उपयोग में लाते हुए स्वयं उसका उपयोग करे—यह सच्चा सात्त्विक यज्ञ है।

इसके विपरीत, इस लोक तथा परलोक में व्यक्तिगत भोगैश्वर्य आदि प्राप्त करने की कामना से, अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि के लिए, जो पृथक् व्यक्तित्व के भाव में दृढता कराने वाले भेद-वाद के शास्त्रो में विधान किये हुए सकाम हवन, अनुष्ठान, यजन-पूजन आदि के आडम्बर किये जाते है, और उन धार्मिक कृत्यो से धर्मात्मा कहलाने का जो ढोग किया जाता है; तथा जिन अज्ञानी लोगो की अभेद-प्रतिपादक सत्-शास्त्रो में श्रद्धा नहीं होती, वे यज्ञ के वास्तविक तात्पर्य को नहीं समझते हुए, मूल्यवान् खाद्य-पदार्थों को भूखो को न खिलाकर अग्नि में जला देते है; तथा जो लोग धूर्त एव स्वार्थी मनुष्यो के फदे में पड़कर उनके कहने पर देवी-देवताओ अथवा भूतो को प्रसन्न करने के मिथ्या विश्वास से पशुओ को होमते एवं उनकी वलि चढ़ाते है, तथा अन्य धार्मिक एव साम्प्रदायिक कर्म-काण्डो के समारोह किया करते है, जिनमें द्रव्य की अपार बरबादी होती है, परन्तु उस बरबादी से दीन-दुखियो के कष्ट-निवारण में कोई सहायता नहीं पहुँचती, न किसी का कोई उपकार अथवा किसी प्रकार की सेवा ही होती है—केवल कुपात्रो को उनके दुराचारो में प्रोत्साहन मिलता है—इस तरह के आडम्बर राजस-तामस यज्ञ है, जो वास्तविक यज्ञ नहीं किन्तु उनका विपर्यास एव उनकी विडम्बना मात्र है।

वर्तमान में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इस देश में प्राय. सच्चे सात्त्विक यज्ञो का अभाव-सा है, और इसके विपरीत राजस-तामस यज्ञो की भरमार हो रही है। जब तक यह व्यवस्था नहीं सुधरती, तब तक अवनति और दुःखो से छुटकारा नहीं हो सकता।

\+ \+ \+

अब तप के सात्त्विक, राजस और तामस भेदो की व्याख्या करने से पहले भगवान् शरीर, वाणी और मन से किये जाने वाले तीन प्रकार के तप का वर्णन करते है, जिस पर अच्छी तरह विचार करने से निश्चय होता ह कि गीता में शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया है—काया को कष्ट देने वाली चेष्टाओ को वास्तविक तप नहीं माना है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङमयं तप उच्यते॥ १५॥
मन.प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।। १७ ।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।। १८ ।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। १९ ।।

अर्थ—देव, ब्राह्मण, बड़े और बुद्धिमानों का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—(यह) शारीरिक तप कहा जाता है । तात्पर्य यह कि माता, पिता, गुरु, अतिथि, तथा जिन व्यक्तियो में दैवी सम्पत्ति के गुणो की अधिकता हो—इन सबको प्रत्यक्ष देव मान कर, इनका यथायोग्य आदर-सत्कार एवं सेवा-शुश्रूषा आदि द्वारा पूजन करना*; तथा अठारहवें अध्याय के ४२वें श्लोक में वर्णित गुणो वाले ब्राह्मणो का, तथा जो आयु, विद्या, ज्ञान आदि गुणो में बडे हो उनका, तथा जो अपनी बुद्धिमत्ता के लिए विख्यात हो ऐसे लोगो का, आदर-सत्कार एवं सेवा-शुश्रूषा आदि रूप से पूजन करना; शरीर को पवित्र और निर्मल रखना; किसी से टेढ़ेपन, रूखेपन अथवा अकड़न का बर्ताव न करना; इन्द्रियो के सभी विषयो में—खासकर स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय में—संयम रखना; कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना कि जिससे किसी निर्दोष प्राणी को बिना कारण पीड़ा या हानि हो—यह शरीर का तप है (१४)। ऐसे वचन बोलना, कि जिनसे उद्वेग उत्पन्न न हो, तथा जो सच्चे, प्यारे एवं हितकर हो, और विद्याध्ययन के अभ्यास में लगे रहना—यही वाणी का तप कहा जाता है । तात्पर्य यह कि वचन ऐसे बोलना कि जिनसे विना कारण किसी के मन में उद्वेग उत्पन्न न हो, और जो सत्य होने के साथ-साथ प्यारे, मीठे और हितकर हो, अर्थात् वाणी में कठोरता, कडुआपन, टेढ़ापन एवं रूखापन न हो, तथा किसी की बुराई करने के भाव न हो; और विद्याध्ययन करना—यही वाणी का तप है (१५) । मन की प्रसन्नता, सौम्य-भाव, मननशीलता, संयम और अन्तःकरण की शुद्धि—यह मन का तप कहा जाता है । तात्पर्य यह कि मन को सदा प्रसन्न, शान्त और शीतल वनाये रखना; जो विषय देखे, पढे या सुने उनका अच्छी तरह मनन करना; विषयो में आसक्त न होना; तथा छल-कपट, दम्भ, कुटिलता आदि मलिन भावो से रहित होना—यह मन का तप है (१६) । फल की इच्छा से रहित और सबकी एकता के साम्य-भाव में जुडे हुए मनुष्यो द्वारा परम श्रद्धा से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्त्विक

* मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, आदि गुणो का विशेष विवरण वारहवे अध्याय के स्पष्टीकरण में देखिए ।

कहलाता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव से युक्त होकर, ऊपर कहा हुआ तीन प्रकार का तप अर्थात् शिष्टाचार, इस सात्त्विकी श्रद्धा से किया जाय कि उक्त शिष्टाचार का पालन करना अपना सच्चा कर्तव्य है, तथा उसमें किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्त्विक तप होता है (१७)। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त पाखण्ड से किया जाता है, उस अस्थिर और अनिश्चित तप को यहाँ राजस (तप) कहा है। तात्पर्य यह कि आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा भेंट-पूजा की प्राप्ति के उद्देश्य से अथवा केवल लोक-दिखावे के लिए उपरोक्त तप अथवा शिष्टाचार का जो ढोंग कपटपूर्वक किया जाता है, वह चंचल और अनिश्चित होता है—कभी किया जाता है, कभी नहीं किया जाता; कभी किसी प्रकार से किया जाता है, कभी दूसरे किसी प्रकार से; जिस समय जिस तरह करने से सत्कार, मान, पूजा अथवा धन की प्राप्ति होने की आशा होती है, उस समय उस प्रकार से किया जाता है, और जब ऐसी आशा नहीं होती, तब नहीं किया जाता—वह राजस तप होता है (१८)। मूर्खतापूर्ण दुराग्रह से शरीर और मन को पीड़ा देकर, अथवा दूसरो का बुरा करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे तामस (तप) कहते हैं। तात्पर्य यह कि व्रत-उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रहने द्वारा, अथवा सर्दी-गरमी सहन करने द्वारा शरीर को क्लेश देने वाला जो तप हठ अथवा दुराग्रह से किया जाता है, अथवा जो दूसरो के मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि के खोटे उद्देश्य से किया जाता है—वह तामस तप होता है (१९)।

स्पष्टीकरण—श्लोक १४ से १९ तक तप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह वास्तव में आर्य-सस्कृति के शिष्टाचार का संक्षिप्त संग्रह है। भगवान् शिष्टाचार को ही तप मानते हैं। माता, पिता, गुरु, अतिथि (पाहुने) इन प्रत्यक्ष देवो की, तथा जिन सज्जनो में दैवी सम्पत्ति के गुणो की प्रधानता हो उनकी, तथा विद्या और विनय से सम्पन्न श्रेष्ठाचारी ब्राह्मणो की, तथा बड़े-बूढ़े की, एवं बुद्धिमान् पुरुषो की विनम्र-भाव से आदर-पूर्वक वन्दना और सेवा-शुश्रूषा करना, उनका लिहाज रखना, उनके साथ कोई ऐसा वर्ताव न करना कि जिससे उनके मन में आघात पहुँचे या वे अप्रसन्न हो; शरीर को स्वच्छ रखना तथा साफ-सुथरे वस्त्र पहिनना—मैले-कुचैले न रहना; लोगो के साथ सरलता, नम्रता और मधुरता का बर्ताव करना, किसी से कठोरता, रूखेपन, लापरवाही, निष्ठुरता अथवा कुटिलता का बर्ताव न करना; सभी इन्द्रियो के विषयो में संयम रखना, किसी भी इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर कोई अनुचित व्यवहार न करना—खासकर अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के सिवाय अन्य किसी स्त्री अथवा पुरुष के साथ सहवास-सम्बन्धी किसी प्रकार की चेष्टा न करना; अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा विना कारण ही

किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना तथा किसी की जान-बूझकर हानि न करना; सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, अपनी तरफ से किसी को चुभने वाले अथवा उद्वेग उत्पन्न करने वाले अथवा किसी का तिरस्कार अथवा अपमान करने वाले अथवा कड़ुए एवं रूखे वचन मुख से नहीं कहना; सद्विद्याओ और सत्-शास्त्रो का अध्ययन करना; मन को सदा प्रफुल्लित, शान्त और शीतल रखना; दूसरो की वातो को अच्छी तरह ध्यान देकर सुनना, उनका तिरस्कार न करना; मन को चंचल होने से रोकना, तथा कूड़, कपट, छल आदि विकारो से रहित रखना—यह आर्य-संस्कृति का शिष्टाचार है। यह शिष्टाचार भी अपनी किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि के उद्देश्य अथवा केवल ऊपरी दिखावे-मात्र के लिए न हो, किन्तु सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक और कर्तव्य समझ कर सहज स्वभाव से किया जाय, तभी यह सच्चा तप कहा जाता है। यदि यही शिष्टाचार अपनी किसी प्रकार की मान-वड़ाई अथवा स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से कपट के साथ किया जाय तो वह तप नहीं होता, किन्तु पाखण्ड होता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि गीता में उपरोक्त शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया है। वर्तमान समय में आम-तौर से तप का जो अभिप्राय शरीर को सुखाने, शिथिल करने अथवा पीड़ा देने की नाना प्रकार की चेष्टाएँ करना समझा जाता है—जिस तरह निराहार एवं निर्जल व्रत-उपवास आदि करना, शीत काल में आश्रय और वस्त्ररहित रहना तथा शरीर पर ठंडा पानी डालना, गरमी में कड़ी धूप में तपती हुई रेत में और अग्नि के सम्मुख बैठना यानी पचधूनी तापना, कठिन और नुकीली चीजें शरीर में चुभाना, दीर्घ काल तक खड़े रहना या कठिन आसन करके किसी एक स्थिति में बैठे रहना, पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधे लटकना, कंकर-पत्थर की भूमि पर लेटना, नख-केश आदि बढ़ाना, शरीर पर खाक रमाना और मैले-कुचैले रहना आदि, जिनसे ऐसा करने वाले स्वयं क्लेश पाते है और दूसरो को भी पीड़ा देते है—इस तरह के हठ और दुराग्रह को भगवान् ने तामस व आसुरी तप कहा है, जिससे समाज में अव्यवस्था एवं आतंक फलने के सिवाय और कुछ भलाई नहीं होती।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अर्थ—दान अवश्य देना चाहिए, इस भाव से देश, काल और पात्र का विचार

करके, बदले में उपकार न करन वाले को जो दान दिया जाता है—वह सात्त्विक दान कहा गया है। तात्पर्य यह कि मनुष्य को जो पदार्थ प्राप्त होते है, वे उसके अकेले के प्रयत्न से नहीं होते, किन्तु सबके सहयोग से होते हैं, इसलिए किसी भी पदार्थ पर केवल अपना ही अधिकार नहीं समझना चाहिए, किन्तु उसमें सबका साझा समझ कर, जिसको उस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो, उसे निस्स्वार्थ-भाव से देना अपना कर्तव्य समझना चाहिए; और जिसको दान दिया जाय, उसके बदले में उससे कोई अपना काम करवाने अथवा किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि करने की, तथा मान और कीर्ति की, अथवा इस लोक तथा परलोक के फल की किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए; दूसरे शब्दो में दान देने में सट्टे का भाव नहीं रखना चाहिए; परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिस देश में, जिस काल में और जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो और जिसके बिना वह कष्ट पाता हो, अथवा जिसके बिना उसका अनिष्ट होता हो अर्थात् वह अपनी यथार्थ उन्नति न कर सकता हो, और जिस दान को प्राप्त करके वह अपना हित कर सकता हो, अर्थात् जिसका सदुपयोग करके वह अपनी तथा दूसरो की भलाई कर सकता हो—इस तरह का दान देना सात्त्विक दान है (२०)। परन्तु प्रत्युपकार अर्थात् बदले में अपना किसी भी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, अथवा फल के उद्देश्य से, तथा क्लेश पाकर जो दान दिया जाता है—वह राजस दान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस दान में उपर्युक्त कर्तव्य-पालन का भाव न हो, किन्तु अपनी किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि के प्रयोजन से, अथवा इस लोक तथा परलोक के परोक्ष फल मिलने के उद्देश्य से जो दान दिया जाय, अथवा अपनी उदारता दिखाने तथा कीर्ति प्राप्त करने के लिए अपनी सामर्थ्य से अधिक, अथवा कर्ज लेकर जो दान दिया जाय, जिससे स्वयं देने वाले को कष्ट भोगना पड़े—वह राजस दान है (२१)। अयोग्य देश और अयोग्य काल में कुपात्रो को सत्कार के बिना, तिरस्कारपूर्वक जो दान दिया जाता है—वह तामस दान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस देश और जिस काल में जिन व्यक्तियो को जिस पदार्थ की आवश्यकता ही न हो, अथवा जिसके बिना उनको कोई कष्ट, हानि या अनिष्ट न हो, अथवा जिसके देने से उसका दुरुपयोग होता हो, अथवा जिस दान से दान लेने वाले का तथा दूसरों का अनिष्ट होता हो और जनता में अनाचार बढता हो, तथा जो दान दानीपन के अहकार से दूसरो का तिरस्कार करके दिया गया हो—वह तामस दान होता है (२२)।

स्पष्टीकरण—यज्ञ और तप की तरह दान भी समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक है; परन्तु वही दान समाज के लिए हितकर होता है, जो उपर्युक्त सात्त्विक भाव से दिया जाता है; अर्थात् देने वाले के मन में यह भाव हो कि "मेरे पास जो भी कुछ देने योग्य है, वह मुझे सबके सहयोग से प्राप्त हुआ है, इसलिए इसमें सबका

साझा है, और वह मेरी ही तरह दूसरो के भी उपयोग में आना चाहिए"—इस विचार से वह अपने अधीनस्थ पदार्थों को दूसरो के हित के लिए दे; और उनके देने में न तो अपने व्यक्तित्व का अहंकार रख कर लेने वालो पर कोई एहसान का भाव दिखावे, और न उनसे किसी प्रकार का बदला लेने अथवा किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि करने के भाव रखे; तथा इस बात की बहुत सावधानी रखे कि जो कुछ दिया जाय उसका अच्छी तरह सदुपयोग हो, अर्थात् वह न तो निरर्थक जाय और न उससे किसी की हानि अथवा बुराई हो; और इस तरह का दान न दिया जाय कि दान देने वाला खुद तथा उसके बाल-बच्चे दीन होकर कष्ट पावें और कर्जदार हो जावें; दूसरी तरफ, अपने दान देने के घमण्ड में दूसरों को ताने दे-देकर अथवा दूसरो का अपमान करके उन्हे लज्जित एवं उद्विग्न न करे।

दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन है—एक तो दाता को त्याग का अभ्यास होता है, जिससे उसकी ममत्व की आसक्ति कम होती है; और दूसरा, जिन लोगो के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन न हो तथा जिनमें अपनी वास्तविक उन्नति करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार सहायता देकर उनकी वास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति कराने तथा उनकी वास्तविक उन्नति कराने में सहयोग दें, ताकि समाज और जगत् में अनुचित विषमता-जन्य अव्यवस्था उत्पन्न न हो, किन्तु समता एवं सुख-शान्ति बनी रहे। इसलिए दान की योग्यता का माप उसकी मात्रा से नहीं होता, किन्तु देने वाले के भाव, देने की विधि और दान के उपयोग से होता है। अधिक सामर्थ्यवालो के अधिक मात्रा के दान की जितनी योग्यता होती है, उतनी ही कम सामर्थ्यवालो के कम मात्रा के दान की होती है—यदि दान उपर्युक्त सात्त्विक भाव से देश, काल और पात्र का अच्छी तरह विचार करके दिया जाय। अतः थोड़ी सामर्थ्यवालो को यह संकोच कदापि न करना चाहिए कि इसमें से क्या दिया जाय, अथवा इतने-से दान से क्या उपकार होगा? जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हो, विद्या, बुद्धि, बल, कला, ज्ञान आदि गुण हो, वे अपने उन गुणो का दान कर सकते है। जैसे, विद्वान् लोग विद्या पढाने द्वारा, बुद्धिमान् लोग सद्विचारो एवं सुसम्मतियो द्वारा, बलवान् लोग निर्बलो की भय से रक्षा करने द्वारा, कलावान् लोग कलाओ को सिखाने द्वारा लोगो का हित कर सकते है और ज्ञानी पुरुष ज्ञान के उपदेशो द्वारा लोगो को संसार-भय से मुक्त करने का लाभ पहुँचा सकते है। अभय-दान की महिमा सब दानो से अधिक है। परन्तु वर्तमान समय में इस देश के लोगो का ध्यान दान के इस यथार्थ सिद्धान्त की तरफ बहुत कम रहता है, इसलिए राजस-तामस दान की बहुत भरमार हो रही है।

जो पुराने विचार के लोग धार्मिक अन्धविश्वासो में कट्टरता रखते है, वे दान को, या तो एक धार्मिक विधि मानते है, या उसे इस लोक तथा परलोक में सुख-सम्पत्ति प्राप्त कराने का साधन समझते है। इसलिए उनका दान इस प्रकार का होता है, कि

जिससे या तो उनके माने हुए धर्म का सम्पादन एवं उसकी पुष्टि और विस्तार हो; या उनका दान सट्टे के रूप में होता है, जिससे दान के बदले में उससे कई-गुना अधिक मूल्य भविष्य में—इस लोक में अथवा परलोक में मिलने की आशा होती है। उनकी समझ मे दान देने के योग्य देश प्रायः तीर्थस्थान ही होते हैं; और ग्रहण, सक्रान्ति, एकादशी, अमावस्या आदि पर्व, और यज्ञोपवीत, विवाह एवं मृत्यु आदि संस्कारो के अवसर ही दान के योग्य काल होते हैं; तथा दान के पात्र केवल ब्राह्मण, गुरु, आचार्य, साधु, संन्यासी आदि धर्म के ठेकेदार एव भिखमंगे ही होते है। जिन तीर्थ-स्थानो पर बहुत-से मठ, मन्दिर, धर्मशालाएँ आदि पहले ही विद्यमान होती है—जिनका अधिकतर उपयोग पण्डे-पुजारियो और दुराचारी महन्तो की धींगा-मस्ती में होता है—प्रायः वहीं पर ये लोग उसी तरह की संस्थाएँ अधिकाधिक बनवाते रहते है, और वहाँ पर निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी लोगो को बिना परिश्रम किये खाने, पीने, रहने और पहिनने-ओढ़ने का सामान मिलने के लिए एक-दूसरे से बढकर छेत्र (क्षेत्र अर्थात् अन्नसत्र) लगाते रहते हैं। उन मन्दिरो में भोग-प्रसाद तथा पूजन-अर्चन की ढेर-की-ढेर सामग्रियाँ पहुँचाते रहते है, और दूध, दही, घी, खाण्ड आदि मूल्यवान् खाद्य पदार्थ नदियो में बहाते है। उपर्युक्त पर्वों तथा उत्सवो के अवसर पर उक्त ब्राह्मण, साधु आदि भिखमंगो को मिष्टान्न भोजन करवाकर दक्षिणाएँ देते है, और पण्डे-पुरोहितो को मूल्यवान् वस्त्राभूषणो की पहरावनियाँ पहिनाकर, तथा अन्नदान, गोदान, सुवर्णदान, भूमिदान आदि देकर अपने परलोक की यात्रा के लिए सामान करने की दिलजमई कर लेते है; तथा धर्माचार्यों, मठाधीशो, मण्डलेश्वरो, महन्तो आदि को बड़ी-बड़ी रकमो तथा बहुमूल्य वस्तुओ की भेंटें दे-देकर उनसे स्वर्ग और मोक्ष का सौदा करते है। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, कुभी, अर्धकुभी आदि पर्वों पर नहाने के लिए लाखो नर-नारी तीर्थ-स्थानो, एव नदी-समुद्रो पर जाते है, जिनमें इस प्रकार के दान देने के अतिरिक्त लाखो रुपये प्रति वर्ष रेलवे के किराये के दे दिये जाते है। भारतवर्ष में इस तरह के दान में प्रति वर्ष करोड़ो रुपये व्यय होते है।

इस प्रकार राजसी-तामसी दानो में लगने वाली इतनी बड़ी धन-राशि का सदुपयोग किया जाकर, यदि वह वस्तुतः दु:खियो का दुःख-निवारण करने, गरीबो की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनकी हर प्रकार की उन्नति करने में लगाई जाय तो देश की दरिद्रता शीघ्र ही दूर हो सकती है ।

जिन लोगो के पास विद्या, कला, बुद्धि, वल, ज्ञान आदि गुणो की विशेषता होती है, वे पूरे मूल्य बिना अपने उन गुणो से किसी को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते; इसलिए जिनके पास धन नहीं होता, वे इन गुणो के लाभ से वचित रहते हैं। सारांश यह कि समाज की सब प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति और उन्नति के सभी साधन एक मात्र धन पर निर्भर है, और यदि धन के दान का सदुपयोग किया जाय तो सभी आवश्यकताओ की

पूर्ति और उन्नति के साधन उपलब्ध हो सकते है। इसलिए धन का दान करने में बहुत विचार और सावधानी की आवश्यकता है।

इस समालोचना का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस देश में सात्त्विक दान का सर्वथा अभाव है। हमारे यहाँ ऐसे अनेक दानी सज्जन भी है, जिनके सात्त्विक दान से लोगो का बहुत उपकार हो रहा है और जिनके लिए देश को बड़ा गौरव है; परन्तु ऐसे महानुभावो की संख्या बहुत थोड़ी है, इसलिए राजस-तामस दान की तुलना में सात्त्विक दान की मात्रा बहुत कम है।

× × ×

यज्ञ, तप और दान के सात्त्विक, राजस और तामस भेदों का अलग-अलग वर्णन करके, अब भगवान् प्रत्येक काम करने में सबकी एकता के अद्वैत-सिद्धान्त को याद रखने के लिए, सबकी एकता-स्वरूप—ब्रह्म के निर्देशक "ओ तत्सत्" मंत्र के उच्चारणपूर्वक यज्ञ, तप और दान आदि सब कर्म करने का विधान करते है; क्योकि जो भी कुछ कर्म किये जाते है, वे वास्तव में सात्त्विक तभी होते है, जबकि उनमें सबकी एकता का ब्रह्म-भाव हो; अनेकता के भाव से किये हुए सात्त्विक व्यवहार भी राजस-तामस हो जाते है। इसलिए इस मूल मंत्र के उच्चारणपूर्वक व्यवहार करने से सबके एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा परमात्मा की स्मृति बनी रहती है, जिससे सभी व्यवहारो में सात्त्विकता आती है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अर्थ—"ओ-तत्-सत्" यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का कहा गया है; पूर्व-काल में इससे ब्राह्मणो, वेदो, और यज्ञो की व्यवस्था की गई थी। तात्पर्य यह कि "ओ",

"तत्" और "सत्" ये तीन शब्द सबके एकत्व-भाव, सबके आत्मा, सत्-चित्-आनन्द परमात्मा अथवा ब्रह्म के सूचक हैं। अतः इन तीन शब्दो के समूह "ओं तत्सत्" मन्त्र के स्मरण द्वारा सबकी एकता को लक्ष्य में रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए, ब्राह्मण आदि चार वर्ण, वेदादि शास्त्र, और सबकी अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म-रूप यज्ञ का विधान, समाज-संगठन के आरम्भ काल ही में किया गया था (२३)। इसलिए विद्वान् पुरुषो के यज्ञ, दान और तप की विधिवत् क्रियाएँ सदा "ओ" का उच्चारण करके हुआ करती हैं। तात्पर्य यह कि "ओ" शब्द आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सारी त्रिपुटियों की एकता-स्वरूप परमात्मा का सूचक है, अतः विद्वान् पुरुष सदा इस "ओ" शब्द के उच्चारणपूर्वक सबकी एकता का स्मरण रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए पूर्वकथित सात्त्विक यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ किया करते हैं (२४)। "तत्" इस शब्द का उच्चारण करके फल की चाह छोड़ कर मोक्षार्थी जन यज्ञ, तप और दान आदि की अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि "तत्" शब्द भी सबके आत्मा=परमात्मा का सूचक है, अतः मुमुक्षु लोग इस "तत्" शब्द द्वारा परमात्मा का चिन्तन करते हुए परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त कर्म करते हैं, और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना नहीं रखते (२५)। सत्-भाव और श्रेष्ठ-भाव में "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है ; और हे पार्थ ! इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी "सत्" शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् प्रवृत्ति को भी "सत्" कहते हैं, और उनके निमित्त का कर्म भी "सत्" कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी भी वस्तु या विषय या व्यक्ति या घटना के अस्तित्व अर्थात् "होने", और उसकी सत्यता के लिए, तथा किसी भी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा व्यवहार की श्रेष्ठता अर्थात् अच्छेपन के लिए "सत्" शब्द का प्रयोग होता है; और सबके एकत्व-भाव, सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व ही वस्तुतः "सत्" है और वही वास्तव में श्रेष्ठ अर्थात् अच्छा है, इसलिए "सत्" शब्द परमात्मा का वाचक है; अत· सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की सर्वत्र अवस्थिति के बोध कराने वाले "सत्" शब्द के प्रयोगपूर्वक जो उत्तम कार्य किये जाते है, वे सत्-कर्म कहलाते है तथा सात्त्विक यज्ञ, तप, और दान सबके आत्मा=परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होते हैं, इसलिए इनकी प्रवृत्ति भी "सत्" कही जाती है; और उक्त यज्ञ, तप एवं दान के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे भी सत्-कर्म ही कहलाते हैं; अतः "सत्" शब्द के उच्चारणपूर्वक यज्ञ, तप एवं दान आदि कर्म करने से सद्भाव-रूप सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की स्मृति रहती है; इसी से सब कर्म सात्त्विक होते हैं (२६-२७)। श्रद्धा के बिना जो हवन किया हो, जो (दान) दिया हो, जो तप किया हो और जो (कुछ) किया हो, हे पार्थ ! वह असत् कहा जाता है; उससे न परलोक सधता

है और न यह लोक। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा में श्रद्धा अर्थात् विश्वास न रख कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से तथा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से जो राजस-तामस हवन, दान, तप तथा और जो कुछ कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् होते हैं; उनसे न तो इस लोक में अर्थात् इस जन्म में किसी प्रकार का अभ्युदय होता है, और न मरने के बाद परलोक में श्रेय की प्राप्ति होती है (२८)।

स्पष्टीकरण—समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक जो यज्ञ, तप और दान करने का विधान प्रत्येक मनुष्य के लिए इस अध्याय में किया गया है, उसकी मनुष्यों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की अलग-अलग व्याख्या की गई। अब इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् यह निश्चित सिद्धान्त या मूल-मन्त्र बताते हैं, कि यज्ञ, तप, दान और जो भी कर्म सबकी एकता के विश्वासपूर्वक, सबके आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म का स्मरण करते हुए किये जाते हैं, उन्हीं से समाज और जगत् की सुव्यवस्था रहती है और वे ही सबके लिए हितकारक होते हैं, अतः वास्तव में वे ही सात्त्विक होते हैं; और जो यज्ञ, दान, तप अथवा किसी भी प्रकार के कर्म एकता के विश्वास से नहीं होते, किन्तु अनेकता को सच्ची मान कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से, अथवा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से किये जाते हैं, वे राजस-तामस होते हैं; उनसे किसी का हित नहीं होता, किन्तु उनका उलटा दुष्परिणाम होता है।

सब अनेकताओं का एकत्व-भाव जो सबका अपना-आप, सबका आत्मा=परमात्मा अथवा ब्रह्म है, उसका सूचक मंत्र "ओं तत्सत्" है; क्योंकि "ओं" शब्द अ, उ, और म् अक्षरों का समूह है, और यह तीन अक्षरों का समूह, जगत् की एकता-स्वरूप परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द भाव का बोधक है; "तत्" शब्द का अर्थ "वह" आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म है; "सत्" शब्द का अर्थ "सत्य", "सदा विद्यमान रहने वाला" एवं "श्रेष्ठ" है। इन तीन शब्दों के समूह का यह अर्थ होता है कि सबका एकत्व-भाव आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म सत्य एवं श्रेष्ठ है। इस "ओं तत्सत्" शब्द के उच्चारण से ब्रह्म अथवा परमात्मा की सर्वत्र एकता, सत्ता एवं श्रेष्ठता का स्मरण होता है; अतः उसका स्मरण करते हुए कर्म करने से वे कर्म किसी का अनिष्ट करने वाले नहीं होते, किन्तु सबके हितकारक लोक-संग्रह के हेतु होते हैं। अतः सबकी एकता के निश्चय से अपनी-अपनी योग्यता के कर्म समाज और जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त करना—यही सात्त्विक आचरण है, और इसी से सबका कल्याण अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है।

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अठारहवाँ अध्याय

कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ाई आरम्भ होने के समय अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवो को, मरने-मारने के लिए उद्यत देख कर प्रेम और करुणा के वश होकर एकदम घबड़ा गया, और उसे धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह हो गया, अर्थात् वह इस बात का निर्णय न कर सका कि इस विकट परिस्थिति में उसके लिए युद्ध करके इतने बडे जन-समूह की हत्या का पाप सिर पर उठाना श्रेयस्कर है, अथवा राज्य की आशा छोड़ कर संन्यास ले लेना और भीख माँग कर निर्वाह करना श्रेयस्कर है ? उसके अन्तःकरण का झुकाव संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने की ओर अधिक रहा, इसलिए वह शस्त्र छोड़ कर बैठ गया, और भगवान् श्रीकृष्ण से कर्तव्याकर्तव्य के विषय में शिक्षा देने एव सच्चा श्रेयस्कर मार्ग दिखाने की उसने प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ११ से आरम्भ करके, अर्जुन के निमित्त से सारे संसार को कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्म-योग को ही श्रेष्ठ बताकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सासारिक व्यवहार करने की शिक्षा दी। गीता का उपक्रम अर्थात् आरम्भ इस प्रकार हुआ है, और सत्रहवें अध्याय तक भगवान् ने सबकी एकता के उक्त सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने के साथ-साथ उस एकता के ज्ञान की प्राप्ति के साधन कह कर, उस ज्ञानयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का विधान विविध प्रकार से किया।

यह अठारहवाँ अध्याय गीता का उपसंहार अर्थात् उसकी समाप्ति है। इसमें पहले के सत्रह अध्यायो का सक्षिप्त निचोड़ कह कर भगवान् अपने निश्चित निर्णय को पुष्ट करते हुए फिर से स्पष्ट शब्दो में जोर देकर कहते हैं कि कर्मों का संन्यास कभी नहीं करना चाहिए, किन्तु अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म सबको अवश्य ही करते रहना चाहिए—इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ श्रेय की प्राप्ति कर सकता है। साथ ही मनुष्यो को अपने-अपने कर्तव्य-कर्म किस प्रकार से करने चाहिएँ कि जिससे उन्हें कोई बन्धन अथवा क्लेश न हो, किन्तु पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो—इस विषय का फिर से खुलासा करके गीता के उपदेश की समाप्ति करते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। २ ।।
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। ३ ।।
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।। ४ ।।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। ५ ।।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। ६ ।।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। ७ ।।
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। ८ ।।
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। ९ ।।
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। १० ।।
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। ११ ।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। १२ ।।

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! अब मैं संन्यास का और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ । तात्पर्य यह कि यद्यपि कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग, और कर्म-योग के विषय में भगवान् ने पहले के अध्यायों में अपना स्पष्ट निर्णय दे दिया है, कि व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करना ही सच्चा संन्यास अथवा त्याग है, परन्तु उपसंहार में भगवान् से फिर असंदिग्ध शब्दो में अन्तिम निर्णय लेने के अभिप्राय

से यह प्रश्न किया गया है (१)। श्री भगवान् बोले कि काम्य-कर्मों के त्याग को पंडित लोग संन्यास कहते हैं, और सब कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान् लोग त्याग कहते हैं। कई विचारशील पुरुष यह कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त है, इसलिए उसे त्याग ही देना चाहिए; और दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप संबंधी कर्म नहीं त्यागना चाहिए। तात्पर्य यह कि प्रथम श्लोक में किय गये संन्यास एवं त्याग-विषयक प्रश्न के उत्तर में पहले भगवान दूसरे विचारशील पण्डितो के मतो का उल्लेख करते हुए कहते है, कि कई लोग वैदिक काम्य-कर्मों के छोड़ देने को संन्यास कहते है, और कर्मों के फल के छोड़ने को कई लोग त्याग कहते है; दूसरे कई लोगो का मत है कि कर्म सभी दोषपूर्ण है, इसलिए सब कर्मों को छोड़ ही देना चाहिए; और अन्य कई लोगो का कहना है कि यज्ञ, तप और दान-सवंधी धार्मिक कृत्य कभी नहीं छोड़ना चाहिए (२-३)। हे भरतश्रेष्ठ ! अब त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन ; हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है। यज्ञ, दान और तप-संबंधी कर्म त्यागने नहीं चाहिएँ किन्तु उन्हें करना ही चाहिए; यज्ञ, दान और तप विचारशील पुरुषो को पवित्र करने वाले हैं। परन्तु हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फल को त्याग कर करने चाहिएँ, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है। तात्पर्य यह कि भगवान् दूसरे लोगो का मत कह कर अब अपना निश्चित निर्णय कहते हैं, कि सन्यास अथवा त्याग भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है, जिसका अलग-अलग वर्णन आगे किया जायगा। परन्तु उसके पहले यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अपने शरीर, समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए अपने-अपने शरीर की योग्यता के चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म करने-रूप सात्त्विक यज्ञ, शिष्टाचार-रूप सात्त्विक तप और सात्त्विक दान-संबंधी कर्म, जिनसे मनुष्य की व्यक्तित्व के भाव-रूपी मलिनता अथवा पशुवृत्ति मिट कर वास्तविक मनुष्यता प्राप्त होती हैं, उनको कदापि नहीं त्यागना चाहिए; किन्तु उनको भी व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर करना चाहिए, यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है (४-६)। नियत कर्म का संन्यास करना उचित नहीं है; मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर के स्वाभाविक गुणो की योग्यतानुसार अपना जो वर्ण हो, उस वर्ण के लिए नियत कर्म का त्याग किसी को भी नहीं करना चाहिए। जो कोई मूर्खता से अपने नियत कर्म का त्याग करता है वह त्याग तामस होता है (७)। "(कर्म करना) दु.ख रूप ही है" ऐसा समझ कर, शारीरिक कष्ट के भय से जो कर्म त्याग देता है—वह राजस त्याग करने वाला त्याग के फल को नहीं पाता। तात्पर्य यह कि इस झूठी समझ से कि कर्म सव दु ख ही के हेतु होते हैं, और कर्म करने में शरीर को भी कष्ट और परिश्रम होता है, (इस भय से) जो अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ देता है, वह उसका राजस त्याग होता है; उस त्याग से त्याग का कोई प्रयोजन

सिद्ध नहीं होता, अर्थात् वह वास्तविक त्याग नहीं, किन्तु राग यानी स्वार्थ है (८)। हे अर्जुन ! (कर्म) करना ही कर्तव्य है ऐसा समझ कर, जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्याग कर किया जाता है—वह सात्त्विक त्याग माना गया है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जो कर्म अपने लिए नियत हो, उनको अवश्य-कर्तव्य समझ कर करना, उनमें व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्त्विक त्यागहै (९)। बुद्धिमान्, संशय रहित, सत्त्व-गुणयुक्त, त्यागी पुरुष, अर्थात् नवें श्लोक के अनुसार सात्त्विक त्याग करने वाला व्यक्ति, अकुशल अर्थात् अकल्याणकर, दोषयुक्त, अथवा निकृष्ट माने जाने वाले कर्म से द्वेष नहीं करता, और कुशल अर्थात् कल्याणकर, निर्दोष अथवा श्रेष्ठ माने जाने वाले कर्म में आसक्ति नहीं रखता। तात्पर्य यह कि जो उपर्युक्त सच्चा सात्त्विक त्यागी पुरुष होता है, वह बड़ा बुद्धिमान्, संशयरहित एवं दृढ-निश्चयवान् होता है, अतः उसका नियत कर्म यदि दोषयुक्त, हीन कोटि का, कष्ट-साध्य, अथवा दूसरो की अपेक्षा निकृष्ट माना जाने वाला—मैला-कुचैला एवं हिंसात्मक हो तो वह उससे द्वेष करके उसे त्याग नहीं देता; और उसका नियत कर्म यदि उच्च कोटि का, सुखसाध्य, अथवा दूसरो की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाने वाला—मलिनता एवं हिंसा आदि दोषो से रहित हो तो वह उसमें विशेष आसक्त नहीं होता, किन्तु दोनो अवस्थाओ में एक समान रहता हुआ अपना कर्तव्य-कर्म यथावत् करता रहता है (१०)। क्योंकि (कोई भी) देहधारी कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव जिसने कर्मफल का त्याग किया है—वही त्यागी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि शरीर के रहते कर्म निःशेषतः किसी से भी छूट नहीं सकते—चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी; इसलिए सच्चा त्यागी वही है, जिसके कर्म केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि मात्र के लिए ही नहीं होते, किन्तु जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त अर्थात् लोक-संग्रह के लिए होते हैं (११)। फल की कामना से कर्म करने वाले पुरुषो को कालान्तर में कर्म का अच्छा, बुरा और मिला हुआ तीन प्रकार का फल मिलता है, परन्तु (कर्मफल त्यागने वाले) सन्यासियो को कुछ भी फल नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जो व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते है, उनको अच्छे, बुरे और दोनो प्रकार के मिश्रित फल मिलते हैं; परन्तु जो व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर सात्त्विक भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करते है, उन सच्चे संन्यासियो को कर्मों के फल कभी भी कुछ वाधा नहीं देते (१२)।

× × ×

यहाँ तक भगवान् ने कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्त्विक मीमांसा करके प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म अवश्य करने का स्पष्ट आदेश किया। अव भगवान् वताते है कि कोई भी व्यक्ति अकेला कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, किन्तु प्रत्येक कर्म समष्टि शक्तियो के सहयोग से होता है; अतः कोई यह अहंकार करे

कि "मैं कर्म करता हूँ" अथवा "मैं नहीं करूँगा" तो यह उसकी मूर्खता है, इसी से बन्धन और दुःख होते हैं। परन्तु जो यह अहंकार नहीं करता, वह सब-कुछ करता हुआ भी मुक्त रहता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। १३ ।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।। १४ ।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।। १५ ।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।। १६ ।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। १७ ।।

अर्थ—हे महाबाहो! सब कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त में ये पाँच कारण कहे गये हैं सो मुझसे जान। अधिष्ठान अर्थात् जिस स्थान में अथवा जिस आश्रय में रह कर कर्म किया जाता है, वह स्थान अथवा आश्रय; कर्ता अर्थात् "मैं कर्म करता हूँ" इस प्रकार कर्म करने का अहंकार करने वाला व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा; विविध प्रकार के करण, अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा काम करने के अनेक तरह के औजार अथवा हथियार आदि साधन; भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ, अर्थात् काम करने की नाना प्रकार की शैली अथवा युक्ति अथवा व्यापार; और पाँचवाँ कारण यहाँ दैव, अर्थात् जगत् को धारण करने वाली सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ, एवं अदृष्ट अर्थात् पूर्व-कर्मों का संचित प्रभाव या प्रारब्ध भी है। शरीर, वाणी और मन से जो कुछ अच्छा या बुरा कर्म मनुष्य करता है, उसके ये पाँच साधन होते हैं। ऐसा होते हुए भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल अपने को ही कर्ता समझता है वह मूर्ख कुछ भी नहीं समझता। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो भी कुछ भला-बुरा कर्म करता है, उस कर्म के सम्पादित होने में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त पाँच कारण होते हैं; उन सबके संयोग से कर्म का सम्पादन होता है, और वे सब अनुकूल हों तभी कर्म सांगोपांग सिद्ध होता है, और तभी सफलता मिलती है। उनमें से यदि एक भी पूर्णतया अनुकूल न हो अथवा किसी में किसी प्रकार की त्रुटि हो तो कर्म की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है। यदि काम करने का स्थान एवं आश्रय उपयुक्त न हो, काम में मन न लगे, उसके विषय में विचार करने में कमी या भूल हो, इन्द्रियें स्वस्थ न हों,

काम करने के हथियार उपयुक्त न हो, काम करने की शैली ठीक न हो, क्रिया और युक्तियों की कुशलता न हो, और दैवी शक्तियाँ प्रतिकूल हो, एवं पूर्व-कर्मों के संचित प्रभाव-रूप प्रारब्ध-बाधक हो तो कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जो मनुष्य अपनी राजस-तामस बुद्धि के कारण अहंकार करे कि "कर्मो का करने वाला केवल मै ही हूँ, मेरे करने से ही कर्मों की सिद्धि होती है" और इस अहंकार से कर्मों को अपने लिए दु:ख-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर उन्हें त्यागता है, तो यह उसकी मूर्खता है; क्योकि व्यक्तित्व के अहंकार से कर्म करने और उन्हें त्याग देने—दोनो ही अवस्थाओ में दु:ख एवं बन्धन होता है (१३-१६)। **जिसको यह भावना ही नही होती कि "मै कर्म करता हूँ" और जिसकी बुद्धि लिपायमान नही होती: वह इन लोको को मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है।** तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी समत्वयोगी सम्पूर्ण जगत् को अपने से अभिन्न अनुभव करता है, इसलिए उसे कर्म करने में यह व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रहता कि "मै अमुक कर्म करता हूँ" अतः सबकी एकता के साम्य-भाव से वह अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के जो सांसारिक व्यवहार समाज और जगत् की सुव्यवस्था के लिए करता है, उनमें यदि लोगो का संहार भी हो जाय, अर्थात् बहु-संख्यक लोगो की हत्या हो जाय तो भी वास्तव में वह हिंसा नहीं होती, और न वह आत्म-ज्ञानी समत्वयोगी हिंसा के पाप से बँधता है। अपने कर्तव्य-कर्म के सिवाय, यदि कोई अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा द्वेष-भाव से अथवा मूर्खता से किसी निर्दोष प्राणी को मारता है तो उससे अवश्य ही हिंसा होती है, परन्तु आत्मज्ञानी समत्वयोगी के सभी व्यवहार लोक-हित के लिए ही होते है, उसका न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ होता है, न किसी व्यक्ति से राग अथवा द्वेष। समाज अथवा जगत् की सुव्यवस्था के लिए यदि वह दुष्ट पापियो को दण्ड देता है और मारता है, तो उससे लोकहित होता है। उसकी दृष्टि व्यष्टि-शरीरो की पृथक्ता के भाव से परे सबके समष्टि-भाव पर रहती है। इसलिए समष्टि-हित के लिए व्यष्टि-शरीरो के मरने या कष्ट पाने को वह महत्त्व नहीं देता। वह जानता है कि वास्तव में मरना-जन्मना कुछ है नहीं, जीवात्मा एक शरीर का स्वाँग छोड़ कर दूसरा स्वाँग धारण करता है (गी०अ०२ श्लो०२२)। जिस तरह बाग का माली बाग की सु-व्यवस्था के लिए हानिकारक घास-पात, पौधों और वृक्षों को समय-समय पर काटता और उनकी कलम करता है, उसी तरह सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष जगत् की सुव्यवस्था के लिए अनेक बार दुष्ट एवं हानिकारक प्राणियो का संहार करते है, इससे उनको हिंसा आदि का कोई पाप नहीं होता।

अर्जुन व्यक्तित्व के अहंकार के कारण युद्ध करने में हिंसा के पाप के भय से अपना उक्त कर्तव्य-कर्म छोड़ना चाहता था, उसी के लिए भगवान् कहते है कि आत्मज्ञान की समत्व-बुद्धि से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए करने में चाहे कितने ही

लोग मारे जायँ, वास्तव में न तो वह हिंसा होती है और न उससे पापो का बन्धन ही होता है। हिंसा और बन्धन तो दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए राग-द्वेषपूर्वक कर्म करने से होते है (१७)।

× × ×

अब कर्म करने से दु:ख और बन्धन होने, तथा कर्म न करने से सुख और मोक्ष होने के भ्रम का और भी अधिक स्पष्ट रूप से निवारण करने के लिए भगवान् कर्म करने के सात्त्विक, राजस और तामस भावो की अलग-अलग व्याख्या करके बताते है, कि किस प्रकार से कर्म करने से दुःख अथवा बन्धन होते है, और किस प्रकार से कर्म करने से दु:ख अथवा बन्धन नहीं होते, किन्तु सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होता है ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५ ॥
मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अर्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-रूप से कर्म की भीतरी प्रेरणा का तीन भेदो वाला सूक्ष्म स्वरूप है; और करण, कर्म और कर्ता-रूप से कर्म के बाहरी संपादन का तीन भेदों वाला स्थूल स्वरूप है। तात्पर्य यह कि कर्म करने की जब अन्तःकरण में प्रेरणा होती है, तब जिस कर्म के करने का मन में निश्चय होता है, वह कर्म का सूक्ष्म स्वरूप "ज्ञेय" है; तथा जिस विधि से कर्म करने का निश्चय होता है, वह निश्चित की हुई विधि "ज्ञान" है; और जो निश्चय करने वाला है, वह "ज्ञाता" है। इन तीनो के योग से कर्म करने की प्रेरणा होती है, अतः यह कर्म की प्रेरणा का तीन प्रकार का सूक्ष्म स्वरूप है। तथा जिन साधनो से कर्म किया जाता है, वह करण है; और जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है; तथा कर्म करने वाला कर्ता है। इन तीनो के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है; अतः यह कर्म-सम्पादन का तीन प्रकार का स्थूल स्वरूप है (१८)। ज्ञान, कर्म और कर्ता सांख्य शास्त्र में गुणो के भेद से तीन प्रकार के कहे गये है, उनको भी यथावत् सुन। तात्पर्य यह कि कर्म की प्रेरणा और कर्म-सम्पादन के जो तीन-तीन विभाग अठारहवें श्लोक में कहे हैं, वे भी सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणो के भेद से तीन प्रकार के होते हैं; उनमें से करण का समावेश ज्ञान में, ज्ञेय का समावेश कर्म में, और ज्ञाता का समावेश कर्ता में करके सांख्य-

शास्त्रानुसार उनकी अलग-अलग व्याख्या आगे की जाती है (१९)। जिस (ज्ञान) से अलग-अलग सारे भूत-प्राणियों में एक, अविभक्त अर्थात् बिना बँटे हुए और सदा एक समान रहने वाले भाव का अनुभव होता है—उस ज्ञान को सात्त्विक (ज्ञान) समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के परिवर्तनशील एवं विषम बनावो में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा का अनुभव करना सात्त्विक ज्ञान है (२०)। जिस ज्ञान से मनुष्य सब भूत-प्राणियो में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावो को (वस्तुत.) पृथक्-पृथक् जानता है—उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के बनावो को वस्तुतः अलग-अलग जानना, अर्थात् अनेकता को सच्ची जानना—यह भेद-ज्ञान राजस ज्ञान है (२१)। और जो तात्त्विक विचार से शून्य, किसी हेतु अथवा युक्ति के बिना, एक ही कार्य को सब-कुछ मान कर उसी में आसक्त रहने का तुच्छ ज्ञान है—वह तामस ज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो स्थूल पदार्थ मनुष्य की इन्द्रियो से प्रतीत होते हैं, वही सब-कुछ हैं, उनके सिवाय और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है—ऐसा मानना; तथा स्थूल शरीर और जगत् का कोई सूक्ष्म कारण अथवा आधार है कि नहीं, इस विषय में किसी युक्ति अथवा प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं समझना, एव कुछ भी सूक्ष्म विचार न करना—यह कोरा इन्द्रिय-जन्य भौतिक ज्ञान अस्थायी, अतः मिथ्या होने के कारण बहुत ही तुच्छ है, और यह तामस ज्ञान कहा जाता है (२२)। फल की इच्छा और राग-द्वेष के बिना जो नियत कर्म, व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर किया जाता है—वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जिस वर्ण की योग्यता का कर्म अपने लिए नियत हो, वह कर्म व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के बिना, तथा अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष के भाव से रहित होकर, अर्थात् साम्य-भाव से किया जाता है—वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है (२३)। और जो कर्म कामना की इच्छा रखने वाले अथवा अहंकारी मनुष्य के द्वारा अत्यधिक परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा से एवं व्यक्तित्व के अहकार से जो कर्म बहुत ही कष्ट उठाकर अर्थात् शक्ति से अधिक एवं बेहिसाब परिश्रम करके किया जाता है—वह राजस कर्म होता है (२४)। बन्धन अथवा परिणाम, क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके, (केवल) मूर्खता से जो कर्म आरम्भ किया जाता है—वह (कर्म) तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इन बातो का कुछ भी ध्यान न देकर कि इस कर्म में कितनी उल-झन होगी तथा इसका आगे चलकर क्या नतीजा निकलेगा, इसमें समय, शक्ति और धन का कितना व्यय होगा तथा इससे क्या-क्या हानियाँ उठानी पडेंगी, और इसके सम्पादन में अपने को तथा दूसरो को कितना परिश्रम तथा कितना कष्ट उठाना होगा और कितनी पीड़ा अथवा हिंसा होगी, तथा इसके सम्पादन करने की योग्यता और सामर्थ्य अपने में

है कि नहीं ?—केवल मूर्खता से जिस कर्म को उठा लिया जाता है—वह तामस कर्म होता है (२५)। आसक्ति से रहित, अहंकार की बातें न बनाने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, सफलता और असफलता में निर्विकार रहने वाला कर्ता—सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो पुरुष किसी विशेष कार्य ही में इतना नहीं उलझ जाता कि जिससे दूसरी किसी बात का ध्यान ही न रहे; तथा जो अपने कर्तापन के अहंकार की डींगें नहीं हाँकता, किन्तु निरभिमानी और गंभीर रहता है; और काम करने में अड़चनो तथा कठिनाइयो का सामना होने पर विचलित एवं हताश नहीं होता, किन्तु धैर्य और उत्साहपूर्वक अग्रसर होता रहता है; तथा काम की सफलता होने पर हर्ष से फूल नहीं जाता और असफलता होने पर उदास अथवा व्याकुल नहीं होता—वह सात्त्विक कर्ता है (२६)। रागी अर्थात् बहुत आसक्त, कर्मो के फल की चाह रखने वाला, अत्यन्त लोभी, हिंसा अथवा पीड़ा देने वाला, मलिन आचरणो वाला, हर्ष और शोक से युक्त कर्ता राजस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अत्यन्त लोभ के वश होकर दिन-रात कर्म करने ही में लगा रहने वाला; अपने तथा दूसरो के शरीर को पीड़ा देकर तथा दूसरो को हानि पहुँचा कर भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने वाला; छल, कपट, झूठ, फरेब, कुटिलता आदि खोटे व्यवहार करने वाला; तथा अनुकूलता में हर्ष से फूल कर कुप्पा होने वाला, और प्रतिकूलता में बहुत शोकयुक्त होकर व्याकुल होने वाला कर्ता—राजस होता है (२७)। काम में मन न लगाने वाला, प्राकृत स्थिति ही में रहने वाला, अकडा हुआ, मूर्ख और दगाबाज, दूसरो की हानि करने वाला, आलसी, व्याकुल रहने वाला और दीर्घ-सूत्री कर्ता तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो दत्तचित्त होकर मनोयोग से काम नहीं करता, अथवा काम के अन्दर न घुस कर ऊपरी तौर से उसे करता है; जो प्राकृत अवस्था अथवा वर्तमान स्थिति में ही पड़ा रहता है—समय की गति एवं परिस्थिति के अनुसार आगे नहीं बढ़ता; अथवा उन्नति करने में अग्रसर नहीं होता, एवं कार्य-शैली में समयानुकूल फेरफार नहीं करता; जो अपनी समझ अथवा स्थिति-पालकता के अभि-मान में अकड़ा रह कर दूसरो के सत्परामर्श का लाभ नहीं उठाता तथा दूसरो से शिक्षा नहीं लेता; जो मूर्ख एवं धोखेबाज होता है; जो विना कारण ही दूसरो का कार्य बिगाड़ने में लगा रहता है; जो आलस्य से ग्रसित होकर काम में तत्परता नहीं रखता; जो उत्साह-हीनता, संशय और चिन्ता से ग्रसित एवं व्याकुल रहता है; और जो थोड़े काम को बहुत लम्बा कर देता है, अर्थात् मिनटो में पूरे होने वाले काम में घंटे लगा देता है—वह तामस कर्ता कहा जाता है (२८)। हे धनंजय ! बुद्धि का तथा धृति का भी गुणो के अनुसार तीन प्रकार का सारा भेद अलग-अलग कहता हूँ, सो सुन। तात्पर्य यह कि ज्ञान, कर्म और कर्ता की तरह बुद्धि और धृति भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है, उसके भेद आगे अलग-अलग कहे जाते है (२९)। प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करने, और

निवृत्ति अर्थात् कर्म से रहित होने, कार्य अर्थात् कौन-सा काम करना चाहिए, और अकार्य अर्थात् कौनसा काम नहीं करना चाहिए, भय अर्थात् किस बात से डरना चाहिए, और अभय अर्थात् किस बात से नहीं डरना चाहिए, बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है, (इनके रहस्य को) जो बुद्धि यथार्थ रूप से जानती है, हे पार्थ ! वह (बुद्धि) सात्त्विकी है। तात्पर्य यह कि जिस व्यवसायात्मिका बुद्धि में सबकी एकता का सात्त्विक ज्ञान होता है, वही इस बात का यथार्थ निर्णय कर सकती है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर करने की प्रवृत्ति वस्तुतः निवृत्ति है, और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करना अथवा उन्हें त्यागना वस्तुतः प्रवृत्ति है; इसी तरह अपने शरीर की योग्यता के अनुसार अपने लिए जो कर्म नियत हो, उन्हें जगत् और समाज की सुव्यवस्था रूप लोक-संग्रह के लिए करना अवश्य-कर्तव्य है, और इसके विरुद्ध जिन कर्मों के करने की अपनी योग्यता नहीं है और जिनसे जगत् और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है, उन्हें करना अकर्तव्य है; तथा दूसरो से पृथक्ता के भाव से राग-द्वेषपूर्वक आचरण करना भय और बन्धन का हेतु होता है, और सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से आचरण करना अभय और मोक्ष का हेतु होता है; अतः इस प्रकार यथार्थ निर्णय करने वाली बुद्धि सात्त्विकी होती है (३०)। हे पार्थ ! जिस बुद्धि से (मनुष्य) धर्म और अधर्म को, तथा कार्य और अकार्य को अयथार्थ-रूप से जानता है—वह बुद्धि राजसी है। तात्पर्य यह कि राजसी बुद्धि वाले मनुष्य का, धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में एक-सा निश्चय नहीं होता—वह कभी किसी कृत्य को धर्म मानता है, कभी उसी को अधर्म मान लेता है, और कभी किसी कृत्य को अधर्म मानता है, कभी उसी को धर्म मान लेता है; इसी तरह कभी किसी आचरण को अपने करने योग्य अर्थात् कर्तव्य-कर्म मानता है, कभी उसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकर्तव्य मानता है, और कभी किसी आचरण को अपने न करने योग्य—अकर्तव्य मानता है, तो कभी उसी आचरण को अपने करने योग्य—कर्तव्य मान लेता है; इस तरह राजसी बुद्धि से किसी भी बात का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता (३१)। हे पार्थ ! मोह से आच्छादित जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, तथा सम्पूर्ण अर्थो को विपरीत ही समझती है—वह तामसी बुद्धि है। तात्पर्य यह कि तामसी बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य सब बातो का उलटा अर्थ करके अधर्म को ही धर्म मानते है, अर्थात् सत्रहवें अध्याय के चौथे श्लोक में कहे हुए तामसी श्रद्धा के यजन-पूजन को, तथा उसी अध्याय के पाँचवें, छठे और उन्नीसवें श्लोक में वर्णित आसुरी-तामसी तप को, और उसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में वर्णित तामसी यज्ञ को, एव बाइसवें श्लोक में वर्णित तामसी दान को और इस अध्याय के सातवें श्लोक में वर्णित तामसी त्याग को धर्म मानते है, जो वस्तुत. अधर्म है—वह विपरीत समझ वाली

वुद्धि तामसी होती है (३२)। सबकी एकता के साम्य-भाव में निरन्तर लगी रहने वाली जो धृति मन, प्राण और इन्द्रियो के व्यापारो को धारण करती है, हे पार्थ! वह सात्त्विकी धृति है। तात्पर्य यह कि जिस धारणा से मन, प्राण और इन्द्रियो के सारे व्यापार अर्थात् जीवन के सभी व्यवहार सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त निरन्तर होते रहें—वह सात्त्विकी धृति है। (३३)। और हे अर्जुन! जिस धृति से फल का अभिलाषी मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है—वह राजसी धृति है। तात्पर्य यह कि दृष्ट अथवा अदृष्ट, अर्थात् इस लोक अथवा परलोक में सुखो की प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर मनुष्य जिस धारणा से धार्मिक कर्मकाण्डो में, तथा इन्द्रियो के विषय-भोगो में एवं द्रव्योपार्जन के साधनो में लगा रहता है—वह राजसी धृति है (३४)। हे पार्थ! वेसमझ मनुष्य जिस धृति से नींद, भय, शोक, खेद और मद को नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी होती है। तात्पर्य यह कि तामसी प्रकृति के मूढ पुरुष जिस तामसी धारणा के कारण दीर्घ काल तक नींद लेते रहते है, सदा भयभीत रहते है, चिन्ता तथा पश्चात्ताप करते रहते है, और नशे आदि से मतवाले रहते है, और इन दुर्गुणो को छोड़ना ही नहीं चाहते—वह तामसी धृति है (३५)।

× × ×

उपर्युक्त श्लोको में भगवान् ने यह प्रतिपादन किया कि सबकी एकता के सात्त्विक ज्ञान-युक्त, सात्त्विक भाव से, सात्त्विक वुद्धि और सात्त्विक धृति द्वारा सात्त्विक कर्म करने से दुःख या वन्धन नहीं होता, प्रत्युत वे कर्म सुख एवं मोक्ष के हेतु होते हैं; और पृथक्ता अथवा मूढता के राजस-तामस ज्ञान से, राजस-तामस भाव से, राजसी-तामसी वुद्धि और राजसी-तामसी धृति के द्वारा राजस-तामस कर्म करने से दु.ख एवं वन्धन होता है। अव जिन लोगो का ख्याल है कि मनुष्य को वास्तविक आवश्यकता तो सुख-प्राप्ति की है, और वह सुख इन्द्रियो के विषय-भोगो में, तथा नींद, आलस्य और प्रमाद में पड़े रहने में प्रत्यक्ष ही दीखता है; अतः सात्त्विक ज्ञान, सात्त्विक कर्म आदि के झमेले में पड़ने की क्या आवश्यकता है? निरन्तर विषय-भोगो में अथवा नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में ही क्यो न आयु विताई जाय? उनका उक्त भ्रम मिटाने के लिए भगवान् सुख के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद वताकर कहते है, कि आत्मज्ञान का सात्त्विक सुख ही सच्चा सुख है; विषय-भोग, नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में प्रतीत होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है, किन्तु वह तो सुखाभास मात्र है, अतः वह मिथ्या और दुःख का हेतु है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख के भी तीन भेद मेरे से सुन, जिसमें अभ्यास द्वारा रमण करने अर्थात् बर्तने से दुःख का अन्त हो जाता है । तात्पर्य यह कि आगे के तीन श्लोको में जो कहा है कि, सात्त्विक सुख पहले दु.खदायक प्रतीत होने पर भी उसका परिणाम अच्छा होता है, राजस सुख पहले अच्छा लगता है परन्तु उसके परिणाम में दुःख होता है, और तामस सुख मोह-रूप है—इस रहस्य को सदा स्मरण रखते हुए, तरह-तरह के सुखो में यथायोग्य वर्तते हुए भी मनुष्य को दुःख नहीं होता (३६) । जो पहले (साधन काल में) विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है, वह आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से होने वाला सुख सात्त्विक कहा जाता है । तात्पर्य यह कि सच्चा सात्त्विक सुख वह है जो आत्मज्ञान के द्वारा अन्त.करण की प्रसन्नता से होता है; वह यद्यपि पहले साधन-अवस्था में कड़ुआ अथवा नीरस होने के कारण जहर-सा लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत-सा होता है, क्योंकि आत्मा आनन्द-घन है, इसलिए आत्मानुभव का सुख अक्षय और एक-सा रहता है, और उस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख नहीं होता (३७) । इन्द्रियो का विषयो के साथ संयोग होने से जो सुख होता है, वह पहले (भोग-काल में) तो अमृत के समान प्रतीत होता है, पर परिणाम में ज़हर के तुल्य होता है—वह राजस सुख कहा गया है । तात्पर्य यह कि विषय-भोगो में जो सुख प्रतीत होता है, उस सुख का अनुभव केवल भोग-काल ही में होता है, भोगो के अनन्तर वह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि उसके परिणाम में अवश्य ही दु ख होता है, और उसके नाश होने का भय बना रहता है, तथा दूसरो का सुख अपने से अधिक देख कर अन्त करण में जलन भी होती है; इसलिए वह दुःखमिश्रित एव दु ख-परिणाम वाला सुख* राजस सुख है (३८) । जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी, अर्थात् सब अवस्थाओ में आत्मा को मोह में फँसाता है, और निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है—वह (सुख) तामस कहा गया है। तात्पय यह कि नींद, आलस्य अथवा मूढावस्था का जो सुख

* पाँचवें अध्याय के श्लोक २१ से २३ तक के स्पष्टीकरण में सुख-दु ख की व्याख्या देखिए ।

है, उससे बुद्धि विवेकशून्य रहती है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है; अतः उससे मनुष्य का सब प्रकार से पतन हो जाता है—वह तामस सुख है (३९)।

× × ×

कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्त्विक मीमांसा करके, तथा सात्त्विक भाव से कर्म करने की व्यवस्था देकर, कि जिससे सब प्रकार के सासारिक व्यवहार करता हुआ, मनुष्य सच्चे एवं अक्षय सुख को प्राप्त हो सकता है, अब भगवान् इस बात की फिर से पुष्टि करते हैं कि यह सारा विश्व सबके आत्मा=परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और इस खेल की सुव्यवस्था के लिए उक्त तीन गुणो के तारतम्य के अनुसार मनुष्यो की अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है; उक्त व्यवस्था के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करने से न कोई कर्म उत्तम अथवा शुभ है, और न कोई कर्म निकृष्ट अथवा अशुभ है किन्तु सभी कर्म श्रेष्ठ ही होते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने-आपको सबके आत्मा=परमात्मा से अभिन्न—उसी का व्यष्टि-भावापन्न अंश अनुभव करता हुआ, इस खेल में अपना साझा समझ कर इसमें जो पार्ट अपने जिम्मे हो, उसे कर्मो के स्वामी-भाव से बजाकर इस खेल के सम्पादन में सहयोग दे।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।। ४७ ।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। ४८ ।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। ४९ ।।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। ५० ।।
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।। ५१ ।।
विविक्तसेवीलघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। ५२ ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। ५३ ।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ।। ५४ ।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। ५५ ।।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। ५६ ।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। ५७ ।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङक्ष्यसि ।। ५८ ।।
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। ५९ ।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।। ६० ।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। ६१ ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। ६२ ।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

अर्थ—पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओ में भी ऐसा कोई सत्त्व अर्थात् पदार्थ नहीं है, जो कि प्रकृति के इन तीन गुणो से रहित हो । तात्पर्य यह कि विश्व में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदार्थ है, वे सब त्रिगुणात्मक है, अर्थात् सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है—तीन गुणो से रहित कुछ भी नहीं है (४०) । हे परन्तप ! ब्राह्मणों, क्षत्रियो, वैश्यो और शूद्रो के कर्म उनके स्वाभाविक गुणो के अनुसार बँटे हुए हैं । तात्पर्य यह कि समाज की सुव्यवस्था के लिए तीनो गुणों की कमी-वेशी के भेद के कारण मनुष्यो के जो अलग-अलग स्वभाव होते है, उनके अनुसार उनके चार विभाग किये गये है, जिनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सज्ञा रखी गई है, और उनके अलग-अलग गुणो के अनुसार उनके लिए अलग-अलग कर्तव्य-कर्म नियत किये गये है (४१) । शम* अर्थात् मन का संयम, दम* अर्थात् इन्द्रियो का निग्रह, तप अर्थात् सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन का सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार, शौच* अर्थात् भीतरी और बाहरी पवित्रता, क्षान्ति अर्थात् क्षमाशीलता*, आर्जव‡ अर्थात् सरलता, ज्ञान अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान, विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थो का तात्त्विक विज्ञान, और आस्तिकता अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा में विश्वास—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं । तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी स्वभाव ही से सांसारिक पदार्थों एवं विषयो में आसक्ति कम होती है, और वे श्रेष्ठाचारी, पवित्र, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले एवं आत्मविश्वासी होते है, और आत्मा-परमात्मा की एकता के ज्ञान और सांसारिक पदार्थों के विज्ञान (Science) में वे कुशल होते हैं । इसलिए उनमें शिक्षा-संबंधी कामो की विशेष योग्यता होती है; अतः सदाचारयुक्त ज्ञान (अध्यात्म-विद्या) और विज्ञान (भौतिक पदार्थ-विद्या) की शिक्षा, प्रचार एवं नाना प्रकार के आविष्कार करने द्वारा, तथा उक्त ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करने द्वारा, लोक-सेवा करने वाले ब्राह्मण वर्ण का कर्म उनके

---

* शम, दम, शौच और क्षमा का स्पष्टीकरण बारहवे अध्याय में देखिए ।

‡ आर्जव का स्पष्टीकरण सोलहवें अध्याय में देखिए ।

लिए नियत किया गया है (४२)। शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्य-कुशलता अथवा नीति-निपुणता, युद्ध में पीछे न हटना, दान देने की प्रवृत्ति और ईश्वर-भाव, अर्थात् स्वामी भाव से सबकी एकता के प्रेम और साम्य-भाव से न्यायपूर्वक प्रजा का रक्षण और शासन करना—क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, सत्त्वगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनमें स्वभाव ही से शक्ति, साहस, निर्भीकता आदि गुणो की विशेषता होने के कारण वे शूरवीर, तेजस्वी, धैर्यवान्, नीति-निपुण, कार्य-कुशल, युद्ध से न घबड़ाने वाले, दान देने में उदार, और सबकी एकता के साम्य-भाव से प्रेम और न्यायपूर्वक प्रजा का रक्षण और उस पर शासन करके समाज की सुव्यवस्था रखने योग्य होते हैं; इसलिए जनता की रक्षा एवं उस पर शासन करके समाज को सुव्यवस्थित रखने की लोक-सेवा करने वाले क्षत्रिय वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (४३)। खेती, गोपालन और व्यापार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; और सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यो के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, तमोगुण की समानता एवं सत्त्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें खेती करने, पशुओ का पालन करने, तथा वाणिज्य-व्यापार आदि द्वारा जन-समाज के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके उनका व्यवसाय करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए लोगो के जीवन के उपयोगी पदार्थों की पूर्ति करने की लोक-सेवा करने वाले वैश्य वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है। और जिन मनुष्यो के शरीर में तमोगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और सत्त्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए कारीगरी, मजदूरी आदि शारीरिक श्रम की लोक-सेवा करने वाले शूद्र वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है* (४४)। अपने-अपने कर्मों में अच्छी तरह लगा हुआ

* चार प्रधान वर्णों में से भी प्रत्येक में गुणो के न्यूनाधिक्य की मात्रा के अनुसार कार्य करने की योग्यता के बहुत से भेद होते हैं। जिस तरह, शिक्षक वर्ग, ब्राह्मण वर्ण में बडे-बडे तत्त्ववेताओ, शास्त्राचार्यों, विज्ञानाचार्यों एव आविष्कर्ताओ से लेकर, साधारण योग्यता के शिक्षको आदि तक बहुत-सी श्रेणियाँ होती है, रक्षक वर्ग, क्षत्रिय वर्ण मे सम्राटो, अधिनायको, राष्ट्रपतियो, राजा-महाराजाओ, जागीरदारो और आफिसरो से लेकर साधारण फौजी सिपाहियो और चपरासियो तक अनेक दर्जे होते है, व्यवसायी वर्ग, वैश्य वर्ण में बडे-बडे साहूकारो, कोठीदारो, कम्पनियो और कारखानो के धन-कुबेर मालिको, दुकानदारो, फेरी करने वालो, एव गुमाश्तो, दलालो, तथा खेती का काम करने वाले जमीदारो से लेकर छोटे-छोटे किसानो तक बहुत-से दर्जे होते है। इसी तरह श्रमिक वर्ग, शूद्र वर्ण मे सूक्ष्म कलाओ, मशीनो एव निर्माण-कला के चतुर इञ्जीनियरो मे

मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है; अपने कर्मो में लगे रहने से जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है सो सुन। जिससे संसार की प्रवृत्ति हो रही है, और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है, उस (सबके आत्मा=परमात्मा) का अपने कर्मो द्वारा पूजन करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उन्नति करता हुआ स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा=परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा इच्छा-शक्ति से प्रवृत्ति-रूप होकर जगत् का सब खेल करता है, अतः यह जगत् प्रवृत्ति अथवा कर्म-रूप है; और सब भूत-प्राणी सबके आत्मा=परमात्मा से अभिन्न होते है, इस कारण अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करना सबके लिए आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। सबके अपने-अपने कर्म करने से ही जगत्-रूपी खेल का सम्पादन ठीक-ठीक हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न शरीरधारी को अपने समष्टि-भाव के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा अपने समष्टि-भाव से सहयोग करने-रूप उसका पूजन अवश्य करना चाहिए। अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा-रूप यज्ञ करने ही से सबके समष्टि-भाव=परमात्मा का पूजन होता है, और इसी पूजन से व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा अपनी सर्वांगीण उन्नति करता हुआ, सब प्रकार के भेद मिटा कर अपने समष्टि (परमात्म) भाव का अनुभव करने रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति का यही यथार्थ साधन है और यही उसकी सच्ची उपासना है। इस अभेद-उपासना को छोड़ कर व्यक्तित्व के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए की जाने वाली नाना प्रकार की भेदोपासना से परमात्मा की सच्ची पूजा नहीं होती (४५-४६)।

लेकर साधारण मजदूरो, और कूडा-कर्कट साफ करने का हीन माना जाने वाला पेशा करने वाले लोगो तक वहुत-सी श्रेणियाँ होती हैं।

ससार में सभी भूत-प्राणियो के नर और मादा-रूप से दो भाग होते हैं, और दोनो के सयोग अथवा मेल से सृष्टि का सारा व्यापार होता है। अस्तु, मनुष्य-समाज के भी पुरुप और स्त्री-रूप से दो अग होते है, और दोनो के सयोग एव मेल ही पर समाज का अस्तित्व निर्भर रहता है। पुरुप दाहिना अर्थात प्रवल (विशेप शक्ति-सम्पन्न) अग है, और स्त्री वायाँ, अर्थात् निर्वल (कम शक्ति-सम्पन्न) अग है, अत स्त्री अपने समान गुणो वाले पुरुप की सहधर्मिणी एव सहचारिणी होती है। इसलिए स्त्री का वर्ण पुरुष से अलग नही रखा गया है, किन्तु जिस वर्ण अथवा जिस पेशे के पुरुप की वह सहधर्मिणी हो, उसी को सहयोग और सहायता देने और उसकी घर-गृहस्थी का कार्य करने द्वारा लोक-सेवा करना ही स्त्री के लिए नियत कर्म है।

दूसरो के धर्म का आचरण (यदि) उत्तम (प्रतीत) हो, और उसकी अपेक्षा अपने धर्म का आचरण निकृष्ट (प्रतीत) हो तो भी (अपने लिए) वही श्रेष्ठ है; स्वाभाविक नियत कर्म करने से पाप नहीं लगता (४७)। हे कौन्तेय! स्वाभाविक कर्म यदि दोषयुक्त हो तो भी उसे नहीं छोडना चाहिए, क्योकि सभी आरम्भ दोष से उसी तरह घिरे हुए है, जिस तरह धुएँ से अग्नि (४८)। सर्वत्र अनासक्त बुद्धि से मन को वश में किये हुए, एवं कामना से रहित (समत्वयोगी), सात्त्विक त्याग-रूप संन्यास के द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है (४९)। श्लोक ४७ से ४९ तक का तात्पर्य यह है कि अर्जुन को युद्ध करने का अपना क्षात्र-धर्म पालन करने में निर्दयता और हिंसा आदि अनेक दोष प्रतीत होते थे, अतः उसे छोड़ कर अहिंसात्मक भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना उसको श्रेष्ठ जँचता था, यानी वह दूसरो के कर्म करने में प्रवृत्त होना चाहता था। उसकी इस मानसिक दुर्बलता को दूर करने के लिए भगवान् कहते है कि, जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त मनुष्यो के भिन्न-भिन्न गुणो की योग्यता के अनुसार कार्य विभाग की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है, ताकि लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार अपने-अपने कर्म करके आपस में एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा करते हुए उन्नति करें और कल्याण को प्राप्त हो। इस प्रकार लोक-सेवा के भाव से करने पर उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सबके कर्म अपने-अपने स्थान में आवश्यक अतः श्रेष्ठ होते है। जिसकी अपने स्वाभाविक गुणो के अनुसार जैसी योग्यता हो उसके लिए वे ही कर्म उत्तम है, इसलिए अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने में हिंसा आदि का कोई पाप नहीं लगता। इस संसार में ऐसा कोई व्यवहार नहीं है कि जो सर्वथा निर्दोष हो; क्योकि यह त्रिगुणात्मक संसार जोड़े के रूप में है, और गुण-दोष का भी जोडा होता है, अत सभी व्यवहार गुण एवं दोष-युक्त ही होते है। किसी व्यवहार में कोई गुण होता है और कोई दोष, और किसी व्यवहार में दूसरा कोई गुण एव दोष होता है। दोषयुक्त दृष्टि से देखने पर सभी व्यवहार दोषयुक्त प्रतीत होते है। वास्तव में कर्म में निज का न कोई गुण होता है और न कोई दोष; गुण अथवा दोष कर्ता के भाव से उत्पन्न होते है। जो कर्म दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहकार से और केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त दूसरो के हित एव समाज की सुव्यवस्था की अव-हेलना करके किया जाता है, वह यदि ऊपर से निर्दोष प्रतीत होता हो तो भी वास्तव में वह सदोष ही होता है; और जो कर्म अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यतानुसार समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के उद्देश्य से उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर किया जाता है, वह यदि हिंसा आदि के कारण दोषयुक्त प्रतीत होता हो, तो भी वास्तव म वह निर्दोष एवं श्रेष्ठ होता है; अत उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति के बिना, एवं दूसरो से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना से रहित होने के सात्त्विक त्याग-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने वाला

समत्वयोगी वस्तुतः अकर्ता ही होता है; उसको कर्मो का कोई बन्धन नहीं होता, अतः वह सदा मुक्त रहता है (४७ से ४९)। हे कौन्तेय ! (उपरोक्त निष्कर्म की) सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, और जो ज्ञान की परा निष्ठा है, सो संक्षेप में मेरे से जान। तात्पर्य यह कि पूर्वकथित अपनी-अपनी योग्यता के नियत कर्म करता हुआ मनुष्य सात्त्विक त्याग-रूप संन्यास द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है, उसी से ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव में स्थिति होती है—यही ज्ञान की पूर्णावस्था है, और इसी बात को संक्षेप से फिर आगे कहते है (५०)। शुद्ध अर्थात् आत्मनिष्ठ सात्त्विक बुद्धि से सबकी एकता के साम्य-भाव में जुडकर, सात्त्विक धृति से अन्तःकरण का संयम करके, शब्दादिक विषयो की आसक्ति छोड कर, तथा राग और द्वेष को दूर करके, निरुपाधिक देश में रहने वाला, हलका भोजन करने वाला, वाणी, शरीर और मन को संयम में रखने वाला, एवं सदा ध्यान-योग में लगा रहने वाला, अर्थात् परमात्मा की सर्वव्यापकता का निरन्तर ध्यान रखने वाला, वैराग्य से युक्त हुआ, अहंकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममता से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य होता है (५१-५३)। ब्रह्म-भाव को प्राप्त हुआ, प्रसन्न अन्त.करण वाला मनुष्य न शोक करता है, न आकाक्षा रखता है, (और) सब भूतो में सम होकर सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरी परा भक्ति को पाता है, अर्थात् भक्त और भगवान् का भेद मिटा कर आत्म-स्वरूप हो जाता है (५४)। "मै" (सबका आत्मा) जो कुछ हूँ और जैसा हूँ, भक्ति के द्वारा (वह) मुझको तत्त्वतः जान लेता है; इस प्रकार मुझे यथार्थ रूप से तत्त्वतः जान लेने पर तुरन्त (मुझमें) समा जाता है (५५)। (सबके आत्मा-स्वरूप) मेरे आश्रय में रह कर अर्थात् आत्मा=परमात्मा की एकता के निश्चय के आधार पर सब कर्मो को करता हुआ भी (मनुष्य) मेरी अर्थात् सबके आत्मा—सबके वास्तविक आपकी प्रसन्नता से अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त होता है (५६)। श्लोक ५१ से ५६ तक का तात्पर्य यह है कि, श्लोक ४० से ५० तक परमात्मा की सर्वव्यापकता अर्थात् सबकी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त होने का जो प्रतिपादन किया गया है, वह सबकी एकता का अनुभव ध्यान-योग के अभ्यास से प्राप्त होता है; अथवा सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक वर्णन की हुई सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य भाव की भक्ति के द्वारा भी आत्मा=परमात्मा अथवा सबकी एकता का अनुभव होता है। आत्म-ज्ञान की परिभाषा में जिसे जीव-ब्रह्म की एकता के अनुभव-रूप ब्राह्मी स्थिति कहते है, भक्ति की परिभाषा में उसे ही परमात्मा की परा भक्ति कहते है। यहाँ पर भगवान् इस बात को फिर से अच्छी तरह स्पष्ट कर देते है कि इस प्रकार आत्मा=परमात्मा के अभेद, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त करके भी, मनुष्य को अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ, किन्तु उक्त परमात्म-भाव की स्थिति ही

में जगत्-रूपी अपने खेल की सुव्यवस्था के लिए अपने शरीर की योग्यता के कर्म स्वतंत्रता-पूर्वक करके अपने वास्तविक आप=आत्मा अथवा परमात्मा को प्रसन्न करना चाहिए, आत्मा अथवा परमात्मा की प्रसन्नता ही से शान्ति, पुष्टि और तुष्टि-रूप शाश्वत पद की प्राप्ति होती है (५१ से ५६)। मन से सब कर्मों का मुझ में संन्यास करके, मेरे परायण हुआ, समत्व-बुद्धि का अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें ही चित्त को लगाये रख। मुझमें चित्त लगाये रखने से मेरी प्रसन्नता से तू सब कठिनाइयो एवं आपत्तियो से पार हो जायगा; परन्तु यदि तू अहंकार से नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मुझको अखिल विश्व में एक समान व्यापक समझने की साम्य-बुद्धि से, मेरे खेल-रूप इस जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करता हुआ, सबके एकत्व-भाव-स्वरूप मुझ परमात्मा में निरन्तर मन लगाये रख; ऐसा करने से, अपने कर्तव्य-कर्मो में हिंसा आदि के पाप का, धर्म-नाश का, तथा दूसरे अनेक प्रकार के संकटों का जो तुझे भय और शोक है, वह सब आत्मानुग्रह-रूप मेरी कृपा से दूर हो जायगा। परन्तु यदि तू अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार से अपने कर्तव्य-कर्म, सबकी एकता के साम्य-भाव से करने के मेरे इस उपदेश को नहीं मानेगा और युद्ध नहीं करेगा तो तेरा अवश्य ही सर्वनाश हो जायगा; क्योकि अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार से अपने कर्तव्य से विमुख रहने वाले का यह लोक तथा परलोक दोनो ही बिगड जाते हैं (५७–५८)। यदि अहंकार के वश होकर तू ऐसा मानता है कि "मै नहीं लड़ूँगा" तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, (क्योकि) प्रकृति तुझे अवश्य (युद्ध में) लगावेगी (५९)। हे कौन्तेय! तू मोह के कारण जिसे, अर्थात् जिस कर्म को, नही करना चाहता है, उसे ही अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू विवश हो कर करेगा (६०)। हे अर्जुन! ईश्वर अपनी माया से, (कर्मो के चक्र-रूप) यन्त्र पर चढ़े हुए सब भूत-प्राणियो को घुमाता हुआ सब भूत-प्राणियो के हृदय में स्थित हैं। (६१) हे भारत! तू सब प्रकार से उसी की शरण में जा; उसके प्रसाद से परम शान्ति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा (६२)। श्लोक ५९ से ६२ तक का तात्पर्य यह है कि परमात्मा एव अखिल विश्व के साथ अपनी एकता के तथ्य पर दुर्लक्ष्य करके, अपने पृथक् व्यक्तित्व के देह-अभिमान से यदि कोई यह अहकार करता है कि "मै अपना स्वाभाविक कर्म नहीं करूँगा" तो यह उसका मिथ्या अहंकार है; क्योकि यह शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण कर्म-रूप है, इसलिए जिस शरीर के जो स्वाभाविक गुण होते हैं, उनके अनुसार उसको कर्म करने ही पड़ते हैं; देहाभिमान रखते हुए कोई कर्मो की परम्परा से छूट नहीं सकता। यदि दूसरो से पृथक् अपने व्यक्तित्व के देहाभिमान से कोई अपने स्वाभाविक कर्मो से हटना चाहता है तो

उसका सर्वनाश हो जाता है; क्योंकि देह-अभिमान से प्रकृति की अधीनता दृढ होती है, जिससे मनुष्य प्रकृति अथवा माया के बन्धनो में बँध जाता है, और बिना इच्छा के भी ज़बरदस्ती कर्म करने में घसीटा जाता है। सब शरीरो का स्वामी—आत्मा अथवा परमात्मा प्रत्येक शरीर के अन्त.करण में रहता हुआ प्रत्येक शरीर के स्वभाव के अनुसार उससे चेष्टाएँ करवाता रहता है। अतः जो प्राणी अपने को आत्मा से पृथक् केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ, और इन सबका समूह-रूप एक विशेष शरीर ही मानता है—अपने को शरीर का स्वामी, शरीर का प्रेरक=आत्मा नहीं मानता—वह सदा परतन्त्रता से कर्मों के चक्कर पर चढा हुआ भ्रमता ही रहता है। यदि वह किसी विशेष प्रकार के कर्म से जी चुराता है तो दूसरे प्रकार के कर्म में उलझता है। यदि अपने स्वाभाविक कर्म को व्यवस्थित रूप से नहीं करता तो अव्यवस्थित रूप से उसे करना पड़ता है; किन्तु देहाभिमानी प्राणी के शरीर का स्वभाव कभी छूट नहीं सकता—किसी न किसी रूप में स्वभाव का पालन अवश्य करना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य अपने को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियो आदि के समूह-रूप शरीर का स्वामी=आत्मा समझता है, वह शरीर द्वारा सब प्रकार के स्वाभाविक कर्म स्वतन्त्रता से विधिवत् करता हुआ भी उनके अधीन नहीं होता, किन्तु कर्मों को अपना खेल समझता है, इस कारण उसे कर्मो का कोई बन्धन नहीं होता। इसलिए अपने को शरीरो का स्वामी=आत्मा समझ कर, सबके आत्मा=परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार को सबके एकत्व-भाव=ईश्वर में जोड़ कर इस संसार-रूपी खेल में अपने-अपने शरीर के स्वाभाविक कर्म सबको यथायोग्य अवश्य करना चाहिए, जिससे पूर्णतया शान्ति बनी रहे। पृथक्ता के व्यक्तित्व के अहकार से अथवा देहाभिमान से शरीर के स्वाभाविक कर्म छोड़ने से कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती (५९ से ६२)। **इस प्रकार मैंने तुझे यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा है, इस पर पूर्ण रूप से अच्छी तरह विचार करके (फिर) तेरी जो इच्छा हो वह कर।** तात्पर्य यह कि अध्याय २ श्लोक ११ से लेकर अध्याय १८ श्लोक ६२ तक भगवान् ने अनेक दार्शनिक विचारो, सारगर्भित युक्तियों एवं व्यवहार-विज्ञान के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य का जो विस्तृत विवेचन किया है, वह बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर विचार का विषय है; इसलिए भगवान् कहते है कि इसको केवल सरसरी तौर से सुन कर अथवा पढ़ कर ही निश्चित नहीं हो जाना चाहिए; तथा ये "मेरे" वचन होने के कारण इनको अन्ध-श्रद्धा ही से प्रामाणिक नहीं मान लेना चाहिए; किन्तु आदि से लेकर अन्त तक इस उपदेश की प्रत्येक बात पर पूर्ण रूप से गहरा विचार करना चाहिए, और अच्छी तरह विचार करने के बाद फिर जिसको जो अच्छा लगे सो करे। इस कथन से स्पष्ट होता है कि गीता में अन्ध-श्रद्धा अथवा विचार-परतन्त्रता के लिए कुछ भी गुंजाइश नहीं है। आरम्भ से लेकर अन्त तक इसमें बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वतन्त्रता ही को प्रधानता दी

गई है; यहाँ तक कि प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा, क्षमा, शम, दम, तप, त्याग, शौच, सरलता आदि दैवी सम्पत्ति के सात्त्विक आचरणो में भी बुद्धि-योग, अर्थात् सबकी एकता की साम्य-बुद्धि का सम्पुट साथ-साथ लगाया हुआ है।* अर्जुन भगवान् का परम भक्त था, उनमें उसकी अचल श्रद्धा थी, इसलिए वे जो कुछ कह देते, उसे ही वह प्रमाण मान कर उसके अनुसार आचरण करता; परन्तु गीता का उपदेश, भेद-भाव के धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक शास्त्रो की तरह ऐसा संकुचित, अनुदार एवं दुर्बल नहीं है कि जिसके लिए अन्धविश्वास की आवश्यकता हो, और जो मनुष्य की बुद्धि को दबाकर उसे विचारशून्य पशु बना देवे। यह उपदेश इतना व्यापक, इतना उदार एव इतना नि.शंक है कि प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी धर्म, किसी भी सम्प्रदाय और किसी भी दार्शनिक मत का अनुयायी हो, अथवा किसी भी देश का वासी हो—इसमें प्रतिपादित विषयो की युक्ति, तर्क एवं विचार द्वारा अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करे और फिर उसे जो अच्छा लगे सो करे। गीता का सिद्धात है कि मनुष्य अपनी बुद्धि को सर्वथा शास्त्रो अथवा ग्रन्थो के सुपुर्द करके निश्चिन्त न हो जाय, किन्तु जो भी कुछ करे वह अच्छी तरह विचारपूर्वक करे। दूसरे प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य में यही विशेषता है कि उसमें विचार-शक्ति का विकास होता है; इसलिए मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह प्रत्येक काम विचारपूर्वक करे। यदि मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का उपयोग न करके पशुओ की तरह अन्धाधुन्ध काम करे, अथवा सर्वथा दूसरे लोगो का अथवा शास्त्रो का अनुयायी होकर उनके वशवर्ती हो जाय तो वह एक प्रकार से पशु ही हो जाता है। ज्ञानी महापुरुष एवं सत्-शास्त्र मनुष्य को विचार करने में सहायता देने एवं बुद्धि बढ़ाने के लिए हैं, न कि उसकी बुद्धि अथवा विचार-शक्ति छीन कर उसे पशु बना देने के लिए (६३)।

× × ×

अर्जुन का मोह अर्थात् हृदय की दुर्बलता मिटाने के प्रसंग को लेकर प्रत्येक मनुष्य के लिए जीवन-यात्रा का जो श्रेयस्कर मार्ग है, वह भगवान् ने विस्तारपूर्वक यहाँ तक बताया, और उपदेश के आरम्भ में तथा बीच-बीच में भी बुद्धि-योग को प्रधानता देते हुए अन्त में यही कहा कि "मैंने जो कुछ कहा है, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर जो अच्छा लगे वह करो"—इस प्रकार सर्वत्र बुद्धि-योग अथवा विचार-स्वातन्त्र्य को प्रधानता दी। अब आगे के तीन श्लोको में थोडे-से सारगर्भित एवं मार्मिक शब्दो में सारी गीता का निचोड़ कह कर इस उपदेश की समाप्ति करते हैं। इन अन्तिम शब्दो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता कि गीता कोरा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अथवा मत-मतान्तरो का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं; किन्तु भगवान् का

---

*बारहवे और सोलहवे अध्यायो में इन आचरणो का स्पष्टीकरण देखिए।

यह दिव्य एवं महान् क्रान्तिकारी उपदेश मनुष्य-मात्र को सब प्रकार की पराधीनताओ, अन्धविश्वासो, मानसिक दुर्बलताओं एवं दासताओ के बन्धनो से मुक्त करके पूर्ण निर्भय, नि.शक, स्वतन्त्र, स्वावलम्वी एवं दृढ़-निश्चययुक्त कर्तव्यपरायण बना कर सब प्रकार की उन्नति के शिखर पर चढाने वाला कर्तव्य-शास्त्र है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामिते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अर्थ—फिर भी सब से अधिक गुह्य मेरा परम (रहस्यमय) वचन सुन, क्योकि तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिए मै तेरे हित के निमित्त कहता हूँ। मेरे मन वाला हो, अर्थात् मै परमात्मा ही सब-कुछ हूँ, यह मन में दृढ़ निश्चय रख; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबको एक ही परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ प्रेम कर; मेरा यजन कर, अर्थात् अखिल विश्व को मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म कर; मेरी वन्दना कर, अर्थात् मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर; मै तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि, (ऐसा करने से) तू मुझ (सबके आत्मा= परमात्मा) को प्राप्त होगा; तू मुझ (सर्वात्मा) को बहुत प्यारा है, अर्थात् मेरा ही व्यष्टि-भाव है। सब धर्मो का परित्याग यानी पूर्णतया त्याग करके तू एक मेरी शरण में आ, मै तुझे सब पापो से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। तात्पर्य यह कि भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्म-शास्त्रों के विधानानुसार अर्जुन को युद्ध करने से अपने जाति-धर्म और कुल-धर्म के नाश होने का, हत्या के पाप लगने का, नरको में गिरने का, तथा पितरो के लिए पिण्डोदक क्रियाओ के लुप्त होने आदि का बड़ा भय तथा शोक हो रहा था (गी० अ० १ श्लोक ३६ से ४६); और अर्जुन की तरह दूसरे विचार-शील कार्यकर्ता भी भेदवाद के शास्त्रो में वर्णित धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि विषयो की उलझनो में पड़े हुए इसी प्रकार शोक और मोह से ग्रसित रहते हैं; क्योकि जैसा कि पहले कह आये हैं, भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रो में कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा धर्म-अधर्म की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है, और धर्म के स्वरूप का निर्णय एक-दूसरे से विलक्षण किया गया है—यहाँ तक कि अनेक स्थलो पर परस्पर-विरोधी निर्णय मिलते है, जिनसे विचारशील मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है (गी० अ० २ श्लोक-

५२-५३)। इसलिए गीता में भगवान् ने अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त के आधार पर धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय का निश्चित निर्णय करके इस अध्याय के श्लोक ६३ में कह दिया है, कि बुद्धिमान् मनुष्य को मेरे कहे हुए इस गूढ़ रहस्य पर अच्छी तरह विचार करके अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। अब उपदेश के अन्त में भगवान् सबके हित के लिए फिर से थोड़े-से सारगर्भित वाक्यो में अपने निश्चित निर्णय को स्पष्ट शब्दो में साफ-साफ दुहराते है, कि पृथकता के भावो को दृढ़ एवं पुष्ट करने वाले भेद-वाद के जितने साम्प्रदायिक धर्म अथवा मजहब है, वे सब मनुष्य को अत्यन्त संकुचित सिद्धान्तो, अलग-अलग धार्मिक कर्मकाण्डों एवं ईश्वरोपासना की पृथक्-पृथक् व्यवस्थाओ, तथा परोक्ष कल्पित स्वर्ग-नरक के अन्ध-विश्वासो में उलझाये रखते है, और अपनी-अपनी साम्प्रदायिक चारदीवारी के पशु बनाये रख कर उनमें बाँधे रखते है—उस घेरे के बाहर निकल कर स्वतन्त्र विचार करने का अवकाश ही नहीं देते। इन साम्प्रदायिक धर्मों के जंजाल में रहने वाले मनुष्य, अपने शरीरो के जो स्वाभाविक धर्म होते है उनको भूल कर पीछे से जोड़े हुए अथवा लगाये हुए कल्पित साम्प्रदायिक धर्मों में दृढ आसक्ति कर लेते है, जिनसे उनके पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ जाता है। जिस तरह—"मै अमुक धर्म अथवा अमुक मजहब अथवा अमुक सम्प्रदाय अथवा अमुक मत का अनुयायी हूँ; मेरी अमुक जाति, अमुक कुल, अमुक आश्रम एवं अमुक पद है; मै बडा कुलीन, बड़ा प्रतिष्ठित, बड़ा धर्मात्मा, बड़ा भक्त, बहुत पुण्यवान् एवं बहुत बुद्धिमान् हूँ" इत्यादि; और इस प्रकार के व्यक्तित्व के अहंकार से मनुष्य नाना प्रकार के बन्धनो में जकड़ा रहता है, जिनसे उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता, और न उसे अपने सच्चे स्वरूप—परमात्म-भाव के अनुभव-रूप सच्ची शान्ति अथवा मुक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्यो को इन भेद-वाद के सारे धर्मों की उलझन से परे हो कर सबके एकत्व-भाव, सबके अपने-आप, सर्व-व्यापक, सबके आत्मा=परमात्मा की शरण लेनी चाहिए, अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव प्राप्त करके नाना रूपो में प्रतीत होने वाले अखिल विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप समझ कर अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार पृथक्ता के भावो से ऊपर उठ कर सबकी एकता के दृढ निश्चय-युक्त सबके साथ यथायोग्य प्रेम* का बर्ताव करने से तथा अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करने से अर्थात् अपने-अपने शरीरो की योग्यता के कर्तव्य-कर्म करते रहने से सब प्रकार के बन्धनो से छुटकारा पाकर मनुष्य परमात्म-स्वरूप हो जाता है (६४-६६)।

स्पष्टीकरण—सबके आत्मा=परमात्मा के पूर्ण कला के अवतार, व्यावहारिक वेदान्त के मूर्तिमान् स्वरूप, पूर्ण समत्वयोगी भगवान् श्रीकृष्ण का दिया हुआ गीता

---

* प्रेम का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।

का सार्वजनिक, सर्वहितकर, कल्याणकारी, निष्पक्ष, नि:शक एवं स्पष्ट उपदेश यहाँ पर समाप्त होता है। भगवान् के इस उपदेश के अन्तिम तीन श्लोक अत्यन्त ही मार्मिक रहस्य से भरे हुए है। अतएव प्रत्येक पाठक-पाठिका को इन तीन श्लोको के "गुह्यतम परम रहस्य" मय भाव पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवो के मारे जाने की आशका से प्रेम और दया से द्रवीभूत होकर अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध से खिन्न हो गया था और राज-पाट आदि सब-कुछ छोड-छाड़ कर संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने को तैयार हो गया था, और अहिंसात्मक होने का प्रस्ताव उसने भगवान् के सामने उपस्थित किया था। इस पर भगवान् ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश देकर, जगत् और समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश दिया। इस अठारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा की हुई सब शंकाओ का फिर से सक्षेपतया समाधान करते हुए, संन्यास और त्याग का तत्त्व समझाया और हिंसा तथा अहिंसा, कर्मों के अच्छेपन और बुरेपन एवं और धर्म और अधर्म आदि का विवेचन करके अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने की आवश्यकता और उसकी विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, और साथ ही यह भी कहा कि इस संसार में कोई भी मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार से अपने स्वाभाविक कर्म छोड़ नहीं सकते। यदि कोई कर्म-त्याग का मिथ्या अहंकार करता है तो सबके एकत्व-भाव=प्रकृति अथवा ईश्वर के अधीन होकर उसे जबरदस्ती अपने स्वाभाविक कर्म करने पड़ते हैं। अन्त में ६३वें श्लोक में यह भी कहा है कि, 'मैंने जो कुछ कहा है, उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर तुझे जो अच्छा लगे सो कर।"

प्रेम, सत्य, दया, अहिसा, क्षमा, त्याग, वैराग्य, संयम, सन्तोष, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष, आदि का जिस तरह का अर्थ आम तौर से लगाया जाता है, और जिनके लिए अर्जुन अपने कर्तव्य-कर्म से हटने को तैयार हुआ था, वे सब विशेष करके अव्यावहारिक धार्मिक भावनाओ पर अवलम्बित है। भेद-वाद के सभी साम्प्रदायिक धर्मो अथवा मजहबो एवं मतो में यही उपदेश रहा करता है कि शत्रु, मित्र, सज्जन, दुर्जन, अपने, पराये—सबके साथ एक समान प्रेम का वर्ताव करो; प्राणिमात्र पर दया करो; दुष्टो, अन्यायियो, हिंसको आदि की भी तन, मन और वचन से हिंसा मत करो; किसी को किसी प्रकार का कष्ट तन, मन और वचन से मत दो और किसी की हानि मत करो; यदि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो; अपने स्वत्वो और अधिकारो की परवाह मत करो; सब-कुछ मिथ्या समझ कर त्याग दो; संसार से वैराग्य करो; ब्रह्मचर्य रखो; सच बोलो; लोभ मत करो; दान-पुण्य करो; अपने (साम्प्रदायिक) धर्म का पूरी तरह पालन करो; इस तरह करने से स्वर्ग

मिलेगा, मोक्ष होगा; ऐसा न करने से नरक मे गिरोगे, बन्धन में रहोगे, इत्यादि । सभी मत इन आचरणो को सदाचार (Morality) मानते है। परन्तु व्यवहार में सभी मजहबो और मतो के अनुयायी इनका आचरण कुछ भी नही करते है—अधिकांश लोग इनके विपरीत आचरण करते है । ये धार्मिक व्यवस्थाएँ प्राय. कहने, सुनन और पुस्तको में लिखी रहने मात्र के लिए ही रहती है । कारण यह कि, यद्यपि प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा आदि सात्त्विक गुण है, परन्तु ये वास्तव में सात्त्विक तभी होते है जब कि सारे विश्व की एकता के दृढ़ निश्चय से, अथवा सारे विश्व को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप समझ कर इनका यथायोग्य साम्य-भाव से आचरण किया जाय* ।

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्म (मजहब) एव मत इस सिद्धान्त की प्राय: उपेक्षा करते है कि यह विश्व सबके आत्मा=परमात्मा की त्रिगुणात्मक इच्छा अथवा प्रकृति का बनाव है, और इसमें जो भी कुछ है, सब अन्योन्याश्रित अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले तथा एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य है; इसलिए कोई भी व्यक्ति अथवा समाज रजोगुण-तमोगुण से सर्वथा रहित होकर केवल सात्त्विक नहीं हो सकता, और न यह जगत् रजोगुण-तमोगुणप्रधान प्राणियो से शून्य हो सकता है। जिस व्यक्ति अथवा समाज में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है उसमें एकता के भाव बढे हुए होते है; विद्या, बुद्धि और बल अर्थात् वीरता की अधिकता होती है; और वही व्यक्ति अथवा समाज रजोगुण-तमोगुणप्रधान प्राणियों पर शासन करता है और उनकी अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक सुखी और अधिक उन्नत होता है; और वही अधिक जीवित रहता है। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेदवाद की धार्मिक भावनाओ के अनुसार पृथक्ता के भाव से उपरोक्त सात्त्विक आचरण करने का प्रयत्न करते है, वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती है । इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में है कि वह भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओ की उलझन से निकल कर एव तीन गुणो के उपर्युक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दृढ निश्चय से उन सात्त्विक आचरणो का यथायोग्य उपयोग करे । इसी से मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति एव शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है । इसलिए भगवान् अपने इस उपदेश के अन्त में इस वात को विशेष जोर के साथ कहते है कि "पृथक्ता को दृढ करने वाले सब भेद-वाद के धर्मों को कतई छोड कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आ; सबकी एकता-स्वरूप मै तुझे सब पापो से मुक्त करूँगा, सोच मत कर ।"

---

*वारहवे और सोलहवे अध्यायो मे इन भावो के सदुपयोग-दुरुपयोग का खुलासा देखिए ।

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कट्टरता के कारण संसार में बहुत ही अनर्थ हुए और हो रहे है। भारतवर्ष दीर्घकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मो का प्रधान अड्डा हो रहा है, इसलिए इस देश की बडी दुर्दशा हुई है। इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण है, तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मो अथवा मजहबो का अन्ध-विश्वास ही है। यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फँसे हुए है कि ससार के सारे व्यवहारो पर धर्म ही को प्रधानता देते है और "धर्मभीरु" होना बड़े गौरव की वात समझते है। परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्येक काम में कल्पित अदृश्य वातो का वहम करने और डरने लगी—यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही। "यतो धर्मस्ततो जय." तथा "धर्मो रक्षति रक्षितः" के नारे दिन-रात लगते रहने पर भी, हजारो साम्प्रदायिक धर्मो में से किसी ने इस देश की सहायता नहीं की और यह देश पराधीन एवं पीछे पड़ा हुआ, तरह-तरह के अत्याचारो का शिकार हो रहा है। इसलिए भारतवासियो को भगवान् का यह अन्तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय में धारण करना चाहिए और अनेकता को वढ़ाने तथा दृढ़ करने वाले सव धर्मो को छोड़कर सवकी एकता-स्वरूप भगवान् की शरण में जाने का विश्वधर्म धारण करना चाहिए, अर्थात् आपस की फूट मिटाकर पूर्ण रूप से एकता करके, विद्या, वुद्धि और वल (वीरता) को वढ़ाना और सुसंगठित होना चाहिए। ऐसा करने से ही देश का उद्धार हो सकता है।

संसार में वे ही व्यक्ति अथवा समाज सुखपूर्वक जीवित रह सकते है, जिनमें पारस्परिक एकता हो और जो बुद्धिमान्, विद्वान् और बलवान् (वीर) हों। गीता के अन्तिम श्लोक में भी यही बात कही है कि "जहाँ सबकी एकता-स्वरूप योगेश्वर कृष्ण है, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति-स्वरूप धनुर्धारी अर्जुन है, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, वैभव और अटल नीति है।" यदि हम लोगों में ये गुण नहीं है तो हमको इनका सम्पादन करना चाहिए, क्योंकि इनके विना हमारा सच्चा और स्थायी उद्धार कभी नहीं हो सकता।

गीता पर जितनी टीकाएँ है, वे प्राय. किसी न किसी प्रकार की साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (मजहवी) अथवा मत-मतान्तरों की भावनाओ को लिये हुए है। इसलिए ६६वें श्लोक के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' वाक्य को किसी में भी समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है। सभी टीकाकारों ने खींचातानी करके अपने-अपने साम्प्रदायिक धर्मो एवं मतो को भगवान् के इस क्रान्तिकारी महा-वाक्य से वचाने की कोशिश की है; और 'मामेकं शरणं व्रज' वाक्य का, (जगत् से अलग) एक ईश्वर के शरण होने का अर्थ करके गीता का भक्ति-प्रधान उपसंहार माना है। परन्तु, जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा गया है, यह एक व्याव-

हारिक वेदान्त का कर्तव्य-शास्त्र है, और इसमें सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने का प्रतिपादन है; और जब कि इसके अन्त में भगवान् यह जोरदार भूमिका बाँध कर कि "सबसे गुह्यतम मेरे परम रहस्यमय वचन फिर से सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है, इसलिए तेरे हित के लिए मैं कहता हूँ," फिर उसके बाद "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का उपदेश देते हैं, तो इसी से इन वाक्यों का महत्व अच्छी तरह स्पष्ट होता है; और 'धर्मान्' के पहले 'सर्व' शब्द और 'त्यज्य' के पहले 'परि' उपसर्ग, इनके महत्त्व को और भी अधिक पुष्ट और दृढ़ करते हैं। सारांश यह कि भगवान् की असंदिग्ध शब्दों में स्पष्ट घोषणा है कि भेद-वाद के सब साम्प्रदायिक धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आओ--अर्थात् सारे विश्व को सबके आत्मा=परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर विश्व की एकता के अनुभव-रूप विश्व-धर्म को स्वीकार करो, और अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करो, ऐसा करने से कोई पाप या बन्धन शेष नहीं रहेगा।

× × ×

गीता का उपदेश समाप्त करके भगवान् अब इसका माहात्म्य कहते हैं :—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। ६७ ।।
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। ६८ ।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। ६९ ।।
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। ७० ।।
श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।। ७१ ।।
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।। ७२ ।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।। ७३ ।।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

अर्थ——तप नहीं करने वाले को, भक्ति नही करने वाले को, सुनने की इच्छा नहीं रखने वाले को, तथा जो मेरी निन्दा करता है उसको, यह (गुह्य ज्ञान) तुझे कभी न कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि सबकी एकता के ज्ञान-युक्त सासारिक व्यवहार करने के समत्व-योग अथवा व्यावहारिक वेदान्त के उपरोक्त उपदेश का पात्र वही होता है, जो कि सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक तप यानी शिष्टाचार से युक्त हो; जिसके अन्त.करण में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् के साथ प्रेम हो, और जिसको इस उपदेश के सुनने की सच्ची जिज्ञासा हो; तथा जिसकी भगवान् श्रीकृष्ण म श्रद्धा हो—ऐसे पुरुषो को ही उपदेश देने से लाभ होता है। इसके विपरीत गुणो वाले पुरुषो को इस गूढ़ ज्ञान का उपदेश देना निरर्थक ही नहीं किन्तु अनेक अवसरो पर बहुत हानिकर होता है; क्योंकि वे लोग इस रहस्य को ठीक-ठीक समझ नहीं सकते, अतः इसका उलटा अर्थ लगाकर बड़ा अनर्थ कर सकते हैं; इसलिए ऐसे लोगो को यह उपदेश कदापि नहीं देना चाहिए। किन्तु इस उपदेश को सुनने की इच्छा रखन वालो में पहले शिष्टाचार, प्रेम, जिज्ञासा और भगवान् श्रीकृष्ण में श्रद्धा उत्पन्न करके फिर उन्हे इसका रहस्य कहना चाहिए (६७)। जो इस परम गुह्य (रहस्य) को मेरे भक्तो को समझा कर कहेगा, वह मेरी परा भक्ति करके निस्संदेह मुझे ही प्राप्त होगा। मनुष्यो में उससे अधिक दूसरा कोई भी मेरा अतिशय प्रिय करने वाला नहीं है; और न पृथ्वी में कोई दूसरा मुझे उससे अधिक प्रिय होगा। तात्पर्य यह कि जो योग्य पात्रो को मेरे इस अतीव गूढ़ उपदेश के रहस्य को अच्छी तरह समझा कर कहेगा और इस ज्ञान का प्रचार करेगा, वह मेरा परम भक्त होगा, उसके जैसा मेरा प्रिय कार्य करने वाला दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, और न भूमण्डल में उससे अधिक कोई

मुझे विशेष प्यारा कभी होगा। इस गीता-ज्ञान का प्रचार करने वाला ही मेरा सच्चा भक्त है, अतः वह मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा (६८-६९)। जो कोई हम दोनो के इस धर्म-रूप संवाद का अध्ययन करेगा, "उसने ज्ञान-यज्ञ से मेरी पूजा की है" ऐसा मै मानूंगा। और जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त, एव दोष-दृष्टि से रहित होकर (इसको) सुनेगा, वह भी (पापो से) छूट कर पुण्य-कर्म करने वालो के शुभ लोको को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि जो इस गीता-शास्त्र का अच्छी तरह विचारपूवक अध्ययन करेगा, वह आत्म-ज्ञान के अभ्यास में लगने के कारण सबके आत्मा=परमात्मा का ज्ञान-यज्ञ द्वारा पूजन करेगा; और जो इसको श्रद्धा और आदरपूर्वक एकाग्र-चित्त से सुनेगा, वह भी बुरे कर्म करना छोड़ कर श्रेष्ठ आचरणो में लगेगा, इसलिए उसकी भी श्रेष्ठ गति होगी (७०-७१)। हे पार्थ! क्या तूने एकाग्र-चित्त से यह उपदेश सुना है? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञान और कर्तव्याकर्तव्य का मोह पूर्णतया नष्ट हो गया है? तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते है कि देहाभिमान से उत्पन्न, तेरे हृदय की दुर्बलता और मोह के मिटाने के उद्देश्य से जो गीता का उपदेश सुनाया गया, उसे तूने अच्छी तरह ध्यानपूर्वक दत्तचित्त होकर सुना कि नहीं? और उससे तेरे हृदय की दुर्वलता और मोह मिटाने का प्रयोजन सिद्ध हुआ कि नहीं (७२)? अर्जुन बोला कि हे अच्युत। आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे (अपने स्वरूप की) स्मृति प्राप्त हुई; मै सदेह से रहित होकर स्थित हूँ, आपका कहना करूँगा। तात्पर्य यह कि भगवान् के प्रश्न के उत्तर में अर्जुन कहता है कि देहाभिमान के कारण मुझे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का अज्ञान हो जाने से हृदय दुर्वल होकर कर्तव्याकर्तव्य के विषय में जो मोह हो गया था, वह अपने वास्तविक स्वरूप की पुन स्मृति हो आने से दूर हो गया; अब मुझे कुछ भी सदेह नहीं रहा है, अत. आपने जो उपदेश दिया है उसी के अनुसार मै करूँगा (७३)।

सजय बोला कि इस प्रकार वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के अद्भुत एवं रोमांच उत्पन्न करने वाले इस सवाद को मैंने सुना। श्री वेदव्यास की कृपा से मैंने यह परम गुह्य समत्व-योग स्वय योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को कहते हुए साक्षात् सुना। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और कल्याणकर सवाद को स्मरण कर-करके मै बार-बार हर्षित होता हूँ, और हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के अत्यन्त अद्भुत उस रूप को याद कर-करके भी मुझे महान् आश्चर्य और बार-बार हर्ष होता है। तात्पर्य यह कि संजय, महाराज-धृतराष्ट्र से कहता है कि महर्षि वेदव्यास ने कृपा करके जो मुझे मनो-योग की दिव्य-दृष्टि दी, उससे मैंने स्वय योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए समत्व-योग के इस आश्चर्यजनक और अत्यन्त गुह्य उपदेश को प्रत्यक्ष सुना, जिससे मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो रहा है, और इस कल्याणकर सवाद को याद करके मै रह-रह कर हर्षित हो रहा हूँ; तथा भगवान् ने अर्जुन को जो अपना अद्भुत

विश्वरूप दिखाया, उसे भी मैंने उक्त मनो-योग की दिव्य-दृष्टि से देखा, जिसे याद कर-करके मुझे उसकी अलौकिकता के कारण अतीव आश्चर्य हो रहा है, और साथ-साथ उससे सबकी एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण हर्ष भी हो रहा है (७४-७७)।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं: वहाँ लक्ष्मी एवं शोभा, विजय, वैभव एवं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है—ऐसा मेरा मत है। तात्पर्य यह कि जहाँ सबकी एकता के साम्य-भाव की पूर्णता-स्वरूप महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति-स्वरूप अर्जुन है; दूसरे शब्दो में जहाँ सबकी एकता का साम्य-भाव है और जहाँ विद्या, बुद्धि और बल है, वहाँ ही निश्चयपूर्वक राज-लक्ष्मी रहती है, वहीं सब प्रकार की शोभा और कीर्ति है, वहीं विजय होती है, वहीं वैभव और ऐश्वर्य है और वहीं अटल नीति है। जहाँ एकता नहीं, तथा विद्या, बुद्धि और बल नहीं, वहाँ दरिद्रता, अकीर्ति, पराजय, दासता, दीनता और मूर्खता का अविचल साम्राज्य रहता है (७८)।

॥ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

× गीता का व्यावहारिक अर्थ समाप्त ×

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।